संतों के धार्मिक विश्वास

(बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध)

डॉ० धर्मपाल मैनी
एम० ए०, पी-एच० डी०

मुद्रक :
बी० एन० गुप्ता,
सिंघल प्रिंटिंग प्रेस, मेरठ।
फोन : ३१६७

प्रथम आवृत्ति ११००; मई, १९६६
मूल्य : पच्चीस रुपए

प्रकाशक :
नवजोत पब्लिकेशन्स
मालेरकोटला (पंजाब)

आचार्य
हजारी प्रसाद द्विवेदी
'को

परिचय

'तू सुलतानु कहा हउ मीआ तेरी कवन बडाई ।
जा तू देहि सु कहा सुआमी मै मूरख कहणु न जाई ॥'

आत्मरक्षा के प्रयत्न मे मानव युग युग से जिस मानव धर्म को अपनाने का प्रयत्न करता चला आ रहा है, मध्यकालीन भारतीय सन्तों के माध्यम से उन्हीं धार्मिक विश्वासों का अध्ययन मेरा विषय रहा है, जिसे 'संतों ('श्री गुरू ग्रथ साहिब' में उल्लिखित) के धार्मिक विश्वास' इन शब्दो मे आबद्ध किया गया है ।

आज के वैज्ञानिक-बौद्धिक युग में, जब कि ससार भौतिकता के मोह में जीवन के वास्तविक मूल्यों को भूल चुका है, ऋषियों के 'आत्मानं विद्धि' सदेश के अनुकूल साहित्य और काव्य के माध्यम से स्वतन्त्र भारत मे आध्यात्मिक वातावरण के प्रसार तथा इन मध्यकालीन संतों के काव्य-क्षेत्र मे भी उचित मूल्याकन में ही इस अध्ययन के प्रेरणास्रोत निहित हैं । संतों का धर्म तर्क-वितर्क में सलग्न दार्शनिकों के मस्तिष्क को ग्राह्य न हो सका, क्योकि उनके विचार मे अपढ़ जुलाहा, चमार, दर्जी, नाई और कसाई भी क्या कभी किसी सुचिंतित दर्शन के प्रवर्त्तक हो सकते है ? लेकिन वे भूल गए थे, कि ये सब भी मानव है, अतः उन्होंने केवल मानव धर्म का प्रसार किया है, और मानव धर्म ही सब दर्शनो की आधारभूमि है । अतः धर्म को दर्शन की कसौटी पर कसनेवाले दार्शनिक इनके 'सत्य' को न पहचान कर इनका उचित मूल्यांकन न कर सके और धार्मिकों ने तो सम्प्रदाय एवं पंथो के संकीर्ण घेरे में आबद्ध कर इन संतों के 'शिव' का शिवत्त्व ही समाप्त कर दिया । काव्य-रस को कोई लौकिक रस समझनेवाले काव्य-रसिक इनमें 'रस' का अभाव अनुभव कर, इनके 'सुन्दर' को अपने चर्म-चक्षुओं से न देख सके । तीनों मे एक ही बात की कमी रही है—और वह है 'यथार्थ अनुभूति का अभाव' ।

आज के दार्शनिक 'मंत्र द्रष्टारः' ऋषियों के महत्त्व को समझ सके, क्योकि उनका दर्शन इनकी समझ में न आया; लेकिन आधुनिक भाषा मे व्यक्त वैसी ही अनुभूति को न अनुभव कर सके, क्योकि आज के वैज्ञानिक-बौद्धिक युग मे इनकी प्रज्ञा और मेधा विचारों को छोड़ अनुभूति के स्तर तक न पहुँच सकी । अतः यदि ये उनके 'सत्य' को न पहचान सके, तो इन बेचारों के असत्य का क्या दोष ? विधि-विधानों के आडम्बरों से आवृत्त आज के धार्मिक, जो धर्म के नाम पर सकीर्णता मे आबद्ध हो जनसंहार के साधन प्रस्तुत करते है, यदि वे मानव धर्म के उन्नायकों के धर्म में 'शिव' के 'शिवत्त्व' को न पा सके, तो इनके 'अशिवत्त्व' को कैसा लांछन ? और लौकिक रस के चक्कर में, यदि आधुनिक कवि इनकी 'आध्यात्मिक रस-गागरी' से छलकते रस को न पी सके तथा बाह्य सौन्दर्य के आकर्षण मे यदि आज के कलाकार

इनके 'सुन्दर' के आन्तरिक सौन्दर्य तक न पहुँच सके, तो इनके 'असुन्दर' (हृदय) का क्या दोष ?

इस दिशा में प्रयत्नशील दार्शनिकों ने इनके 'सत्य' को अद्वैत, विशिष्टाद्वैत के चक्कर मे उलझाने का प्रयत्न किया, धार्मिकों ने इनके 'शिव' को 'पंथ' के सीमित विचारों और बाह्याचारों मे नियन्त्रित करने की धृष्टता की, रसज्ञों ने इनके किसी-किसी पद मे सामान्य रस का परिचय पाया तथा कलाकारों ने इनके 'सुन्दर' का परिचय कुछ थोड़ी-सी रचनाओ के बाह्य रूप में देखा।

जो हो, दार्शनिकों के सम्मुख इनके अनुभूत सत्यों को लड़ी में पिरो कर सुचिंतित विचारधारा के रूप में प्रस्तुत करना था, धार्मिकों को इनके आडम्बररहित, उदार 'शिव' के प्रसारक मानव धर्म मे दीक्षित करना था, रसज्ञों को इनके काव्य-रस का आस्वादन कराना था तथा कलाकारों को इनके आन्तरिक सौन्दर्य पर रिझाना था। कार्य-क्षेत्र जितना विस्तृत है कार्य भी उतना ही महान् और मैं— 'मूरख कहणु न जाई' में विश्वासी लघु जीव ! फिर भी कुछ-कुछ प्रयत्नशील।

'गुरू ग्रंथ' तक पहुँचने के लिए साहित्य के माध्यम से देश की धार्मिक पृष्ठ-भूमि का परिचय पाना आवश्यक था। प्रथम अध्याय मे यही करने का प्रयत्न किया गया है। इसमे मौलिकता के नाम पर मेरा कुछ नहीं। सभी विचार, धारणाएँ, मान्यताएँ दूसरो की है। मुझे जो जिस रूप मे उपयुक्त प्रतीत हुआ, निस्संकोच लेने का प्रयत्न किया है। हाँ ! अभिव्यक्ति अपनी होते हुए भी जहाँ कहीं दूसरों की शब्दावली से प्रभावित हुआ, वहाँ उनका अभिदेश (Ref.) कर देने का प्रयत्न किया है। कुल मिला कर जो कुछ बना है, वह अवश्य एक नई वस्तु है। उसमें अपनेपन का आभास मिलेगा क्योंकि अन्यान्य स्थलों से उसके पोषक तत्त्व सगृहीत कर मैंने उन्हें अपने अनुकूल ढाल लिया है। यह मेरा प्रधान विषय नहीं, यह उसकी पृष्ठभूमि है। अतः मौलिकता के नाम पर सम्बद्धता और अभिव्यक्ति अपनी कहला सकती है।

द्वितीय अध्याय में मानव-मात्र की अमूल्य आध्यात्मिक पैतृक सम्पत्ति विशाल-काय (१४३० पृ०) 'गुरू ग्रंथ' का सर्वांगीण परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। 'गुरू ग्रंथ' की आवश्यकता और उसके सग्रह की कहानी मे मुझे प्रचलित मतों से कुछ आगे बढ़ना पड़ा है और मेरा दृष्टिकोण भी अपना है। आध्यात्मिक दृष्टि से 'गुरू ग्रंथ' में मेरी श्रद्धा अत्यधिक बढ़ चुकी है। न जाने कितनी बार उसके 'विस्माद' में मैंने अपने आपको भुलाया है। इतना होते हुए भी 'आदि ग्रंथ' की प्रामाणिकता के विषय में कुछ तथ्यों ने संशयालु बना दिया है। मेरा यह विषय नहीं, अतः मैं तो इसे स्पर्श-मात्र करके आगे बढ़ गया हूँ। वाणी-क्रम के आधार में मेरा मौलिक मत निर्धारण है। हो सकता है, कुछ विद्वान् उससे सहमत न भी हों, यह भी अपने आप मे शोध के एक पूर्ण 'प्रबन्ध' का विषय है। 'गुरू ग्रंथ' की देन में मेरा अपना ही चतुर्दिक मूल्यांकन है। जो हो, 'गुरू ग्रंथ' के इस अध्ययन ने बहुत से शोध-निबन्धों के अतिरिक्त मुझे एक पुस्तक तक लिखने के लिए विवश-सा कर दिया था, जिसका परिणाम है, 'श्री गुरू ग्रंथ साहिब : एक परिचय'।

तृतीय अध्याय में 'संत' कौन है ? 'गुरू ग्रंथ' में उल्लिखित संतों का एवं स्थिति के अनुकूल उनकी विचारधारा का विहगम परिचय प्रस्तुत किया गया है। संतों के वर्गीकरण के पश्चात् 'ग्रथ' मे उनकी वाणी की गणना अच्छी खासी सिरदर्दी बनी रही, इसमें भी कई मौलिक मान्यताए मिलेगी तथा प्रत्येक राग में सभी संतों में एक ही विचारधारा को खोज निकालना तथा उसे सम्बद्ध रूप देना भी मेरा अपना ही प्रयत्न है। यही से वास्तविक विषय किसी न किसी रूप मे आरम्भ होता है।

चतुर्थ अध्याय में धर्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए संतशिरोमणि कबीर के व्यक्तित्त्व तथा साहित्यिक मूल्याकन के बाद सविस्तार उनके धार्मिक विश्वासों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय का प्रबंध मे विशेष स्थान है। साहित्यिक मूल्यांकन मे लेखक का विश्वास है, कि वह दिन दूर नहीं, जब कबीर हिन्दी का सर्वाधिक प्रचलित एव प्रभावोत्पादक महाकवि सिद्ध होगा और सम्भवतः जनप्रिय भी। जनप्रिय शायद इसीलिए, कि जनता के अंधविश्वासों का उसने दृढ़ता से विरोध किया था और मानव उसे ही अपनाने का प्रयत्न करता है, जो उसे ठुकराता है : जो हो, उनका महत्त्व अत्यधिक है और निरन्तर बढ़ता ही रहेगा।

कबीर जुलाहे थे। जुलाहे की देह को नष्ट हुए एक युग बीत चुका था। कुछ लोगों ने उस जुलाहे के कपड़े को बेढ़ंगा कह कर अपनाने से इनकार कर दिया था, दूसरों ने उसके वस्त्र को फाड़ कर उसके सूतो को बिखेर दिया था, सम्भवतः इसी लिए अन्य व्यक्तियों ने बिखरे हुए सूत की दुर्दशा देख कर यह कहा था, कि इससे कभी किसी वस्त्र का निर्माण भी हुआ होगा—यह समझ लेना भ्रम है। धार्मिक विश्वासों के विश्लेषणात्मक अध्ययन में जुलाहे की खड्डी पर पहुँच मैंने उसके सूत के प्रत्येक तंतु को बिखरे हुए पाया। तब राछ और ढरकी को ठिकाने लगाया। अचानक हत्था हाथ लग गया, फिर क्या था ? उन्ही सूतों का ताना तान बाने के सहारे बुनना प्रारम्भ कर दिया।

लगता है, एक वस्त्र जरूर बन गया है। कह नहीं सकता, सम्भवतः गाढ़े का ही हो। मैंने इसे कोई नाम न देकर ओढ़नेवालों के लिए ही छोड़ दिया है। मेरे विचार से वह 'वाद' के विवाद से परे मानब धर्म का वस्त्र तैयार हुआ है, उसे मानव-मात्र ओढ़ सकता है, वह प्रत्येक का आवरण बन सकता है और सब का ही शीत-ताप हर सकता है। मौलिकता के नाम पर सब कुछ जुलाहे का है, सूत भी, राछ, भी, खड्डी भी और इसीलिए बना हुआ वस्त्र भी। मैंने तो उसे सम्बद्ध करने का प्रयत्न-मात्र किया है, जुलाहा बनने के प्रयत्न में स्वत भी उसे ओढ़ने का प्रयत्न किया है, शायद कभी सफलता मिल जाए।

पंचम अध्याय में रामानन्द एव उनके शिष्यों के धार्मिक विश्वासों का दिग्दर्शन है। रामानन्द गुरू थे। निम्न वर्ग को शिष्य बनाते हुए, नरक जाने के गुरू के शाप को सहर्ष स्वीकार करने में उनकी महत्ता छिपी थी, उसी की अभिव्यक्ति के साथ-साथ 'ग्रंथ' के पद से उनकी अभिव्यक्ति मे भी छिपे 'गुरुत्व' को उद्भासित करने का प्रयत्न किया है।

रैदास चमार थे। उनकी टूटी जूतियों के ढेर में से कितने ही तल्लों, एडियों तथा पंजों के साथ रांपी और सुतारी भी मिल गई। जूती सीने का धागा नहीं मिला, सभवत: पुराना होने के कारण गल चुका हो। अपनी तुच्छ बुद्धि से सम्बद्धता का धागा तैयार कर मैने उसी के चमड़े के टुकड़ों को उसी की रांपी से छील-छाल कर, उसी की सुतारी से अपने धागे की सहायता से सी कर ऐसी जूती बनाने का प्रयत्न किया है, जिसे जन-सामान्य पहिन सके। कह नही सकता, आज भौतिकता के कँटीले मार्ग पर नंगे पैर चलनेवाले जन-सामान्य के पैरों की यह जूती रक्षा कर भी सकेगी या नही ? पर इसे अपनाने के प्रयत्न में मेरा दृढ़ विश्वास है, कि पहनने-वाले की यह रक्षा अवश्य कर सकेगी, यदि कोई इसे अपना सके।

धन्ना जाट थे। उनके एक ही खेत के तीनों पौधों से साहित्यिक जगत् परिचित था। मैंने उसके तीन और पौधों (पदो) को खोज निकाला। इन पौधों के माध्यम से उसकी खेती (भक्ति) में अनन्य लगन का परिचय भी मिला। दोनों ही खेतों का अनाज सँवार कर सामने रखा। गुरू अर्जुन की एक अन्य उपज को, जिसे लोग धन्ने का ही पौधा समझ बैठे थे, बीन कर अलग कर दिया।

सैन नाई था। एक नये पद से उसकी सेवा का भी मैंने साहित्यिक जगत् से परिचय करवाया।

पीपा राजा था। उसमे सन्निहित राजर्षि के तत्त्वों को मैंने उभारने का प्रयत्न किया।

सधना कसाई था। उसका मांस तौलने का एक नया बाट मुझे मिला। जिसने अपने ही सौदे को बुरा बता कर तौलने से इनकार कर दिया। अजीब ही अहिंसक दुकानदार था। इसका परिचय भी जगत् को दिया।

षष्ठ अध्याय में महाराष्ट्री संत नामदेव आदि के धार्मिक विश्वासों को व्यवस्थित रूप देने का प्रत्यन किया है।

नामदेव छीपा था। उसकी गद्दी के पास पहुँचा, तो वस्त्र, रग और ठप्पा सभी कुछ बिखरा हुआ पाया। आज के सौन्दर्यप्रिय युग के लिए मैंने गाढ़े के ही वस्त्र को सजा-सँवार कर उसी के (भक्ति) रंग में रंग कर छापने का प्रयत्न किया है। हिन्दी जगत् को उसके बहुत से नए पदों का परिचय कराया। वह दर्जी भी था। जिस 'सुइने की सुई' और 'रूपे के धागे' से वह ब्रह्म के वस्त्र सीया करता था, उसी को मैने अपनाने का प्रयत्न किया है। उसके छापे मे किसी रंग विशेष की आवश्यकता न थी, क्योंकि ब्रह्म के सभी रग है। इसीलिए वह भक्ति के रंग में रंगा रह गया था। उसकी सिलाई मे भी किसी क्रम विशेष की आवश्यकता न थी, क्योंकि उसके बीठुल का कोई रूप न था। अत: प्रत्येक प्रकार सिला हुआ वस्त्र उसके लिए उपयुक्त था। पर मुझे वह वस्त्र आज के सौन्दर्यप्रिय बौद्धिक मानव के लिए छापना और सीना था, अत: सब प्रकार से उसे व्यवस्थित रूप देना पड़ा।

कहा जाता है, त्रिलोचन तीन नेत्रोंवाला था। लेकिन संसार को उसके ज्ञान-नेत्र का ही ज्ञान था। मैंने अन्य तीन पदों के माध्यम से उसके भक्ति और योग (कर्म) इन दोनों नेत्रों का भी परिचय देकर उसका नाम सार्थक करने मे सहायता की हैं। इस प्रकार उसकी व्यवहार कुशलता को उद्भासित किया है।

वेणी की 'विचार-वेणी' साहित्यिक जगत् ने तीन ही केश-कलापो से गूँथी हुई थी। मुझे उसकी ही अलकों से झाड़ कर बिखरे हुए सात और केश-कलाप मिले। मैने उन्हें भी संजो कर उसकी 'विचार-वेणी' को और सुदृढ़ बना कर गूँथने का प्रयत्न किया है।

सप्तम अध्याय में सगुण कृष्ण-भक्तिपरक तथा मुस्लिम संतों के धार्मिक विश्वासों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

जयदेव गीतगोविन्दकार थे। उनकी जो मधुरिमा और रस-प्लावन की क्षमता संस्कृत के राधा-कृष्ण में थी, वही जब अनसँवरी भाषा के माध्यम से निर्गुण को रिझाने लगी तो उसका भी परिचय देना आवश्यक प्रतीत हुआ। सूरदास वात्सल्य रस के राजा थे। उनके प्रज्वलित अंतर्चक्षु की झलक भी यहाँ प्राप्त है और अष्टछाप की छाप से मुक्त हो परमानंद ने जिस संतसागर को ही अपनी अकेली गगरी में भर लिया था, मैंने उसे भी उँडेलने का प्रयत्न किया है।

शेख दरवेश की दरवेशी में परिणत शेखी मुझे अपने ही शब्दों मे बघारनी पड़ी है। उनका भी नूतन शैली का एक नया पद मुझे दृष्टिगोचर हुआ तथा उनके क्रियात्मक विचारों को अधिक सम्बद्ध रूप देकर सामने रखने का प्रयत्न किया है। फरीद संत ही नहीं, 'पंजाबी साहित्य के पिता' भी कहलाते है, अतः संक्षेप में उनका यह रूप भी साहित्यिकों के सामने लाना पड़ा है। मुसलमान कहलानेवाले भीखन के विषय में कुछ भी नूतन नहीं खोज पाया। अतः उनके पदों के माध्यम से झलकते हिंदुत्व और उससे भी बढ़ कर संत-व्यक्तित्व को ही उनकी विचारधारा के माध्यम से उभारने का प्रयत्न किया है।

अंत में संतों की सामान्य मान्यताओं तथा समाज को उनकी देन का संक्षिप्त मूल्यांकन है।

शोध के नाम पर तथ्य सग्रह के लिए नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का हस्त-लिखित प्रतियों का संग्रह, पुरातत्त्व-विभाग, पटियाला का पुस्तकालय, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का 'बीड-विभाग', तथा खालसा कालेज, अमृतसर का शोध-विभाग; इन सभी स्थानो पर न जाने कितने दिन लगाए, लेकिन भीखन का कोई नया पद न मिल सका, अन्य प्रायः सभी की किसी न किसी नई रचना से परिचय हो गया।

शोध के दूसरे ढंग मौलिक व्याख्या एव आलोचना के लिए जहाँ कही भी मस्तिष्क रुका, संत साहित्य के कितने ही विद्वानो को मैने अपने पत्रो से तंग किया है, विशेषतः 'गुरु ग्रथ' के विशेषज्ञो को। तो भी, बहुत से स्थलों से अनभिज्ञ ही रह

गया, यह स्वीकार करने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं, क्योंकि वे समझ नहीं, अनुभूति के विषय हैं, जिससे मैं अभी कोसों दूर हूँ।

जहां तक सम्बद्धता का संबंध है, यही मेरा प्रमुख कार्य रहा है। 'ग्रंथ' में बिखरी हुई सब सन्तों की सम्पूर्ण वाणी का न जाने कितनी बार मंथन किया, और उसे भिन्न-भिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत विभक्त करने में ही वर्षों लग गए, 'प्रबंध' में मिलनेवाले अभिदेश सम्भवतः इस तथ्य का कुछ उद्घाटन कर सकें। इस प्रकार तथ्य संग्रह, व्याख्या एवं आलोचना तथा सम्बद्धता—शोध की सभी श्रेणियों की दृष्टि से इसमें मौलिकता मिल सकती है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है।

सहायक शक्तियों की गणना करने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है और अवरोधक शक्तियों का नाम गिनाने का दुस्साहस भी नहीं, लेकिन मेरा अनुभव है, कि एक की शाबाशी और दूसरे की झटकार दोनों ही मेरे लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुए हैं। दोनों के प्रति मेरा हार्दिक धन्यवाद।

और आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी—वे गुरू हैं। उन्होंने एक बार नहीं, कई बार समझाया था, 'Heat नहीं, light होनी चाहिए। Heat तो अपने आप ही आ जाएगी।' यदि सच पूछा जाए, तो इसमें जो, कहीं भी light है, वह उन्हीं की—इसे मैं क्या जानूँ ? मैंने तो संत साहित्य के गुरू का महत्त्व अनुभव किया है, दिव्य ज्योति के माध्यम से।

फलस्वरूप, मेरे लिए इन सबसे बड़ी मौलिकता यह है, कि युधिष्ठिर द्वारा अपनाए जानेवाले 'सत्यं वद' की भाँति—इसे अपनाने का तो नहीं कह सकता, इन 'संतों' का सान्निध्य एवं स्पर्श अवश्य अनुभव किया है। कौन जानता है; यह प्रयत्न कभी सफल हो सकेगा।

मौलिकता के नाम पर इसे ही अपने प्रयत्नों की आत्मश्लाघा स्वीकार करते हुए मुझे तनिक भी संकोच नहीं। सम्भवतः ऐसा करने के लिए 'नियमों' से आबद्ध हूँ, इससे बड़ा बहाना भी मेरे पास नहीं।

जो हो, संत साहित्य में प्रवेश कर उसका मानव धर्म पालन कर नाम को सार्थक करने के प्रयत्न में शायद इतनी आत्माभिव्यक्ति आवश्यक भी थी।

हिन्दी-विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़—३

—विनीत
धर्मपाल मैनी

विषय-सूची

प्रथम अध्याय (२१-४८)

संत मत की धार्मिक पृष्ठभूमि

महाराष्ट्र का वारकरी सम्प्रदाय—ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ–उत्तर एवं दक्षिण मे सयोजक कडी–'सत मत' के प्रारम्भिक चिन्ह, समष्टि-प्रधान मुस्लिम धर्म एव आचार-प्रधान व्यक्तिगत हिन्दू-धर्म का मध्यम–मार्ग 'संत मत' का प्रादुर्भाव ।

द्वितीय अध्याय (४६—११२)

'श्री गुरू ग्रन्थ साहिब' : एक परिचय

ग्रन्थ का महत्त्व—परिस्थितियाँ'–'ग्रथ' की आवश्यकता, गुरू अर्जुन को गुरू-वाणी कहाँ से मिली ?–'ग्रंथ' मे सत-वाणी का स्थान क्यों' ?–गुरू अर्जुन ने सत-वाणी कहाँ से प्राप्त की ?

सम्पादक गुरू अर्जुन—सम्पादक का कार्य व काल–सुरक्षा–'आदि ग्रंथ' से 'गुरू ग्रंथ'–प्रामाणिकता–पुरातन हस्तलिखित महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ–छपनेवाले 'श्री गुरू ग्रंथ साहिब' जी ।

ग्रन्थ की वाणी—तालिका–उसका क्रम–क्रम का आधार–राग का महत्त्व–उसके उपकरण–वाणी का वर्गीकरण–वर्गीकृत वाणी का परिचय–सिर भाग–मध्य भाग–अधो भाग ।

विचारधारा एवं 'ग्रन्थ' का साहित्यिक परिचय—साहित्यिकता–विचारधारा–विश्लेषण की कठिनाई–ब्रह्म–महत्त्व–आविर्भाव–सर्वव्यापी–'सचखंड' निवासी–उसका रूप एवं आकार–गुण ।

सृष्टि—उसी का प्रसार–विकासक्रम–सत्य– विलय ।

जीवात्मा—उत्पत्ति–परमात्मा से सम्बन्ध–अनन्त जीव–देह का निर्माण–महत्त्व–परवश जीव–साधू–संत–ब्रह्मज्ञानी–ऐक्य ।

साध्य—माया से रक्षा–भव-पार–मोक्ष– अमरपद–'इकु जाता'–नाम (भक्ति)।

अवरोधक शक्तियाँ—माया–कंचन–कामिनी– दुर्गुण–'हउमै'–दुर्मुख मन

सहायक शक्तियाँ'—'नदरि'–सत्गुरू–नाम–कीर्त्तन–विस्माद–सत्सग–सत्कर्म सत् ज्ञान–मन जीतना–भेष नहीं, निर्लिप्तता ।

कल्पना—परम्परागत प्रतीक–मौलिक कल्पनाएँ–प्रकृति के प्रांगण से–मानव-मन से–सूक्ष्म काल्पनिक दृष्टि ।

अभिव्यक्ति—भाषा–विभिन्न मत–आधार भूत नियम–सैद्धांतिक विश्लेषण–निष्कर्ष–भावानुसारिणी–अलंकार—सूक्तियाँ—शैली—व्यास–समास–छंद–विशेष उल्लेखनीय अंश ।

लेखकों का साहित्यिक परिचय—वर्गीकरण–गुरू नानक–गुरू अंगद–गुरू अमरदास–गुरू रामदास–गुरू अर्जुनदेव–गुरू तेग बहादुर–१५ संत–सुन्दर–मरदाना–'सत्ता ते बलवंत'–११ भाट ।

'ग्रन्थ' की देन—महत्ता की कसौटी–आध्यात्मिक कृति–दार्शनिक–धार्मिक–सामाजिक—राष्ट्रीय—साहित्यिक—संगीतात्मक—ऐतिहासिक—सांस्कृतिक जागरण–अमरत्त्व ।

तृतीय अध्याय (११३—१६९)
'ग्रन्थ' में उल्लिखित संत और उनकी वाणी

चतुर्थ अध्याय (१७०—३१३)
कबीर के धार्मिक विश्वास

सृष्टि—निर्माण—रचना—प्रक्रिया—अस्थिर, नश्वर ।

जीवात्मा—उत्पत्ति—ब्रह्म का अंश—स्थूल से सूक्ष्म का विकास—परवश जीव—क्षणिक देह ।

जीवन—सांसारिक संबंध—योनि भ्रमण ।

गुरु—संत—भक्त ।

कबीर का साध्य—माया से रक्षा—यम से रक्षा—भवबंधन का नाश—भव-पार—आवागमनरहित होना (मोक्ष-पद प्राप्ति) भगवत्प्राप्ति—ब्रह्म-ज्ञान—ब्रह्म-रसपान—ब्रह्म-रसानुभूति—साध्य का भी साध्य—तल्लीनता एवं 'पूर्ण ऐक्य' (ब्रह्म से) ।

सहायक शक्तियाँ—नाम की सार्थकता—भगवत्कृपा—सत्गुरु—नाम—जप—सिमरन—भक्ति—अनन्य—अनवरत—पूर्ण आत्मसमर्पण ।

निष्काम कर्मण्य-जीवन—ज्ञान—योग—पवित्र मन—सत्संगति—हरिसेवा ।

अवरोधक शक्तियाँ—आरम्भ—माया—कचन—कामिनी—विषय—इन्द्रियाँ—मन—'अहं'—दुर्गुण—दुष्कर्म—दुःसंगति ।

बाह्याडम्बर—आरम्भ—पूजा—स्नान—तीर्थ—व्रत—उपवास—श्राद्ध—माला फेरना—वेद-पाठ—पुस्तकी विद्या ।

जप—माला—बाह्यभेष—वननिवास—दिखावटी पवित्रता ।

मुल्ला—मस्जिद—रोजा—नमाज ।

सामाजिक समता ।

पंचम अध्याय (३१४—३४६)

रामानंद एवं उनकी शिष्य परम्परा के धार्मिक विश्वास

१—रामानन्द—व्यक्तित्व—साहित्यिक परिचय—'गागर में सागर'—भाषा ।

२—रविदास—व्यक्तित्व—ऐतिहासिक परिचय—साहित्यिक रविदास ।

रविदास की विचारधारा

अध्यात्म पथ के पथिक—साधक रविदास—उनकी विचारधारा के विषय में विभिन्न धारणाएँ—निष्कर्ष—पहले सगुण—बाद में निर्गुण—निराकार के उपासक—जाति विख्यात 'चमार'—'पतित-पावन भगवान' ।

ब्रह्म—अनंत गुण का कथन—जगत् स्वामी—सृष्टि कर्त्ता—नियंता—सर्वदाता—'गरीब निवाजु'—भक्ततारक—ऐतिहासिक विवरण—अनुपम—केवल अनुभूतिगम्य ।

सृष्टि—अपना ही विस्तार—नाशवान्—सांसारिक सम्पत्ति, संबंध सभी क्षणिक—अतः ब्रह्मानुभूति प्रत्येक घट में ।

जीव—देह—रूप—अस्थिर महत्त्व—सांसारिक संबंध व्यर्थ—मानव-जीवन एक सत्य—दुर्लभ—अतः नाम जप में ही उसकी सार्थकता—साधु—भक्त—संत—रविदास—भगवान से संबंध—उससे प्रेम—उसका भक्त—पूर्ण आत्म-समर्पण—अनन्य भक्ति—ब्रह्म द्वारा उद्धार—ब्रह्म भी सगुण साकार (सूर व तुलसी में)—ब्रह्म के निकट—ऐक्यानुभूति ।

तल्लीनता–सर्वोत्कृष्ट वरदान–भक्ति–आवागमन से रक्षा–निर्वाण पद–ब्रह्म-रसपान–ऐक्य ।

साधन—अदृश्य, अज्ञेय मार्ग–भगवत्कृपा–सत्गुरु–नाम–महत्त्व–कार्य–अमूल्य 'अवखध'–रूप, जप–सिमरन–ध्यान, भगवद्भय–भगवत्-विश्वास–भगवत्प्रेम–भक्ति–अनन्य-अनवरत तड़पन–एकाग्रता–'अहं' त्याग–पूर्ण आत्मसमर्पण–प्रार्थना–मन को वश में करना–सत्संगति–सुसंस्कार–सत्कर्म–दुर्गुण त्याग–निष्काम कर्मण्य-जीवन–सेवा–ज्ञान–योग–निष्कर्ष ।

अवरोधक शक्तियाँ—महत्त्व व कार्य–माया–विकृत मन–विषय, विकार–कनक–कामिनी–दुर्गुण–इन्द्रियाँ–सांसारिक संबंध–मोह, बाह्याडम्बर–अभिव्यक्ति–पत्थर–मूर्ति–अन्यान्य देवी-देवता–अवतार पूजा, यज्ञ-पिंड-भरण–तीर्थ-निवास–स्नान–दान–तीर्थ-यात्रा–तप, काया-शोध–व्रत–वेद पाठ–अवतारवाद ।

२–त्रिलोचन—ऐतिहासिक जीवन–साहित्यिक परिचय–हस्तलेख के पद–उनका परिचय–'ग्रंथ' के पदों की विचारधारा–अभिव्यक्ति ।

३–बेणी—जीवन परिचय–योगी–साहित्यिक देन–नए पद–उनकी विचार धारा–'ग्रंथ' के पदों की विचारधारा–भाषा–ऐतिहासिक महत्त्व ।

सप्तम अध्याय (३७८–३९९)

कृष्ण-भक्तिपरक तथा मुस्लिम संतों के धार्मिक विश्वास

१–जयदेव—व्यक्तित्व–जीवन–साहित्यिक परिचय–विचार ।

२–सूरदास—प्रामाणिक पद ।

३–परमानंद—गागर में सागर ।

४–शेख फरीद—व्यक्तित्व–ऐतिहासिक परिचय–'पंजाबी साहित्य के पिता'–उनकी आलोचना–काव्यत्व ।

शेख फरीद की विचारधारा

ब्रह्म–जीवात्मा–क्षणिक देह–असार संसार–साध्य (भगवत्प्राप्ति)–साधन–अवरोधक शक्तियाँ–सार ।

५–भीखन—जीवन–साहित्यिक परिचय–'ग्रंथ' के पद ।

अष्टम अध्याय (४००–४१४)

संतों की सामान्य मान्यताएँ

युगनेता संत—सत-भावना–उनकी नैतिक समृद्धि तथा आत्मविश्वास की शक्ति–अविछिन्न सामाजिक परम्परा–क्रियात्मक कर्मण्य-जीवन–स्वस्थ निर्भीक क्षणिक आचरण–अनुभूति का महत्त्व–मानवतावादी दृष्टि–अनिर्वचनीय ब्रह्म–अनुभूति का **जीव**षय–सृष्टि सत्य है–ब्रह्म का अंश [illegible]–स्वाभाविक **जीवन** सत्य–दुर्लभ–अतः पंथ)–आडम्बर का विरोध कर–भक्ति की स्थापना–ज्ञान, भक्ति तथा कर्म से संबंध–उससे प्रे[illegible] व [illegible]–सरल, स्पष्ट एवं सशक्त अभिव्यक्ति–संकीर्ण उद्धा[illegible]–ब्रह्म भी सगु

संकेत-सूची

निम्नलिखित संक्षिप्त संकेत चिह्नों का प्रयोग किया गया है :—

१. उत्तरी भारत की संत-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी = उ० प० : प० च० ।

२. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि : विश्वम्भर उपाध्याय = हि० पृ० : वि० उ० ।

३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल = हि० स० : पी० ब० ।

४. मध्यकालीन धर्म साधना : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी = म० सा० : आ० द्वि० ।

५. धर्म और दर्शन : बलदेव उपाध्याय = धर्म० : ब० उ० ।

६. भारतीय दर्शन : ,, = भा० द० : ब० उ० ।

७. भागवत सम्प्रदाय : ,, = भाग० : ब० उ० ।

८. कुछ होर धार्मिक लेख : साहिब सिंह = कु० ले० : सा० सि० ।

9. Farquhar, J. N. : An Outline of the Religious literature of India. = आ० रि० : फर्कुहर ।

10. Sharma, R. S. : Renaissance of Hinduism.
= रि० हि० : आर० एस० शर्मा ।

11. Macauliffe, M. A. : The Sikh Religion.
= सि० रि० : मैकालिफ ।

12. A Short History of the Sikhs : Teja Singh, Ganda Singh.
= हि० सि० : तेजा सिंह ।

13. A History of the Punjabi Literature : Dr. Mohan Singh.
= हि० लि० : मोहन सिंह ।

अभिदेश इस प्रकार दिए गए हैं । यथा '३२३ क० २' से तात्पर्य है, कि 'गुरू ग्रंथ' के ३२३ पर कबीर का दूसरा शब्द । श्लोक संख्या देते हुए पृ० संख्या देने की आवश्यकता नही समझी गई ।

आमुख

डॉ. धर्मपाल मैनी के 'संतों के धार्मिक विश्वास' नामक शोध-प्रबन्ध को देखने का मुझे अवसर मिला है। इस विषय पर मेरा अधिकार तो नहीं है, लेकिन आधुनिकता को समझने के लिए मध्यकालीन बोध से अवगत होना आवश्यक है। इस दृष्टि से मेरे लिए यह उपयोगी सिद्ध हुआ है। डॉ०, मैनी ने बड़े परिश्रम से संतों के धार्मिक विश्वासों को एक स्थान पर एकत्रित कर इसकी उपयोगिता को बढ़ाने का भी काम किया है। अनेक स्थलों पर संतों की वाणी के उद्धरण देकर अपनी बात को स्पष्ट तथा ठोस बनाया है। इसके अतिरिक्त भारतीय-चिन्तन से इनका परिचय सराहनीय है, ऋषियों तथा मुनियों में इनका विश्वास भी अगाध है, जो शोध-प्रबन्ध मे अनेक स्थलों पर झलकता है। इसकी अन्तिम झलक पुस्तक के अंत में उपलब्ध है। संतों के वचनों से आत्म-विभोर होकर वह लिखते हैं—"मध्यकालीन संत 'नाम' का टिकट लेकर, सिमरन का पाथेय साथ रख, संसार-स्टेशन पर जाकर भक्ति की गाड़ी में बैठ गया। समयानुसार हरि-भक्ति की हरि झंडी पा संचालक सतगुरू ने माया की पटरियों पर गाड़ी को चलाया तथा कचन कामिनी आदि व्यर्थ के स्टेशनों को छोड़ता हुआ, सत्कर्म, सद्‌गुण तथा सत्संग आदि स्टेशनों से कोयला, जल आदि लेता हुआ हरि स्टेशन तक जा पहुंचा।" इस तरह आधुनिक रूपक के माध्यम से पुराने विषय को निभाने की शैली डॉ. मैनी की भाषा-क्षमता तथा काव्य-संवेदना का परिचय देती है। इसे 'सृजनात्मक आलोचना' भी कहा जा सकता है।

हिन्दी-विभाग,
चण्डीगढ़
१८. ७. ६६.

इन्द्रनाथ मदान

आदि कथन

हिन्दी में 'संत' शब्द इन परमार्थ साधकों के लिए प्रयुक्त होने लगा है जो अव्यक्त सत्ता—'ब्रह्म' को निराकार मानकर उसका ध्यान करते हैं, जो ज्ञान-पथ के पथिक अथवा निर्गुण मार्गी हैं। मराठी, गुजराती और अन्य साहित्य-क्षेत्र में निर्गुणी और सगुणी दोनों साधक संत कहे जाते हैं। वहां भक्त और संत में भेद नहीं है। इसी से उनके उल्लेखों में तुलसीदास और कबीर दोनों की अभिहिति संत है। समस्त भक्ति-साहित्य को वे संत वाङ्मय ही कहते हैं। मैं भी संत और भक्त में सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई भेद नहीं मानता। दोनों का लक्ष्य परमार्थ-साधन और ब्रह्म की व्यक्त-अव्यक्त सत्ता में लवलीन हो जाना है। परमार्थ-साधना एक भाव है, मानसिक स्थिति है। वह किसी भी 'आश्रम' में शामिल हो सकती है। भक्त और संत में जो भेद इतिहासकारों ने किया है, वह साधना-पद्धति की दृष्टि से किया है। भक्त ब्रह्म को साकार रूप में पूजता है और पूजा में वाह्य उपकरणों को प्रयुक्त करता है। संत की पूजा मानसिक होती है, वह बाह्य उपकरणों में आस्था नहीं रखता। कवीर, दरिया आदि (जिनमें नामदेव भी सम्मिलित हैं) निर्गुणी संत और निर्गुणी भक्त दोनों कहे जा सकते हैं। संत वाणी जब तक रागात्मक नहीं होती, काव्य की कोटि में नहीं आ सकती, क्योंकि रागात्मकता भक्ति का अनिवार्य अंग है। नामदेव, कबीर आदि निर्गुणी साधकों की जो रचनाएं रागतत्त्व से आपूर हैं, उन्हें ही निर्गुण संत-काव्य कहा जा सकता है। हिन्दी में ज्ञान दृष्टिपरक पद सिद्धों नाथों के पदों में प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं, पर ज्ञानदृष्टि के साथ तरल रागोच्छ्वास नामदेव में सर्वप्रथम परिलक्षित होता है। इसी से मैंने उन्हें कबीर की प्रेरणा-शक्ति स्वीकारा है। स्वयं कबीर ने उनके ऋण के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है। अतः मैं इस शोध ग्रन्थ के अध्ययनशील लेखक के इस कथन का समर्थन करने में संकोच करता हूं कि कबीर के बाद नामदेव का विशेष महत्व है और 'ग्रंथ' की वाणी में भी सदा वे ही कबीर का अनुगमन करते हैं। (पृ० ११६) सम्भवतः गुरु ग्रन्थ साहिब में दिए गए क्रम के आधार पर ही यह लिखा है। क्योंकि अन्यत्र नामदेव को निर्गुण मत

का प्रथम प्रचारक स्वीकार किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत संत कवियों के आधार पर संतों के धार्मिक विश्वासों का विश्लेषण किया गया है। क्योंकि ग्रंथ में कृष्ण भक्त सगुणी कवि जयदेव, सूरदास और परमानन्द को भी स्थान दिया गया है। इसलिए ये भी लेखक द्वारा विवेचित हैं। जयदेव गीतगोविन्दकार हैं या कोई दूसरे संत, यह विवादास्पद है। मुझे तो ये गीतगोविन्दकार से पृथक व्यक्ति जान पड़ते हैं। क्योंकि गीतगोविन्द के मधुर रस का आभास भी उनके पद में नहीं मिलता।

सम्प्रति हिन्दी में संतों पर अनुसंधान-कार्य सोत्साह हो रहा है। अनेक सम्प्रदायों के विस्मृत संत और उनकी वाणियाँ प्रकाश में आ रही हैं। उनका धार्मिक इतिहास की दृष्टि से कम महत्व नहीं है। भाषा के विकास को समझने के लिए भी उनका उपयोग आवश्यक हो जाता है। पर ऐसे संत दुर्लभ हैं, जिनकी वाणी में कबीर के समान ओजस्वी विचार धारा हो और व्यंग्यपूर्ण कवित्व भी। डा० मैनी जी ने अपने इस ग्रंथ में संतों के धार्मिक विश्वासों का विचार पूर्ण विवेचन किया है। इस विवेचन में उन्होंने सतों के सम्बन्ध में अनेक अज्ञात तथ्यों को ज्ञात कराने का प्रयत्न किया है।

उनका श्रीगुरुग्रंथ-साहिब, एक परिचय नामक अध्याय बड़े मनोयोग पूर्वक लिखा गया है। ग्रन्थ साहिब की अनेक हस्तलिखित प्रतियों (बीड़ों) का परिचय देकर ग्रंथ की प्रामाणिकता के शोधार्थियों के लिए महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर दी है। ग्रंथ में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों को समझाने का भी प्रयत्न किया गया है।

कबीर के धार्मिक विश्वासों पर भी विस्तार के साथ लिखा गया है। वास्तव में सभी सम्प्रदाय के संतों ने भगवन्नाम स्मरण पर बल दिया है। उसी के माध्यम से वे अपने आराध्य का सान्निध्य प्राप्त करने में विश्वास रखते हैं। उन्हें उसके सभी नाम प्रिय हैं। फिर भी उन्होंने किसी एक नाम का बार २ उच्चारण कर उसे ही ब्रह्म का उच्छ्वास मान लिया है। पर अपने प्रिय नाम से भिन्न नाम के उपासकों के प्रति वे विरोध भाव नहीं रखते। और नाम का रहस्य गुरू ही प्रकट कर सकता है, यह भी उनका विश्वास है। इसी से 'गोबिन्द' और 'गुरू' के साथ २ उपस्थित हो जाने पर वे 'गुरू' को ही सर्वप्रथम नमस्कार करते

हैं, क्योंकि वही तो 'गोबिन्द' का रहस्योद्घाटन करता है। संत ग्राप्त-वचनों पर ग्रास्था न रखकर ग्रनुभव पर ही विश्वास करते हैं। इसी से वे वेद, कुरान (किताब) शास्त्र ग्रादि के पठन-पाठन को ग्रावश्यक नहीं समझते। ग्रात्मा में जब परमानुभूति ज्योतित हो उटती है, तब ग्रज्ञा-नान्धकार कहाँ रह जाता है? पोथियों का सारा ज्ञान सहज ही प्रकाशित हो जाता है, जो उनकी वाणियों में बोलने लगता है।

विद्वाब लेखक का यह शोध-ग्रंथ संत-साहित्य ग्रध्येताग्रों की ज्ञान-वृद्धि करेगा, इसमें संदेह नहीं। वे संतों के 'सबदों', के ग्रादि 'ग्ररथों' से उनके विश्वासों को सहज ही हृदयगंम कर सकेंगे।

कुरुक्षेत्र—विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र।
दिनांक १७-७-१९६६

विनयमोहन शर्मा

प्रथम अध्याय

सन्त मत की धार्मिक पृष्ठभूमि

"एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति"[1]

ऋग्वेद में अज्ञेय के प्रति कही गई इसी प्रकार की बहुत सी उक्तियाँ मिलती है।

जिन विद्वानों ने आदिम मानव मनोवृत्तियों का अध्ययन किया है, उनका कथन है, कि मानव ने भय संचालक वस्तुओ से आत्मरक्षा के उद्देश्य से अति मानवीय शक्तियों की कल्पना और उपासना प्रारम्भ कर दी थी।[2] ऋग्वेद ऐसी ही प्रार्थनाओ का संग्रह है। यह भारत का ही नही, अपितु विश्व का प्राचीनतम लिखित साहित्य है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में अज्ञेय के प्रति जिज्ञासा तथा पुन: उससे आत्मरक्षा की प्रार्थनाओं में ही हमें धर्म के तत्त्व प्राचीन काल से मिलते चले आ रहे हैं।

बहुत पुरातन मानी जानेवाली[3] मोहन-जोदडो एवं हड़प्पा की खुदाई मे जिस सिन्धु-सभ्यता का अवशेष प्राप्त हुआ है, उसकी सीलो से ज्ञात होता है, कि वहाँ भी शिव की पूजा होती थी, कुछ शिवलिङ्ग भी वहाँ से प्राप्त हुए हैं।[4]

जो हो, इससे यह स्पष्ट है, कि मानव सभ्यता के साथ-साथ मानव धर्म का भी विकास एवं संस्कार होता चला आया।[5] ऋग्वेद की ऋचाओ मे अज्ञेय ब्रह्म के विविध रूपों को प्रकृति के माध्यम से देख कर[6] उसकी उपासना मे ही जिज्ञासुओं ने जीवन-यापन किया। इनमे इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य तथा उषा आदि की उपासना की प्रधानता रही। इन्हें 'सहिता' संज्ञा प्राप्त हुई और इस काल को 'संहिता काल'

---

१ ऋग्वेद २, ३; २३, ६।

२. धर्म की उत्पत्ति और विकास : डा० एच० मूर—अनु० रामचन्द्र वर्मा पृ० ५।

३ गंगा-पुरातत्त्वाक : सं० राहुल सांकृत्यायन। लेख-'सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता और मोहन जोदरो।' डा० नरेन्द्रनाथ लाहा पृ० ४६।

४. गंगा-पुरातत्त्वाक, मोहन जोदारो : डा० लक्ष्मणस्वरूप पृ० ६८।

५. धर्म की उत्पत्ति और विकास : डा० मूर—अनु० रामचन्द्र वर्मा पृ० १४७।

६. संस्कृत साहित्य का इतिहास : मैकडोनल, पृ० ६६।

अथवा 'मंत्रयुग'। धीरे-धीरे ये ऋषि बहुदेववाद से एकदेववाद की ओर बढ़ते चले।[१] इन्ही का विकास 'ब्राह्मणों' एवं 'आरण्यकों' में हुआ। जिज्ञासु गायकों का स्थान पुरोहितों ने लेना प्रारम्भ कर दिया। यज्ञों को उपासना से अधिक महत्त्व देनेवाले ये पुरोहित ही कर्मकाण्ड के माध्यम से समाज का प्रमुख अङ्ग बनते गए। संसार के उत्पादक के रूप में प्रजापति, बलि ग्राहक के रूप में विष्णु तथा वैदिक युग के रुद्र के रूप में शिव की प्रधानता बढ़ी। इन यज्ञों के साथ-साथ ब्राह्मणों ने उस वर्ण-व्यवस्था का भी संगठन किया, जिससे उन्हें सामाजिक एवं धार्मिक श्रेष्ठता प्राप्त हुई तथा भारतवर्ष भी उन्हीं में गत ढाई हजार वर्षों से आबद्ध है।[२] यह ब्राह्मण-वर्ग ही अथर्ववेद के माध्यम से शैव एवं शाक्त मतों का बीजारोपण करनेवाला प्रतीत होता है। सम्भवतः इसीलिए डा० राधाकृष्णन् ने इसे न केवल वैदिक धर्म और परवर्ती शैव मत की संयोजक कड़ी के रूप में स्वीकार किया है, अपितु ऋग्वेद के पुरुष प्रधान देवताओं को परवर्ती स्त्री-प्रधान देवियों में बदलते देखा और तांत्रिक मतों में इसे यौन सम्बन्ध का आधार मानने में कोई आश्चर्य नहीं प्रकट किया।[३]

जो हो, कर्मकाण्ड के माध्यम से समाज पर प्रभुत्व जमानेवाले इन 'तथा-कथित' ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोह मे 'ज्ञानवाद' का प्रचार हुआ।[४] धार्मिक इतिहास में इसे ही 'उपनिषद्-युग' की संज्ञा प्राप्त हुई। यद्यपि उपनिषदों को 'वेदान्त' कहा गया है, तो भी उनका अपना स्वतन्त्र महत्त्व स्वीकार करने में हमे किसी प्रकार नहीं हिचकिचाना चाहिए। इस 'उपनिषद्-युग' में ही परवर्ती काल के उस हिन्दू धर्म के प्रारम्भिक चिह्न मिलते हैं, जो आज तक केवल परिष्कृत, परिवर्धित एवं कुछ परि-वर्तित होता हुआ हमारे सम्मुख आता है। कर्मवाद एवं पुनर्जन्म के साथ-साथ आत्मा, मोक्ष, संस्कार, कर्म, उपासना आदि पर भी विचार किया गया। जहाँ विचारों में ज्ञान की प्रधानता आई, वहाँ आचारों में भी तदनुकूल तप, अहिंसा, सत्य, दान आदि का महत्त्व स्थापित हुआ। इस कृषि-युग के उत्कर्ष के समय ही क्षत्रियों के 'ज्ञानवाद' से ब्राह्मणों ने 'आत्मवाद' की शिक्षा ली तथा ब्रह्म और आत्मा में अन्तर न स्वीकार कर, इस 'आत्मवाद' की घोषणा ही इस युग की ऐतिहासिक प्रगति का सूचक बनी।[५] लेकिन 'उपनिषद्-युग' का भी ज्ञान प्रधान होने के कारण 'व्यक्ति-गत धर्म' की संकी-र्णता के घेरे में आना प्रारम्भ हुआ, अतः इसी रूप में अधिक देर प्रचलित न हो सका।

इस प्रकार वेदों में उपासना (भक्ति), कर्म और ज्ञान का सामंजस्य प्राप्त था। परन्तु याज्ञिक पद्धतियों एवं निवृत्ति-परायण जीवन के आदर्शों के पास पहुँच कर उपासना का महत्त्व कम हो गया। पुनः शतपथ ब्राह्मण-काल में कर्मकाण्ड की

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास : मैकडोनल, पृ० ७० ।
२. राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, पृ० १८४ ।
३. राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, पृ० १७६ ।
४. हि० पृ० : वि० उ० पृ० ११ ।
५. हि० पृ० : वि० उ० पृ० १३ ।

प्रधानता रही। और उपनिषद्-युग में ज्ञान ने दोनों को ही पछाड़ा।[1] इतने से स्पष्ट है, कि वैदिक काल से ही तीनों का धर्म में अपना विशिष्ट स्थान रहा है तथा समाज में अव्यवस्था अथवा धार्मिक अस्थिरता का कारण तीनों का उचित समन्वय में न रहना ही था।

'मंत्रद्रष्टार:' ऋषि अब तक अपना महत्त्व खो चुके थे और उनका स्थान ज्ञान के अन्धकार में, समाज पर आधिपत्य करनेवाले यशोलिप्सु उस ब्राह्मण समुदाय ने ले लिया था, जो धर्म को आध्यात्मिक उन्नति का साधन न समझ सका था। अपितु ऐहिक उन्नति को ही साध्य समझ कर इन धार्मिक आचारों को आजीविका का साधन-मात्र समझता था। सम्भवतः इसीलिए 'उपनिषद्-युग' के अन्त में उनमे ही यज्ञ विरोधी स्वर गूँज उठे:—

'प्लवा एते अदृढायज्ञरूपाः।'[2]

जब यज्ञ ही फूटी नाव-मात्र रह गए, तो जीव कैसे भव-सागर के पार पहुँचता? इस प्रकार उनके आचार्य भी पतित होने लगे, वे भूल गए थे, कि 'नायमात्मा बल-हीनेन लभ्यः।'[3]

परिणामस्वरूप इसी विकृत ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया में अन्तिम उपनिषदों के स्वर में स्वर मिला कर, ऐहिक जीवन को महत्त्व देनेवाले सर्वप्रथम अनीश्वरवादी चार्वाक मत ने भारत मे जन्म लिया।

कनिंघम ने चारु (प्रवृत्ति जनक, सुन्दर) तथा वाक् (वाक्य, वक्तृता) से 'चार्वाक' शब्द की निष्पत्ति मान कर इस सम्प्रदाय का मालवे में विकसित होना स्वीकार किया है।[4] विल्सन ने बृहस्पति के शिष्य चार्वाक मुनि के नाम से ही इसकी उत्पत्ति स्वीकार की है।[5] एक अन्य मत है, कि 'चर्व' (भोजन करना) 'खाओ, पीओ और मौज करो' इस सिद्धांत में विश्वासी होने के कारण इन्हें 'चार्वाक' संज्ञा प्राप्त हुई।[6]

जो हो, विकृत ब्राह्मण-समाज के पारलौकिकता के आडम्बरों को छिन्न-भिन्न कर इन्होंने ऐहिक जीवन को ही सत्य मान कर उसका महत्त्व स्थापित किया था। इसीलिए शास्त्र-विधानों का विकृत रूप देख कर उन्हें कहना पड़ा था:—

'त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्त निशाचराः।'[7]

इस प्रकार शास्त्र वचनों को प्रमाण न मान कर उन्होंने साक्षात् प्रमाण एवं बुद्धि-गत तर्क को ही आधार मान कर जीवन-व्यतीत करने के नियम बनाए। उन्होंने

१. भारत का इतिहास : डा० ईश्वरी प्रसाद पृ० ३६।
२ मुंडकोपनिषत् १, २, ७।
३. कठोपनिषत् ११, २, २२।
४. सिक्ख इतिहास : कनिंघम, जे० डी० पृ० ६६ टिप्पणी।
५. एशियाटिक रिसर्च : भाग १६, पृ० १८ (विल्सन)।
६. 'षड्दर्शन-समुच्चय' की टीका : गुणरत्न पृ० ३००।
७. स० द० सं०, पृ० ४।

स्वस्थ एवं सुन्दर शरीर को व्यर्थ तप में गलाने का विरोध किया, क्योंकि वे परलोक मे विश्वासी न थे और मृत्यु के बाद शरीर का पुनरागमन ही कैसा ?

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।'

इस प्रकार संसार की सत्यता स्थापित करते हुए सुखपूर्वक लौकिक जीवन व्यतीत करने का मार्ग निर्धारित किया ।

जो हो, वेदों को अपौरुषेय कह उनका विरोध करने तथा भारत में अनीश्वरवादी मत को प्रारम्भ करने का श्रेय इन चार्वाकों को ही है । इस प्रकार हमे प्रतीत होता है, कि भारतीय दार्शनिकों के विचार कितने क्रांतिकारी होते हैं । इसीलिए हिन्दू धर्म की सदा से यह विशेषता चली आ रही है, कि श्रद्धा और विश्वास के महत्त्व को मानते हुए भी यह युक्ति-सङ्गत तर्क एवं विवेक पर आश्रित है ।[1]

चार्वाकों का ऐहिकता-परक जीवन-दृष्टिकोण भारतीय जीवन को संतुष्ट न कर सका । इसीलिए अवनत ब्राह्मण धर्म पुनः हिन्दू धर्म के रूप मे भारतीय जनता में प्राण-तत्त्व का संचार करने के लिए कटिबद्ध हो, हमारे सम्मुख आया और यही भारतीय लौकिक-जीवन मे आदर्शो एवं मर्यादाओं के पालन का युग व महाभारत-काल कहलाता है । प्राकृतिक शक्तियों की उपासना का स्थान महापुरुषों ने ले लिया। साथ ही त्रिमूर्ति का उत्कर्ष बढा और अवतारवाद का अवतार हुआ । विष्णु-भक्त पांचरात्रों एव शिवोपासक पाशुपतो का प्राधान्य हुआ । उपासना का स्थान भक्ति ने लेना प्रारम्भ किया और ज्ञान तथा कर्म से पीछे रहनेवाली भक्ति अब दोनो से ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान की अधिष्ठातृ बन बैठी । साथ ही 'आचार प्रभवो धर्म.' की गूँज सुनाई दी, जिसे—ऐहिक सुख को ही जीवन का साध्य समझनेवाले चार्वाकों के विकृत जीवन की प्रतिक्रिया कहें, तो अनुचित न होगा । इसीलिए आत्म-यज्ञ, आत्म-संयम तथा चरित्र-बल पर जोर दिया गया । साथ ही गीता ने शास्त्र-विधि का त्याग अनुपयुक्त सिद्ध किया ।[2]

गीता की सबसे बड़ी विशेषता ज्ञान, भक्ति और कर्म की अद्भुत समन्वय प्रवाहिणी त्रिवेणी के निनाद से भारतीय जन-समाज की आत्मा को निनादित कर देना था । वस्तुतः गीता ने वैदिक हिंसापूर्ण, ज्ञानपरक काम्य-कर्म के स्थान पर अनासक्तिपूर्ण कर्त्तव्य-कर्म की स्थापना की तथा निवृत्ति-परायण ज्ञान-काण्ड के स्थान पर प्रवृत्ति-परायण भगवद्-भक्ति को स्थान दिया । साथ ही आत्मा का अमरत्व घोषित कर चार्वाक मत के विरुद्ध पुनः पारलौकिक-जीवन का महत्त्व स्थापित किया । अतः कर्म नही, कर्मफल का त्याग करो[3] और निवृत्ति से प्रवृत्ति-मार्ग को श्रेयस्कर समझाया—इस दूसरे रूप में । भक्ति ही कर्म-परायणता के लिए प्रेरणा और

१. जनार्दनमिश्र—हिन्दू संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना अवतरणिका, ७ पृ० १ ।
२. यः शास्त्र विधिमुत्सृत्य············गीता अध्याय १६, २३ ।
३. गीता अध्याय १८, श्लोक ११ ।

उत्साह का स्रोत है । इस प्रकार कहा जा सकता है, कि भक्ति के विषय मे गीता ही सबसे प्राचीन एवं प्रथम पुस्तक है ।[१]

कालचक्र अबाध गति से प्रवहमान है । भारतीय जीवन अथवा हिन्दू धर्म का दृढ़तम आधार-स्तम्भ गीता-युग भी अधिक देर स्थिर न रह सका । महाभारत के बाद वैदिक धर्म के दो सम्प्रदाय हुए । प्रथम वामियों का तथा दूसरा सरल मार्गियों का । वामियों में वेद मुख्य तथा सदाचार गौण था, जबकि सरल मार्गियों में इसके विपरीत ।[२] परिणामस्वरूप जनता में यह विश्वास फैला कि यदि वेद सदाचार नही सिखाता या सदाचार वेदों का भक्त नही बनाता, तो दोनों ही त्याज्य है ।[३] इस प्रकार पारस्परिक विभेद के आते ही—क्षीण हुआ चार्वाक मत पुनः आजीवक सम्प्रदाय के रूप में उठ खड़ा हुआ । 'भस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' पाणिनी का यह सूत्र अवश्य ही उनकी सत्ता को सिद्ध करता है । कहते है, यही मस्कर या गोशाल महावीर का छह वर्ष तक शिष्य रह कर भी सिद्धात-विभिन्नता के कारण नए आजीवक मत का जन्मदाता सिद्ध हुआ ।[४] कुछ ने आजीविका के लिए घूमनेवालों को ही आजीवक कहा है । जो हो, बुद्ध ने आजीवक सिद्धांतों का वर्णन किया है । वे 'नियतिवाद' मे विश्वासी थे । अतः उच्च स्वर से उन्होंने जनता में प्रचार करने का प्रयत्न किया—'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम् ।' इस प्रकार जन-समाज को आलसी बना यहाँ निष्कर्मण्यता का प्रचार किया । 'उनमें न कर्म है, न क्रिया है, न वीर्य है ।' इस प्रकार उनके विषय में कहा गया है । वे पुनर्जन्म तथा मोक्ष में विश्वासी होते हुए भी 'आत्मवादी' थे ।[५]

इस प्रकार एक ओर ब्राह्मणों की बढ़ी हुई पशु–बलि एवं आडम्बरपूर्ण बाह्याचरण तथा दूसरी ओर आजीवकों का लौकिकवाद—दोनों से ही तंग जनता को उच्च क्रियात्मक आचरण की आवश्यकता अनुभव हुई । साथ ही वेदों को प्रमाणिक सिद्ध कर ब्राह्मणों का जनता पर जो प्रभुत्त्व था, उसके विरोध में तथा याज्ञिक कर्मकाण्ड की निरर्थकता में नैतिकता, सदाचरण तथा तपस्यापूर्ण जीवन की आवश्यकता अनुभव हुई। परिणामस्वरूप दोनों ओर से दबा कर निकलती हुई पवित्र स्रोतस्विनी की भाँति अवश्य ही जैन एवं बौद्ध धर्म की धाराएँ क्रमशः महावीर तथा बुद्ध के वैराग्यमय भावों का परिणाम बन कर लोक कल्याणार्थ बह निकली ।

महावीर-पूर्व २३ तीर्थकरों को ऐतिहासिक मानने पर जैन धर्म का प्रादुर्भाव लगभग ८०० ई० पू० में होना चाहिए, लेकिन जायसवाल के मतानुकूल महावीर का जन्म (६२९–५४५) ई० पू० तथा उसी के द्वारा जैन धर्म का क्रियात्मक रूप से प्रचार

१. धर्म : ब० उ० पृ० ३८ ।
२. धर्म इतिहास रहस्य : रामचन्द्र शर्मा पृ० ६१ ।
३. धर्म : ब० उ० पृ० ७८ ।
४. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ३७२ ।
५. धर्म : ब० उ० पृ० ७३ ।

भी हुआ। इसी के समकालीन बुद्ध का जन्म (६२४–५५४) ई० पू० हुआ तथा बोद्धिसत्त्व पर ज्ञान प्राप्त कर वह बुद्ध कहलाया और इसी बुद्ध धर्म का उसने प्रचार किया। विकृत ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया में प्रादुर्भूत बुद्ध धर्म में भी उपनिषदों से पर्याप्त साम्य मिलता है। कहा यहाँ तक जाता है, कि बुद्ध धर्म की मूल भित्ति उपनिषद् ही है।[1]

(१) दोनों में ही व्यक्तिगत अनुभव को महत्त्व दिया गया है।

(२) बाह्य नियमों तथा बलिदानों के प्रति अवज्ञा है।

(३) सुख चरम मोक्ष-प्राप्ति में ही है।

(४) निवृत्ति से ही भगवत्प्राप्ति सम्भव है।

(५) ससार और जीव नश्वर हैं।

(६) कर्म तथा पुनर्जन्म में भी दोनों विश्वासी है।

इतनी समताएँ होते हुए भी जहाँ बौद्ध धर्म में 'क्षणिकवाद' के अनुकूल कुछ भी स्थायी नही, वहाँ उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म और आत्मा नित्य हैं।

एक-सी ही परिस्थितियों में जन्म लेने के कारण बौद्ध एवं जैन धर्मों में निम्न समानताएँ प्राप्य है।

(१) अहिसा का महत्त्व एवं पशुबलि का विरोध।

(२) भगवान् की सत्ता में अविश्वास।

(३) वेद को प्रमाण न मानना।

(४) धर्म प्रसार में जन-सामान्य की भाषा का प्रयोग।[2]

विभेदों को देखते हुए प्रतीत होता है, कि जैन आत्मा की अनेकता, जीव और जड़ को स्थायी मानते हे। वे अपेक्षाकृत अधिक नैतिकता एवं आचार-पवित्रता में विश्वासी हैं। दैनिक चर्चा में भी हिन्दू रीति-रिवाजों के अधिक निकट हैं तथा उनके साधुओं का गृहस्थों से भी सम्पर्क होता है।

जैनों ने अहिंसात्मक उपदेशो से कर्मकाण्ड का विरोध कर, संयमशील कठोर जीवन के आदर्श को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार जीव का मूल स्वरूप शुद्ध, बुद्ध एव सच्चिदानन्दमय है। पुद्गलवा कर्म के आवरण से वह आच्छादित है, उसे हटा कर वह उच्चातिउच्च स्थिति को प्राप्त कर सकता है। कर्मानुकूल फल प्राप्ति होती है। अतः मन, वचन, कर्म से किसी को दुःखी न करना तथा संयमशील एवं सदाचारी रहते हुए अनधिकृत वस्तु तथा दान न लेना और मन को विकार रहित करने के लिए व्रत, उपवास आदि व्यक्तिगत धर्म को महत्त्व देना आवश्यक है। इसीलिए जैनों ने 'अहिंसा परमो धर्मः' मूल मन्त्र बना कर निर्वाण प्राप्ति के लिए रत्नत्रयों का निर्माण किया।[3] (१) सम्यक् विश्वास, (२) सम्यक् ज्ञान तथा (३) सम्यक् आचरण में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का विशेष महत्त्व बताया है।

---

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन पृ० २२३।

२. हि० पृ० : वि० उ० पृ० १५।

३. भा० द० : ब० उ० पृ० १४२।

बौद्ध धर्म ने—

(१) संसार दु:खमय है ।
(२) इस दुःख का कारण है ।
(३) इसका निराकरण भी हो सकता है तथा
(४) इसके निराकरण का साधन भी है ।[1]

इन चार आर्य-सत्यों का प्रचार किया तथा आचरण के लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् संकल्प (दृढ़ निश्चय), सम्यक् वचन (सत्य बचन), सम्यक् कर्मांत (दुराचार-रहित कर्म), सम्यक् आजीव (न्यायपूर्ण आजीविका), सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि—यह अष्टांगिक मार्ग निर्धारित किया है ।[2] सामान्य दृष्टि से देखा जाए, तो दोनों में विशेष मौलिक अन्तर नहीं है ।

वस्तुत: बौद्ध एवं जैन धर्म सुधार-परक सिद्धान्तों को लेकर चले और उन्होंने बिना किसी प्राचीन धर्म की सहायता लिए, केवल स्वतन्त्र विचारों और अनुभूतियों के आधार पर ही अपने आदर्शों की स्थापना की थी। भारत में सदा से ही दो चिन्ताधाराओं के व्यक्तियों ने प्रमुखता पाई है । पहले वे जो वेदों को प्रमाणिक मान कर भी उसकी व्याख्या-भेद होने के कारण अन्यान्य सम्प्रदायों के प्रवर्तक बने और दूसरे वे जिन्होंने वेदों के महत्व को अस्वीकार कर व्यक्तिगत साधना एवं अनुभूतियों के आधार पर नित नूतन-मार्ग का निर्माण किया, जो शिष्य परम्पराके विकृत होते ही समाज को अपने से अलग कर अन्धकार में छोड़ता गया ।

आलोच्य-विषय—संत परम्परा के उद्भव एवं विकास में यह मौलिक प्रवृत्ति ही प्रधान थी, इसीलिए उन्होंने भी इनकी ही तरह सिद्धान्तों एवं आचरण मे—'कथनी' और 'करनी' मे ऐक्य स्थापित कर पवित्र आचरण के द्वारा जीवन को उच्च बना साध्य (ब्रह्म) की ओर प्रगतिशील रहे ।

जहाँ जैन मत महावीर की मृत्यु के बाद राजाश्रय पाकर भी अधिक न फैल सका, केवल सुदूर दक्षिण में किसी न किसी रूप मे अपने चिह्न बनाए रखे रहा, वहाँ बौद्ध धर्म अशोक का संस्पर्श पाकर न केवल भारत बल्कि विदेशों का भी प्रधान धर्म बन गया । जो हो, जैन धर्म न तो बुद्ध धर्म की तरह जगविजय के लिए निकला और न ही प्रभावशाली ढंग से अपने अवशिष्ट बाह्य देशों में छोड़ कर भी घर में ही समाप्त हुआ ।

इस प्रकार मौर्यवंश (३२६–२१० ई० पू०) और विशेषत: अशोक (२७४–२३२ ई० पू०) के समय में उत्तरी भारत में बौद्ध धर्म का ही बोल बाला रहा । तत्पश्चात् आने वाले शुगवंश (१८५–७२ ई० पू०) तथा सातवाहन-राज्य काल (१०० ई० पू०–२२५ ईस्वी) में यद्यपि इसे राज्यप्रश्रय न मिल सका, तो भी अपने

---

१. हि० पृ० : वि० उ० पृ० १९ ।
२. भा० द० : ब० उ० पृ० १७७ ।

पुराने प्रभाव के कारण ही वह किसी न किसी रूप मे विकसित होता गया । कनिष्क (७८–१०० ईस्वी) की प्रसिद्ध सगीति में ही बौद्ध धर्म 'महायान' और 'हीनयान' शाखाओ मे विभक्त हो चुका था । हीनयान का प्रचार बर्मा, लंका, स्याम मे है, तो महायान का नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान तथा मंगोलिया मे । नागार्जुन (१५० ई०) महायान के प्रमुख आचार्य हुए है और कहा जाता है, कि उन्होंने ही तंत्रों का प्रवर्तन किया । 'ईसा की प्रथम शताब्दी मे भक्ति-धारा के अच्छी प्रकार प्रवाहित होने के कारण ही महायान-पथ का अभ्युदय हुआ ।'[१]

'हीनयान' बुद्ध के 'आत्मदीपों भव' महावाक्य को आधार मान कर अपने प्राचीन रूप मे ही सुरक्षित होकर केवल मात्र 'स्व निर्वाण' को साध्य मान कर संकुचित हो गया था । इसीलिए उदार दृष्टिवाले व्यक्तियों को धर्म के विस्तार के लिए—आचार एवं नियमों की कट्टरता से अधिक उसके प्रसार की भावना से 'महायान' के प्रादुर्भाव की आवश्यकता अनुभव हुई । उनका साध्य केवल स्वतः ही निर्वाण प्राप्ति करना नही, अपितु लोक कल्याण की भावना को भी प्रधानता देना था । इसलिए दोनो का नाम सार्थक ही सिद्ध होता है । जो हो, बन्धनों के शिथिल होते-होते वे अधिक शिथिल हो जाते हैं और तब उनमें विकार आना स्वाभाविक ही है । संतो पर योग का प्रभाव इसी महायान की शाखा प्रशाखाओं—'मन्त्रयान' 'बज्रयान' आदि का ही परिणाम है—यह आगे देखेंगे ।

जैन धर्म भी 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' दो शाखाओं में (८० ई० पू०) विभाजित हो चुका था ।[२] इनमें भी 'दिगम्बर' कट्टर, पुरातन-वादी, नग्न रहनेवाले तथा स्त्री को मोक्ष प्राप्ति नही हो सकती—इन विश्वासो को लेकर चले । जबकि 'श्वेताम्बरो का दृढ़ विश्वास था कि प्रवृत्ति का बिल्कुल नाश नही किया जा सकता । इसी मौलिक भेद के कारण वे श्वेत वस्त्रों को धारण करते थे तथा स्त्री के मोक्ष में भी विश्वासी थे ।

इस प्रकार जहाँ एक ओर जैन व बौद्ध धर्म सम्प्रदायों के चक्कर मे पड़ कर दुर्बल हो रहे थे, विशृंखलित-शक्ति-क्षीण ब्राह्मण धर्म ने पुनः सबल होने का सफल प्रयत्न किया । पद-दलित ब्राह्मण धर्म सिर उठाने की प्रतीक्षा मे ही था, कि वाकाटक (२८४–३४४ ई०) पर प्रभुत्व जमा कर शक्तिशाली समुद्रगुप्त (३४४–३८० ई०) ने गुप्त वंश (३४४–४६७ ई०) मे पुनः उसे उठ खड़ा होने की सामर्थ्य प्रदान की ।

'बोधि-वृक्ष' उखड़वानेवाला बौद्ध-धर्म विरोधी शशांक शैव था । इतना ही नहीं, तोरमान के लड़के मिहिरकुल के सिक्कों से भी स्पष्ट है, कि हूण भी शिव-उपासक बन चुके थे ।[३] इधर पुष्यमित्र के अश्वमेघ मे भी हिन्दू धर्म के उत्थान के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे । तीसरी शताब्दी में कुशान-सत्ता के उच्छेदक, शिव-

१. धर्म : ब० उ० पृ० ३९ ।
२. धर्म : ब० उ० पृ० ६९ ।
३. धर्म : ब० उ० पृ० ६९ ।

उपासक भारशिवि ने भी पुष्यमित्र के समान कई अश्वमेध यज्ञ किए तथा इस प्रकार हिन्दू-धर्म की रक्षा मे उसी परम्परा को न केवल अपनाया, अपितु विकसित कर सबल भी बनाया।

इधर बौद्ध व जैन धर्मों के साथ-साथ शैवो एवं शाक्तों का भी विकास होता रहा। ईसा के बाद इनका व्यक्तित्व और उभरा, जिसमे दो रूप थे। एक तो बौद्ध तांत्रिकों के साथ कदम मिला कर चल रहे थे, जिसमें गुह्य-साधनाओं का महत्त्व था। दूसरा निगम-आगम मूलक था, जिसमें शैव, शाक्त धारणाओं की पवित्रता अवशेष थी। दोनों ने पुराण-काल मे ही विष्णु के साथ प्रसिद्धि पा ली थी। महाभारत-समय से प्रादुर्भूत अवतारों को पुराणो ने लोकप्रिय बना दिया था। बौद्धों से आत्म-रक्षा करते हुए ब्राह्मणवाद मे विष्णु-उपासना तथा अवतारवाद का प्रचार भी इसी समय हुआ। शैव, शाक्त एवं वैष्णवों का यह नवोत्थान ही बुद्ध-धर्म के समानान्तर ब्राह्मणवादी चेतना थी। गुप्तकाल तक पहुँचते-पहुँचते ही यह ब्राह्मणवादी चेतना आज के हिन्दू धर्म के मूल-रूप मे परिणत हो गई थी। 'गुप्तो' के उत्थान के साथ ईसा की चौथी शताब्दी से 'भागवत-धर्म' आज तक निर्विघ्न चला आ रहा है।[1]

जिस प्रकार अश्वघोष ने 'बुद्ध-चरित' के माध्यम से बौद्ध धर्म का प्रचार किया, उसी प्रकार 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्', 'कुमारसम्भव' तथा 'रघुवश' के माध्यम से कालिदास ने ब्राह्मण-धर्म का। इतना ही नही, अशोक से भी अधिक जनता की धमनियो मे ब्राह्मणवाद का रक्त प्रवाहित करनेवाला शैव कालिदास ही था।[2] पर वह तान्त्रिक शैव न होकर-वेदमूलक शैव था। वह ब्राह्मण संस्कृति का अमर गायक था। 'शाकुन्तलम्' की प्रारम्भिक 'शिव-स्तुति' हमें बताती है कि शिव ही ब्रह्म था। साहित्य किस प्रकार किसी धर्म के प्रचार व प्रसार में सहायक होता है, इससे यह स्पष्ट है।

इस समय तक जो ब्राह्मणवादी चिन्तन-कर्मवाद, भाग्यवाद, वर्णाश्रम धर्म, आत्मा, परमात्मा, कर्मकाण्ड (यज्ञ, व्रत, जप, तप, दान, दीक्षा आदि) की परिधियों मे घूम रहा था,[3] सुदृढ़ गुप्त-राज्य का आश्रय पाकर उसने व्यवस्थित रूप ले लिया। इसका दूसरा महान कारण व्यवस्थित राज्य का होना भी था, क्योंकि अशोक के बाद समुद्रगुप्त ने ही इतने विशाल राज्य पर आधिपत्य किया था।[4]

सुख, शान्ति एवं समृद्धि के समय ही धार्मिक साहित्य का समुचित रूप से विकास होता है। यह कारण भी है, कि गुप्त-काल मे हिन्दू धर्म ने एक निश्चित

१. धर्म : ब० उ० पृ० ३६।

२. हि० पृ० : वि० उ० प० २६।

३. हि० पृ० : वि० उ० पृ० २८।

4. 'The peace and prosperity of these years provided the conditions in which the religious literature could do their best.'—J. N. Farquher : 'Outline of the religious literature of India.' P. 122.

दिशा पकड़ी । आज तक का हिन्दू धर्म, जिसका केवल-मात्र परिष्कृत, परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप ही है ।

यही वह महाकाव्य-युग था, जिसमें आदर्श-चरित्रों के माध्यम से कर्म को प्रधानता मिली, क्योंकि सत्कर्म का परिणाम बुरा नहीं हो सकता । इसी समय ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के कार्य अधिक स्पष्ट हुए । बलि की अपेक्षा मूर्त्तिपूजा को अधिक महत्त्व मिला तथा पूजा-सामग्री की अपेक्षा मन्दिरों को । द्राविडों ने भी मूर्त्तिपूजा को अपनाया तथा उनके पुजारियों को भी ब्राह्मणत्व का पद मिला । यही हिन्दू धर्म के उत्थान का उन्नततम समय था ।[1] संक्षेप में, ब्राह्मणत्व हिन्दुत्व में परिणत हुआ, जिसके परिणामस्वरूप ब्रह्म की सत्ता, वेदों की प्रमाणिता, कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त, वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की स्थिति, कर्म-ज्ञान तथा भक्ति के मार्ग का स्पष्टीकरण, ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के स्वरूप का ज्ञान, अवतारवाद, मूर्त्तिपूजा, वैष्णव, शैव, एवं शाक्तों के विश्वास, तीर्थ-यात्रा, गौ की पवित्रता आदि का बिखरा हुआ रूप हिन्दू-समाज के सम्मुख आ चुका था ।[2]

गुप्त-काल के अन्तिम राजाओं की दुर्बलावस्था में आक्रमणकारी हूणों ने उनकी शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया था । इस लड़खड़ाती अवस्था को हर्ष (६०६–६४७ ई०) ने एक बार फिर संभाला और इस प्रकार गुप्त-साम्राज्य द्वारा पुनः प्रतिष्ठित-धर्म को एकमात्र सम्बल मिला और वह विभिन्न शाखाओं में—मत-मतान्तरों में विभक्त होकर भी विकसित होता ही रहा, लेकिन भारत की यह अखण्डता आगामी ६००, ७०० वर्षों तक—देहली के सुलतानों के राज्य पर अधिकार करने तक, कायम न हो सकी ।

गुप्त-काल में ही ब्राह्मणों ने जनता को साथ न लेकर चलने की गलती को बौद्धों से अपनाया था ।[3] दूसरी बात यह न भूल जानी चाहिए, कि अब तक का हिन्दू धर्म आर्य और द्राविड़ विश्वासों का मिश्रित धर्म है ।[4] जहाँ एक ओर हिन्दू धर्म का बाह्य रूप में विकास दृष्टिगोचर होता है वहाँ इसकी मार खाकर, सामान्य जन-समुदाय को प्रभावित करने के लिए बौद्ध आदि धर्म क्रिया-प्रधान होने लगे । क्योंकि गुप्त-काल पुराणों के प्रचार का युग रहा है । तब तक बौद्ध धर्म चढ कर उतर चुका था और उसी के प्रभाव में आकर मन्त्र-तन्त्र प्रधान महायान अब तक पूजा-पाठ को अपनाकर अवतारवाद में विश्वासी बनता जा रहा था, इस प्रकार उसका उदार हिन्दू धर्म में विलयन हो रहा था । सम्भवतः इसीलिए हर्ष के समय विष्णु व बुद्ध के धार्मिक उत्सव एक साथ होने लगे थे ।[5] यही बौद्ध धर्म जब अपने स्वतन्त्र अस्तित्व

---

१. रि० हि० : आर० एस० शर्मा पृ० २८ ।
२. रि० हि० : आर० एस० शर्मा पृ० ३० ।
३. रि० हि० : आर० एस० शर्मा पृ० २३ ।
४. वही पृ० ३२ ।
५. हि० पृ० : बि० ड० पृ० २८ ।

से उच्च जनता को न प्रभावित कर सका, तब साधना आदि क्रियाओ से निम्न-वर्ग को प्रभावित करने के चक्कर मे ही 'वामाचार' के दलदल मे फँस कर सदा के लिए अपना विशुद्ध रूप खो बैठा। एक अन्य विद्वान् की दूसरी मौलिक उद्भावना यह भी है, कि हर्ष के बाद छोटे-छोटे राजपूत राज्यो के कारण वीर-भावना का प्रसार हुआ, जो अहिंसा की विरोधी है। ऐसी अवस्था में बौद्ध धर्म के विकास का अवरोध आवश्यक ही था।[1]

इस प्रकार क्रिया प्रधान बौद्ध धर्म की सक्रियता महायान के भी दो 'यान' 'मन्त्रयान' तथा 'बज्रयान' के प्रादुर्भाव का कारण सिद्ध हुई। ईसा की छठी शताब्दी से ही सिद्धि-प्राप्त्यर्थ उन्होंने गुह्य-क्रियाएँ प्रारम्भ कर दी। शैवमत मे पाशुपत, कापालिक (अघोरी) आदि भी इसी दिशा मे अग्रसर हुए। इतना ही नहीं, वैष्णव मत की गोपी-लीला तथा तन्त्र-सम्प्रदाय में आनन्द-भैरवी की पूजा—सब इस एक ही दिशा मे प्रयाण था। इस प्रकार वाममार्गी एव क्षीण होते हुए बौद्ध धर्म से (बाह्य रूप से राजाश्रय का अभाव तथा आन्तरिक रूप से भिक्षुकों की विलासिता-पतन के ये दो कारण थे) तत्कालीन शैवों ने सघ, योग तथा समाधि के तत्त्व ग्रहण किए और वैष्णवों ने भक्ति तथा रथ-यात्रा आदि। उदारता एवं समन्वय-वादिता की विशेषता को लेकर चलनेवाले हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म को हजम कर लिया। इतना ही नही, आगे चल कर १२ वी शताब्दी मे जब उनके मठों पर तुर्को ने हमले किए, तो भिक्षुकों के तिब्बत भागते ही हिन्दू वहाँ के भक्त बन बैठे और शैव साधुओं ने मठों पर अपना आधिपत्य कर लिया।

ज्ञान की धारा अति क्षीण हो चुकी थी। कर्म विकृत रूप धारण कर इन तान्त्रिकों एवं योगियों के हाथ मे पहुँच गया था और वैष्णव-धर्म के माध्यम से इस समय भक्ति का प्रसार हो रहा था। ऐसे ही समय भारतीय क्षितिज पर शंकर की ज्योति ज्योतित हुई।

शंकर—

विगत २५०० वर्षों मे भारत के धार्मिक क्षितिज पर बुद्ध, शंकर और कबीर तीन अविस्मरणीय ज्योतियाँ अवतरित हुई। तीनों ने ही समय की पुकार के अनुकूल युग को ऐसा जीवन-दर्शन दिया, जो सदियों तक समाज का नेतृत्त्व करता रहा और युग-युगान्त तक के लिए न केवल इस पवित्र भूमि पर ही, अपितु सम्पूर्ण बौद्धिक जगत् पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ गया। आठवीं शताब्दी में हमारे आलोच्यकाल के मध्यबिन्दु के रूप में चतुर ब्राह्मण नेता शंकर ने जन्म लिया। जबकि जनता जैनियों के कठोर तथा बौद्धों के भ्रष्ट आचरण से तंग आकर नए मार्ग की खोज में थी। उसी समय शंकर ने समाज की अवस्था को ठीक-ठीक परखा और यही कारण है, कि उसने बुद्धिवादियों के सम्मुख 'अद्वैत' का सिद्धान्त रक्खा, तो आचारवादियों के

१. हि० पु०: वि० ज० पृ० ३४।

सम्मुख व्यावहारिक 'स्मार्तमत' जिसे सर्वसाधारण अपना सके।[1] शकर ने समतावादी श्रमण-सस्कृति का उच्छेदन कर पुनः विषमता एव शोषण पर आधारित ब्राह्मण-सस्कृति की प्रतिष्ठा की।[2]

अत. पुन. धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणो को सौपने का श्रेय शकर को ही दिया जा सकता है। वैदिक कर्मकाण्ड के उद्धार के साथ पौराणिक धर्म का प्रसार हुआ। निम्न जातियो को कुछ सुविधाएँ अवश्य दी। शंकर ने ही जप, तप, व्रत, उपवास, दान, सस्कार, प्रायश्चित्त आदि का महत्त्व पुन. प्रतिपादित किया। इतना ही नही, जैसा कि अनुश्रुति मानती है, कि शकर ने ही पंचदेवोपासना—विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश तथा शक्ति की उपासना पर भी जोर दिया।[3]

संक्षेप में ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के लिए शकर का 'अद्वैत' प्रबल अस्त्र सिद्ध हुआ। इसका सबसे बड़ा कारण यह था, कि पथभ्रष्ट वाम-मार्गियो के विरुद्ध शंकर ने राष्ट्रीय पैमाने पर ऐसा क्रान्तिकारी आन्दोलन खड़ा कर दिया था, जिसका विरोध करने की शक्ति किसी में न थी। वस्तुतः यह काल ही भारतीय-धर्म-साधना मे प्रतिभा और मेधा के विकास का युग रहा है। मण्डन मिश्र जैसे बुद्धिवादियो पर विजय ने शंकर की प्रभा को और प्रभावोन्मेषिणी बना दिया। समय की पुकार को सुन शकर ने 'अहिंसा' को स्वीकार कर अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। इसी कारण सभी आचारवादी अविरोध शंकर के अनुयायी बनते गए। विचार क्षेत्र में शंकर का मत जितना प्रतिक्रियावादी था—व्यवहार क्षेत्र में उतना ही उदार, यह हम ऊपर देख ही आए है।

परिणामस्वरूप अवैदिक मतो की कड़ी आलोचना कर ब्रह्म और जीव की एकता घोषित करना ही शंकर की इस युग को ऐतिहासिक देन थी।[4] आगे चल कर यमुनाचार्य और रामानुज से लेकर रामानन्द तक सभी वैष्णव आचार्य शंकर से भिन्न मत रखते हुए भी इसी परम्परा में आए। इसीलिए निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है, कि भारतीय दर्शन तो एक ही है और वह है अद्वैत वेदांत। अन्य दर्शन तो उस तक पहुँचने के सोपान मात्र है।[5]

शंकर से कबीर तक की भारतीय धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रमुखतः दो स्रोतों से होकर बह रही थीं। प्रथम उत्तरी भारत के वे तान्त्रिक-मत जो महायान से निकल मन्त्रयान, बज्रयान, सहजयान, कालचक्रयान और न जाने कितने ही काल-कवलित सम्प्रदायों मे विभक्त थे और इन्हीं के समानान्तर बहुत कुछ मिलती-जुलती सिद्धों, नाथों और योगियों की परम्परा जहाँ एक ओर 'सन्त मत' के निर्माण के पोषक तत्त्वों का संग्रह

१. हि० पृ० : वि० उ० पृ० ११७।
२. हि० पृ० : वि० उ० पृ० ११६।
३. भाग० : ब० उ० पृ० २४।
४. हि० पृ० : वि० उ० पृ० ३४।
५. धर्म : ब० उ० पृ० २१३।

कर रही थी, वहाँ दूसरी ओर सुदूर दक्षिण में आडवार भक्त तथा पुन: वैष्णव आचार्य होकर भी भक्त—भक्ति के स्वर को उच्च करने में लगे हुए थे। इन दो प्रधान धाराओं के अतिरिक्त जैन मरमी शैवो मे वीर शैवमत, लिगायत, कापालिक तथा लकुलीश, कौल तथा सामयिन सम्प्रदायों के माध्यम से शाक्त तथा वैष्णव सहजिया और इन सबसे अलग कर्म तथा ज्ञान प्रधान भक्ति के संयोजक—ज्ञान को प्रश्रय देनेवाले वारकाटी सम्प्रदाय के साथ 'महानुभाव पंथ', 'हरिदासी सम्प्रदाय' आदि भी महाराष्ट्र में पनप रहे थ। भारतीय मध्ययुग की धर्म-साधना इन्ही सम्प्रदायों की प्रवृत्तियों का इतिहास है और सन्त मत है इन्ही मे प्राप्त पोषक तत्त्वो के आधार पर निर्मित मानव-धर्म की रूपरेखा। उसे समझने मे इनका अध्ययन सहायक होगा, अत इन पर विचार किया जाता है।

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमंत्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात्तन्त्रमित्यमिधीयते॥[1]

मन्त्र सहित विपुल अर्थों का विस्तारक एव रक्षक होने के कारण 'तन्त्र' कहा जाता है। यद्यपि सभी आगमों को तन्त्र कहा है, तो भी प्रसिद्ध तीन ही है—वैष्णव, शैव एवं शाक्त। इनके भेद-विभेद होते हुए तथा सैद्धान्तिक रूप से सबमे थोडा बहुत भेद होते हुए भी इनमे बहुत-सी समताएँ प्राप्त है।

ये अपने उपास्य को परम-तत्त्व समझते है तथा जगत् को उसी का परिणाम। वह प्रकृति से परे है। भगवान् के क्रमिक अभ्युदय मे विश्वास करते हैं तथा उपास्य देवता की शक्ति के साथ-साथ ईश्वर की इच्छा एवं क्रिया-शक्ति मे विश्वास रखते हैं। सांख्य में त्रिगुणों (सत्त्व, रज, तम) को मानते है। उपासना मे वर्ण एवं लिंग भेद न मानते हुए भक्ति को महत्त्व देते हैं। बीज, मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा, भूतसिद्धि तथा कुण्डलिनी योग की साधना करते है। धर्म-चर्या एव क्रिया आदि में भी विश्वसनीय है। पारिभाषिक शब्दो मे भेद होते हुए भी इनके आगमो का मूल-स्वर एक ही है। पांचरात्रों एवं शाक्तों में शब्द भेद होते हुए भी मन्त्र, यन्त्र, न्यास, दीक्षा, गुरू आदि तत्त्व जिसमे हों, उसे ही उडरफ ने तन्त्र-शास्त्र कहा है। आगमों को तन्त्र प्रभावित मानना पड़ता है।[2]

ईसा की छठी शताब्दी के बाद यह जो एक नई प्रवृत्ति मिलती है, इसे ही 'तान्त्रिक प्रभाव' कह सकते है।[3] ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि सभी धर्म मत १०वी शताब्दी तक आते-आते पूर्णतया तान्त्रिक हो गए थे। बौद्ध धर्म को 'श्वदति निक्षिप्त-क्षीरवदनुपयोगि'[4]—'कुत्ते की खाल मे पड़े हुए दूध की तरह अग्राह्य' बतानेवाले

१. शक्ति एण्ड शाक्त : सर जान उडरफ पृ० १८।
(अ) 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इतितन्त्रम्' बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन पृ० ५१०।
२. जान उडरफ : शक्ति एण्ड शाक्त पृ० २४।
३. म० स० : आ० द्वि० पृ० ६।
४. तन्त्रवार्त्तिक : कुमारिल भट्ट।

आचार्य कुमारिल भट्ट के विरोध में संसार भर में प्रचलित बौद्ध धर्म एक बार तो भारत से उखड़ खड़ा हुआ, तब अन्य छोटे-मोटे सम्प्रदायों की सत्ता का तो कहना ही क्या ?[१]

वस्तुतः हर्ष पतन के बाद से ही तान्त्रिक उपासना बढ़ती गई। गुह्य साधनाओं की अभिव्यक्ति रहस्यवादी वाणी में प्रारम्भ हुई।[२] बौद्ध ही नहीं, उनके साथ शैव तथा शाक्त तान्त्रिकों ने भी इन क्रियाओं में उनका साथ दिया। अन्यान्य मतों का प्रचार हुआ, जिनमें भक्ष्याभक्ष्य का कोई विचार न रहा। सुरा-सुन्दरी सेवन, नर-बलि, श्मशान-साधना आदि भयंकर एवं असामाजिक क्रियाओं का श्रीगणेश हुआ। धीरे-धीरे इन तान्त्रिक साधनाओं ने प्रबल रूप धारण कर लिया।

ऐसा ही एक अन्य नीलाम्बर सम्प्रदाय वेश्या, सुरा तथा काम इन्हें 'त्रिरत्न' बताता है। सम्भवतः इनका भी बज्रयान से सम्बन्ध रहा है।[३]

इनमें कापालिकों का मत विशेष उल्लेखनीय है, जिनका मत है कि 'शिवोपि शवतां याति कुण्डलिन्या बिवर्जित'[४] अर्थात् शक्ति के बिना शिव भी शव-तुल्य हो जाता है। इनमें आन्तरिक क्रियाओं को विशेष स्थान प्राप्त हुआ। इस प्रकार ब्राह्मण-वादी शास्त्रीयता के विरोध में अति गुह्य साधनाओं में भ्रष्ट हुए वाममार्गी, कौला-जारी आदि जो सम्प्रदाय अलग रहे, उन्हें ब्राह्मणों और नाथों दोनों ने ही आड़े हाथों लिया। इस प्रकार छठी से १० वी शताब्दी तक ये तान्त्रिक मत एक विशाल भू-खण्ड को प्रभावित किए रहे।

वस्तुतः बुद्ध धर्म में इस प्रकार के वाममार्गी तान्त्रिक यानों के पैदा होने का कारण मानव-मनोविज्ञान एवं समाज-शास्त्र से अधिक सम्बन्ध रखता है। ऋषि आश्रमों में सपरिवार निवास करते थे और बौद्ध भिक्षु मठों में एकाकी। प्रकृति की स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भावना को न तो दबाया ही जा सकता था और न ही खुल्लम-खुल्ला उसका प्रचार किया जा सकता था। इसीलिए इसकी प्रतिक्रियास्वरूप वीभत्स गुह्य पाप अपने चरम की ओर अग्रसर हुए।[५]

लेखक की यह मौलिक उद्भावना धर्म-विकार के अन्वेषकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आर्कषित करती है।

'मन्त्र' की उचित-अनुचित व्याख्या में ही 'मन्त्रयान' पथभ्रष्ट हुआ और ७२२ ई० में मरनेवाले ७१ वर्षीय 'बज्रबोधी' से 'बज्रयान' का प्रारम्भ मानना अनुपयुक्त नहीं, यद्यपि तिब्बतवाले बौद्ध तांत्रिको की प्रथम पुस्तक का लिखा जाना छठी शताब्दी में ही मानते हैं।[६]

---

१. नाथ सम्प्रदाय : आ० ह० प्र० द्विवेदी।
२. हि० पृ० : वि० उ० पृ० २४१।
३. म० सा० : आ० द्वि० पृ० १२।
४. म० सा० : आ० द्वि० पृ० ४१।
५. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ३८७।
६. आ० रि० : फर्कुहर पृ० २१०।

जो हो, 'मन्त्र' को केवल मात्र बाह्य साधना का अंग समझ कर बज्रयानियों का लक्ष्य एक मात्र महासुख की प्राप्ति था, जिसका साधन है ,महामुद्रा'। इनके आन्तरिक रहस्यों को न समझने के कारण अपनी इच्छानुकूल निम्न जाति की किसी स्त्री को चुन कर उसके सहवास में ही इनकी 'महामुद्रा' की साधना चलती थी और क्लिष्टतम शारीरिक साधनाओं से अप्राप्य 'महामुद्रा' उसके सहवास एवं कामोपभोग से सुलभ होती थी। 'सहजयानी' भी इसी प्रकार 'युगनद्ध' को महत्त्व देते थे। सम्भवतः इसीलिए तान्त्रिक साधना व्यक्तिगत होने के कारण गोप्य थी।[1] उन्होंने निवृत्ति मार्ग के विरोध में प्रवृत्ति मार्ग को अपनाकर अन्तिम लक्ष्य 'महासुख' ही रखा था।[2] लेकिन उसके लिए चित्त की शुद्धि व शान्ति आवश्यक थी। यह मत सिद्धान्त में बज्रयान के निकट था, परन्तु समयानुकूल इन दोनों की साधनाओ में भेद स्पष्ट हो चुका था। हिन्दू, शैव, जैन व बौद्धो की कटु साधना-पद्धति की आलोचना कर अपने 'सहज' मार्ग की स्थापना के कारण ही इसका नाम 'सहजयान' पड़ा। इसी प्रकार 'महायान' की एक अन्य शाखा 'कालचक्रयान' भी किसी न किसी रूप में कुछ समय के लिए समाज में अपना स्थान बनाए हुए थी। उसमे काल सम्बन्धी बातो को महत्त्व दिया गया था तथा ज्योतिष का प्रभाव भी स्पष्ट ही उस पर लक्षित होता था। इस प्रकार ११ वी शताब्दी के बाद यह तान्त्रिक स्वर सिद्धो में अपना विरोधी स्वर पाकर क्षीण होता गया, पुन नाथो और योगियो ने यद्यपि इसी प्रकार की शारीरिक साधनाओं को महत्त्व दिया, लेकिन ऐसा कहा जाता है, कि उसका स्रोत इनसे न लेकर उपनिषदों से लिया। 'नाथ-सिद्धों' की योग प्रक्रिया उपनिषद् मूलक है, बौद्ध तन्त्र मूलक नहीं।[3]

शंकर एवं बौद्ध तांत्रिकों के समानान्तर ही प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की परम्परा सातवी से १०वीं शताब्दी तक उत्तरी भारत में विकास पर थी और शंकर के बाद तथा भक्ति के आन्दोलन से पहले अद्वितीय व्यक्तित्त्व लेकर चमकनेवाले गोरखनाथ ने इसी परम्परा के विकास में 'नाथ-सम्प्रदाय' को विकसित किया। आगे चल कर दसवीं से तेरहवी शताब्दी तक उत्तरी भारत की धार्मिक लगाम इन नव-नाथों एवं योगियों के हाथ मे ही रही—ऐसा कहे, तो अत्युक्ति न होगी।[4]

सिद्धों ने बौद्धों के कठिन साधनात्मक जीवन के स्थान पर मानवीय जीवन का सहज भोगमय रूप ही आदर्श माना। ब्राह्मणों के वर्णाश्रम धर्म मे भी उन्होंने अविश्वास प्रकट किया। वेद एवं शास्त्रों में विश्वासी होने के स्थान पर उन्होंने आत्मानुभूति और उससे भी बढ कर सहजानुभूति पर विश्वास प्रकट किया। 'पंचमकार', 'युगनद्धावस्था' आदि का साधना मे विशेष महत्त्व रहा तथा चाण्डालों,

---

१. भा० द० : ब० ड० पृ० ५१४।
२. हि० पृ० : वि० उ० पृ० २४८।
३. भा० द० : ब० उ० पृ० ३४६।
४. हि० पृ० : वि० उ० पृ० ३४।

डोम्बी, धोबिन आदि के सहवास से सहज ही 'महामुद्रा' की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाया। इस प्रकार 'काया-साधना' के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी यौन-पिपासा इनके जीवन का ध्येय बन गई थी। व्रत, उपवास आदि का इन्होंने तीव्र विरोध किया था। इस प्रकार स्पष्ट है, कि सिद्ध ब्राह्मण धर्म के तो पूर्णतया विरोध में थे ही, साथ ही बौद्ध तांत्रिकों से अपनी साधना के कुछ तत्त्व संगृहीत करके भी सैद्धांतिक रूप मे उनसे अलग ही थे। इन्हीं सिद्धों की परम्परा में 'नाथ-सम्प्रदाय' का प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ हुआ। वस्तुतः ईसा की ११वीं शताब्दी में सभी अवैदिक मत 'नाथ-सम्प्रदाय' की पताका के नीचे एकत्रित हुए। इसका कारण धार्मिक के साथ-साथ देश में राजनैतिक परिवर्तन भी था। उदारतम हिन्दू-धर्म को जो आज तक आक्रमणकारियों के धर्म को अपने अनुकूल बना कर अपनाता रहा था—मुस्लिम आक्रमणों के बाद—यहाँ राज्य स्थपित करने के समय पहली बार धर्म-रूप मे अपने आप को संगठित करने की आवश्यकता अनुभव हुई।[1] अब तक का विशृंखलित हिन्दू धर्म वैदिक-अवैदिक, अन्यान्य मतो में विभक्त था, लेकिन इस्लाम धर्म के भयंकर मेघों से आच्छादित भारतीय गगन को देख सभी मतों ने अपने को वेद-प्रामाण्य सिद्ध किया। शैव एवं शाक्तों ने भी ऐसा ही प्रयत्न किया।[2]

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत इतने सब सम्प्रदायों का होना इसी बात का साक्षी है, कि इसमें स्वतन्त्र बौद्धिक विकास के लिए प्रोत्साहन दिया गया है। किन्तु सम्यक् व्यवहार के लिए इसमें सर्वदा कट्टर व्यवस्था रखी गई है, क्योंकि इसका प्रभाव समाज की रचना पर पड़ता है। विचारों की स्वतन्त्रता, किन्तु जीवन में कट्टरता, हिन्दू धर्म की ये विलक्षणताएँ इसके दीर्घ विकास काल में सर्वदा विद्यमान रही है। फलतः इसके दर्शन शास्त्रों में तो इतने वर्ग और विभेद हैं, किन्तु सामाजिक और पारिवारिक जीवन में उतनी ही स्थिरता है।[3]

सम्भवतः इसीलिए भारतीय धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है, कि वह एकांतिक धर्म है। यहाँ सिद्धान्तों की नहीं, आचार की प्रधानता है। व्यक्ति का आचरण उच्च होना चाहिए, चाहे वह भगवान के किसी भी रूप का पुजारी हो, समाज में कैसी ही स्थिति रखता हो—धार्मिक हो सकता है। इसके विरुद्ध इस्लाम मज़हब सामूहिक है।[4] कोई काफ़िर नही है, इसके बाद वह कुछ भी हो सकता है, पर धार्मिक अवश्य है। ऐसी भयंकर स्थिति देख कर छोटे-छोटे सम्प्रदायों में विभक्त भारतीय धर्म एक क्षण तो तटस्थ हो अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखने की प्रतीक्षा में रहे, लेकिन शीघ्र ही उन्होंने अनुभव कर लिया, कि ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखना कठिन है, इसीलिए उन्होंने उस युग के सबलतम व्यक्तित्व के रूप में

---

१. कबीर : आ० द्वि० पृ० १७२।
२. म० सा० : आ० द्वि० पृ० ७२।
३. हिन्दू धर्म : एनीबेसेंट प० ४।
४ कबीर : आ० द्वि० पृ० १७२।

पाया गोरख को और उसी को अपनी धार्मिक साधना का पथ-प्रदर्शक माना।[1] वस्तुतः इस प्रकार एक ही पताका के नीचे एकत्रित होनेवाले सम्प्रदायों की दो प्रमुख धाराएँ थीं। एक तो तांत्रिक एवं सिद्धों के अवैदिक मतानुयायी सम्प्रदाय जो योग मार्ग के अनुयायी होते हुए भी शैव न थे और दूसरे शिव एवं शक्ति के उपासक होते हुए शैवागमों के अनुयायी थे, पर योग मार्ग के इतना निकट नहीं।[2]

सिद्धों के 'शून्य' व शंकर के अद्वैत से ही नाथों ने 'द्वैताद्वैत विलक्षण' सिद्धांत का निर्माण किया, जो अपने मूल में अद्वैत ही है।[3] नाथों ने 'माया' को भी शंकर से ही लिया है, बहुत थोड़े भेद के साथ।[4] इसीलिए उसे 'नटिनी', 'सर्पिणी' आदि अनेक नाम लेकर संसार का विनाश करनेवाली बताया है। सिद्धों व नाथों ने ज्ञान नहीं, अनुभूति को प्रधानता दी। वैदिक मतों से यह इनका मौलिक भेद सदा ही बना रहा है। वस्तुतः अब तक धर्म-चेतना बुद्धिवादियों एव क्रियावादियों के हाथ में थी। बौद्ध मत विभिन्न 'यानों' के माध्यम से धीरे-धीरे क्रियावादियों मे सिमट चुका था। बज्रयान एवं सहजयान में तर्क-पद्धति का स्थान साधनाएँ ले चुकी थीं। धर्म का आधार साधक की श्रद्धा ही बन चुकी थी। बज्रयान की यह खण्डन-पद्धति ध्वंसात्मक थी, रचनात्मक नहीं। समाज को आगे ले जाना एवं उसका उत्तरदायित्व अपने पास रखने की भावना इनमें न रह गई थी—अतः घोर एकांतिक साधनाओं के जंजाल में फँस कर—जन-सम्पर्क खोकर—बौद्ध धर्म अपने अन्तिम रूप में आत्मविलास में ही डूब गया था।

'नाथ-सम्प्रदाय' और कुछ नहीं, जहाँ धार्मिक क्षेत्र में इसकी प्रतिक्रिया-मात्र ही था, वहाँ राजनैतिक विलोड़न के परिणामस्वरूप अस्त-व्यस्त समाज को भी उसने स्थिरता प्रदान की थी।

वेदांतियों के ज्ञान-मार्ग से इनका मौलिक भेद रहा। वे श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा इन्द्रियों तथा मन की चंचलता को दूर करने में विश्वासी थे, लेकिन योग-मार्गियों का विश्वास था, कि जब तक समाधि द्वारा बाह्यप्रवृत्तियों को अंत.प्रवृत्तियों में परिणत नहीं कर लिया जाता, तब तक सब साधना व्यर्थ है। इसीलिए इन्होने अपनी साधना-पद्धति मे हठयोग का विशेष स्थान रक्खा है।

'शैव' मत से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण—तथा गोरख को 'शिव' का शिष्य स्वीकार करने पर नाथों का जीवनोद्देश्य 'शिवत्त्व' की प्राप्ति ही है, जिसका साधन है 'हठयोग'—इसी के भेद हैं, मंत्रयोग, लययोग, राजयोग।[5] यह हठयोग अमरत्व की प्राप्ति का साधन बताता है, जिससे साधक 'शिव' बन जाता है।

१. म० सा० : आ० द्वि० पृ० ७३।
२. वही : आ० द्वि० पृ० ८१।
३. कबीर : आ० द्वि० पृ० ३२।
४. हि० पृ० : वि० उ० पृ० ३५।
५. वही : पृ० ३११।

इसे 'उल्टी साधना' भी कहते हैं. क्योंकि इसमें प्राणवायु, कुण्डलिनी आदि को नीचे से ऊपर की ओर उठाना रहता है। पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में। वहाँ शिव और शक्ति दो तत्त्व है, जिनमें शिव स्थिर तथा शक्ति क्रिया-शील एवं चंचल। शक्ति ही इस आवागमन एवं परिवर्तन का कारण है। योगी का कार्य है, उसकी निम्नप्रवृत्तियों को रोकना। हठ योग का लक्ष्य है सूर्य एवं चंद्र को मिला देना[1]—(ह=सूर्य, ठ=चंद्र)। प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करना और वहाँ से नि.सृत 'रस' से (अमृत) को 'दशमद्वार' तक पहुँचा कर उसका पान कर अमर होना। इस प्रकार साधना द्वारा नवद्वार बंद कर 'ब्रह्मरंध्र' मे 'अमृत रस' का स्राव अनुभव करना ही इसका प्रधान लक्ष्य है। इसके लिए प्राणायाम का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। काया-शोधन, मनोमारण, संयत जीवन पर इन्होंने अत्यधिक बल दिया तथा साथ ही 'आत्म-चिंतन' निराकारपद-सेवन, अजपा-जाप एवं आत्म-तत्त्व पर विचार की ही महत्ता प्रतिपादित की। स्त्री—कामिनी के रूप में साधना की दृष्टि से बाधक है, अतः उसकी निन्दा कर—उसे चोर, डाकू, प्यासी बिल्ली, भूखी शेरनी और बाघिन तक कहा है।[2] कबीर आदि संतों में भी यह बात इसी रूप मे मिलती है। इसका कारण नाथों के पास सामाजिक दृष्टि का अभाव ही था।

मेरुदण्ड, अनहदनाथ, षड्चक्र, इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना आदि का इनकी साधना मे विशेष स्थान रहा है और इसी के माध्यम से वे अपनी साधना को सार्थक बना कर 'शिवत्व' रूपी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते थे। इसी का एक अन्य सम्प्रदाय थोड़े से सैद्धांतिक मतभेद के साथ 'रसायन-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बौद्ध-तांत्रिक सहजयान एवं नाथपंथ में यह मौलिक अन्तर है, कि सहजयानी 'महासुख' को और नाथ 'अमरत्त्व' को अपना लक्ष्य मानते रहे।[3] दोनों की 'काया-साधना' पद्धति में भी भेद है। पहले जहाँ नारी के सम्पर्क से उसे सहज मानते रहे, दूसरे उसी का विरोध करते रहे। वस्तुतः इन घोर एकान्तिक गुह्य क्रियाओं की प्रतिक्रिया में ही नाथपंथ का अभ्युदय हुआ। इस प्रकार योगी के चिह्न मुद्रा, नाद, विभूति तथा आदेश बताए गए। मुद्रा का महत्त्व तो 'नास्ति मुद्रा समं काचित् सिद्धिदा क्षिति मण्डले' से ही स्पष्ट हो जाता है। इसी कल्याणदायिनी 'मुद्रा' को क्षुरिका से फाड़े हुए कान में पहनाया जाता था। 'नाद' का महत्त्व 'अनाहत' शब्द से स्पष्ट किया जाता है। आदेश—आत्मा, परमात्मा तथा जीवात्मा—तीनों के मिलन को कहा गया है।[4] इस प्रकार सभी शब्द अपने में गहन आध्यात्मिक अर्थ को छिपाए हुए हैं। अतएव गुरू की महत्ता को स्वीकार करना आवश्यक एवं अनिवार्य था। इसलिए अनायास ही वह अत्युच्च स्थान का अधिकारी बन गया। ध्यान से देखा जाए, तो जहाँ सिद्धांत

१. हि० पृ० : वि० उ० पृ० ३१४।
२. वही : पृ० ३१७।
३. वही : पृ० ३३०।
४. कबीर : आ० द्वि० पृ० २१।

रूप में शांकाराद्वैत तथा शैव सम्प्रदाय से नाथ-योगियों ने अपने तत्त्व संगृहीत किए वहाँ साधना-पद्धति में बहुत कुछ बौद्ध सिद्धों एवं जैन मुनियों की परम्परा एवं प्रति-क्रिया में ही प्राप्त किया।

जो हो नाथों ने कर्म-क्षेत्र में उस साधना-पद्धति का निर्माण कर दिया था, जिसके योग तत्त्व से कबीर और बहुत देर तक चली आनेवाली 'सन्त-परम्परा' विशेष रूप से प्रभावित हुई।[1] न केवल यौगिक साधना, अपितु सम्पूर्ण योग की आन्तरिक शब्दावली भी कबीर आदि सन्तों ने परवर्ती योगियों से ही परम्परा में ही प्राप्त की। इस दृष्टि से सिद्ध, नाथ एवं योगियों का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता और इसीलिए विज्ञ लेखक ने गोरख के महत्त्व को इन शब्दों मे प्रकट करने का प्रयत्न किया है।

शंकर के पश्चात् दूसरा महान् व्यक्तित्व जिसने उत्तरी भारत को सबसे अधिक प्रभावित किया; जिसने सुधारक प्रवृत्ति से वाममार्ग, ब्राह्मणवाद के विरुद्ध अपनी एक विशिष्ट परम्परा स्थापित कर जनता को चमत्कृत किया, नाथ पंथ का प्रचारक गोरख ही था।[2]

मानव-मात्र में हृदय का विशिष्ट स्थान है, इस बात को उत्तर के सभी मत-मतान्तर भूले हुए थे। इसी दिशा में दक्षिण का प्रयास स्तुत्य रहा। जिस भक्ति की प्रथम किरण, गीता के उपदेश के साथ निकली थी, वह भिन्न-भिन्न समयों में प्रभुत्व पाती रही। दक्षिण भारत में १२ आडवार भक्त इस भक्ति के स्वर में स्वर मिला कर ही भगवान् के निकट पहुँचने में प्रयत्नशील थे। वे हृदय की कोमल वृत्तियाँ भगवान् को अर्पित कर नाम, जप, पूजा कीर्तन आदि से आराध्य को रिझाने के प्रयत्न में थे। वस्तुतः यह पांचरात्र संहिताओं के अभ्युत्थान का काल था। श्रेडर ने कुछ संहिताओं का अस्तित्त्व ईसा से पूर्व भी माना है।[3] फर्कुहर ने अधिकांश संहिताओं का निर्माण काल ६ठी से ८वी शताब्दी माना है। शैव आगमों की भाँति इनमें भी चार विषयों का प्रतिपादन है।

(१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव तथा जगत् के पारस्परिक सम्बन्धो का निरूपण।

(२) योग अर्थात् मोक्ष की साधनभूत प्रक्रियाओं का वर्णन।

(३) क्रिया अर्थात् देवालय निर्माण, मूर्तिस्थापन, पूजा आदि।

(४) चर्या अर्थात् नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियो एवं यत्रों की पूजा-पद्धति, पर्व विशेष के उत्सव आदि इनमे ज्ञान का तो नाम-मात्र का वर्णन है, जब कि तत्त्वज्ञान, मंत्रशास्त्र, यंत्रशास्त्र, मायायोग, योग, मन्दिर

---

१. कबीर : आ० द्वि० पृ० ४१।
२. 'गोरखनाथ और उनका युग'—डा० रांगेयराघव, भूमिका।
३ श्रेडर : एन इन्ट्रोडक्सन टु दि पांचरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता, भूमिका।

निर्माण, संस्कार, उत्सव आदि विषयों का विस्तार से वर्णन है।[1]

शंकर के समय में इनका प्रचार न हो ऐसी बात नहीं, लेकिन उस समय भी ये आडवार भक्त अपनी भक्ति में तल्लीन अवश्य थे। हाँ! इनका स्वर प्रचारवादी अवश्य ही न था। इस प्रकार विक्रम की सातवीं से दशवीं शताब्दी तक तामिल देश मे ऐसे भक्त गायकों का प्रादुर्भाव हुआ था, जो भक्ति के उल्लास में एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर तक भजन गाते फिरते थे।[2] इनमें शैव एवं वैष्णव दोनों ही थे। 'आडवार' का तामिल में अर्थ है 'अध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने-वाला'। ये आडवार संत अधिकतर निम्न जातियों के ही थे। दक्षिण में जाति-पाँति तथा वर्ण-अवर्ण के विरुद्ध सर्वप्रथम क्रांतिकारी स्वर इनका ही था—हाँ। कबीर आदि की तरह इनमें अक्खड़ता न होकर नम्रता, उदारता, शील तथा शिष्टता की ही अधिकता थी। तिरुमगे डाकू थे, अन्दाल भक्तिन भी नीच जाति की ही थी। नम्म व शठकोप इनमें प्रसिद्धतम भक्त हुए हैं। जिन्होंने प्रचलित वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव में से माधुर्य को ही महत्त्व प्रदान किया। 'प्रबन्धम्' जो इनका धार्मिक ग्रन्थ है, उसे 'तामिल-वेद कहा जाता है। इसे बारहवीं शताब्दी में वैष्णव आचार्यों ने सम्पादित किया था। इनकी भक्ति का चरम इससे प्रतीत होता है जब भक्त कहता है—भगवन्! न मैं तुम्हारे बिना हूँ और न ही तुम मेरे बिना। परन्तु मुझे शरण दिए रखना।[3]

कबीर, रैदास आदि में भी इसी प्रकार के भाव दृष्टिगोचर होते हैं, यह हम आगे चल कर देखेंगे। जो हो इनका महत्त्व इस बात में है, कि शंकर के 'अद्वैत' की प्रतिक्रिया में रंग मुनि (८२४-९२४ ई०) अथवा नाथ मुनि (जो नम्म की शिष्य परम्परा में ही थे) प्रथम आचार्य होने के साथ-साथ भक्त भी थे। शंकर सम्भवतः भक्ति का महत्त्व न समझ सके थे, अथवा 'अद्वैत' प्रतिपादन में भक्ति की 'द्वैत' भावना से दूर रह कर ही उन्होंने वेद विरोधी स्वरों का खंडन कर बौद्धिक स्तर पर अद्वैत वेदांत प्रतिपादित किया था। आडावरों के अभाव में हो सकता था, सभी वैष्णव-सम्प्रदाय शंकर की ही भाँति शुष्क बौद्धिकता के आधार पर केवल अपने-अपने दर्शन की प्रतिष्ठा करते। हमारे आलोच्यकाल के संतों के पास भक्ति की जो लहर रामानन्द आदि के माध्यम से पहुँची, वह मूल रूप से इन्ही से प्रवाहित हुई थी।

भक्ति का स्रोत ढूँढते हुए फर्कुहर ने लिखा है—

'In the Suetasvara Siva is introduced under his old name Rudra, and for the first time in Hindu Literature, devotional

---

१. श्रेडर : एन इन्ट्रोडक्शन टू दि पांचरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता पृ० २६।

२. म० सा० : आ० द्वि० पृ० ४१।

३. जे० एस० कपूर : हिम्स अफ दि आडवार्स पृ० १२।

feeling, **Bhakti**, is spoken of as due to him.[१]

बलदेव उपाध्याय ने भी इस मत का समर्थन किया है। इस प्रकार हम देखते है कि नवीं शताब्दी तक दक्षिण मे विष्णु की पूजा होती थी, जो दसवीं शताब्दी तक आते-आते कृष्ण के रूप में होने लगी। रहस्यवादी और कवि आडवारों के बाद चिन्तन एवं मननशील आचार्यों का युग आया। इनका उद्देश्य भक्ति और कर्म के साथ ज्ञान का सम्मिश्रण था।[२]

ऊपर हम देख आए हैं, कि रामानुज के आदि गुरू नाथ मुनि (रंग मुनि) नम्मलवार नायक शूद्र की शिष्य परम्परा मे थे। इसीलिए उन्होंने निम्न वर्ग के प्रति उदार होकर गुरू-ऋण चुकाया, ऐसा कहें, तो अनुपयुक्त नही। रंग मुनि के बाद यमुनाचार्य वैष्णवों के प्रसिद्ध आचार्य हुए। इन्होंने 'आत्मसिद्धि', 'ईश्वरसिद्धि' तथा 'मायाखण्डन' आदि का प्रचार किया। यही प्रसिद्ध रामानुज के गुरु थे। शांकाराद्वैत से असंतुष्ट रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया। वे शंकर के मायावाद से पूर्णतया असंतुष्ट थे। इसी समय मजेदार बात यह हुई, कि श्रीरगम् का चोल नरेश, जो कट्टर शैव था, उसने 'शिवात्परतरो नास्ति' का घोष निनादित किया और रामानुज वहाँ से भाग कर मैसूर पहुँचे और वैष्णव धर्म का प्रचार करते रहे।

शंकर के 'मायावाद' का खण्डन[३] कर रामानुज ने ईश्वर, जीव व जगत् की स्थिति मानी है। ईश्वर विशेष्य है, तथा जीव और जगत् उसके विशेषण। दूसरे, उपनिषदों ने ब्रह्म को निर्गुण न कह कर—सगुण व सविशेष ही कहा है। इस प्रकार जीव अनेक हैं, ब्रह्म से उनका अंशाशी भाव है[४] तथा ब्रह्म सर्वज्ञ एवं जीव अज्ञ है। इतना ही नहीं, शंकर मुक्ति में जीव-ब्रह्म का ऐक्य विधान करते हैं। रामानुज जीव का अस्तित्त्व समाप्त नहीं होने देते, अतः मुक्ति में जीव तल्लीन हो जाता है, जिसका साधन ज्ञान न होकर भक्ति है।

शंकर की घोर बौद्धिकता-समाज की प्रतिभा को प्रभावित कर सकती थी—बौद्धों का उच्छेद कर सकती थी—ज्ञान का प्रचार कर सकती थी—वेदांत की प्रतिष्ठा कर सकती थी, पर कभी भी जन-प्रिय नहीं हो सकती थी—क्योंकि जनता विद्वत्ता का आदर करती है, लेकिन अपना नहीं पाती, क्योंकि बौद्धिक नहीं होती। ईश्वर और मोक्ष की रामानुजीय कल्पनाएँ अधिक मनोवैज्ञानिक, मनोरम एवं स्वाभाविक सिद्ध हुईं और समय के अनुकूल अत्यधिक जन-प्रिय भी। इससे स्पष्ट है, कि रामानुज का यह भक्ति आंदोलन मानव की मुक्ति का शंकर की अपेक्षा कहीं

१. आ० रि० : फर्कुहर, पृ० ५६।
२. रि० हि० : आर० एस० शर्मा पृ० ४१।
३. हि० पृ० : वि० ड० पृ० १३८।
४. वही : पृ० १४८।

अधिक सफल साधन बना ।[1]

भक्ति का यह आंदोलन क्रांतिकारी न होते हुए मानवतावादी उदार धर्म था, लेकिन दूसरी प्रबल शक्ति ने ही कबीर जैसे दृढ़ हठयोगियों को अपनी धार में बहा लिया। तुलसी जैसे भक्तों को भक्ति के विषय में भेद-भाव भुलाने पर विवश कर दिया। मानव की प्रतिष्ठा का श्रेय इस भक्ति आन्दोलन को ही है, जिसके क्रान्तिकारी रूप में ऐतिहासिक प्रवर्त्तन का कार्य रामानुज ने ही किया है। आचार्यों ने तर्क एवं युक्ति द्वारा ज्ञान मार्ग पर भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर—भक्ति की उपादेयता सिद्ध की। आडवारों का मार्ग था प्रपत्ति—शुद्ध वैष्णव भक्ति, लेकिन आचार्यों ने भक्ति के साथ कर्म का मंजुल समन्वय भी कर दिया था। आडवार हृदय प्रधान थे, तो आचार्य मस्तिष्क प्रधान।

शूद्र नम्म की शिष्य परम्परा में रामानुज ने जब मंदिर पर खड़े होकर 'ओं नमो नारायणाय' की घोषणा कर निम्न जातियों को भक्ति का अधिकारी बना अपनी उदारता का परिचय दिया—तो गुरु ने नर्क मे जाने का शाप दिया। जिसका उत्तर देते हुए आचार्य बोले—'भगवन्! यदि इस महामंत्र का उच्चारण कर हजारों आदमी नर्क की यंत्रणा से बच सकते हैं, तो मुझे नर्क भोगने में ही अधिक आनन्द होगा'।[2] यह उनकी महानता का परिचायक सिद्ध हुआ।

समयानुसार वर्णाश्रम धर्म के बन्धनों को ढीला कर दिया गया—यह भी एक कारण था, कि जनसमाज भक्ति की ओर झुक सका। जो हो, रामानुज (सं० १०८४-११९४) के 'विशिष्टाद्वैत' के बाद निम्बार्क (सं० ११७१-१२१९) ने 'द्वैताद्वैत' के आधार पर राधाकृष्ण की भक्ति प्रतिपादित की।[3] तत्पश्चात् मध्वाचार्य (सं० १२५४-१३३३) ने 'द्वैत' सम्प्रदाय के अनुकूल भक्ति को उच्चतम स्थान पर बिठाया। इन आचार्यों में से मध्व ही थे, जिन्होंने अति तीव्र स्वर में शंकर के 'अद्वैत' एवं 'ज्ञान' का खण्डन किया था और पूर्णतया 'द्वैत' का समर्थन कर भक्ति की प्रतिष्ठा स्थापित की थी। भक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर वल्लभाचार्य (सं० १५३६-१५८७)[4] आए तथा उन्होंने ही भक्ति में पुष्टि-मार्ग की स्थापना कर माधुर्य भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित की, जो युग-युगातर तक भारत की जनता को अपने मधुर रस से आप्लावित करती रही।

प्रत्येक सम्प्रदाय की साधना-पद्धति एवं लक्ष्य (मुक्ति के स्वरूप) में भी थोड़ा

१. 'The faith preached by him (Ramanuja) appealed more to the common people and won them to its worship, because he emphasised devotion to a personal god, and thus opened the way of Salvation to the lower classes no less than to the higher'.

(D. A. Pai, Religious Sects in India among Hindus P. 8.)

२. हि० पृ० : वि० उ० पृ० ११८।

३. उ० प० : प० च० पृ० ८४।

४. उ० प० : प० च० पृ० ८५।

बहुत भेद था। 'श्री सम्प्रदाय' वाले वर्णाश्रम-विहित कर्मो का पालन करते हुए चित्त-शुद्धि के द्वारा प्राप्त भक्ति से ही मुक्ति में विश्वासी थे। इनकी मुक्ति में 'तल्लीनता' का विशेष स्थान है। भक्ति के बिना मुक्ति सम्भव नही। 'श्री सम्प्रदाय' वाले जहाँ लक्ष्मी या नारायण को इष्टदेव मानते थे, वहाँ 'सनक सम्प्रदाय' वाले राधा व कृष्ण को। 'वल्लभ सम्प्रदाय' वाले 'श्री नाथ' की विधिवत् पूजा मे विश्वासी थे, तो 'चैतन्य सम्प्रदाय' वाले पूजा को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए नाम-स्मरण को ही अधिक महत्त्व देते थे।

यही वैष्णव-शैव मतों के रूप में जीवित ब्राह्मणवाद, जो स्मृतियों, पुराणों तथा बुद्ध काल में बने सूत्रों पर आधारित था, संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि मे था। जिसका दार्शनिक प्रवाह अनेक रूप लेता रहा—जो भक्तिवाद के रूप में, प्रथम शंकर के यहाँ व्यावहारिक रूप से तथा रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ के यहाँ ध्येय रूप से मान्य हुआ। बौद्ध धर्म को अपने गर्भ में विलीन करने वाला यह मत ही अवतारवाद, रूपोपासना तथा नाम-जप आदि के रूप मे आगे बढ़ा। इस प्रकार वैष्णव आचार्यो ने तर्क-पद्धति से भक्ति का दार्शनिक आधार पुष्ट किया, किन्तु साधना-पद्धति में तर्क के स्थान पर हृदय-पद्धति को आश्रय दिया। शंकर ने बौद्धों को उत्तर देना था और वैष्णवों ने जन-सामान्य में भक्ति का प्रचार करना था।[१] तो भी वल्लभ को छोड़ कर कोई भी वैष्णव आचार्य ब्रह्म के सगुण रूप को निर्गुण से श्रेष्ठ नहीं ठहराता। सब यही स्वीकार करते हैं, कि यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है, परन्तु कुछ कारणों से वह अवतार लेता है और अवतारी ब्रह्म तथा निर्गुण-ब्रह्म में कोई भेद नहीं।

इस प्रकार 'मायावाद' की प्रतिक्रिया में भक्ति के स्थापक इन आचार्यों में कुछ भेद होते हुए भी बहुत सी समताएँ प्राप्त हैं। सभी ने 'मायावाद' का खंडन कर ईश्वर, जीव व जगत् में भेद स्वीकार किया है। सभी व्यवहार में ईश्वर के सगुण रूप के समर्थक थे। मध्व ने तो पूर्णतया 'द्वैत' की स्थापना की। सभी ने भक्ति को उच्च स्थान देकर ज्ञान को केवल उसके साधन रूप में स्वीकार किया है। 'प्रपत्ति' जो पहले केवल शूद्रों के लिए स्वीकृत थी, सभी के लिए स्वीकृत हुई। कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि की उपेक्षा कर चित्त की शुद्धि, शरणागति, जप, कीर्तन आदि को महत्त्व दिया गया। इस प्रकार भक्ति-आंदोलन में सभी जातियों और वर्णो ने भाग लेकर—इसके सामान्य तत्त्वों को इस रूप में छोड़ा, कि आनेवाले साहित्य के माध्यम से वे एक युग तक भारतीय जनता मे प्राणों का संचार करते रहे। क्योंकि हिन्दू संस्कृति का आधार दर्शन है, दर्शन पर ही धर्म और धर्म, पर साहित्य का विशाल-मन्दिर बना हुआ है।[२] जो जनता की चित्त-वृत्तियों के प्रतिनिधित्व के साथ-साथ उनका परिष्कार भी करता है।

जो हो, रामानुज की शिष्य-परम्परा में होनेवाले रामानन्द का इन आचार्यों

---

१. हि० पृ० : वि० उ० पृ० १२०।

२. हिन्दू संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना : जनार्दन मिश्र पृ० १।

से भी अधिक महत्त्व इस दृष्टि से है, कि उन्होंने 'श्री सम्प्रदाय के कठोर नियमों को स्वीकार नहीं किया। संस्कृत को छोड़ जन-साधारण के लाभ के लिए हिन्दी का आश्रय लिया। इनका दूसरा ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण कार्य पूजा-पद्धतियों को प्राधान्य देकर, भजन-भाव के महत्त्व को स्थापित करना था। निकृष्ट गुणों से रहित होने के कारण ब्रह्म को निर्गुण कहा है और यही निर्गुण ब्रह्म कबीर, सेना, धन्ना, पीपा तथा रैदास को इन्हीं की देन है। इस प्रकार प्रचार की दृष्टि से द्राविड़ में जन्म लेनेवाली भक्ति को उत्तर में ले जाने का श्रेय इन्ही को प्राप्त है।[१] उत्तर मे फैल रहे शुष्क और कठोर योग को भक्ति रसाप्लावित करने का कारण रामान्द का उदार एवं विशाल हृदय ही था। परिणामस्वरूप हम देखते हैं, 'संतमत' के निर्माण में इनका कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्भवतः इसीलिए 'ग्रंथ' के संतों में इन्हें भी स्थान मिला है।

योग और भक्ति की इन दो शक्तिशाली धाराओं के अतिरिक्त दक्षिण मे ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आडवार संतों के बाद अनेक संतों ने जनवादी परम्पराएँ स्थापित की। शैव, शाक्त, तथा वारकाटी सम्प्रदाय भी अपना महत्त्व बनाए बैठे थें।

शैव-मत की प्राचीनता हम ऊपर देख आए हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दी में जबकि बौद्ध तांत्रिक तीव्रता से आचारभ्रष्ट हो रहे थे, उन पर इन्ही शैवों का प्रभाव भी देखा गया था। बाद में विकृत शैव साधनाओं का सुधार करने तथा संकीर्ण ब्राह्मणवाद का विरोध करने के लिए शैवों में लिंगायतों का उद्‌भव दक्षिण-भारत में हुआ। 'लिंग' को सिर पर धारण करने के कारण ये लिंगायत कहलाए।[२] 'लिंगायत' अद्वैतवादी हैं, पर शंकर के अद्वैत से भिन्न। वे प्रवृत्ति-मार्गी है, जीवन से पलायन नहीं, अपितु वीरतापूर्वक उसका मुकाबला कर निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश देते हैं, इसीलिए इन्हें 'वीर-शैव' कहा गया है।[३] सिद्धांतरूप से वीर शैव मत तथा लिंगायतों में भेद नहीं, पर आचार मे भेद आ गया। सामान्य रूप से शैव वर्णाश्रम० यवस्था में विश्वासी हैं, लेकिन कहते है, कि लिंगायत मत के प्रवर्त्तक 'वसव' ने वर्णान्तिर विवाह करवा दिया था, जिसके परिणामस्वरूप उस ब्राह्मण व चमार की आँखे निकलवा दी गई थीं। भारत में उग्र सुधारक भी शीघ्र सफल नही हो पाते—इतिहास में इसके इसी प्रकार के अनेकों प्रमाण बिखरे पड़े हैं।

कापालिक भी इनका ही एक विशेष सम्प्रदाय रहा है, इन्हीं मे से एक कापालिक था, किम्वदन्ती के अनुसार जिसने शंकर से भेट कर उसे सुरा व रक्त भरा कपाल धारण करने का उपदेश दिया था और शंकर से कापालिकों को शाप दिलवाया था। कापालिक, कालामुख आदि उग्र उपासनाओं के करनेवाले कई सम्प्रदाय थे। सुरा-सुन्दरी सेवन का इनमें विशेष महत्व रहा है।[४]

१. हि० पृ० : वि० उ० पृ० १४२।
२. हि० पृ० : वि० उ० पृ० २९३।
३. वही : पृ० २९०।
४. म० सा० : आ० द्वि० पृ० ४२।

'लकुलीश' जो पाशुपत सम्प्रदाय के संस्थापक अथवा उद्धारक माने जाते हैं, शैव सम्प्रदायों में विशेष स्थान रखते है ।

इनमें शिव और शक्ति दोनों का ही विशेष स्थान है, क्योंकि, सिसृक्षा होने पर शक्ति ही सृष्टि के रूप में बदल जाती है । 'प्रत्यभिज्ञा' (भूले हुए ज्ञान की पुनः पहिचान) दर्शन की स्थापना तथा 'नियति' का महत्त्व इन्होने हमारे सम्मुख रखा । संत तो नही, पर प्रसाद (कामायनी मे) अवश्य इससे प्रभावित हुए ।

शक्ति के सात रूप तो एक युग से माने चले आते है । इनमें देवी उपासना का तीसरा रूप जो काम-वासना को लेकर चला, इस युग में उसी का प्रचार हुआ ।[1] 'शाक्त' मत में शक्ति की महत्ता को स्वीकार किया गया है । 'ब्रह्मा' जब सृष्टि का उत्पादन करने में असमर्थ सिद्ध हुए तो उन्होंने शक्ति से प्रार्थना की । इस प्रकार शक्ति का महत्त्व होते हुए भी नर तत्त्व (शिव) को ग्रहण किया है, पर केवल साधन रूप में । इनमें कौल तथा सामयिन दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध है । कौल तो किसी स्त्री को मद्य, मांस, मधु मत्स्यादि का सेवन करा कर स्वतः भी उसी का सेवन करते थे, लेकिन सामयिन इन क्रियाओं से घृणा करते थे । कबीर को इन कौल शाक्तों का ही सम्पर्क प्राप्त हुआ था, तभी उन्हे कटुतम शब्दो मे उनकी आलोचना की आवश्यकता अनुभव हुई । उनका अप्रकाशित साहित्य उनकी गुह्य-साधनाओ की ओर सकेत अवश्य करता है, पर अभी तक प्रकाश डालने मे समर्थ नही ।

आठवी-नवी शताब्दी मे प्रसिद्ध जैन मरमी भी हुए ।[2] सैद्धांतिक रूप से शैव-शाक्तों से इनका भेद होते हुए भी साधना में बहुत कुछ ये पवित्र बन कर उसी रूप में चल सके । इनके मत में आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही अनेक है लेकिन सभी परमात्माओं के गुण एक से होने के कारण उन्हें एक भी कह सकते है ।[3]

जीव कंचुक में आबद्ध है, उससे मुक्त होने पर वह स्वयं परमात्मा बन सकता है । यह पद ज्ञान से प्राप्य है, जो ज्ञान केवल चित्त-शुद्धि से । अतः चित्त-शुद्धि के बिना मोक्ष किसी प्रकार भी प्राप्य नहीं ।

बाह्याचार का विरोध, चित्त-शुद्धि पर जोर देना, शरीर को ही समस्त साधनाओं का आधार समझना तथा समरसी भाव से स्व-संवेद्य आनंद का उपभोग—जिससे जीव ही शिव हो जाता है—इनकी साधनाओं की विशेषताएँ हैं । कबीर आदि निर्गुण साधकों में भी ये बातें इसी स्वर में बहुतायत से मिलती है । चित्तशुद्धि का महत्त्व इनकी अपनी देन है । जो हो, मध्य-युग की धर्म-साधना में इनका अस्तित्त्व भी भुलाया नहीं जा सकता ।

बंगाल में बौद्ध-मत का नाश करनेवाले 'पाल-वंश' के बाद 'सेन-वश' में 'वैष्णव सहजिया' सम्प्रदाय के उत्थान के लक्षण दीख पड़ते हैं । ये बौद्ध सहजयान

१. हि० प्० : बि० उ० पृ० २७६ ।
२, म० सा० ; आ० द्वि० पृ० ४४ ।
३. वही : पृ० ५५ ।

का वैष्णव रूप ही प्रस्तुत करते हैं। इनमें प्रेम, वह भी 'परकीया प्रेम' का महत्त्व प्रतिपादित किया है[1]। स्वकीया में वह तड़पन नहीं, अत. भगवान के प्रति प्रेम का आदर्श परकीया ही है।[2] इन्हीं में जयदेव, विद्यापति तथा चंडीदास का चैतन्य पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वे लौकिक और अलौकिक प्रेम-- दोनों को महत्त्व देते है, क्योंकि लौकिक प्रेम ही धीरे धीरे अलौकिक में परिणत हो जाता है, परन्तु यह सर्व सुलभ नहीं, अतः कठोर अनुशासन की आवश्यकता बताई है। इस प्रकार कृष्ण और राधा के प्रेम की अलौकिकता में ही जो पीड़ा प्रदर्शित की है, वह हिन्दी साहित्य को इन भक्तों की अनन्य देन है। ऐसे ही जयदेव स्वतः हमारे आलोच्य-काल के संतों में से एक हैं।

इन सब सम्प्रदायों से अधिक महत्त्वपूर्ण महाराष्ट्र का वारकाटी सम्प्रदाय था। पुण्डरीक इसके प्रवर्तक हैं[3], तथा बिट्ठलनाथ उपास्यदेव। इसके प्रमुख प्रचारक ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ आदि संत हुए हैं। इस कारण यह सम्प्रदाय जनसमाज में विशेष रूप से आदृत रहा है। विसोवा खेचर के शिष्य नामदेव (१२७०-१३५० ई०) के पद दैन्य, आत्म-समर्पण तथा भक्ति के तत्त्वों से ओत-प्रोत हैं। नामदेव स्वयं छीपी जाति के थे, तथा वर्ण-व्यवस्था के कट्टर शत्रु। पूजा को महत्त्व न देकर कीर्तन के प्रशंसक हुए हैं। क्योंकि ज्ञान-शून्य भोले-भाले लोगों को अपनाने के कारण ही इनके उपास्य देव बिट्ठल कहलाए थे।[4]

ये भक्ति को फूल तथा ज्ञान को फल मानते हैं। इस प्रकार इनकी सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि सिद्धांत में अद्वैतवादी होते हुए भी व्यवहार में ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय इनकी वाणी में मिलता है।

वस्तुतः कबीर, नानक आदि संतों का प्रारम्भिक रूप हमे इन महाराष्ट्रीय संतों में ही मिलता है। नामदेव हमारे आलोच्य काल के संतों मे अपना विशेष स्थान रखते हैं।

'इस प्रकार कबीर के प्रसिद्ध निर्गुण पंथ का बीजारोपण करते हुए नामदेव जी को देखते हैं।'[5] डा० वि० मोहन शर्मा ने इसे और दृढ़ शब्दों मे कहा है।

विदेशी आक्रमणों ने भारत की सांस्कृतिक शक्ति को एक बार अवश्य ही अव्यवस्थित कर दिया था। अब तक के आक्रमणकारियों को भारतीयों ने अपने अनुकूल बना कर अपना लिया था, क्योंकि उनकी अपनी कोई सभ्यता न थी अतः मुगलों के आक्रमण तक भारत की एक सामान्य सभ्यता थी।[6] इन आक्रमणों के साथ

१. भा० सा० : ब० उ० पृ० ४८१।
२. हि० पृ० : वि० उ० पृ० २६८।
३. हि० पृ० : वि० उ० पृ० २०५।
४. भा० स० : ब० उ० पृ० ५७०।
५. हिन्दी संत काव्य संग्रहः सम्पा० परशुराम चतुर्वेदी—गणेश प्र० द्विवेदी पृ० २२।
६. 'India had therefore a common culture till the Mohammadan Conquest.' रि० हि० : आर० एस० शर्मा पृ० ४८।

सम्बद्ध इस्लाम धर्म का यहाँ प्रवेश इस युग की महान् घटना थी, विशेषत: उन विदेशियों के लिए—जिन्होंने भारत के राजनैतिक परिवर्तन को ही—यहाँ की धार्मिक विचार-धारा के परिवर्तन, परिवर्धन एवं विकास का आधार मान लिया। आज इन अनु-मानों पर आधारित विश्वासों का आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'कबीर' एवं 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में बड़े दृढ़ शब्दों में सप्रमाण खण्डन कर—धार्मिक क्षेत्र में होनेवाली क्रिया-प्रतिक्रिया के महत्त्व को हमारे सम्मुख रखा है।

उनका मत है, कि भारतीय एवं बाह्य धर्मों में ३६ के ३ और ६ का सम्बन्ध है। एक जातिगत विशेषता रहते हुए भी व्यक्तिगत धर्मसाधना का पक्षपाती था, तो दूसरा समूहगत धर्म मत का। एक चरित्र की शुद्धता से व्यक्ति की उच्चता देखता था, तो दूसरा उसके काफिर न होने से।[1] उच्चतम आचरण का व्यक्ति भी उस धर्म के बाहर रह कर स्वर्ग का अधिकारी नहीं—और उस धर्म की शरण आते ही स्वर्ग के द्वार उसके लिए खुल ज़ाते हैं।

इस धर्म-प्रचार के विरुद्ध देश के सब सिद्धांत, सब विचार, सब मत और सब आचार मिल कर स्वत: अपना स्थान बनाने लगे। परिणामस्वरूप परस्पर सम्बद्ध होकर हिन्दू धर्म ने प्रत्यक्ष क्रियात्मक रूप धारण कर लिया। इसलिए धर्म आचरण प्रधाम हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास आदि को महत्त्व प्रदान किया गया। अब तक के आचारभ्रष्ट व्यक्तियों को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। वे समाज की परवाह किए बिना ही अपना अलग समूह बनाए रहते थे। योगी भी इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय था, जो न हिन्दू थे, न मुसलमान। जिन पर मुस्लिम जाति का दबाव पड़ा, वे उधर परिणत हो गए, लेकिन जो समाज की पुरातन विशेषताओं में विश्वासी थे, वे समय पाकर पुन: इसी हिन्दू धर्म का अंग बनते गए। इसीलिए जिन्होंने सूफियों की प्रेम-साधना को कबीर मे ढूंढा है, उन्होंने वैष्णवों की भक्ति के महत्त्व को पहिचाना ही नहीं। यही कारण है, कि अभारतीय तत्त्व से उन्हें कबीर के अन्त:करण का निर्माण करना पड़ा है। दूसरा वे यह भूल जाते हैं, कि वैष्णव भक्ति सूफियों के आने के पहले ही भारत में पनप चुकी थी और सब से बड़ी बात यह है, कि दोनों के भक्ति-भाव में मौलिक मनोवैज्ञानिक अन्तर है। राधा के पुजारी यहाँ उसके दास ही रह सकते है,[2] अन्य कोई लौकिक सम्बन्ध नही स्थापित कर सकते। अत: सूफियों से संतों में 'भक्ति' का विकास समझना बहुत बड़ी भूल करना होगा। हाँ! जयदेव आदि की तड़पन की देन के साथ-साथ सूफियों की भी देन मानी जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते है, कि नाथ व सिद्ध, ब्राह्मणों के समानान्तर खड़े हो शताब्दियों उन से लड़ते रहे, परन्तु सर्व-साधारण का ध्यान न रखने के कारण कोरे 'व्यक्तिवाद' ने उन्हें पीछे धकेल दिया।[3] इतना ही नहीं, इनकी परम्परा में आगे

---

१. कबीर : आ० द्वि० पृ० १७।
२. हि० प०: वि० उ० पृ० ४०।
३. हि० पृ०: वि० उ० पृ० २६।

आनेवाले संतों ने उनकी साधनापद्धति को अपना कर भी - वैष्णवीय भक्ति को ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

इस प्रकार संत मत का स्रोत जहाँ एक ओर नाथ-पथ की योग पद्धति में निहित है, वहाँ दूसरी ओर वैष्णवीय-भक्ति से वह अपने तत्त्व संगृहीत कर रहा था। सत्य तो यह है, कि धर्म-साधना ऐसी जीवन्त वस्तु है, जो अपने पोषक तत्त्वों का सग्रह आस-पास के मत-मतांतरों से करती रहती है। दीर्घ काल से प्रचलित धार्मिक विश्वासों, सामाजिक और वैयक्तिक आचरणों के मानदण्डों तथा विभिन्न सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत सिद्धांतों पर या तो आक्रमण किया गया है या उनके सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया गया है।[१] जो हो, अनेक उथल-पुथल के बाद भारतीय जनता का स्तर-भेद प्राय: दृढ़ व स्थिर हो चुका था, जबकि निर्गुण-भक्ति साहित्य का बीजारोप हुआ, वस्तुतः आज का 'संत मत' इस भक्ति-मार्ग का ही साहित्य है। इसमे भी ध्यान देने की बात यह है, कि उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। आचार्य जी के शब्दों में - एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा, एक प्रेम को दुर्बलता समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर, एक को अपने पर भरोसा था, तो दूसरे को राम पर—इस प्रकार एक योगी था तो दूसरा भक्त। वस्तुतः इन दो धाराओं का अद्‌भुत मिलन ही निर्गुण-धारा का वह साहित्य है, जिसकी आरम्भिक अवस्था ज्ञान की कथनीवाले मार्गों का ही अन्तिम रूप रही होगी। कबीर आदि ने केवल इसका स्पष्टीकरण-मात्र किया है। इनमें ज्ञान-प्रवण नैतिकता का स्वर प्रधान है और योग सम्बन्धी मार्ग गौण। 'इसी ज्ञान-प्रवण नैतिकता प्रधान योग-मार्ग के खेत मे भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहर लता उत्पन्न हुई, उसीका नाम निर्गुण धारा है।'[२]

और इस लता का सर्व कल्याणकारी पुष्प 'संत मत' के रूप मे विकसित हुआ। यही संत मत के विलास की पृष्ठभूमि है, जो सदियों से धीरे-धीरे इस मत के संग्राहक तत्त्वों को अपने गर्भ में निहित किए थी, जिनका समयानुकूल उचित समन्वय ही 'संत मत' में परिणत हुआ।

---

१. म० सा०: आ० द्वि० पृ० ८६।
२. वही: पृ० ६६।

द्वितीय अध्याय

'श्री गुरू ग्रंथ साहिब' : एक परिचय

विश्व की महान् विभूतियाँ काल प्रसूत होती है।[१] उनकी महानताएँ उनकी वाणी के द्वारा युग-युग तक जन-जीवन को जागृत करती है तथा इस प्रकार जाति, राष्ट्र व जगत को अपने महान् संदेश से निरंतर निनादित कर सफल जीवन की ओर प्रेरित करती रहती है। सभ्य बौद्धिक मानव की जिज्ञासा ने अनंत की अनंत रहस्यमयी क्रीड़ाओं को देख कर जिस रहस्यवाद को जन्म दिया, वह भारत ही नही, अपितु जगत के प्राचीनतम ग्रंथों से भी अज्ञेय बना रहा। इसीलिए 'एकं सद्विप्रा बहुदा वदन्ति'[२] की भावना आस्तिक, नास्तिक, क्रिया प्रधान, आचरण प्रधान, ज्ञानी, यौगी सभी को पार करती हुई भारत के उज्ज्वलतम नक्षत्र मध्यकालीन संतों की अनुभूति के माध्यम से अभिव्यक्त हुई और संगृहीत हुई 'श्री गुरू ग्रंथ साहिब' में।

इस प्रकार 'ग्रंथ' पवित्र अनुभूति की सरल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति के माध्यम से जहाँ जगत के लिए उच्चकोटि की रहस्यवादी कविता का स्रोत है, वहाँ काव्यत्त्व की दृष्टि से उसके कुछ गीत[३] जो आज तक पंजाबी साहित्य में उत्कृष्टतम स्थान पाए हुए है, संसार की सभी विकसित भाषाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखते है।

'ग्रंथ' न केवल तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है, अपितु मानव मन की चित्त वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित कर न केवल भारत, अपितु मानव-मात्र के मन की शाश्वत समस्याओं का सुलभाव भी हमारे सम्मुख रखता है।

यह एक युग से चली आनेवाली भारतीय धर्म ग्रंथो की बौद्धिक, अतः विवादास्पद टीका प्रस्तुत करने के स्थान पर आध्यात्मिक अनुभूतियों द्वारा दर्शन एवं

१. बर्कले।
२. ऋग्वेद २, ३, २३, ६।
३. मोरी रुणझुण भाया' (राग बडहंस) आदि।

जीवन में ऐक्य स्थापित करता हुआ 'मंत्र द्रष्टारः' ऋषियों के निकट जा पहुँचता है। क्योंकि विद्वता का आदर किया जा सकता है, पर श्रद्धा तो चरित्रवान् के प्रति ही हो सकती है, और 'ग्रंथ' में ऐसे ही संतों के न केवल आध्यात्मिक अपितु लौकिक अनुभूतियों के भी मर्मभेदी छींटे संगृहीत हैं।

कला की दृष्टि से 'ग्रंथ' में संगीत एवं राग का महत्त्व अनुपम है। उसकी मौलिकता, वैज्ञानिक विकास तथा क्रमबद्धता संसार के किसी भी धार्मिक ग्रंथ से कम नहीं। उसकी भाषा कहीं ब्रज तथा कहीं पंजाबी है प्रत्येक प्रान्तीय भाषा का विशाल शब्द भांडार उसमें अनायास ही मिल जाता है और भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि से सभी भारतीय भाषाओं के विकास की कहानी कहने में उसका कितना महान् योग है, इसे भुलाया नहीं जा सकता।

इन सबसे बढ़ कर भारत के राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन की पुकार के प्रत्युत्तर में सिख धर्म एवं जाति को जन्म देना है, जिसकी वीरता की सत्ता तत्कालीन औरंगजेब ही नहीं, आज तक चले आनेवाले विश्व के विश्व-विजयी राष्ट्रों ने भी मुक्तकंठ से स्वीकार की है। यही 'आदि ग्रंथ' से 'गुरू ग्रंथ' में परिणत होते हुए कालप्रसूत 'ग्रंथ' की महत्ता है।

धार्मिक क्षेत्र के क्रांतिकारी शंकर ने श्रमण संस्कृति का उच्छेदन कर ब्राह्मण संस्कृति की प्रतिष्ठा की थी। हर्ष की मृत्यु के बाद से ही जो बौद्ध धर्म अपने स्वस्थ रूप में नष्ट-प्रायः हो चुका था, वह शंकर के इस प्रहार को न सह सका। उसने तीव्रता से तांत्रिक मत का रूप ग्रहण किया। इस प्रकार प्रथम वह 'बज्रयान' पुनः साधना भेद के कारण 'मंत्रयान' तथा साधनाओं के और सहज हो जाने के कारण 'सहजयान' के नाम से तांत्रिकों के स्वर को और भी क्षीण करता हुआ जैसे तैसे ११वीं शताब्दी तक जीवित रहा। तब विकृत किन्तु गुह्य साधनाओं एवं भोग में परिणत हो इन 'यानों' ने ही बौद्ध धर्म को अपने में हजम कर लिया।

ऐसे ही समय राज्य सत्ता के माध्यम से अभारतीय धर्म का प्रवेश हुआ और सभी संत्रस्त भारतीय अवैदिक मत गोरख के नेतृत्त्व में संरक्षण पा संगठित हुए। यही वह 'नाथ-सम्प्रदाय' था, जिसकी साधना पद्धति (हठयोग) ने १६वीं शताब्दी तक उत्तर भारत के सभी योगियों को प्रभावित किए रखा। न केवल कबीर आदि संत ही अपने पहले जीवन में इनसे प्रभावित रहे, अपितु गुरुओं ने भी 'देह-रक्षा' का महत्त्व सम्भवतः इन योगियों से ही जाना। जहाँ उन्होंने देह को अनावश्यक कष्ट देने का विरोध किया है, वहाँ स्वस्थ एवं सबल देह की रक्षा का संदेश भी दिया है।

शंकर के अद्वैत की प्रतिक्रिया में दक्षिण के नम्म आदि आडवार भक्त और भी प्रखर स्वर में भक्ति का राग अलापते रहे, जब तक प्रथम आचार्य रंग मुनि ने उनकी भक्ति को सशक्त आधार के रूप में दर्शन का दर्शन नहीं कराया। यमुनाचार्य ने इस आन्दोलन को व्यापक रूप दिया। तब रामानुज ने (विशिष्टाद्वैत), निम्बार्क ने (द्वैताद्वैत), मध्व ने (द्वैत) तथा वल्लभ ने (शुद्धाद्वैत) के माध्यम से शंकर के

अद्वैत पर व्यावहारिक द्वैत की तथा उसके ज्ञान पर भक्ति की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार धर्म को बौद्धिकों एवं विद्वानों के संकीर्ण घेरे से निकाल कर जन सामान्य एवं भक्तों तक पहुँचाने का श्रेय रामानन्द को है। यह रामानन्द ही भक्ति को दक्षिण से उत्तर में लाए, उन्होंने न केवल इसे संस्कृत के 'कूप जल' से जन भाषा के 'बहते नीर' में पहुँचाया, अपितु अपने गुरू को रुष्ट करके भी भक्ति के एक मात्र अधिकारी ब्राह्मणों से इसे छीन कर जन सामान्य को ही नहीं, अपितु निकृष्ट समझे जानेवाले शूद्र वर्ग को भी शिष्य-परंपरा में स्थान देकर इसका अधिकारी बनाया। 'ग्रंथ' इसका प्रमाण है।

यह सामाजिक क्षेत्र में विषमता और घृणा की चरमावस्था की प्रतिक्रिया का ही परिणाम था।

अभारतीय राज सत्ता ने विवश जन समाज को धार्मिक बनने को विवश किया और इन संतों ने ही समता का स्वर दे, जन-मन की भाषा में उनमें आत्म-विश्वास भरने का प्रयत्न किया। संतों का स्वर अनुभूति प्रधान था, अतः उन्होंने निर्भय होकर जनता में इसका प्रचार किया। यह मध्यकालीन संत ही तत्कालीन भारतीय समाज के हृदय के शासक थे, क्योंकि बाहर से इनका विरोध करते हुए भी (ब्राह्मणों के माध्यम से) बाह्याडम्बरों और (राज्यसत्ता के माध्यम से) राजनैतिक अत्याचारों के पाटों में पिसती हुई जनता अंतःकरण से उनका विरोध न कर सकी, अपितु इन की वाणियों में ही निराश एवं निराश्रित जनता ने आशा का आश्रय पाया।

'ग्रंथ' ऐसे ही संतों की वाणियों का संग्रह है।

'सतिगुरू बिना होर कची है वाणी।
बाणी त कची सतिगुरू बाझहुँ होर कची बाणी॥
कहदे कचे सुणदे कचे कचीं आखि बखाणी।
हरि हरि नित करहिं रसना कहिआ कछू न जाणी॥
चितु जिनका हिरि लइया माइया बालकि पए खाणी।
कहै नानकु सतिगुरू बाझहुँ होर कची बाणी॥२४॥'[1]

तृतीय गुरू अमरदास की इस वाणी ने गुरू अर्जुन के अचेतन को यह प्रेरणा दी थी, कि केवल 'सच्ची वाणी' का ही पाठ होना चाहिए क्योंकि कच्ची (अनुभवहीन) वाणी मानव जीवन को सफल नहीं बना सकती। शिष्यों में से किसी से गुरुओं के अतिरिक्त गुरू नाम पर रचित अन्य किसी वाणी का श्रवण करते ही उनके अवचेतन ने सचेतन को सतर्क किया[2] और परिणाम हुआ 'आदि ग्रंथ' का संकलन।

१. ९२० म० ३, २४।

२. गुरू सूरज प्रकाश : संतोष सिंह पृ० २०४५।

'आदि ग्रंथ' के संकलनकर्त्ता पंचम गुरू अर्जुन ने इसमें (गुरू नानक), गुरू अंगद, गुरू अमरदास, गुरू रामदास तथा अपनी, प्रथम पाँचों गुरुओं की वाणी कबीर, नामदेव, रविदास, रामानन्द, पीपा, धन्ना, सधना, सेन, त्रिलोचन, जयदेव सूरदास, परमानन्द, वेणी, शेख फरीद तथा भीखन इन पंद्रह संतों[१] की, ११ भाटों[२] तथा अन्य चार व्यक्तियों की वाणी को संगृहीत किया।

गुरू अर्जुन को इस वाणी की प्राप्ति कब, कहाँ से तथा किस से हुई ? यह महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न अब तक अन्तराल के गहन अंधकार में ही लुप्त है।

'सूरज प्रकाश' के अनुसार जहाँ प्रथम गुरू की वाणी भाई मनसुख ने लिखी, वहाँ दूसरे पैड़े मोखे तथा तीसरे गुरू अमरदास की मोहन जी के पुत्र सहस्त्रराम ने। इस प्रकार यह वाणी तथा कुछ अन्य वाणी मोहन जी के पास गोविदवाल में विद्यमान थी।[३] एक अन्य विद्वान् ने भी 'पुरातन जन्म साखी' के आधार पर इसी बात का समर्थन किया है, कि प्रथम गुरू की वाणी भाई मनमुख तथा द्वितीय गुरू की वाणी एवं इतिहास पैड़े मोखे ने लिखा।[४]

यदि इनको गुरू वाणी का लेखक मान भी लिया जाए, तो महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि यह गुरू अर्जुन तक पहुँची कैसे ? सभी गुरुओं की वाणी का विश्लेषणात्मक अध्ययन स्वतः ही इसके समाधान में सहायक सिद्ध हो सकता है।

द्वितीय गुरू अंगद ने केवल श्लोक लिखे है, वह भी गुरू नानक की वाणी से स्पष्टतः ही प्रभावित प्रतीत होते हैं। भावों एवं विचारों का ही नहीं, शब्दों एवं पदों तक का मिलान यह सिद्ध करता है, कि गुरू अंगद के पास अपनी वाणी लिखते हुए गुरू नानक की वाणी भी उपस्थित थी, जिसका उन्होंने यथावसर सदुपयोग भी किया।

उदाहरणार्थः—

चाकरु लगै चाकरी जे चलै खसमै भाई।
नानक हुकमु न चलई नालि खसम चलै अरदासि ॥२॥[५]
चाकरु चलै चाकरी नाले गारबु बादु।
साहिब सेती हुकमु न चलै कहि बणै अरदासि ॥३॥[६]

---

१. कई बीड़ों में मीरां का एक पद प्राप्त है लेकिन वह लिख कर काट दिया गया है, प्रमाणिक प्रति में कोई शब्द नहीं, अतः उसकी गणना नहीं की जा सकती।

२. भाटों की संख्या कनिंघम ९ (पृ० ९२५), डा० मोहन सिंह १३ (पृ० ३६), डा० ट्रम्प १५ (भूमिका पृ० C X X), डा० शेर सिंह १७ (पृ० ५०), वणी व्योरा ११ (पृ० १११) आदि ने भिन्न-भिन्न दी है। विस्तार के लिए देखें साहिब सिंह (भट्टों के सवइये सटीक: भूमिका), तथा हि० सि० तेजा सिंह पृ० ३२।

३. गु० प्र० सू० रास १, अंश ५६।

४. गुरमत लेक्चर (ज्ञानी प्रताप सिंह पृ० ७४)।

५-वार आसा १ पृ० ४७४ ६. राग आसा म० २ पृ० ४७४

इतना ही नहीं, गुरू अंगद के बाद तृतीय गुरू अमरदास की वाणी को देखने से यह आश्चर्यमय संयोग मिलता है, कि न केवल गुरू अमरदास की वाणी उन्हीं १६ रागों में से १७ रागों में प्राप्त है, जिनका प्रयोग गुरू नानक ने किया है, अपितु निम्न समताएँ भी यह सिद्ध करती हैं कि अपनी वाणी लिखते समय गुरू अमरदास के पास भी गुरू नानक की वाणी थी।

(१) दोनों की वाणी आसा राग में 'पट्टी में' प्राप्य हैं, जिनमें बहुत अधिक साम्य है।

(२) राग बड़हंस में 'अलाहणिया' शीर्षक के अन्तर्गत एक ही विचार के गुरू नानक के ५ तथा गुरू अमरदास के ४ पद प्राप्य हैं।

(३) मारू राग में गुरू नानक के २२ तथा गुरू अमरदास के २४ 'सोलहे' प्राप्य हैं, जो अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होते।

(४) गुरू अमरदास का २८ वाँ श्लोक गुरू नानक के २७ वें श्लोक का विकास-मात्र है।

(५) विचार के अतिरिक्त दोनों के शब्द, तुक एवं पदों में भी अत्यधिक साम्य मिलता है। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि गुरू अंगद के माध्यम से गुरू नानक की वाणी गुरू अमरदास के पास पहुँची[१] तथा उसने आवश्यकतानुसार इसका सदुपयोग भी किया।

इतना ही नही गुरू अमरदास से वाणी गुरू राम दास के पास आई और उनसे ही गुरू अर्जुन देव को प्राप्त हुई। 'स्री राग' पर एक विहंगम दृष्टि इस तथ्य को अनायास ही सिद्ध कर देती है।

इसमें 'मन रे' 'भाई रे' 'मुधे' शब्दों का प्रयोग देखने योग्य है।

	मन रे	भाई रे	मुधे
३३ गुरू नानक	६ पद	३३ पद	२ पद
३१ गुरू अमरदास	१७ पद	८ पद	२ पद
६ गुरू रामदास		२ पद	
३० गुरू अर्जुन	३ पद	३ पद	
१७ गुरू नानक (अष्टपदियों में)		६ वार	२ वार

सारे ग्रंथ में केवल २६ शब्दों का प्रारम्भ 'भाई रे' से हुआ है, जिसमें से २५ स्री राग में ही हैं, शेष २ नानक, १ अमरदास तथा १ रामदास का है। इतना ही नहीं, स्री राग के १०० पदों को पढ़ने से अत्यधिक शब्द साम्य तक मिलता है, जो इस बात को सिद्ध करता है, कि प्रत्येक लेखक ने पूर्व-गुरूओं की रचनाओं का यथा-सम्भव सदुपयोग किया है। 'गउड़ी राग' का पंचम गुरू अर्जुन का यह शब्द—

---

१. कु० ले० : सा० सिं० पृ० ४१।
हि० सि० : तेजासिंह पृ० २३।

हम धनवंत भांगठ सच नाई ।
हरि गुण गावह सहज सुनाई ॥१॥ रहाऊ ॥
पिऊ दादे का खोलि डिठा खजाना ।
ता मेरे मनि भइया निधाना ॥१॥
रतन लाल जा का कछु न मोलु ।
भरे भण्डार अखूट अतोलु ॥२॥
खावहि खरचहि रलि मिलि भाई ।
तोरि न आवै वध दो जाई ॥३॥
कहु नानकु जिसु मसतकि लेखु लिखाई ।
सु एतु खजाने लइआ रलाई ॥४॥ ३१ ॥१००॥

(ग्रंथ पृ० १८६)

सम्भवंतः उसी समय का प्रतीत होता है, जब कि गुरू रामदास से गुरू अर्जुन को सम्पूर्ण 'गुरू वाणी' का संग्रह मिला । अतः अनायास ही यह सिद्ध होता है, कि गुरू अर्जुन को 'गुरू वाणी' भी गुरू गद्दी' के साथ-साथ शिष्य परम्परा में प्राप्त हुई ।[1]

मैकालिफ[2], प्रिंसिपल तेजा सिंह[3], ज्ञानी प्रताप सिंह[4] तथा अन्य भी सभी सिख धर्म एवं इतिहास लेखकों ने 'सूरज प्रकाश' के आधार पर यह लिखा है, कि 'गुरू वाणी' जिन दो 'सैंचियों' में एकत्रित थीं, वे मोहन जी के पास थीं । गुरू ने पहले बाबा बुड्ढा को तथा पुनः भाई गुरूदास को वे सैंचियाँ लाने भेजा, लेकिन गुरू-गद्दी न पा सकनेवाला तृतीय गुरूपुत्र मोहन क्यों कर वह सैंचियाँ उन्हें देने लगा । इस प्रकार उनके निष्फल लौट आने पर गुरू स्वतः गोविन्दवाल उसके पास गए और मधुर स्वर में गाया—

मोहन तेरे ऊंचे मन्दिर महल अपारा ।
मोहन तेरे सोहनि दुआर जीउ संत धरम साला ॥

मोहन जी की समाधि भंग हुई । उन्होंने उत्तर दिया, "मुझ से गुरू-गद्दी छीनने वालो ! 'गुरू वाणी' रूपी मेरा यह अमूल्य रत्न भी छीनना चाहते हो" । गुरू और नम्र हो उसी की प्रशंसा में गाने लगे—

मोहन तेरे बचन अनूप चाल निराली ।
मोहन तू माने एकु जीव अवर सभ राली ॥

यह सुन मोहन जी अनायास ही पसीज गए और उन्होंने 'गुरू वाणी' गुरू अर्जुन को दे दी । जिसे ले गुरू अर्जुन रामसर आए तथा अपने कार्य में लग गए ।

१. कु० ले० : सा० सिं० पृ० ४१ ।
२. मैकालिफ : सि० रि० भाग ३, पृ० ५५ ।
३. हि० सि० : तेजासिंह पृ० ३० ।
४. प्रतापसिंह : गुरूमत लैक्चर पृ० १८० ।

लेकिन इस सामान्य प्रचलित मत का सप्रमाण खंडन करते हुए प्रिंसिपल साहिब सिंह ने बताया है[1] कि 'मोहन तेरे ऊंचे मन्दर महल अपारा' आदि शब्द सतगुरू-स्तुति में गाया गया है। दूसरी बात यह है कि रामदास की वाणी ने सिद्ध किया है, कि गुरू वाणी उसके पास उपस्थित थी और सबसे बड़ा—सामान्य विद्वान् का भी यह तर्क कि जिस मोहन को गुरू-गद्दी न दी गई, उसे वाणी क्यों दी गई होगी? यदि किसी प्रकार उसने प्राप्त भी कर ली हो, तो फिर लौटाने क्यों कर लगा? और वही वाणी गुरू रामदास के पास कैसे उपस्थित थी? हो सकता है, कुछ अन्य वाणी मोहन के पास रही हो। लेकिन उपर्युक्त प्रमाणों से तो यह स्वतः सिद्ध है, कि यह वाणी पुत्र एवं शिष्य परम्परा में ही गुरू अर्जुन को गुरू रामदास से प्राप्त हुई। क्योंकि ऐसी अवस्था मे अन्तःसाक्ष्य ही प्रबलतम प्रमाण सिद्ध हो सकता है।

गुरू शिष्य भाई बखता अरोड़ा जलालपुरिया का वर्णन करते हुए एक अन्य विद्वान् ने लिखा है, कि उसने प्रथम गुरूओं के पास रह कर उनकी वाणी लिखी थी। उस पुस्तक को वह गुरू अर्जुन के पास लाया और गुरू ने उसमे से ही उपयुक्त वाणी को चुना। लेखक ने उसे बूटासिंह पंसारी, रावलपिंडी के पास देखा है। लिपि भेद के कारण वह आसानी से पढी नही जाती तथा अत्यधिक भारी होने के कारण एक मनुष्य उसे कठिनाई से ही उठा सकता है। वह 'ग्रंथ' का खजाना है, क्योंकि उस पर दसों गुरुओं के हस्ताक्षर है। वह पुत्र पौत्र क्रम से वही सुरक्षित है।[2]

पहली दो पोथियों में से एक तो (कटरा महासिंह अमृतसर में) एक भाई के पास है तथा दूसरी गोविंदवाल के बुधसिंह, चेतसिंह के पास। जो सं० १६५२ मे पूजा के लिए पटियाले लाई गई थी और लेखक ने उसके वहाँ दर्शन किए थे। इसमे केवल ६ राग है तथा इसमें कोई 'वार' नही है और शब्दों की वाणी टूटी-फूटी है, जो पढ़ी भी नही जाती। पृ० ६४ से आगे कबीर, त्रिलोचन, नामदेव, रैदास आदि के पद भी प्राप्य है।[3] सुना जाता है, कि पोथी अब भी पटियाले मे प्राप्य है।

जो हो, यह तो स्पष्ट ही है, कि 'गुरू वाणी' गुरू अर्जुन को गुरू-गद्दी के साथ ही शिष्य परम्परा में प्राप्त हुई।

'ग्रंथ' में गुरू ने 'संत वाणी' को क्यों स्थान दिया? इस विषय मे निम्न-लिखित मत प्रचलित है:—

(१) गुरू सिद्धांतों की व्याख्या के लिए उदाहरण स्वरूप[4],

(२) राग ऐक्य के कारण[5],

---

१. कु० ले० सा० सि० पृ० ४१।

२. तवारीख गुरू खालसा : ज्ञानी गिआन सिंह पृ० ७२४।

३. वही : पृ ७२५।

४. डा० मोहन सिंह : हि० लि० पृ० ३७।

५. हि० सि० : तेजासिंह पृ० ३१।

(३) भक्ति के कारण[1],
(४) विचार साम्य के कारण[2],

गुरू ने भक्त वाणी को अन्य गुरूओं की वाणी की व्याख्या के लिए लिखा। एक साहित्य के इतिहास लेखक का यह मत 'अभुल' तथा 'पूर्ण' गुरूओं की न केवल सामर्थ्य में ही अविश्वास प्रकट करता है, अपितु संतों की महानता को भी अस्वीकार करता है। संतों की वाणियाँ भी 'अनुभूति के छींटों' से भरपूर है। वह भूल गए, कि गुरू सिद्धांतों के व्याख्याकार भाई गुरदास ने सम्पूर्ण 'ग्रंथ' को लिख कर भी अपना एक भी पद उसमें नहीं रखा।

दूसरा मत, कि संत वाणी का संग्रह सिद्धांतों के नहीं, राग एवं उनके जीवित मूल्यों (Living values) के आधार पर किया है, बहुत सबल नहीं। यह ठीक है कि ग्रंथ के क्रम निर्धारण में राग का विशेष महत्त्व है, लेकिन केवल राग ही सब कुछ नहीं, उसके लिए विचार भी आवश्यक है। मानव ही नही, भक्त (सिख धर्म में) भी बौद्धिक प्राणी है। वह मृग की तरह केवल 'संगीत स्वर' मे ही तल्लीन हो प्राण नहीं खो सकता। विज्ञ लेखकों ने उसी पृष्ठ पर गुरू नानक एवं कबीर की वाणी में रागों का साम्य न दिखा कर भिन्न-भिन्न रागों से एकत्रित विचारों एवं अभिव्यक्ति का साम्य दिखाया है[3] तथा अगले पृष्ठ तक पहुँचते-पहुँचते विचार भेद के कारण कान्हा, छज्जू, शाह हुसेन व पीलो की वाणी को गुरू 'ग्रंथ' में स्थान न दे सके,[4] यह कहा। उनका यह कहना ऐसा लगता है, जैसे अपने ही मत का विरोध किया है क्योंकि वे वाणियाँ भी राग की दृष्टि से अनायास ही 'ग्रंथ' में स्थान पा सकती थीं।

तीसरा मत कि रागोत्पन्न भक्ति के कारण ही भक्त वाणी को 'ग्रंथ' में स्थान मिला है। भक्त लेखक की भक्ति का सूचक है, लेकिन विचारों की उपेक्षा कर के नहीं, सम्भवतः एक लेखक ने भक्तों की उपेक्षा अपनी ही 'विचार-उपेक्षा' के कारण की हो। वाणी को लेते हुए धन्ना मूर्ति पूजक था या कबीर वैष्णव इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया। भक्ति मार्ग पर बहस नहीं की गई, अपितु उद्देश्य को देखा है।[5] 'उद्देश्य को देखा है' यह कहते हुए लेखक स्वतः दबी जबान में विचार के महत्त्व की स्वीकार करता है। तुलसी जैसे भक्त शिरोमणि का उस में कोई पद नहीं, तथा सूरदास की भी एक ही तुक मात्र है। यह बात भक्त लेखक को अधिक चिंतनशील बनने की सामग्री प्रस्तुत करती है।

---

१. गुरमत फिलासफी : प्रताप सिंह : पृ० १६३।
२. भूमिका 'इ' भगता वाणी सटीक : जोधसिंह; गुरमत प्रकाश (साहिब सिंह), पृ० ४; मैकालिफ सि० रि० भूमिका पृ० ३२ तथा गुरमत दर्शन (शेरसिंह) पृ० ५६।
३. हि० सि० : तेजा सिंह पृ० ३१।
४. हि० सि०: तेजा सिंह पृ० ३२।
५. गुरमत लेक्चर (प्रताप सिंह) पृ० १८४।

गुरू वाणी में 'विचार साम्य' के कारण ही 'भक्त वाणी' को उसमें स्थान मिला, यह अवश्य महत्त्वपूर्ण मत है। सिख धर्म के एक ऊँचे विद्वान् ने तो यहाँ तक लिखा है, कि भक्तों की तथा गुरुओं की वाणी में भेद देखना अपनी भूल है।[1]

जो हो 'विचार-साम्य' वाले मत से 'विचार-साम्य' रखते हुए भी हमें तत्का-लीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ एक नई दिशा में सोचने को बाध्य करती हैं। धार्मिक क्षेत्र में 'ग्रंथ' के सम्पादन तक 'संत-मत' में ही 'पंथ-निर्माण' का युग प्रारम्भ हो चुका था। 'संत-मत' की मानवतावादी पृष्ठभूमि 'पंथ' की संकीर्णताओं में बंध कर अपना महत्त्व खोने जा रही थी। गुरू नानक बहु भ्रमणशील व्यक्ति रहे हैं। अपनी चारों यात्राओं में उन्होंने बंगाल, उत्तर प्रदेश, सुदूर दक्षिण, महाराष्ट्र तथा अफगानिस्तान के चक्कर काटे थे। सामाजिक क्षेत्र में इस युग के संतों में से जन-जीवन से इतना व्यापक और घनिष्ट सम्बन्ध और किसी का न था। उन्होंने जमाने की नब्ज को ठीक से पहिचाना था, युग की पुकार को ध्यान से सुना था। इसीलिए उन्होंने 'गुरु-प्रधान' युग में 'गुरूत्त्व' को 'व्यक्तित्त्व' की संकीर्ण सीमा में ही नहीं बाँधे रक्खा। अतः गुरू नहीं, 'गुरू पद' का महत्त्व स्थापित करना चाहा और परवर्ती गुरुओं ने ऐसा किया भी। इसीलिए भाटों ने 'ग्रंथ' में गुरू प्रशस्ति न गाकर 'गुरू पद' का ही महत्त्व प्रतिष्ठापित किया है।[2] राजनैतिक क्षेत्र में भी आक्रा-मक विदेशी सत्ता से अपनी संस्कृति, धर्म और दर्शन ही क्या—अपने दैनिक जीवन की सुरक्षा एवं शांतिपूर्ण सुखी तथा समृद्ध समाज की स्थापना के लिए जिस राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता थी, उसके लिए भी तत्कालीक सभी महान् विचा-रकों की वाणी को एक साथ रखना आवश्यक ही था। अतः गुरू नानक अपनी विचार-धारा के प्रचार के लिए विशालतम भू-खण्ड में विस्तृततम जन-समुदाय में जहाँ कहीं भी गए, अपनी वाणी के साथ मेल खाती हुई विचारधारावाली वाणी को भी संगृहीत करते गए। उनकी प्रतिभा का परिचय—जहाँ एक ओर कबीर के अति कटु प्रहारक पदों के त्याग में है, वहाँ नामदेव के सगुण एवं साकार बिठ्ठल सम्बन्धी पदों के बहिष्कार में है। सब जातियों में अपने धर्म का प्रचार हो, अतः हिन्दू और मुसलमान तथा न हिन्दू, न मुसलमान सभी जातियों के संतों की रचना को उनकी रचना में स्थान प्राप्त है। सामान्य जनता न तो विद्वान् ही होती है और न ही अत्युच्च वर्ग की। इसीलिए उनके संतों के जमघटे में कोई नाई है, तो कोई छीबा, कोई जुलाहा है तो कोई राजा, कोई जाट है, तो कोई चमार,कोई शेख है तो कोई गुरू और शिष्यों की तो कमी ही नही। भाषा की दृष्टि से भी उन्होंने अपने प्रांतों की सरलतम भाषा में प्रयुक्त वाणी को ही स्थान दिया, ताकि 'संस्कृत' की तरह कूप जल ही न बनी रह जाए। उनकी अपनी भाषा भी हिन्दी के निकट है।[3]

---

१. भूमिका 'स' भगत-वाणी: सटीक (जोध सिंह)।

२. विस्तार के लिए देखें—भाटो की वाणी (इसी प्रबन्ध में)।

३. सा० सिंह: गु० प्र० पृ० १४।

इन सब बातों से स्पष्ट है, कि इन भिन्न-भिन्न प्रांतों के पहले भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों अथवा मत-वादों से सम्बन्धित, भिन्न समय के (लगभग ४०० वर्षों के), सम्पूर्ण उत्तर-भारत के प्रतिनिधि संतों को अपने 'गुरू-पद' का सहभागी बनाने का कारण उनकी वाणी के सहयोग से एक दृढ़ सामाजिक संगठन का निर्माण तथा अपने सिद्धातों का अधिक से अधिक प्रचार करना था। इसीलिए नानक के विरोध में कबीर की कटुता नहीं, उसके धार्मिक विश्वासों में वैष्णव आचार्यों की दार्शनिकता नहीं, उसके जीवन-यापन मे योगियों की शारीरक कष्टमयी साधनाएँ नहीं, उनकी भक्ति में पुष्टि मार्ग का आडम्बर नही, उसके 'नाम-स्मरण' में वैष्णवों की 'तोता रटंत' नही, उसके ज्ञान मे शकर की शुष्कता नही, और इन सब से बढ़कर उसके कर्म में 'हउमें' (अहकार) का गर्व नही। यही कारण है, जिसने दूरदर्शी युग-नेता नानक को—संतों की वाणी को—अपनी वाणी के साथ एकत्रित एवं सुरक्षित करने की प्रेरणा दी।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि गुरू अर्जुन ने संत-वाणी कहाँ से प्राप्त की ? इस विषय में निम्न मत प्रचलित हैं:—

(१) भक्त-आत्माओं को पुकारा और उन से लिखी।[1]

(२) गुरू ने स्वतः भक्तों के नाम पर लिखी।[2]

(३) भक्त-शिष्यों को बुलाया और उन से ली।[3]

(४) मोहन से तथा अन्य प्राप्त-पोथियों में से उतारा।[4]

(५) बहुत-सी गुरू अमरदास ने तथा गुरू अर्जुन ने स्वतः एकत्र की।[5]

(६) सम्पूर्ण भक्त-वाणी अपनी यात्राओं के समय गुरू नानक ने एकत्र की।[6]

आज के वैज्ञानिक युग का बौद्धिक-मानव 'आत्माओं' की पुकार कर उनसे वाणी लिखाने के मत को अपनी तर्क-शक्ति की कसौटी पर नही कस पाता, अतः इस मत की विवेचना की आवश्यकता ही नही। दूसरे मत की निर्बलता किसी उपयुक्त प्रमाण के अभाव में स्वतः सिद्ध है। जिस गुरू ने अपने नाम पर लगभग २३०० शब्द लिखे, उसे क्या आवश्यकता थी, कि स्वतः वाणी लिख कर भक्तों के नाम पर रख देता, जब कि उनका अपना महत्त्व भक्तों से कम न था। तीसरा मत, कि समकालीन भक्त शिष्यों को पंचम गुरू ने 'ग्रंथ' सम्पादन के समय बुलाया और उनकी वाणी को सुन विचार-साम्य रखती हुई वाणी को उसमे स्थान दिया, बिना किसी प्रमाण के सबल नही तथा जहाँ कही भी पुरातन सिख धर्म के ग्रथों मे 'ग्रथ' सम्पादन का वर्णन है, कही भी किसी भक्त विशेष का वहाँ आकर वाणी लिखवाने का

१. सू० प्रकाश रा ३० अंश ४२।

२. प० तारा सिंह: भगत वाणी भूमिका।

३. सि० रि० मैकालिफ, भूमिका पृ० २५; शेर सिंह : फिलासफी आफ सिक्खिज्म पृ० ५६।

४. प्रताप सिंह : भगत-दर्शन; पृ० ६; हरिहर सिंह रूप: भाई गुरूदास पृ०१६; गिआन सिंह: तवारीख गुरू खालसा भाग १ (पृ० ७३६)।

५. डा० मोहन सिंह : हि० लि० पृ० २६।

६. गुरू मत प्रकाश : साहिब सिंह पृ० ५।

उल्लेख नही। सबसे बढ़ कर यह, कि अंत.साक्ष्य इसके विरुद्ध है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

डा० मोहनसिंह ने 'गुरु नानक पर कबीर का कोई प्रभाव नहीं तथा 'ग्रंथ' मे वर्णित उनकी वाणी का भी कोई महत्व नही'[१] ऐसा सिद्ध करने के प्रयत्न में कितने ही तथ्यों का उलट-फेर कर डाला और यह निष्कर्ष हमारे सामने रक्खा कि—"Kabir" a low-class Muslim, of whom so much is made and who is glorified as the father of this and founder of that, in actual practice never secured and received the loyalty as the great Guru of any but the low-class Julahas and other such occupationists as the census-composition of Kabirites amply proves.[२]

ऐसा सिद्ध करने के प्रयत्न मे उन्होंने लिखा कि तृतीय गुरू अमरदास जो पहले वैष्णव थे तथा २० बार जिन्होने हरिद्वार की पैदल यात्रा की, वे सभी वैष्णव भक्तों से परिचित थे और इन यात्राओं के समय उनसे उन्होंने ही भक्त-वाणी संगृहीत की।[३] आगे चल कर यह भी लिखा कि रामानन्द-परम्परा में होनेवाले (Belonging to the House of Ramanand and all contemporaries) फरीद, जयदेव, सधना, नामदेव, बेनी, रामानन्द, कबीर, त्रिलोचन, रैदास, धन्ना, भीखन, सेन, पीपा तथा मीराँबाई जो सब समकालीन थे—उनकी तथा परमानन्द और सूरदास (जन्म १५२६ ई०) की वाणी ग्रंथ में संगृहीत है, जिसमें से परमानन्द और सूरदास की वाणी गुरू अर्जुन तथा शेष सभी की वाणी गुरू अमरदास ने एकत्रित की।[४] यहाँ वर्णित अशुद्ध तथ्यों का खण्डन हमें प्रस्तुत विषय से बहुत दूर न ले जाए, अतः केवल यहाँ हम उनके इस विचार से ही सम्बन्धित है कि भक्तों में से दो (परमानन्द तथा सूरदास)को छोड़ कर शेष चौदह (मीराँ को मिला कर) की वाणी तृतीय गुरू अमरदास नें एकत्रित की तथा उनकी रचनाओं के साथ ही पंचम गुरू को प्राप्त हुई। लेकिन हम देखते है कि अंतःसाक्ष्य इसके भी विरुद्ध है।

---

१. "We can state unchallengeably that not only was no influence, peasonal or poetic, exercised on Nanak himself by Kabir, who predeceased him by at least 30 years——and whose writings the Sikh Guru preserved just for exemplificatory citation—to demonstrate that spiritual regeneration and literary inspiration had come to many a low-born through Sheer Love.

(H. L. Dr. Mohan Singh P. 27.)

२. H. L. : Dr. Mohan Singh P. 28.

३. हि०लि० मोहनसिंह पृ० २६।

४. हि० लि० डा० मोहनसिंह पृ० ३५।

शेख फरीद की वाणी से नानक की वाणी की तुलना करने पर स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि फरीद के १३० श्लोकों में से श्लोक न० १३, ३२, ५२, १०४ ११३, १२०, १२२, १२३ तथा १२४ गुरू नानक एवं गुरू अमरदास ने उसकी व्याख्या, मे ही लिखे हैं।[१]

इतना ही नहीं, सूही राग में आए फरीद और नानक के एक शब्द की तुलना से भी स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि इतना अधिक भाव-साम्य एवं शब्द-साम्य तक भी अनायास ही सम्भव नहीं। अतः यह स्पष्ट है, कि अपनी यात्रा में नानक ने फरीद के ११ वें शिष्य इब्राहिम से ही सम्भवतः इन शब्दों को पाक पटन में प्राप्त किया हो, जैसा कि उनकी पूर्वी प्रदेश की ऐतिहासिक यात्रा से प्रतीत होता है। इतना तो स्पष्ट ही है, कि न केवल अमरदास बल्कि गुरू नानक के पास भी शेख फरीद की यह वाणी अपनी इस रचना के समय उपस्थित थी। जिसकी व्याख्या में ही उस वाणी का सदुपयोग किया गया है।

भगत बेनी के 'ग्रंथ' में केवल तीन ही शब्द हैं। एक स्त्री राग में, दूसरा रामकली मे तथा तीसरा प्रभाती में। नानक के भी इन तीनों रागों में मिलनेवाले इन पदों से भाव-साम्य रखनेवाले पदों को देखने से प्रतीत होता है, कि बहुत शब्द-साम्य तथा तुक एवं पद-साम्य तक मिलता है। और वही विचार नानक के शब्दों में अधिक सरल एवं स्पष्ट भाषा में प्रकट किया गया है। यहाँ तक कि दोनों में पाँच पद व चार तुके हैं, तथा इन तुकों की बनावट भी एक-सी हैं।[२]

पद-साम्य　बेनी / नानक　**अहिनिसी, चेति, संजम आदि**

पद-साम्य　**बेनी—ऊरध धिआए लिव लागा**
नानक—ऊरध धिआनि लिव लागा।

इससे भी यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि नानक के पास अपनी रचना करते समय बेनी के तीनों ही पद थे जो नानक ने अपनी यात्रा में बेनी अथवा शिष्य परम्परा से संगृहीत किए थे।

रविदास की वाणी पर भी गहन दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि रविदास की आरती का धनासारी राग में होनेवाली नानक की आरती पर विशेष प्रभाव है।[३]

विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर प्रतीत हुआ कि सारे ग्रंथ में 'उरसा' शब्द का प्रयोग केवल दो बार हुआ है, एक बार रविदास की 'आरती' में और दूसरी बार 'नानक' की 'आरती' में। यह शब्द पंजाबी का नहीं है, फिर भी नानक की रचना में इसका मिलना स्पष्ट ही सिद्ध करता है, कि नानक ने यह शब्द रैदास से ही लिया है। 'ग्रंथ' में रैदास के केवल ४० शब्द हैं। नानक ही नहीं, अमरदास के पदों का अध्ययन करने से भी ज्ञात होता है, कि उनके शब्दों का भी रविदास से अत्यधिक

१. गुरमति प्रकाश : साहिबसिह पृ० २२।
२: वही : पृ० ४३।
३. वही : पृ० ५०।

भाव-साम्य है। इस सबसे स्पष्ट ही है, कि इन शब्दों की रचना करते समय अमरदास एवं नानक के पास रविदास की वाणी संगृहीत थी।

भक्त जयदेव के ग्रंथ मे केवल दो शब्द प्राप्त है। एक राग गूजरी और दूसरा राग मारू में। इन्हीं दोनों रागों मे इसी भाव के नानक के शब्दों को देखने पर इनमें निम्न साम्य मिलते है।

(१) राग गूजरी मे दोनों शब्द 'घरु ४' में है।
(२) दोनों में ही परमात्मा के नाम-स्मरण की प्रेरणा दी गई है।
(३) दोनों की बोली लगभग एक-सी है।
(४) दोनों के छन्दों की चाल एक ही है।
(५) दोनों मे कई शब्द भी मिलते है।[१]

राग मारू मे इन कलात्मक समताओं के अतिरिक्त जयदेव ने जहाँ सिफति सालाह करने के लाभ बताए हैं, वहाँ गुरू नानक ने उनकी युक्ति बताई है। जयदेव को सम्बोधन करते हुए कहा है, कि सिफति सालाह की युक्ति करने पर ही मन की चंचलता नष्ट हो सकेगी। जितना ही गहराई से इन शब्दों पर विचार किया जाए, उतना ही अधिक इनका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता जाता है जिसके परिणामस्वरूप हमे स्वीकार करना पड़ता है, कि नानक के पास अपनी यह वाणी लिखते समय जयदेव के शब्द थे। जो सम्भवतः उन्होंने अपनी पूर्वी यात्रा मे जयदेव की शिष्य-परम्परा से प्राप्त कर अपनी वाणी के साथ सुरक्षित किए थे।[२]

इन सब अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर निम्न निष्कर्ष स्पष्ट हैं, कि—

१—सब संत-वाणी गुरू अर्जुन देव ने नहीं संगृहीत की।

२—इन चारों संतों की वाणी गुरू अमरदास से भी पहले गुरू नानक के पास थी।

३—इस संत-वाणी का गुरू नानक एवं गुरू अमरदास ने अपनी वाणी में सदुपयोग किया।

४—बहुत सी संत-वाणी गुरू नानक ने स्वतः संगृहीत की और अपनी वाणी के साथ ही लिपि-बद्ध भी की।

५—इसीलिए गुरू-वाणी के साथ बहुत सी संत-वाणी भी शिष्य-परम्परा में ही गुरू अर्जुन को प्राप्त हुई।

अन्तिम निष्कर्ष वाणी की प्रामाणिकता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि नानक को वह वाणी जिस रूप में मिल गई थी, अब तक उसी रूप में सुरक्षित है। उससे पहले उन भक्तों की शिष्य-परम्परा ने जो थोड़ा बहुत परिवर्तन कर दिया

---

१. जयदेव के पृ० ५२६ तथा पृ० ११०६ के शब्दों की तुलना क्रमशः गुरू नानक के पृ० ५०५ पर घरु १६ के पहले शब्द तथा पृ० ६६१ पर शब्द सं० ६ 'सूर सरु सोसिले' से करनी चाहिए।

२. गुरमत प्रकाश : साहिबसिंह पृ० ६६।

हो, वह सम्भव है। लेकिन एक बार गुरु वाणी के साथ लिपि-बद्ध होने के बाद उस में किसी परिवर्तन की शंका नहीं।

इस विषय में अन्तिम मत प्रो० साहिब सिंह का है, कि अपनी यात्राओं में गुरू नानक जहा कहीं भी गए, वहाँ के प्रमुख संतों से मिले तथा अपने विचारों से मेल खानेवाली उनकी वाणी को भी अपनी वाणी के साथ संगृहीत कर सुरक्षित करते गए। इस प्रकार संतों की वाणी को भी उन्होंने अपनी ही वाणी की भाँति महत्त्वपूर्ण समझा तथा विचार-साम्य होने के कारण व्यक्तित्त्व की संकीर्णता से ऊपर उठ, सभी संतों की वाणी का भी सदुपयोग करते रहे।

इस प्रकार सब संतों की वाणी प्रथम गुरू नानक देव ने स्वतः संगृहीत कर सुरक्षित की।[१]

अंत. साक्ष्य के होते हुए बाह्य साक्ष्य की आवश्यकता नहीं होती। अपने कथन की पुष्टि में प्रो० साहिब सिंह ने केवल चार संतों की वाणी से उद्धरण देकर सिद्ध किया, कि उनकी वाणी अवश्य ही गुरू नानक के पास थी। लेकिन निष्कर्ष कुछ अधिक ही निकाल लिया, कि प्रथम गुरू ने ही सब की वाणी एकत्रित की। इसके विपरीत दूसरी सम्भावना यह भी है, कि जिस वाणी की व्याख्या एवं आलोचना प्रथम गुरू के बाद पंचम गुरू ने की है, तृतीय या चतुर्थ गुरू ने ही उस वाणी को संगृहीत किया हो, क्योंकि यह मान्यता प्रसिद्ध है, कि गुरुओं की विचारधारा में कोई अन्तर नहीं, वे तो एक ही ज्योति से ज्योतित है[२]।

अत: जहाँ कहीं भी परवर्ती गुरुओं ने किसी विचार की व्याख्या एव आलोचना की आवश्यकता अनुभव की, तो प्रथम गुरू द्वारा संगृहीत भक्तों की ही अन्य विचारवाली वाणी को लिया और उस वाणी के साथ ही अपनी वाणी भी अंकित की।

तृतीय गुरू के पौत्र सहस्रराम द्वारा, द्वितीय एवं तृतीय गुरू की १५ रागों में संगृहीत वाणी के साथ भक्तों की वाणी भी इन १५ रागों में प्राप्त है। यही 'ग्रंथ' के आधारस्वरूप पुरातनतम एवं प्रामाणिकतम गोविन्दवालवाली पोथियों के नाम से प्रसिद्ध है[३] जिनमें से एक अहियापुर (जिला होशियारपुर) में बताई जाती है। सूक्ष्म विश्लेषण से पता लगता है, कि कबीर की वाणी इन १५ रागों के अतिरिक्त राग विहागड़ा में (१ श्लोकु) राग गौड़ में (२ पद) तथा राग केदारा में (६ पद) प्राप्त है, जो सम्भवतः पंचम गुरू ने ही एकत्रित की हो, क्योंकि जिन रागों में स्वतः नानक की ही वाणी नहीं, उसने उन रागों में अन्य भक्तों की वाणी क्यों कर संगृहीत की होगी? इसी प्रकार नानक से भिन्न कानड़ा (१ पद) माली गउड़ा (३ पद), राग गौड़ (७ पद) तथा राग टोडी (३ पद) इन रागों में नामदेव की वाणी तथा

१- गुरूमत प्रकाश : साहिब सिंह पृ० ५।
२- देखें यही अध्याय 'ग्रन्थ' की आवश्यकता।
३- हि० सि० (तेजासिंह) पृ० ३०।

रविदास की भी जैतसरी (१ पद), केदारा (१ पद) तथा गौड (२ पद) इन रागों की वाणी तृतीय अथवा पचम गुरू ने ही संगृहीत की होगी, न कि गुरू नानक ने। अन्य सभी भक्तो की सम्पूर्ण वाणियाँ उन्ही रागो में संगृहीत है, जिसमे गुरू नानक की। तथा भाव ही नही, शब्द, तुक एव पद साम्य (जैसा कि ऊपर देख आए हैं) तक मिलने के कारण उन्हें गुरू नानक द्वारा सगृहीत मान लेना अनुचित नहीं।

इस प्रकार उपयुक्त प्रमाणों के अभाव मे अन्त:साक्ष्य के आधार पर इतना अवश्य मान्य है, कि सत वाणी मे से अधिकांश प्रथम गुरू ने ही संगृहीत की तथा उसी परम्परा मे विचार साम्य के आधार पर तृतीय एवं पचम गुरुओं ने भी कुछ वाणियों को स्थान दिया। इतना भी निश्चित है, कि विरोधी विचार-धारा की वाणी गुरू अर्जुन ने नही सगृहीत की। क्योकि 'ग्रथ' लिखे जाने पर कान्हा, पीलो, छज्जू व शाह हुसेन 'ग्रथ' मे अपनी वाणी को स्थान दिलवाने के लिए पचम गुरू के पास आए। गुरू ने उनसे वाणी उच्चारण करने के लिए कहा, कान्हा बोले—

उही रे मैं उही रे जाकऊ वेद पुरान।
जस गावैं खोज देखऊ मत कोई रे॥

'अह' प्रधान होने के कारण गुरू ने 'ग्रंथ' मे उसकी वाणी को स्थान देने से इन्कार कर दिया। पुन: पीलो बोले—

असां नालों सो भले जंमदिआँ मर गये।
चिकड़ पैर न बोड़िआ न आलूद भये॥

'आशावादी सिख धर्म मे निराशापूर्ण वाणी का कोई स्थान नहीं, अत: 'ग्रथ' मे इसे भी स्थान नही मिल सकता'—यह कह कर गुरू ने छज्जू की ओर ध्यान दिया—

कागद संदी पुतरी तउ न त्रिआ निहार।

लेकिन सिख धर्म स्त्री और पुरुष दोनों एवं गृहस्थ जीवन के बिना मानव जीवन को पूर्ण नही समझता, ऐसी अवस्था में इन स्त्री-विरोधी विचारों को गुरू 'ग्रंथ' में कैसे अंकित करते? इन आलोचनाओं को सुन शांत शाह हुसेन बोले—

चुप वे अड़िया, चुप वे अड़िया।
बोलन दी नहीं जा वे अड़िया।
सजनां बोलन दी जा नाहीं,
अन्दर बाहिर इका साँई।
किस नूँ आख सुनाई।
इक दिलवर सब घट रविआ,
दूजा नहीं किदाई।
कहै हुसैन फकीर निमाना,
सति गुरू तों वल वल जाईं॥

भगवान् के उपदेश को अज्ञानी मनुष्य तक न पहुँचाना और बने रहना भी 'सिख धर्म' के शिष्यत्त्व का ही विरोधक है। अत: ग्रंथ में इसे भी स्थान न मिल

सका[१]। इसी प्रकार उन्होंने इन चार व्यक्तियों (कान्हा, छज्जू, पीलो व शाह हुसेन) की वाणी को 'ग्रंथ' में स्थान नही दिया था।

हा! पहिले से ही अंकित कुछ वाणी—जिसका थोड़ा बहुत विचार भेद होते हुए भी किन्ही कारणों से उचित व्याख्या या आलोचना न हो सकी थी—पचम गुरू अर्जुन देव ने इसे अपना कर्त्तव्य समझ कर—आलोचना की और शेष भक्तों की वाणी को उसी प्रकार 'ग्रंथ' मे अंकित करवाया।

विद्वान्, दूरदर्शी, पंचम गुरू अर्जुन देव ने इसका महत्त्व समझा तथा इस कठिन एवं महान् कार्य का भार अपने कंधों पर लेकर 'ग्रंथ' को सुचारु रूप से संगृहीत कर, क्रम-बद्ध कर, अथक परिश्रम के बाद लिखवा कर सिख-धर्म एवं संत-परम्परा का एक महान् उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य कर अपने जन्म को सफल बनाया। इस ग्रंथ के सम्पादन के प्रधानतम कारण का दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। साथ ही दूसरा कारण यह भी था, कि सिख धर्म में दसों गुरू एक ही ज्योति का रूप माने गए हैं, अतः उनका ऐक्य-विधान तभी हो सकता है, जब उनकी वाणी मे कही मत-भेद न हो। पंचम गुरू ने पूर्व गुरुओं की वाणी का एकै ही संदेश, एक ही रूप मे जनता तक पहुँचाने के लिए इसके सम्पादन की आवश्यकता अनुभव की। सबसे बड़ी बात यह है, कि महापुरुष दैवी प्रतिभा लेकर आते है और चले जाते हैं अपनी वाणी के माध्यम से मानव-मात्र को शाश्वत सदेश, देकर। वह वाणी ही युग-युग तक अमर रह कर उनकी चिर-विलीन ज्योति का प्रकाश फैलाती रहती है। गुरू ने अनुभव-सिद्ध वाणी की पवित्रता एवं महानता की रक्षा के लिए ही इस ग्रन्थ का सम्पादन करने की आवश्यता अनुभव की।

इसका सम्पादन कब हुआ? इस विषय में सिख-इतिहास एवं शोध कर्त्ता बाह्य-साक्ष्य के आधार पर केवल इतना कह कर ही शांत हो जाते है, कि सं० १६६१, भादों सुदी एकम् को सम्पादन कार्य पूर्ण कर, हर मन्दिर (अमृतसर) में भाई बुड्ढा को ग्रंथी नियुक्त कर इसका प्रकाश किया।[२]

दशम गुरू के दीवान भाई गुरूबख्श सिंह छिब्बर की वंश-परम्परा में भाई केसर सिंह छिब्बर ने सं० १८२६ में 'बंशावली नामा' (दसाँ पादशाहियाँ दा) लिखा, जो अब तक खालसा कालेज, अमृतसर के शोध विभाग में अप्रकाशित रूप में प्राप्त है। उससे निम्न तथ्यों का ज्ञान होता है।[३]

संवत् १६४६ मे २२हाड़ के दिन गंगा को ब्याह कर गुरू घर आए थे।

---

१. गुरू सूरजप्रकाश : संतोष सिंह पृ० २१०६।

२. वही : पृ० २१४०।

३. 'बंशावलीनामा' (अप्रकाशित) लिखित केसर सिंह छिब्बर।

पांचवां चरण:—

संवत् सौलह सौ छयालीस हाड़ दिन, गये बाईस माता गंगा कर ब्याह डोले चढ़ आई। २१॥
'साहिब नू वरदित्ता माता सारदा भवानी', साहिब उचरण लगे रसना ते वाणी।
चार लिखारी तीर अपने ठहराये, लिखदे जान जो कुछ साहिब अपनी रसना अलापे। २२॥

(यह उनका द्वितीय विवाह था, प्रथम विवाह रामदेवी के साथ हो चुका था) और इस विवाह के बाद ही सरस्वती देवी के वरदान से चार लिखारियों को अपने पास बैठा कर गुरू जी सब गुरुओं की वाणी को लिखवाने लगे ।[1]

इस प्रकार सं० १६४६ हाड़ से लेकर संवत् १६५८ तक ११ वर्ष तक गुरू ने (भाई गुरूदास की निगरानी में) भाई संतदास, हरिया, सुक्खा और मनसाराम की वाणी लिखवाई और उसे क्रम-बद्ध किया । यह सारा कार्य भाई गुरूदास की निगरानी में हुआ, क्योंकि गुरू अर्जुन इन ११ वर्षों में कार्यवश बाहर भी जाते रहे थे । तब सारी वाणी को गुरू ने स्वतः भाई गुरूदास से लिखवाया, जिसमें तीन वर्ष लगे इस प्रकार ग्रन्थ के निर्माण मे १४ वर्षो का समय लगा ।

'ग्रन्थ' साहिब हैंन दोए सगेभाई,
इक है बड़ा इक छोटा कहाई ॥२६५॥
संवत् १६५८ से गए तब, आदि ग्रंथ जी जनम लए ॥
गुरू अर्जुन जी के धाम, ग्रन्थ साहब जन्म है धारा ॥
दायासी भाई गुरदास लिखारी खिड़ावनहारा ॥२६६॥[2]

इस प्रकार गुरू एवं संत-वाणी को एकत्रित करके अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में दूरदर्शी गुरू ने इस महत्त्वपूर्ण कार्य को क्रियात्मक रूप देना प्रारम्भ किया । संवत् १६५८ में सांसारिक कार्यों से निवृत्त हो उन्होंने रामसर का निर्माण करवाया । उसी के किनारे शांतिपूर्वक गुरू अर्जुन देव जी वाणी का उच्चारण करते गए तथा भाई गुरूदास लिखते गए । इस प्रकार तीन वर्ष के अथक एवं अनवरत परिश्रम के बाद 'आदि ग्रंथ' के पूर्ण होने पर भादों सुदि एकम् सं० १६६१ को 'हरि मन्दिर' में उसका प्रकाश करवाया ।[3] इसका श्रेय गुरू ने भाई बुड्ढा को दिया, जो प्रथम गुरू नानक के समय से ही सभी गुरू व्यक्तियों का धार्मिक-साथी होने के साथ-साथ उनके घनिष्ट सम्पर्क में भी रहा था । 'ग्रंथ' खोलते ही उसमें पहला शब्द दिखाई पड़ा—

विचि करता परखु खलोआ[4]

क्योंकि **संता के कारजि आपि खलोआ कंमु करावणि आइआ राम ।**[5]
और यह सौभाग्य का सूचक सिद्ध हुआ ।

---

१. भाई संतदास ते हरिया सुक्खा मनसाराम ॥
लिखदे जान सो चारे लिखारी जो साहिब करन बखान॥ २१ ॥ (छंद)
'भाई गुरुदास ईसर भल्ले दा बेटा, ईसर विशनदास भल्ले दे परिवार विच्चों आहा खतरेटा ।' (वही) ।

२. १४ वां चरण, वंशावली नामा (अप्रकाशित) केसर सिंह छिब्बर (सुरक्षित, शोध-विभाग, खालसा कालेज, अमृतसर) ।

३. गुरु सूरज प्रकाश (संतोष सिंह) पृ० २१४० ।

४. ६२३. म० ५, १ ।

५. ७८३ म० ५, १० ।

'आदि ग्रंथ' को कब किसने वहाँ से उठाया, यह अभी शोध का ही विषय बना हुआ है। उसके इतिहास के विषय में इतना ही ज्ञान है, कि वंश-परम्परा में वह गुरू-गद्दी के साथ न रह कर उसी सोढ़ी वंश की अन्य पीढ़ी के व्यक्तियों के पास पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में चला आ रहा है और आज तक उसी रूप में गुरू-वंश की परम्परा मे करतारपुर के सोढियों के पास सुरक्षित है, जिसके दर्शन केवल प्रत्येक 'संग्रात' (भारतीय मास का प्रथम दिन) को किए जाते हैं। इस विषय में इतिहास इतना अवश्य बताता है, कि नवम गुरू के प्रतिस्पर्धियों ने गुरू पर आक्रमण करने के लिए कुछ व्यक्तियों को भेजा—परिणामस्वरूप वे गुरू को अकेला पाकर उनका घर लूट लाए, पुनः गुरु के सहायक आ जाने पर उन्होंने उन्हें लूट कर जहाँ अपना व उनका सामान लिया, वहाँ उसी सामान में यह 'आदि ग्रंथ' भी आ गया। गुरू को यह ज्ञान होने पर उन्होंने कम से कम 'ग्रंथ' को लौटाना उपयुक्त समझा। (सम्भवतः आदर की दृष्टि से) यह सोच, व्यास नदी पार करते हुए 'ग्रंथ' को उसके किनारे सुरक्षित स्थान पर रख कर उनको सदेश भेज दिया, कि अपनी पैत्रिक सम्पत्ति पवित्र 'आदि ग्रंथ' को वे वापिस ले जा सकते है और तभी से यह बराबर उनके पास बना हुआ है, ऐसा मत प्रचलित है।

सम्भवतः 'आदि ग्रंथ' 'हरि मंदिर' में प्रकाशित होने के बाद पंचम गुरू के पास ही रहता होगा तथा षष्ट, सप्तम या अष्टम गुरू के समय किन्हीं कारणों से गुरू को न प्राप्त हो कर उनके भाई को प्राप्त हो गया होगा और इस सोढ़ी वंश के पास 'ग्रन्थ' का होना इसी का परिणाम है, क्योंकि यह सोढ़ी वंश भी उसी परम्परा से सम्बन्धित है। जो हो, महत्त्व इस बात का है, कि ग्रन्थ अपने उसी रूप मे सुरक्षित है और यह सिख धर्म ही नहीं, साहित्यिक जगत् के लिए भी प्रसन्नता का विषय है। इतना होते हुए यही गुरू अर्जुन द्वारा लिखवाया हुआ तथा भाई गुरदास द्वारा लिखित 'आदि ग्रन्थ' है, ऐसा सर्वसम्मत नही।[१]

पंचम गुरू अर्जुन से लेकर दसम गुरू गोविंद सिंह तक देश की सामाजिक एवं राजनैतिक दुर्दशा के अध्यात्म-प्रधान गुरूओं को सामाजिक एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए पुकारा। 'समय, स्थान तथा परिस्थितियों' के अनुकूल अपने आप को परिवर्तित न करना बुद्धिमता का द्योतक नही—यह विचार कर गुरू अपने आध्यात्मिक जीवन में ही सामाजिक एवं राजनैतिक कर्त्तव्यों को करते हुए अपने चतुर्दिक व्यक्तित्व को उभारते रहे। क्योंकि अत्याचारों का विरोध न करना अहिंसा नही, अपितु अत्याचारियों के दुस्साहस को प्रोत्साहन देना है और 'अत्याचार को प्रोत्साहन' मानव जीवन का निकृष्टतम पाप-कर्म है। इसीलिए सीमित-सामर्थ्य गुरू शक्तिशाली एवं अत्याचारी सत्ता से टक्कर लेते रहे। सपरिवार उन जघन्य पापियों के शिकार भी हुए, पर धर्म न छोडा, आन न जाने दी और उनके बलिदान की कहानी का परिणाम है, संसार की सबलतम जातियों में अग्रणी सिख जाति का जन्म। ससार की

१. विशेष विवरण के लिए देखें 'प्राचीन बीड़ा' : जी० बी० सिंह।

प्रत्येक वस्तु की तरह, प्रत्येक जाति को भी चिर-जीवित होने के लिए सुदृढ़ नींव की आवश्यकता होती है। मानव जीवन की दृढता उसके सुचिन्तित विचारों एवं उनको क्रियात्मक रूप देने में निहित होती है। दसम गुरू जीवन भर अत्याचारी औरंगजेब से जूझते रहे, तब भी वाणी-उच्चारण का कार्य छोड़ा नहीं। बुद्धि में राजनीति, बाहुओं में शक्ति, कार्य में सामाजिकता तथा आत्मा में आध्यात्मिकता लिए हुए उनका अपूर्व व्यक्तित्त्व था, जिसने विकटतम समय की पुकार का उत्तर हँस कर दिया यही महापुरुषों के जीवन की सफलता का रहस्य होता है।[1] पवित्र आत्मा को परमात्मा की पुकार समय से पूर्व ही सुनाई दे जाती है। योग्य पुत्र के अभाव मे गुरू ने उपयुक्त शिष्य का अभाव भी अनुभव किया, जो वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक विरोधों का सामना करते हुए भी, इन सब से ऊपर अपने निर्लिप्त आध्यात्मिक जीवन को 'पद्मपत्रमिवाम्भस' बना कर गुरू नानक द्वारा ज्योतित ज्योति को ज्योतित करता रहे।

राजनैतिक शांति एवं सामाजिक सुख समृद्धि मे ही अध्यात्मिकता पनप सकती है अतः गुरू ने 'शिष्य' समाज के संगठन को नियमित एवं नियंत्रित कर 'सिख धर्म' को जन्म दिया और पूर्व गुरुओ की ज्योतिस्वरूप 'आदि ग्रंथ' में अपने पिता नवम गुरू की वाणी को भी सम्मिलित कर अपनी गुरू-ज्योति को उसी मे अन्तर्हित कर उसे 'श्री गुरू गंथ साहिब जी' बना दिया। इस प्रकार 'आदि ग्रंथ' ही उपयुक्त देहधारी गुरू के अभाव में गुरू ज्योति से ज्योतित हो शिष्यों को सदा के लिए ज्योतित करने के लिए, जब -

आग्या भई अकाल की तबी चलायो पंथ।
सब सिक्खन को हुक्म है गुरू मानियो ग्रन्थ॥
गुरू ग्रन्थ को मानियो प्रकट गुरां की देह।
जो प्रभु को मिलबै चहै खोज शब्द में लेह॥[2]

भवसागर से पार पहुँचाने के लिए ही तो 'ग्रंथ' को देहधारी गुरू का रूप प्रदान किया और कहा कि 'वाणी ही गुरू' होगी।[3] यही 'आदि ग्रंथ' की गुरूत्व में परिणत होने की कहानी है।

'ग्रंथ' की प्रामाणिकता अपने आप में अभी शोध का विषय है, लेकिन कुछ विशिष्ट प्रतियों का यहाँ वर्णन दिया जाता है।[4]

(१) **आदि ग्रन्थ** (कर्तारपुर वाली बीड़) :—यह निर्विवाद रूप से गुरू अर्जुन द्वारा उच्चरित एवं भाई गुरदास द्वारा लिखित प्राचीनतम प्रामाणिक बीड

१. 'विपदि धैर्यम्' भर्तृहरि।
२. रहित नामा प्रहलाद सिंह (पद ३०) में पहली दो पंक्तियां इस प्रकार प्राप्त हैं ;—
अकाल पुरख के बचन सों परगट चलाया पंथ।
सब सिखन को बचन है गुरू मानियो ग्रंथ॥३०॥
३. गु० सू० प्र०: संतोष सिंह पृ० ६३३।
४. विशेष विवरण के लिए देखें, 'प्राचीन बीड़ा' :जी० बी० सिंह।

'आदि ग्रंथ' को कब किसने वहाँ से उठाया, यह अभी शोध का ही विषय बना हुआ है। उसके इतिहास के विषय में इतना ही ज्ञात है, कि वंश-परम्परा में वह गुरू-गद्दी के साथ न रह कर उसी सोढ़ी वंश की अन्य पीढ़ी के व्यक्तियों के पास पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में चला आ रहा है और आज तक उसी रूप में गुरू-वंश की परम्परा में करतारपुर के सोढ़ियों के पास सुरक्षित है, जिसके दर्शन केवल प्रत्येक 'संग्रात' (भारतीय मास का प्रथम दिन) को किए जाते हैं। इस विषय में इतिहास इतना अवश्य बताता है, कि नवम गुरू के प्रतिस्पर्धियों ने गुरू पर आक्रमण करने के लिए कुछ व्यक्तियों को भेजा—परिणामस्वरूप वे गुरू को अकेला पाकर उनका घर लूट लाए, पुनः गुरू के सहायक आ जाने पर उन्होंने उन्हें लूट कर जहाँ अपना व उनका सामान लिया, वहाँ उसी सामान मे यह 'आदि ग्रंथ' भी आ गया। गुरू को यह ज्ञान होने पर उन्होंने कम से कम 'ग्रथ' को लौटाना उपयुक्त समझा। (सम्भवतः आदर की दृष्टि से) यह सोच, व्यास नदी पार करते हुए 'ग्रंथ' को उसके किनारे सुरक्षित स्थान पर रख कर उनको संदेश भेज दिया, कि अपनी पैत्रिक सम्पत्ति पवित्र 'आदि ग्रंथ' को वे वापिस ले जा सकते हैं और तभी से यह बराबर उनके पास बना हुआ है, ऐसा मत प्रचलित है।

सम्भवतः 'आदि ग्रंथ' 'हरि मंदिर' में प्रकाशित होने के बाद पंचम गुरू के पास ही रहता होगा तथा षष्ट, सप्तम या अष्टम गुरू के समय किन्हीं कारणों से गुरू को न प्राप्त हो कर उनके भाई को प्राप्त हो गया होगा और इस सोढी वंश के पास 'ग्रन्थ' का होना इसी का परिणाम है, क्योंकि यह सोढी वंश भी उसी परम्परा से सम्बन्धित है। जो हो, महत्त्व इस बात का है, कि ग्रन्थ अपने उसी रूप में सुरक्षित है और यह सिख धर्म ही नहीं, साहित्यिक जगत् के लिए भी प्रसन्नता का विषय है। इतना होते हुए यही गुरू अर्जुन द्वारा लिखवाया हुआ तथा भाई गुरदास द्वारा लिखित 'आदि ग्रन्थ' है, ऐसा सर्वसम्मत नही।[1]

पंचम गुरू अर्जुन से लेकर दसम गुरू गोबिंद सिंह तक देश की सामाजिक एवं राजनैनिक दुर्दशा के अध्यात्म-प्रधान गुरूओं को सामाजिक एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए पुकारा। 'समय, स्थान तथा परिस्थितियों' के अनुकूल अपने आप को परिवर्तित न करना बुद्धिमता का द्योतक नहीं—यह विचार कर गुरू अपने आध्यात्मिक जीवन में ही सामाजिक एव राजनैतिक कर्त्तव्यों को करते हुए अपने चतुर्दिक व्यक्तित्व को उभारते रहे। क्योंकि अत्याचारों का विरोध न करना अहिंसा नही, अपितु अत्याचारियों के दुस्साहस को प्रोत्साहन देना है और 'अत्याचार को प्रोत्साहन' मानव जीवन का निकृष्टतम पाप-कर्म है। इसीलिए सीमित-सामर्थ्य गुरू शक्तिशाली एवं अत्याचारी सत्ता से टक्कर लेते रहे। सपरिवार उन जघन्य पापियों के शिकार भी हुए, पर धर्म न छोडा, आन न जाने दी और उनके बलिदान की कहानी का परिणाम है, संसार की सबलतम जातियों में अग्रणी सिख जाति का जन्म। ससार की

१. विशेष विवरण के लिए देखें 'प्राचीन बीड़ा' : जी० बी० सिंह।

प्रत्येक वस्तु की तरह, प्रत्येक जाति को भी चिर-जीवित होने के लिए सुदृढ़ नीव की आवश्यकता होती है। मानव जीवन की दृढ़ता उसके सुचिन्तित विचारों एवं उनको क्रियात्मक रूप देने में निहित होती है। दसम गुरू जीवन भर अत्याचारी औरंगजेब से जूझते रहे, तब भी वाणी-उच्चारण का कार्य छोडा नही। बुद्धि में राजनीति, बाहुओं में शक्ति, कार्य में सामाजिकता तथा आत्मा में आध्यात्मिकता लिए हुए उनका अपूर्व व्यक्तित्व था, जिसने विकटतम समय की पुकार का उत्तर हँस कर दिया यही महापुरुषों के जीवन की सफलता का रहस्य होता है।[१] पवित्र आत्मा को परमात्मा की पुकार समय से पूर्व ही सुनाई दे जाती है। योग्य पुत्र के अभाव में गुरू ने उपयुक्त शिष्य का अभाव भी अनुभव किया, जो वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक विरोधों का सामना करते हुए भी, इन सब से ऊपर अपने निर्लिप्त आध्यात्मिक जीवन को 'पद्मपत्रमिवाम्भस.' बना कर गुरू नानक द्वारा ज्योतित ज्योति को ज्योतित करता रहे।

राजनैतिक शांति एवं सामाजिक सुख समृद्धि मे ही अध्यात्मिकता पनप सकती है अतः गुरू ने 'शिष्य' समाज के संगठन को नियमित एवं नियंत्रित कर 'सिख धर्म' को जन्म दिया और पूर्व गुरुओं की ज्योतिस्वरूप 'आदि ग्रंथ' में अपने पिता नवम गुरू की वाणी को भी सम्मिलित कर अपनी गुरू-ज्योति को उसी में अन्तर्हित कर उसे 'श्री गुरू गंथ-साहिब जी' बना दिया। इस प्रकार 'आदि ग्रंथ' ही उपयुक्त देहधारी गुरू के अभाव में गुरू ज्योति से ज्योतित हो शिष्यों को सदा के लिए ज्योतित करने के लिए, जब -

आग्या भई अकाल की तबी चलायो पंथ।
सब सिक्खन को हुक्म है गुरू मानियो ग्रन्थ॥
गुरू ग्रन्थ को मानियो प्रकट गुराँ की देह।
जो प्रभु को मिलबै चहै खोज शब्द में लेह॥[२]

भवसागर से पार पहुँचाने के लिए ही तो 'ग्रंथ' को देहधारी गुरू का रूप प्रदान किया और कहा कि 'वाणी ही गुरू' होगी।[३] यही 'आदि ग्रंथ' की गुरूत्व में परिणत होने की कहानी है।

'ग्रंथ' की प्रामाणिकता अपने आप में अभी शोध का विषय है, लेकिन कुछ विशिष्ट प्रतियों का यहाँ वर्णन दिया जाता है।[४]

(१) आदि ग्रन्थ (कर्तारपुर वाली बीड़) :—यह निर्विवाद रूप से गुरू अर्जुन द्वारा उच्चरित एवं भाई गुरदास द्वारा लिखित प्राचीनतम प्रामाणिक बीड

---

१. 'विपदि धैर्यम्' भर्तृहरि।

२. रहित नामा प्रहलाद सिंह (पद ३०) में पहली दो पंक्तियां इस प्रकार प्राप्त हैं ;—
अकाल पुरख के बचन सों परगट चलाया पंथ।
सब सिखन को बचन है गुरू मानियो ग्रंथ॥३०॥

३. गु० सू० प्र०: संतोष सिंह पृ० ६३३।

४. विशेष विवरण के लिए देखें, 'प्राचीन बीड़ा' :जी० बी० सिंह।

मानी जाती है। इसके ९७५ पृष्ठ हैं, तथा इसमें ५७५१ शब्द संगृहीत हैं।[१] इसके ५४२वें पृष्ठ पर षष्ट गुरू हरिगोविंद जी के हस्ताक्षर हैं। राग आशा में कबीर के शब्द ३४ 'रहु रहु री बधुरिया' के बाद 'देखो लोगा' वाले ३५वें शब्द पर हड़ताल फिरी हुई है तथा मारू राग में मीराँ बाई का एक शब्द लिख कर काटा हुआ है।[२] 'प्राचीन बीड़ा' के लेखक जी० बी० सिंह ने सूरदास के पद 'छाड़ि मन हरि विमुखन को संग' के शेष भाग पर हड़ताल फिरी हुई है—ऐसा लिखा है। लेकिन सन् १९४१ में बीड़ को स्वतः देखनेवाले प्रिंसिपल साहिब सिंह ने इसका विरोध किया है।[३] यह कथन अशुद्ध है कि, पंचम गुरू ने ही नवम गुरू के शब्दों के लिए स्थान छोड़ा था, क्योंकि बीड़ को देखने से ज्ञात होता है, कि पृष्ठ बहुत से स्थानों पर खाली है तथा नवम गुरू की वाणी वहाँ अंकित नही है। सम्भवतः ३० सैंचियाँ[४] बना कर रख ली गई होंगी और प्रत्येक गुरू प्रत्येक घर का तथा प्रत्येक राग का शब्द उसके स्थान के अनुकूल भाई गुरदास लिखते गए। अंत में उन सब सैंचियों को ही जोड़ कर 'आदि ग्रंथ' का रूप दे दिया।[५]

इस में 'सुधु' (शुद्ध किया गया) तथा 'सुधु कीचै' (शुद्ध करो) गुरू अर्जुन को भाई गुरदास को दी गई चेतावती प्रायः 'वारों' के अंत में है, वह भी हाशिए में। लेकिन ग्रंथ में उसी प्रकार छाप लिया जाता है।

(२) **खारी बीड़** (भाई बन्नो वाली बीड़):—गुरू अर्जुन द्वारा बीड़ तैयार हो जाने पर भाई बन्नो जिल्द बंधवाने[६] या संगत को दर्शन करवाने गुरू आज्ञा से 'आदि ग्रंथ' को लाहौर ले गया। उसे केवल एक ही दिन वहाँ ठहरने की आज्ञा मिली थी—कहते हैं, उसने मार्ग में ही सारी बीड़ की नकल कर ली और अपनी ओर से भी उसमें कुछ शब्द जोड़ दिए। पुनः लौट कर आने पर गुरू ने उसका 'खारी बीड़' नाम रख दिया। बन्नो की वंश-परम्परा में अब तक[७] वह जिला गुजरात, मांगट में है, तथा कर्तारपुर वाली बीड़ की ही भाँति प्रत्येक 'संग्रात को संगत उसके दर्शन पा पवित्र होती है।

इसमें 'मुदावानी' के बाद निम्न वाणियाँ कर्तारपुर वाली बीड से अधिक मिलती है :—

(१) बाइ आतश (२) रतन माला (३) हकीकत राह मुकाम राजे शिव नाम की (४) जित दर लख मुहमदा (५) बीड मे 'रुण मुजनड़ा' तथा 'रे मन तज हरि बेमुखन को संग' आदि शब्द सम्पूर्ण लिखे हुए हैं। (६) 'घर अंबर बिच बेलडी' एक

---

१. प्रताप सिंह—गुरमत फिलासफी पृ० १६६।

२. वही : पृ० १६७।

३. साहिब सिंह - गुरमति प्रकाश पृ० ११।

४. क्योकि ३१ वे जैजैवंती में केवल नवम गुरू तेगबहादुर की वाणी प्राप्त है।

५. प्रो० तारन सिंह का मत।

६. मैकालिफ : सि० रि० भाग १, भूमिका। प्रताप सिंह, गुरमत फिलासफी पृ० ५१६७।

७. प्रताप सिंह : गुरमत फिलासफी पृ० १६८।

यह श्लोक भी प्राप्त है।[1] लेकिन इस बीड़ को अन्य दोनों बीड़ों जितना न तो प्रामाणिक ही समझा जाता है, न ही उतना आदर प्राप्त है।

(३) **दमदमेवाली बीड़** :— अपने जीवन के संध्या काल में 'ग्रंथ' को ही 'गुरू' बनाते समय लगभग संवत् १७६२-६३ में गुरू गोविंद सिंह ने 'आदि ग्रंथ' की किसी प्राप्त बीड के आधार पर यह बीड़ तैयार करवाई, जिसमें नवम गुरू तेगबहादुर की वाणी को भी समुचित स्थान दिया।[2] यह कार्य दमदमा साहिब में किया। अतः बीड़ का नाम भी 'दमदमेवाली बीड़' पड गया, वस्तुतः यही बीड़ गुरू-रूप है। कहा जाता है, कि अहमदशाह अब्दाली के हमलों में यह न जाने कहाँ चली गई—अब उसका कोई पता नहीं। लेकिन इसके स्थान पर अब जो प्राप्त है वह अन्य ही कोई बाद की बीड़ है।

संवत् १७३२ में गुरू तेग बहादुर के समय में लिखी गई एक बीड[3] तथा मिती सावन १६, संवत १७४२ में दशम गुरू गोविद सिंह द्वारा तैयार की हुई बीड़[4] भी पुरातन प्राप्त बीड़ों में अपना विशेष स्थान रखती है।

इस प्रकार तब से अब तक हजारों हस्तलिखित बीडें प्राप्त हुई। बहुत-सी बहुत प्रचीन हैं, जो पाकिस्तान बनने पर इधर आए हुए शरणार्थियों ने 'शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबन्धक कमेटी', अमृतसर की अपील सुन कर उन्हें दे दी। लेकिन इन बीड़ों से पुरातन अथवा इनकी मान्यताओं को किसी प्रकार प्रभावित करनेवाली अब तक कोई नही सिद्ध हो सकी। कई बीड़ों पर गुरुओं के हस्ताक्षरों के चिह्न-स्वरूप तीर के चिह्न अंकित हैं, लेकिन यह उनकी प्रामाणिकता में इतना ही सहायक है कि वे उस समय में लिखी गई।

प्रामाणिकता की दृष्टि से इसमें 'आदि बीड़' सबसे प्रमुख स्थान रखती है। लेकिन 'गुरु-पद' की दृष्टि से 'दमदमेवाली बीड़' का महत्त्व अधिक है। अतः 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' अमृतसर द्वारा अब तक छपनेवाली बीडों को दमदमेवाली बीड के आधार पर छापा जा रहा है, ऐसा लिखा मिलता है।

'शुद्ध गुरूवाणी ट्रस्ट' ने ज्ञानी प्यारा सिंह तथा सत हर भजन सिंह को 'आदि ग्रंथ' से शुद्ध करने का कार्य सौंपा। उन्होंने ७–११–१९५१ से लेकर कई महीनों के कठिन परिश्रम के बाद ७३३ सुधार किए[5] तथा अब (१९५४) फोटो ब्लाकों द्वारा बीड को उस आधार पर छापने का प्रबन्ध हो गया है।[6] इसमे 'धार्मिक कमेटी' के निर्णय (९–१०–५३) के अनुकूल मंगलाचरण को सिरलेख से पहले[7] अङ्कित करवाया है।

---

१. प्रताप सिंह : गुरमत फिलासफी पृ० १६८।

२. हि० सि०—तेजा सिंह पृ० ३३।

३. आदि बीड़ सम्बन्धी जरूरी वाकफियत (शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबन्धक कमेटी पृ० १३)

४. वही : पृ० १३।

५. वही : पृ० २।

६. अभी कुछ ही समय हुआ यह बीड़ तैयार हुई है। ७. जरूरी वाकफिकत पृ० १३।

'चीफ़ खालसा दीवान' आदि धार्मिक संस्थाएँ इसका विरोध करती हैं।[१] जो हो, अभी निःसंदिग्ध रूप से यह नहीं कहा जा सकता, कि अब तक की छपी हुई बीड़ों में नवम गुरू की वाणी का आधार कौन-सी प्रति रही है,[२] यह शोध का विषय है।

'ग्रंथ की वाणी'—

'ग्रंथ' की वाणी से परिचित होने के लिए उसके संग्राहकों की वाणी से परिचित होना आवश्यक है, अतः उनकी वाणी की गणना अधोलिखित तालिका में दी जाती है।

नाम	प्रयुक्त रागों की संख्या	वाणी संख्या	नाम	प्रयुक्त रागों की संख्या	वाणी संख्या
१. गुरू नानक	१९	९७४	१३. सधना	१	१
२. गुरू अङ्गद (केवल श्लोक)		६२	१४. नामदेव	१८	६१
			१५. त्रिलोचन	३	४
३. गुरू अमरदास	१७	९०७	१६. वेणी	३	३
४. गुरू रामदास	३०	६१९	१७. जयदेव	२	२
५. गुरू अर्जुन	३०	२२१८	१८. सूरदास	१ (केवल १ तुक)	
६. गुरू तेग बहादुर[३]	१५	११६	१९. परमानन्द	१	१
७. कबीर	१८	५३८	२०. शेख फरीद	२	११६
८. रामानन्द	१	१	२१. भीखन[४]	१	२
९. सेन	१	१	२२. सुन्दर	१	६
१०. रैदास	१६	४०	२३. सत्ता तथा बलवंत	१	८
११. पीपा	१	१	२४. मरदाना	१	३
१२. धन्ना	२	३	२५. भाट[५]	—	१२३
			कुल जोड़[६]		५८९४

---

१. जरूरी वाकफियत पृ० ९।

२. असिस्टैन्ट सेक्रेटरी, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी की सूचना इस विषय में इस प्रकार है। अन्य प्रमाणिक प्रतियों के अभाव में—

'We got help from the Holy Bir with Golden Bindings preserved at Sri Akal Takhat Sahib in the selection of the Bani of Sri Guru Teg Bahadur Sahib.

(Letter No. 20860, Amritsar, 8 February, '58.)

३. ९ गुरुओं की वाणी की गणना' वाणी ब्योरा' पृ० सं० १२५ से ली गई है।

४. १५ संतों की वाणी की गणना का आधार 'प्रबंध' ही है, विस्तृत देखें संत वाणी प्रकरण।

५. शेष लेखकों की गणना 'वाणी ब्योरा' पृ० १२१ से ली गई है।

६. योग भी वाणी ब्योरा पृ० १२३ का ही दिया गया है।

वाणी का क्रम एवं उसका आधार—

आज तक 'ग्रंथ' के अध्येताओं के लिए इसकी वाणी का क्रम उलझन ही बना रहा। सर्वप्रथम पाश्चात्य अन्वेषक डा० ट्रम्प इसमें किसी क्रम को न ढूँढ पाए, इसीलिए उनको लिखना पड़ा कि 'ग्रंथ' में वाणी के वर्गीकरण तथा क्रम-निर्धारण में कोई विशेष नियम प्राप्त नहीं।[१]

पुनः एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् ने 'ग्रंथ' के लेखकों, पदों एवं शब्दों के गणना सम्बन्धी निबन्ध में वाणी के क्रम का आधार संगीत बताया है।[२]

मैकालिफ ने, जिसने कि 'ग्रंथ' का अध्ययन गम्भीर विश्लेषणात्मक दृष्टि से सर्वप्रथम किया; इस विषय में इतना ही लिखा है, कि 'ग्रंथ' में पदों का क्रम रागों के अनुकूल है।[३]

सिख विद्वानों में से इस दिशा मे सर्वप्रथम प्रयास डा० शेरसिंह का है। उन्होंने इस अभाव अथवा क्रम में अनियमितता कहलानेवाले मत का खण्डन करते हुए लिखा है, कि 'ग्रंथ' का क्रम समझने के लिए गुरू द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मानुभूति का मार्ग समझना आवश्यक है, जो भारतीय ज्ञान, कर्म एवं भक्ति तीनों मार्गों से भिन्न 'नाम-मार्ग' है।[४]

भगवान् की गुणानुभूति के कारण जीव आश्चर्य-चकित हो उसी में तल्लीन हो जाता है। इस अवस्था को 'विस्माद' कहा गया है। 'विस्माद' का ब्रह्मानुभूति में विशेष महत्त्व है। राग, संगीत एवं कीर्तन का 'विस्माद' से घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि रागों में संगीत के माध्यम से कीर्तन ही जीव को 'विस्माद' अवस्था तक पहुँचाता है, तभी निरन्तर विस्मादावस्था में स्थित जीव ही ब्रह्मानुभूति कर पाता है। अत: संगीत ही 'ग्रंथ' की वाणी का क्रम निर्धारित करता है।[५] लेकिन विज्ञ लेखक यह भूल गया, कि भिन्न-भिन्न विचार या भाव भी इकट्ठे एक ही राग में गाए जाने पर भी तल्लीनता नहीं पैदा कर सकते—हाँ, उनका अर्थ एवं भाव न

१. 'No system nor order is therefore to be looked for in any of the Rags'.('Adi Granth' : Dr. E. Trumpp. Introduction, Page CXX).

२. 'There can be no doubt that the basis of arrangement was musical' (J. R. A. S. Vol. XVIII, 'Arrangement of the Adi Granth' : Frederic Pincott.)

३. सि० रि० मैकालिफ भाग ३, पृ० ६१।

४. (यहां भगवान में आरोपित गुणों की अनुभूति ही उसका 'नाम' है तथा उनकी निरन्तर उस अनुभूति में तल्लीनता ही 'जप'। यही सिख धर्म का 'नाम मार्ग है' (जो भक्ति-मार्ग का ही एक अंग है)।

५. Dr. Sher Singh : Philosophy of Sikhism, P. 52. 'So music forms the basis of classification of contents of the Granth'.

समझनेवालों के लिए ऐसा हो सकता है। लेकिन मानव बौद्धिक प्राणी है, वह हृदय तथा बुद्धि मे संतुलन करके ही जीवन में प्रगतिशील होता है। दूसरा 'सिख धर्म' की भक्ति ज्ञान का सम्बल लेकर ही चलती है। भक्ति की अपनी भावुकता भी ब्रह्मानुभूति के लिए उपयुक्त साधन नही। अतः संगीत के माध्यम से तल्लीनता एक ही भाव या विचार में होनी चाहिए, तभी 'विस्मादावस्था' तक पहुँच कर जीव उसकी स्थिरता में ही ब्रह्मानुभूति कर सकता है। तीसरा, जिस गुरू ने निरंतर इतने वर्ष के अथक परिश्रम एवं अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय इसके सम्पादन में दिया है—उसके क्रम की वैज्ञानिकता में भावों एवं विचारों का कोई स्थान न हो, यह कैसे सम्भव है? गुण-ग्राहिणी प्रज्ञाचक्षु अपेक्षित है। 'ग्रंथ' का गम्भीर विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर अनुभव होता है, कि संगीत एवं राग की एकता से अधिक एक ही भाव का निरंतर प्रवाह मानव-मन को मुग्ध किए रहता है। आश्चर्यान्वित हो इस प्रकार निरंतर मुग्ध रहना ही तो 'विस्माद' है।[1] इतना ही नहीं पाठकों को यह भी नही भूल जाना चाहिए, कि न तो हम कोई काव्यात्मक कथा पढ़ रहे हैं और न ही कोई पद्य-बद्ध विचारावली, लेकिन हम तो यहाँ आध्यात्मिक पथ के पथिक के रूप में उपस्थित हैं। अध्यात्म का पथ—अनुभूति का पथ है, मस्तिष्क के बंधन का नहीं। अतः उसके छींटों पर 'न बिखरने' का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। यही बात 'ग्रंथ' के विषय में सत्य है। 'ग्रंथ' तो अनुभूतियों के अमृत-कणों का संग्रह-मात्र है। अतः सब कहीं सभी अनुभूतियों को एक ही लड़ी में पिरो दिया हो ऐसी बात नही। ५८९४ मणियों की माला पहननेवाला भी कोई हो? इसीलिए तो इन मणियों की उतनी मालाएँ तैयार की गई हैं, जो एक के बाद एक पहिनाई जा सकें—जब तक व्यक्ति पहली माला के भार को सम्भाल कर दूसरी का अधिकारी बने, तभी उस दिशा में प्रगति करे।

यह कह कर हम राग का महत्त्व घटाना नहीं चाहते, परन्तु वाणी-क्रम पर 'राग' का अनन्य अधिकार रहा है, वाणी का विश्लेषणात्मक अध्ययन यह साक्षी नहीं देता। 'जपुजी' आदि उत्कृष्टतम वाणियों को 'रागों' में स्थान न देकर उनसे पहले स्थान देना अवश्य ही सिद्धांतों एवं विचारों के महत्त्व की स्वीकृति है। इतना ही नहीं, 'श्लोक सहस्रकृति' के बाद की वाणी को भी किसी राग में आबद्ध नहीं किया। हाँ! रागों ने विशाल काय ग्रंथ की देह के 'मध्य-भाग' को इतनी अच्छी तरह सम्बद्ध किए रक्खा, कि उसका आकार अनुपातशून्य न हो जाए। सिर और पैर इस बंधन से स्वतन्त्र रहें।

थोड़ी सी सूक्ष्म-दृष्टि हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है, कि सिर-भाग की वाणी का आधार है, विचार एवं भाव; देह-भाग का संगीत एवं राग तथा अधोभाग में भाषा एवं अभिव्यक्ति (शैली) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके प्रमाण में यहाँ

---

१. 'विस्माद' आश्चर्यान्वित हो भगवत्तल्लीनता में आत्म-विस्मरण। विस्तृत विवरण देखें 'ग्रन्थ' एक परिचय, पृ० ६०।

अंतःसाक्ष्य है, कि पहली वाणी में राग एवं भाषा को न आधार ही माना गया है और न ही विचारों के समान उनकी कोई विशेष प्रवृत्ति इसमें प्राप्त है। इसी प्रकार देह भाग में सब विचार और सब प्रकार की भाषा होते हुए भी वाणी के आधार के रूप में उनका ऐसा महत्वपूर्ण अथवा क्रम-बद्ध स्थान नहीं। अंतो भाग (अवशिष्ट-वाणी) में भी न तो रागों का और न ही विचारों की क्रम-बद्धता का कोई विशेष आधार हमारे सम्मुख आता है। अतः 'देही-ग्रंथ' की वाणी के तीन भिन्न-भिन्न आधार मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए।[1] अतः यह कहना अधिक संगत होगा कि 'ग्रंथ' की वाणी के क्रम का आधार भाव (आन्तरिक दृष्टि से), राग (संगीत की दृष्टि से) तथा भाषा (अभिव्यक्ति की दृष्टि से) तीनों का समन्वय है। इसी का अध्ययन करने के लिए 'ग्रंथ' की वाणी की निम्न तालिका सहायक सिद्ध हो सकती है :—

वाणी का नाम	वाणी संख्या	ग्रंथ पृ० संख्या	वाणी का नाम	वाणी संख्या	ग्रंथ पृ० संख्या
१—मूलमंत्र	१	१	२०—सूही ,,	२०७	७२८
२—जपुजी	४०	१	२१—बिलावलु ,,	२५७	७९५
३—सौदरु	५	८	२२—गौड ,,	४६	८५९
४—सौपुख	४	१०	२३—रामकली ,,	४७४	८७६
५—सौहका	५	१२	२४—नटनराइण ,,	२५	९७५
६—स्री राग	२११	१४	२५—माली बाउड़ा राग	१७	९८४
७—माझ ,,	१९४	९४	२६—मारु ,,	३२०	९८९
८—गउड़ी ,,	८१४	१५१	२७—तुखारी ,,	२७	११०७
९—आसा ,,	५१०	३४७	२८—केदारा ,,	२५	१११८
१०—गूजरी ,,	१९४	४८९	२९—भैरउ ,,	१३२	११२५
११—देवनघारी ,,	४७	५२७	३०—बसंत ,,	८९	११६८
१२—बिहागड़ा ,,	८१	५३७	३१—सारंग ,,	२८६	११९७
१३—बडहंस ,,	१२०	५५७	३२—मलार ,,	१६१	१२५४
१४—सोरठ ,,	२५९	५९५	३३—कानड़ा ,,	११५	१२९४
१५—धनासरी ,,	११९	६६०	३४—कलिआन ,,	२३	१३१९
१६—जैतसरी ,,	९६	६९६	३५—प्रभाती ,,	६७	१३२७
१७—टोडी ,,	३४	७११	३६—जैजैवंती ,,	४	१३५२
१८—बैराड़ी ,,	७	७१९	३७—श्लोक सहस्रकृति	७१	१३५३
१९—तिलंग ,,	२०	७२१	३८—गाथा (मं० ५)	२४	१३६०

१. इस विषय में अभी शोध की आवश्यकता है, यह तो एक परिचय मात्र है।

वाणी का नाम	वाणी संख्या	ग्रंथ पृ० संख्या	वाणी का नाम	वाणी संख्या	ग्रंथ पृ० संख्या
३९—फुनहे (म० ५)	२३	१३६१	४४—गुरुओं के वारों से बढ़े हुए श्लोक	१५२	१४१०
४०—चउबोले (म० ५)	११	१३६३			
४१—श्लोक कबीर	२३६	१३६४	४५—मुंदावाणी (महला ५)	२	१४२९
४२—श्लोक फरीद	१२२	१३७७			
४३—गुरु अर्जुन तथा भटों के सवैये	१४३	१३८५	४६—राग माला[1]	१	१४२९

'ग्रंथ' में सब गुरुओं का नाम वाणी के साथ न प्रयुक्त होकर केवल प्रथम गुरू नानक का ही नाम प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि अन्य गुरू तो उसी की ज्योति-मात्र थे। इस प्रकार दसों गुरू एक ही ज्योति से ज्योतित थे। अतः 'नानक' नाम का प्रयोग करते हुए भी सभी गुरूओं को क्रमशः महला १, महला २, महला ३, महला ४, महला ५ तथा महला ९ द्वारा सूचित किया है। यह सांकेतिक चिह्न प्रत्येक वाणी के लेखक की सूचना प्रारम्भ में ही दे देता है और राग के अंत में 'नानक' नाम प्राप्त है। इसी प्रकार भक्तों एवं अन्य लेखकों की वाणी की सूचना भी वाणी के पूर्व उनका नाम लिख कर दे दी है, जो प्रायः उनकी रचना की अन्तिम पंक्ति में भी प्राप्त है।

'ग्रंथ' को रागों में विभक्त करके उसके आन्तरिक रचना-क्रम को भी आकार की दृष्टि से असंतुलित नहीं होने दिया। प्रत्येक राग में वाणी का निम्न क्रम प्राप्त है:—

(१) पद (क्रमशः दुपदे, तिपदे तथा चौपदे)
(२) अष्टपदियाँ
(३) विशेष लम्बी कविताएँ
(४) छंद
(५) अन्य असामान्य कविताएँ (यदि कोई प्राप्त हों)
(६) वार
(७) भक्तों की कविताएँ।

इस वर्गीकरण में भी रागों के आधारस्वरूप घरों के उतार-चढ़ाव का ध्यान रखा गया है। 'ग्रंथ' में १७ घरों का प्रयोग हुआ है और कोई भी एक ही प्रकार की वाणी कभी चढ़ाव से उतार की ओर नहीं आती, अपितु सदा यह क्रम उतार से चढ़ाव की ओर ही रहता है। एक प्रकार की वाणी के समाप्त हो जाने पर पुनः घर १ से आगे यह क्रम चलता है।

लेखकों के क्रम का निर्धारण भी विशेष ढंग से हुआ है। सर्व प्रथम म० १, म० २, म० ३, म० ४, म० ५ तथा म० ९ का क्रम आता है। गुरुओं की वाणी

१. इस तालिका का आधार 'वाणी ब्योरा पृ० संख्या ११४ तथा १२६ है।

समाप्त हो जाने पर भक्तों की वाणी को स्थान प्राप्त है। उनमें भी शीर्षस्थान कबीर का है तब नामदेव एवं रविदास का। पुनः अन्य संतों का। सधना, भीखन तथा शेख फरीद की वाणी जहाँ कही भी अंकित है, उसे राग में सबसे अन्तिम स्थान मिला है। इस प्रकार 'ग्रंथ' के क्रम का आधार है :—

(१) भाव (आन्तरिक दृष्टि से), राग (संगीत की दृष्टि से) तथा भाषा (अभिव्यक्ति की दृष्टि से) तीनों का उचित समन्वय।
(२) चौपदे, अष्टपदियाँ आदि वाणी का आकार।
(३) राग का घरों के अनुकूल चढ़ाव।
(४) गुरू-क्रम तथा संत-क्रम।

१४३० पृष्ठों के इतने विशालकाय 'ग्रंथ' मे इन नियमों के अपवाद ढूँढने पर भी न के बराबर मिलते हैं।[१] अतः यह कहना उचित होगा, कि 'ग्रथ' में इन नियमों का ध्यानपूर्वक पालन किया गया है। 'ग्रंथ' का यह विशिष्ट वैज्ञानिक क्रम-निर्धारण गुरू के अथक परिश्रम एवं अद्वितीय प्रतिभा का द्योतक है।

'ग्रंथ' में राग[२] का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः उस पर एक विहंगम दृष्टि डालनी अनुचित न होगी।

वस्तुतः छह ही प्रमुख राग हैं, लेकिन उनकी पत्नी तथा पुत्र, पुत्रियों की संख्या मिला कर उनके परिवार की संख्या ८४ तक पहुँच जाती है। 'ग्रंथ' में केवल उन ३१ रागों का प्रयोग हुआ है, जो भावनाओं को एक दम ही अत्यधिक उद्वेलित नहीं करते अथवा मानव को शीघ्र हीं उत्तेजित नहीं करते। इससे एक ही रस प्रवाह तल्लीनता में—व्याघात पहुँचता है, जो भक्त के लिए आवश्यक है।[३] प्रथम गुरू नानक की वाणी केवल १६ रागों में प्राप्त है। चतुर्थ गुरू रामदास ने ११ नवीन रागों में वाणी को स्थान दिया—इनमें केवल चतुर्थ एवं पंचम गुरू की वाणी संगृहीत है तथा ३१ वें राग जैजैवंती में केवल नवम गुरू तेगबहादुर के ४ शब्द। इनमें भी अप्रसिद्ध राग-रागनियों में थोड़ी वाणी को ही स्थान प्राप्त है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है।[४] 'ग्रंथ' के अंत में रागमाला दी हुई है, जिसमें रागों की सूची है। लेकिन न तो 'ग्रंथ' में वर्णित सभी राग उसमें प्राप्त हैं और न ही उनमें वर्णित सब राग ग्रंथ में। इसकी प्रमाणिकता भी विवादास्पद है।[५]

---

१. देखें अध्याय ३, संतों की वाणी में गुरू अर्जुन की वाणी आदि।

२. सातों स्वरों की स्थाई सातों स्वर, चारों वर्ण तथा अलंकारों सहित सुननेवालों को मोहित करनेवाले गले अथवा बीना के स्वर को 'राग' कहा गया है।
(वाणी ब्योरा पृ० ५०)

३. एक दम अत्यधिक सुख तथा दुःख के उद्बोधक क्रमशः मेघ, हिंडोल तथा फाग एवं दीपक (तेजासिंह : हि० सि० पृ० ३२)

४ देखें तालिका 'ग्रंथ' की वाणी।

५ विस्तृत विवरण के लिए देखें पृष्ठ ७२८ तवारीख गुरु खालसा (गिआन सिंह)

'रागा विचि स्री रागु है जे सचि धरे पिआरू ।'[1]

रागों में सर्वप्रधान राग 'स्री राग' ही है। अतएव इसको रागों में शीर्ष स्थान प्राप्त है। राग जैंजैवंती में केवल नवम् गुरू की वाणी प्राप्त है, वह भी ४ शब्द। इससे हम उसका महत्त्व कम नहीं कर सकते, पर इतना अवश्य है, कि उसे 'ग्रंथ' के रागों मे अंतिम स्थान प्राप्त हुआ है। प्रत्येक कविता का आधार जो राग है, वह भी अपने में निम्न आवश्यक उपकरणों का आधार बनाए हुए है :—

(१) मानव-मन के विशिष्ट भाव को उद्दीप्त करता है।
(२) ऋतु विशेष मे गेय है।
(३) समय विशेष (दिन पहर) में गेय है।
(४) स्थानीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण का सूचक है।
(५) उसका अपना लिंग विशेष है।
(६) कुछ रागों का मिश्रण होने पर—उन सबके भावों का प्रतीक है।

इसी आधार पर ग्रंथ में वर्णित ३१ रागों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है :—

	राग	उद्‌बोधक भाव	ऋतु	समय	विशेष
१	श्री	शांति, प्रसन्नता, आनन्द	हेमन्त	सायंकाल	
२	माझ	उत्साह, प्रेरणा (शक्ति)			(मध्य पंजाब का देशी राग)
३	गउड़ी	आत्म चिंतन, गम्भीरता, शक्ति	शिशिर	सायंकाल	
४	आसा	प्रसन्नता, आशा, मिलन	हेमंत	प्रात:	(मुसलमानों को प्रिय)
५	गूजरी	आशा, शक्ति, उत्साह	सदा	पूर्व-दोपहर	(पंजाबी गूजरों का राग
६	देवगंधारी	प्रसन्नता		प्रात:	
७	विहागड़ा	खुशी, वियोग	हेमंत	अर्धरात्रि	(रागमाला में नाम नहीं)
८	बडहंसु	वैराग्य, मिलन की तीव्र चाह	शरद	दोपहर-संध्या	
९	सौरठी	वैराग्य, मिलन की तीव्र चाह	शरद	अर्ध-रात्रि	
१०	धनासरी	पीड़ा, दु:खमय दृष्टिकोण	शरद	दोपहरबाद	
११	जैतसरी	खुशी	शिशिर	रात्रि प्रथम पहर	देशी संकीर्तन
१२	टोडी	वियोग	शरद	पहर दिन चढ़ने पर	

१. म० ३, १ पृ० ८३।

राग	उद्‌बोधक भाव	ऋतु	समय	विशेष
१३ बैराड़ी			तृतीय पहर	देशी राग
१४ तिलग	वैराग्य	वर्षा	अर्धरात्रि	मुस्लिम-प्रिय
१५ सूही	आनन्द, इन्द्रियानुभूति	बसंत,	सदा	सूफी-प्रिय
१६ बिलावलु	शांति, सतुलन, आशा	बसंत	सूर्योदय के पश्चात् (प्रातः)	
१७ गौड़	खुशी, संयोग	हेमंत	दोपहर बाद (बरसात में हर समय)	
१८ रामकली	वैराग, आशा	बसंत	प्रातः	यौगियों का प्रिय राग
१९ नटनारायण	खुशी	वर्षा	तृतीय पहर	
२० मालीगउड़ा	खुशी, उमंग		दोपहर	
२१ मारू	युद्ध-भाव, वीर-भाव	शरद	दोपहर बाद	रेगिस्तानी भाग में गेय
२२ तुखारी	दुःख-भावना, प्रसन्नता	शरद	प्रातः	तुखार (सर्दी)
२३ केदारा	खुशी, वियोग,		अर्धरात्रि	
२४ भैरउ	दुःखमय दृष्टिकोण	शरद	प्रातः	
२५ बसंत	आनन्द, संतुलन	बसंत	सदा	प्रसन्नता का राग
२६ सारंग	आनन्द, प्रसन्नता, वैराग्य	वर्षा	दोपहर	
२७ मलार	आनन्द, प्रसन्नता	वर्षा	अर्धरात्रि	वर्षा होने पर
२८ कानड़ा	खुशी	ग्रीष्म	अर्धरात्रि	
२९ कलिआन	प्रसन्नता	वर्षा	प्रथम पहर	रात्रि
३० प्रभाती	शांति,प्रसन्नता	शरद	प्रातः	
३१ जैजैवंती[1]	खुशी	ग्रीष्म	अर्धरात्रि	

इन रागों के भी उपयुक्त वातावरण का निर्माण करने के लिए आवश्यक है कि भाव, परिस्थिति, शैली, शब्दावली, अलंकार तथा छंद भी राग के अनुकूल ही हों। वीर रस और शृंगार रस के लिए प्रायः भिन्न-भिन्न वातावरण ही क्या उपयुक्त शब्दावली, भाषा-शैली एवं अलंकारों के चुनाव की आवश्यकता रहती है।

१. इनका आधार 'बाणी ब्योरा' पृ० ५१-८१ है।

गुरूओं को इस बात का उपयुक्त ज्ञान था, उनकी वाणी का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[१]

गुरू नानक ने राग का रस से भी कही अधिक महत्त्व स्वीकार किया है। यही कारण है, कि उनकी कविता में जहाँ रागानुकूल शैली प्राप्त है, वहाँ शब्दो की अन्तरात्मा का ज्ञान होने के साथ-साथ भाषा का भी सफल प्रयोग कर उन्होंने अपने उत्कृष्ट काव्यत्त्व का परिचय दिया है।

उन्होंने हिन्दुओं के, मुसलमानों के, सूफियों के, योगियों के तथा गूजरों के, सभी प्रकार के व्यक्तियों के व्यक्तिों के उपयुक्त रागों का चुनाव कर जातिगत संकीर्णता को क्रियात्मक रूप से दूर करने का प्रयत्न किया। वैष्णवों की भक्ति के प्रधान अंग 'कीर्तन' का उन्होंने विशेष महत्त्व स्वीकार कर अपने अनुकूल अपनी वाणी में उसे ढाल लिया है। गुरू ने संगीत-ज्ञान कहाँ से प्राप्त किया—यह भी खोज का विषय है, सम्भवतः नित्य का साथी मरदाना उनका सहायक सिद्ध हुआ हो।

आध्यात्मिक पथ एक दीर्घ सुचिंतित पथ है। अतः उस दृष्टि से यदि इन रागों का वर्गीकरण किया जाए, तो 'ग्रथ' के विकास-क्रम में एक विचार-धारा वैज्ञानिक रूप से विकसित हुई प्रतीत होती है।

प्रथम भाग में स्री राग, माझ, गौड़ी, आसा, गूजरी, बडहंस तथा सोरठ आदि उन रागों को रक्खा जा सकता है जो माया-लिप्त जीव को नश्वर-सम्पत्ति, क्षणिक-देह तथा अस्थिर संसार का ज्ञान करा कर संसार के प्रति वैराग्य की भावना पैदा कर उसे निर्लिप्त बनाने का प्रयत्न करते हैं। ग्रीष्म की गर्मी की भाँति ही मानव-जीवन की समस्याएँ मानव के सामने आ उपस्थित होती हैं और वह अपने दोषों को, अभावों को—अनुभव करने करने लगता है। यही आध्यात्मिक पथ का प्रथम सोपान है, कि मानव भगवान् के सम्मुख अपनी तुच्छता का भान कर असार संसार को त्याग उस भगवान् में प्रवृत्त होने लगे।

सूही, विलावलु, रामकली आदि अपनी समस्याओं का समाधान करने के लिए मानव-मन को अभ्यास का मार्ग बताते हुए आत्मानुभव के पथ का पथिक बनाते हैं। भक्ति अथवा 'नाम'[२] इसका ऐसा साधन है, जिसके निरन्तर जाप[३] से ही मानव अपने मन एवं इन्द्रियों को वश में कर ब्रह्मोन्मुख हो सकता है। शरद-ॠतु इसमें सहायक है।

तुखारी, बसंत, सारंग, मलार तथा प्रभाती आदि अंतिम रागों का स्वर स्वानुभूति से उत्पन्न भगवत्मिलन और उस मिलन से प्राप्त आह्लाद का परिचायक है। क्योंकि यही तो तृषित एवं तड़पते तए जीव का उद्देश्य था। बसंत उसकी

१- देखें रागानुकूल वाणी का परिचय।

२- भगवान् के गुणों का ध्यान।

३- जाप—उस 'नाम' में ही तल्लीनता।

प्रसन्नता का द्योतक है, तो वर्षा उस आनन्द को अनुभव करने में सहायक सिद्ध होती है। यही दोनों का संगम-स्थल है। इस प्रकार आध्यात्मिक पंथ की प्रगति की दृष्टि से 'ग्रंथ' के प्रमुख रागों को इन तीन भागों मे बाँटा जा सकता है।

प्रातःकालीन गेय वाणियाँ गम्भीर चिन्तनपूर्ण विचार-धारा को लिए हैं, जबकि संध्या-कालीन सामान्य जीवन की। रात्रि के समय की गेय वाणियाँ चित्रात्मक अधिक है।

मानव-जीवन की अवस्थाओं के अनुकूल अंधकारमयी युवावस्था सांसारिक दुःखों को देख उसकी खोज मे विचरती है, जिसका साधन है, अभ्यास द्वारा मन को वश में करना।[1]

मध्य आयु के गृहस्थ-जीवन मे यदि ब्रह्म का थोड़ा सा भी ज्ञान हो गया, तो उसी प्रकाश से आशा की किरणे फूट निकलती है और आत्मानुभूति द्वारा उसे ढूँढता हुआ जीव वृद्धावस्था मे मोक्ष की ओर प्रगतिशील होना चाहता है।[2]

इस प्रकार 'ग्रथ' की वाणी को ध्यान से देखने से प्रतीत होता है, कि राग अपना विशेष महत्त्व रखते हुए भी भावो से अलग नही। दोनों एक दूसरे से इस प्रकार गुंथे हुए है, कि बिना सूक्ष्म दृष्टि दौड़ाए न दोनों का अलग महत्त्व अनुभव किया जा सकता है और न ही उनका मूल्यांकन।

वर्गीकृत वाणी का परिचय :—इसी वर्गीकरण के अनुकूल यहाँ उनका परिचय दिया जाता है। 'ग्रंथ' पर एक सामान्य दृष्टि दौड़ाने से स्पष्ट ही उसके तीन भाग प्रतीत होते है। 'ग्रंथ' के प्रथम-भाग मे रागों से पहले की वाणियो को रक्खा जा सकता है, द्वितीय भाग में रागों मे वर्णित वाणी तथा तृतीय भाग मे रागों के बाद की वाणी को। मानव-देह के अनुकूल ही इन्हें शिरो-भाग, मध्य-भाग तथा अधो-भाग भी कह लिया जाए, तो अनुप्रयुक्त नहीं। जहाँ प्रथम भाग विचार-प्रधान तथा द्वितीय संगीत-प्रधान है वहाँ तृतीय भाग को अभिव्यक्ति (भाषा) प्रधान भी माना जा सकता है। प्रत्येक भाग की वाणियों का परिचय पा लेने के बाद ही इस तथ्य पर विस्तार से विचार किया जा सकता है। अतः यहाँ क्रमशः वाणियों का परिचय दिया जाता है।

"वर्गीकृत वाणी का परिचय'—

१- **'मूल मंत्र'** **१ ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ**
निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरू प्रसादि ॥

प्रथम गुरू नानक द्वारा उच्चारित यह 'मूल-मन्त्र' सिख धर्म का आधार है, इसमे 'वाहि गुरू' का स्वरूप बताने का प्रयत्न किया गया है, वह ब्रह्म[3] ही तो एक

१. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते। गीता अध्याय ६, ३५।
२. गुरु नानक ऐज ए पोयट अप्रकाशित 'प्रबन्ध' (डा० तारन सिंह) पृ० २१५।
३. सिख धर्म में ब्रह्म के लिए 'वाहि गुरू' शब्द का प्रयोग अधिक प्रिय एवं प्रचलित है।

मात्र सत्य, सर्वकर्त्ता, निर्भय, निर्वैद, अकाल तथा अयोनि होता हुआ गुरू कृपा से प्राप्य है। किसी दिशा में प्रयाण करने से पहले गंतव्य का दर्शन कराना या कम से कम आभास देना आवश्यक होता है। आध्यात्मिक पथ के दो कार्य हैं (१) भगवान् के स्वरूप का ज्ञान ही यनुष्य जीवन का उद्देश्य है, (२) जो गुरू कृपा से सम्भव है। प्रयत्नशील जीव को उसका साध्य और साधन बता देना प्रत्येक आध्यात्मिक गुरू का कर्त्तव्य है और 'मूल मन्त्र' यही कार्य करता है। इसीलिए प्रत्येक राग के प्रारम्भ मे इसका स्थान बना हुआ है। आध्यात्मिक पथ के पथिक को चलते-चलते भी उसके गतव्य का स्मरण कराया जाता है, ताकि कहीं भटक न जाए—निराश एवं निरुत्साहित न हो। जहाँ उसे इससे निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती रहती है, वहाँ उसका मार्ग भी ज्योतित होता रहता है। इसीलिए पंचम गुरू ने कहा भी है 'बीज-मन्त्र सरब को गिआनु'[१] यही उसका महत्त्व है। 'ग्रंथ' में इसका प्रयोग ३३ स्थानों पर हुआ है। '१ ओं सतिनामु करता पुरखु गुर प्रसादि' इसका संक्षिप्त रूप है, जो 'ग्रंथ' में केवल ८ स्थानों पर ही प्रयुक्त हुआ है, तथा ग्रंथ के अतिरिक्त बाहर भी प्रयोग में नहीं मिलता। अन्य प्रचलित संक्षिप्त रूप '१ ओं सतिगुर प्रसादि' है, जो आज के वैज्ञानिक युग में 'कम समय में अधिक कार्य की मनोवृत्ति का सूचक है। इसी से 'मूल मन्त्र' का प्रयोग समझ लिया जाता है। 'ग्रंथ में इसका प्रयोग ५२५ स्थानों पर हुआ है।[२]

२- 'जपु'—आदर के कारण 'जपुजी' शब्द का प्रयोग होता है। भक्ति-मार्ग में 'नाम'—मार्ग और 'नाम' का नित्य स्मरण ही जाप कहलाता है। 'नाम' स्मरण में ही इस वाणी के नाम की सार्थकता निहित है।[१] 'ग्रंथ' की वास्तविक वाणी का प्रारम्भ यहाँ से होता है। इसमें ३८ पौड़ियाँ तथा २ श्लोक हैं। यह प्रथम गुरू की प्रौढ़तम अवस्था का परिपक्व फल है।[४] उसकी उत्कृष्टतम अनुभूति की तीव्रतम अभि-व्यक्ति है। सम्पूर्ण 'ग्रंथ' के प्रधान-सिद्धांत सूत्र रूप में यहाँ मिलते हैं, इसीलिए इसे 'मूल मन्त्र' की व्याख्या एवं सम्पूर्ण 'ग्रंथ' का निचोड़ अथवा सम्पूर्ण 'ग्रंथ' को ही इसकी व्याख्या-मात्र कहें, तो अधिक उपयुक्त होगा। सम्पूर्ण सिख धर्म का सैद्धान्तिक आधार यही है और उसकी व्याख्या में ही उसका व्यावहारिक रूप स्पष्ट होता है। ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है अथवा सत्य ही ब्रह्म है। यह इसका प्रधान विचार है।[१] प्रौढ़ काल की रचना होने के कारण गागर में सागर, संगीत, राग एवं तुकों का दार्शनिक विचार-धारा के अनुकूल होना, सादी भाषा, छंदों की विविधता

१. सुखमनी 'ग्रंथ' पृ० २६२।

२. वाणी व्योरा पृ० ११७।

१. जपुजी को 'जपु निसाणु' भी कहते हैं 'निसाणु' का अर्थ है प्रकट।

२. गुरू नानक ऐज ए पोयट (प्रो तारण सिंह) पृ० १०८।

३. विशेष सैद्धांतिक विवरण 'ग्रंथ' एक परिचय में देखें।

तथा वाणी की सार्वभौमिकता इसकी अद्वितीय काव्य प्रतिभा के परिचायक है।[1] इसका महत्त्व प्रकट करते हुए लिखी गई इन पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर पा रहे हैं:—

"His one song Japji marks him a creator, whose genius puts its seal on ages."[2]

और न केवल शेष गुरू एवं परवर्ती संत साहित्य पर हम इसकी अमिट छाप पाते हैं, परन्तु आज तक के पंजाबी के सभी कवि—आधुनिकतम भाई वीरसिंह जी का भी (जो कि पंजाबी के उत्कृष्ट कवि माने जाते हैं) गुरू की विशिष्ट वाणियों एवं जपुजी के प्रभाव को स्वीकार करना ही लेखक के कथन की 'सत्य की कसौटी पर सच्ची परख' है। क्योंकि 'Every particle of its marble-cut word temple contains the design of the whole.'[3] यह कथन अत्युक्ति न होकर सत्य ही है।

सिख धर्म में यह प्रातःस्मरणीय वाणी के रूप में वन्द्य है और प्रत्येक धर्म-निष्ट सिख आज भी इस वाणी के जाप से ही अपना नित्य नैमित्तिक कार्य प्रारम्भ करता है। इसका पाठ निश्चय ही मन को शांति, विस्माद, तल्लीनता और आह्लाद देता है।

सौदरु—'सौ दरु तेरा केहा; सो घरु केहा' 'ब्रह्म के द्वार' का दर्शन गृहज्ञान अथवा गृहप्रवेश से पूर्व आवश्यक है। अतः इस वाणी का यह नाम ही उपयुक्त है। इसमें केवल ५ पद हैं, जिसमें प्रथम तीन गुरू नानक तथा चतुर्थ चतुर्थ गुरू का और पंचम पंचम गुरू का है।[2] थोड़े बहुत शब्द भेद के साथ इनकी पुनरावृत्ति भी ग्रंथ में प्राप्त है।[4] जीव की तो बिसात ही क्या ? बेचारे देवी-देवता और उनके भी स्वामी इन्द्र-इन्द्राणी, सभी तो 'द्वार' का दर्शन करने के लिए 'कर्त्ता ब्रह्म'[5] के अनन्त गुण गाते हैं, क्योंकि 'द्वार' के दर्शन बिना प्रवेश कहाँ ? यह भी संध्या काल स्मरणीय वाणी है।

सौ पुरख—'सौ पुरखु' शब्द से, प्रारम्भ होने के कारण इसका नाम 'सौ पुरख' है। यह पुरुष ब्रह्म ही है। इसके ४ पदों में क्रमशः चतुर्थ गुरू रामदास के दो

---

१. Sutre brevity, veriety of metres, Union of music, rhythm and rhyme with philosophical substance, expressiveness of plain language, Union of aesthetic taste with didactism, universalism—all these features have been antistically combined in this poem. (Dr. Taran Singh : Guru Nanak as a poet, P. 102)

२. (9a). S. Puran Singh : Ten Masters, P. 135.

३. Ibid. P. 135.

४. (१) जपुजी पृ० ६ पद संख्या २७, (२) राग आसा पृ० ३४७ पद संख्या १।

५. जो तिसु भावै सोई करसी फिरि हुकमु न करणा जाई॥ (पृ० ६ म० १, १)

पुन: गुरू नानक का एक तथा अंतिम पंचम गुरू का पद है। इसमें 'तूं आदि पुरखु' कह कर 'पुरुष ब्रह्म' की महिमा का वर्णन है। सिख धर्म में नित्य सायंकाल इस वाणी का पाठ होता है।[१]

सोहिला—'सोहिला' का अर्थ है यश। इसमें ब्रह्म का यशोगान है, अतः यह नाम सार्थक है। इसमें गुरू नानक के तीन, गुरू रामदास का एक तथा गुरू अर्जुन का एक पद संगृहीत है। 'तुम गावहु मेरे निरभउ को सोहिला'[२] द्वारा ब्रह्म के 'निर्भय' रूप का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

इसमें कहीं ऋतु एवं दिन-रात निर्माता सूर्य का वर्णन है, तो कहीं नव-विवाहिता के गृहप्रवेश का वर्णन। इस प्रकार संसार की अनेकता में भी एकता तथा उसके पीछे उसी अगम्य ज्योति का प्रकाश प्रकाशित होता दिखाया है। अन्त में भगवान् की कृपा सुन उस दिशा में भी प्रयाण का संदेश मिलता है। रूपक आदि के प्रयोगों से गुरुओं ने अपनी वाणी को सरस एवं आकर्षक बना दिया है। शांति प्रदायिनी एवं छोटी वाणी होने के कारण रात में सोते [illegible] या जाता है।[३] अन्तिम दाह-संस्कार के समय भी इसका पाठ होता है।

ये वाणियाँ 'ग्रंथ' रूपी विशालकाय देह के सिर-भाग का निर्माण करती है, यह उनके आकार और महत्त्व से नहीं, अपितु सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अध्ययन से ही स्पष्ट है, इन वाणियों का क्रमिक-विकास 'मूल मन्त्र' की व्याख्या प्रस्तुत करने का ही प्रयत्न मात्र है। 'मूल मन्त्र' अपने आप में '१ ओं' की, 'जपुजी', 'सति' की, 'सोदरु', 'करता' की, 'सो पुरखु', 'पुरख' की तथा 'सोहिला', 'निरभउ' की; इस प्रकार 'वाहिगुरू' के विभिन्न गुणों की व्याख्या पर महत्त्व देते हैं।[४] न जाने आगे यह विकास-क्रम इन छोटी वाणियों के रूप मे क्यों रुक गया? सम्भवतः 'जपुजी' में इसका पूर्ण विकास हुआ है, लेकिन यहाँ भी 'आदि सचु जुगादि सचु' का ही स्वर प्रधान रहा है। इसमे यह भी स्पष्ट है, कि इस वाणी का आधार विचार है।[५] जो हो, यह मौलिक चिंतन इस दिशा में अध्येताओं का ध्यान आकर्षित करना है।

रागों में[६] वर्णित वाणी ही 'ग्रंथ' के शरीर का निर्माण करती है। गुरुओ की विचार-धारा एवं सिख धर्म की रूप-रेखा ही नहीं, अपितु यही वाणी सिख-धर्म

१. 'सोदरु' तथा 'सोपुरख' को मिला कर ही 'रहिरास' (उचित मार्ग) का नाम दिया गया है, जो सायंकाल की स्मरणीय वाणी है। तथा अपवादस्वरूप गुरु नानक की वाणी से पूर्व रामदास की वाणी अंकित है।

२. म० १, १ पृ० १२।

३. सिख धर्म में यह मान्यता भी प्रचलित है, कि रात को इसके जाप से बुरे स्वप्न आदि भी नहीं आते।

४- देखें — सम्बद्ध वाणियाँ गत पृष्ठों पर। इस विषय में अधिक खोज की आवश्यकता है, यह तो एक 'परिचय मात्र है'।

५- विस्तृत देखें — वाणी क्रम का आधार।

६- रागों का विस्तृत विवरण देखें तालिका।

रूपी प्रासाद की विशाल सामग्री प्रस्तुत करती है। गुरू मूलतः दार्शनिक न थे, आध्यात्मिक संत थे। अतः शंकर या अन्य ज्ञानियों की भाँति उन्होंने अपनी विशद अनुभूतियों को विचारों के सीमित कटघरे में बन्द करना उपयुक्त न समझा। सम्भवतः न तो समाज को ही इसकी आवश्यकता थी और न ही उनके तृषित अंतः-करण को। अतः अनुभूतियों को 'सूत्र-बद्ध' एवं 'क्रम-बद्ध' कर शांत हो जाना—इसलिए कि 'आनेवाली परम्परा उसकी व्याख्या में ही नए-नए मत-मतान्तरों को जन्म देती रहे'—उनकी रुचि के अनुकूल न सिद्ध हुआ। अपनी ही अनुभूतियों को उन्होंने इतना विशद रूप दिया, कि उसकी व्याख्या की नहीं, अपितु (सम्पूर्ण ही 'सार' देख कर) उसे 'सीमा-बद्ध' करने की दुरुहता आज एक जटिल समस्या के रूप में 'ग्रंथ' के अध्येताओं के सम्मुख है। इसीलिए सिख धर्म के आधारभूत 'सिख दर्शन' को क्रम-बद्ध रूप में संसार के सम्मुख लानेवाले प्रायः सभी विद्वानों को यह कठिनाई अनुभव करनी पड़ी।[१]

'ग्रंथ' का यह देह-भाग जहाँ सिख धर्म को स्थिर रूप देने की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है, वहाँ पंजाबी भाषा के निर्माण—उसके रूप की स्थिरता तथा उपयुक्त प्रान्तीय भाषाओं की शब्दावलियों से समृद्ध करना भी इसकी अपनी विशेषता है। वस्तुतः 'ग्रंथ' के बाद ही पंजाबी 'साहित्य की भाषा' बनी तथा धार्मिक साहित्य में जन-सामान्य की भाषा का प्रयोग प्रान्तीयता के संकीर्ण घेरे को तोड़ कर हुआ है। इसका यह उदारता वादी दृष्टिकोण भी विशेष महत्त्व रखता है, इसीलिए रागो की वाणी में गुरुओं की वाणी के बाद भक्तों की वाणी को भी स्थान प्राप्त है। भाषा में थोडी-बहुत विभिन्नता होते हुए भी एक ही राग में प्राप्त दोनों के विचारों में अत्यधिक साम्य प्राप्त है। उनकी भाषा ब्रज (हिन्दी) होते हुए भी पंजाबी से प्रभावित है। इस वाणी का आधार प्रधानतः राग होते हुए भी विचार की अपेक्षा रखता है।[२] सभी रागों का प्रधान विचार संत वाणी के परिचय (तृतीय अध्याय) में मिलेगा। वाणियों का आकार ही नहीं, कार्य एवं महत्त्व की दृष्टि से भी उपादेय है। प्रथम दो का 'विवरण' पहले दिया जा चुका है। अधोभाग (टांगों) का कार्य न केवल उचित अनुपात द्वारा देह को सुडौल बनाए रखना है अपितु उसे गति भी देना है। यह वाणी जहाँ अब तक प्रयुक्त रागमयी वाणी को श्लोकों के माध्यम से न केवल आकार अपितु भाषा की दृष्टि से भी नवीन गति देती है, वहाँ अनुभूति विशेष को भी सीमित रूप देकर उसमें वर्णित उसी अनुभूति को निरंतर प्रवहमान रहने का संदेश भी छोड़ जाती है। टांगों से तो चलते जाना है—अनंत के अनन्त पथ पर—पर छोड़ते जाना है वह संदेश अपने पग-चिह्न (श्लोक) के रूप में जो उस 'देही' के मस्तिष्क की ही उपज है और हुआ है उसी की

१. फिलासफी आफ सिक्खिज्म, डा० शेरसिंह पृ० ४८, ।

२. रागों के विशिष्ट परिचय के लिए देखें लेखक की पुस्तक 'श्रीं गुरु ग्रंथ साहिब' एक परिचय— अध्याय ३ ।

ही देह द्वारा पोषित। जिस प्रकार मानव देह में अधोभाग का अपना विशेष कार्य एवं महत्त्व है, उसी प्रकार 'ग्रंथ' में इस वाणी का। 'पग-चिह्न छोड़ जाना' या 'पग-चिह्नों का अनुसरण करना' 'पग' के महत्त्व को स्पष्ट कर देने के लिए पर्याप्त है—'सिर' या 'देह' का अनुसरण करनेवाले न देखने मे आए है, न पढ़ने या सुनने में। इस वाणी का प्रधान आधार भाषा एवं शैली है।[१] अत: संक्षेपत: इस वाणी का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

सलोक सहस्रकृती[२]—(संस्कृत एवं प्राकृत का ही विकृत रूप) किन्ही विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत तथा देश भाषा के मिश्रण से बनी हुई स्वतन्त्र भाषा के रूप में इसे स्वीकार किया है तथा उदाहरणस्वरूप जयदेव का 'ग्रंथ' में अंकित शब्द 'परमादि पुरख मनोपिमं सति आदि भाव रतं' प्रस्तुत किया है।[३] इस भाषा को ही 'गाथा' या 'सहस्रकृती' कहा है।[४] इस प्रकार इसे प्राकृत का ही विशेष रूपान्तर माना जा सकता है।

इसमें प्रथम गुरू के ४ तथा गुरू अर्जुन के ६७ श्लोक संगृहीत हैं। इनको अलग संगृहीत करने का प्रमुख कारण इनकी भाषा ही है। शब्दों का तत्सम (संस्कृतमय) रूप तथा अनुस्वारांत-बहुलता इसकी संस्कृत-निष्ठा की परिचायिका है। कहीं-कहीं तो संस्कृत की विभक्तियों का भी उसी रूप मे प्रयोग मिलता है यथा संसारस्य, जन्मस्य, विचारं, निहफलं आदि।

प्रथम गुरू ने तो पुस्तक पढने एवं बाह्याडम्बरों की व्यर्थता बता कर 'निसचै ध्यावै' कह कर 'नानक ताको दासु है सोई निरंजन देव'[५] अनुभव किया और शान्त हो गए। गुरू अर्जुन ने बनारस से आए हुए दो ब्राह्मण कृष्णलाल तथा हरलाल को मूर्ति-पूजा की व्यर्थता बताते हुए माया जाल मे फँसे जीव को सत्संगतिं एवं सद्गुरू की सहायता से 'अह' को विघटित कर—एकमात्र सत्य कर्तार की कृपा पाने का सन्देश दिया है, क्योंकि वह स्वत ही पवित्र आत्माओं की रक्षा करता है।

गाथा[६]—यह गुरू अर्जुन के २४ श्लोकों का संग्रह है। इसमे 'मानुख्य देह मलीण' को 'जिन साधू न सिध्यते' बताया है। 'संसार काम तजणं' तथा 'गोविंद रमणं'[७] पर महत्त्व दिया है। इसकी भाषा अनुस्वारांत होने के साथ-साथ 'णकार-बहुला' है, यही पहली वाणी से इसका भेद है। सम्भवत: इसीलिए 'सहस्रकृति का अंग होते हुए भी इसे अलग स्थात प्राप्त है।

---

१. विस्तृत देखें—'वाणी व्रम का आधार'।

२. Sahasukriti in the Granth Sahib means a mixture of Sanskrit, Prakrit and Hindi.' P. 4307 Vol (iii). (Macauliff : S. R.

३. 'वाणी व्यौरा' पृ० १८।

४. 'शब्दारथ' पृ० १३५३।

५. म० १, ४ पृ० १३५३।

६. संस्कृत में प्रयुक्त एक छंद विशेष।

७. म० ५, २ पृ० १३७०।

फुनहे—अपनी साली 'हरिहा' द्वारा भक्ति-परक कविता-सृजन की प्रार्थना सुन पंचम गुरू अर्जुन ने २३ पौड़ियाँ उसे सम्बोधित कर लिखी। जिनमें 'हरिहा' नाम से उसे 'पुन:-पुन:' सम्बोधित किया है, सम्भवत: इसीलिए इस वाणी का नाम 'फुनहे' है।[1]

सत्संगति मे गुरू का गुणगान करते हुए सांसारिक मोह छोड़ प्रत्येक वस्तु में उस सत्य की झलक पा उसी में तल्लीन होने का संदेश है। इसकी भाषा पंजाबी होते हुए भी कही-कही अपने में संस्कृत-शब्दो को संजोए हुए है।

चऊबोले—मूसन तथा जमाल दोनों भाइयों के दो पुत्र सम्मण तथा पतग थे। इन चारों को सम्बोधित करने के कारण इन ११ पदों को 'चऊबोले' नाम दिया गया है।[2]

इसमें भी माया-प्रभावित सम्पत्ति एवं 'अहं' मद मे मस्त रावण आदि का उदाहरण देकर बहुत ही सरल एवं सरस भाषा में 'ब्रह्म से प्रीत' का संदेश दिया है।

सलोक कबीर—कबीर के नाम पर संगृहीत २४३ श्लोकों में कुछ गुरुओं के भी हैं।[3] इनमें थोडी-बहुत, विचारों की श्रृंखला मे सम्बद्धता मिलती है। इसका महत्त्व तो इस दृष्टि से भी अधिक है, क्योंकि 'कबीरदास के सिद्धांतों की जानकारी का सबसे उत्तम साधन साखियाँ हैं।'[4]

पहले कुछ श्लोकों में भव-तारक गुरू प्राप्त 'हरि-नाम' (१-८), पुन: सांसारिक विषयों में 'असली सुख' ब्रह्म को भूलना (११-४०), तथा विकारों से बच 'नाम' जाप में ही जीवन की सार्थकता (४०-६५), तथा मोह, तृष्णा, कुसंग, निन्दा और अभिमान विनाशक 'नाम' का महत्त्व एवं सत्संगति से उसकी प्राप्ति (६५-१००), सत्संगति एवं स्मरण ही स्वर्ग है (१००-१३०), अत. युवावस्था मे ही स्मरण तथा पूर्ण आत्म-समर्पण (१३०-१८०), बाह्याडम्बर बिरोध तथा प्रभु विस्मरण ही दु:ख का कारण (१८०-२२५), गुरू माध्यम से प्राप्त 'नाम' ही 'असली शांति' (२२५-२४३) देनेवाला है। संक्षेपत: यह वर्णन प्राप्त है।

सलोक फरीद—फरीद के नाम पर प्राप्त १३० श्लोकों मे भी कुछ श्लोक गुरुओं के प्राप्त हैं। जो उसके विचारों की व्याख्या एवं आलोचना मे लिखे गए है।[5] इनके भी विचारों में कुछ सम्बद्धता प्राप्त है। क्षणिक जीवन मे कुपंथ-नेतृ माया से बच 'दरवेशी' (साधुपन) कमाना और उसके लक्षणों का वर्णन तथा इसके लिए जंगल जाने की आवश्यकता नही (१-३५), नश्वर सांसारिक सम्पत्ति एवं 'भेख' का विरोध (३६-६६), 'दरवेशी' के लिए प्राप्त जीवन अतृप्त तृष्णा मे ही समाप्त,

---

१. सि० रि० : मैकालिफ भाग ३, पृ० ४३८।
२. गुरमत लेक्चर : पृ० १६६।
३. देखें तृतीय अध्याय : संत वाणी की संख्या।
४. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर पृ० १८।
५. तृतीय अध्याय —संतवाणी की संख्या।

अतः प्रभु-लगन ही एक-मात्र रक्षा का साधन है (६६—६०); ऐसे सांसारिक जीवन से पशु जीवन अच्छा है। अतः गृहस्थी बन सद्गुणों द्वारा प्रातः नामस्मरण ही भगवत्प्राप्ति का साधन है (६०-१३०)।

गुरू तथा भट्टों के सवैइये—पंचम गुरू ने ६ सवैइयों मे नानक-स्तुति तथा ११ मे उपदेश दिया है। तत्पश्चात् ११ भट्टों के १२३ सवैइये—'गुरू' नही,[1] अपितु 'गुरू-पद स्तुति' में गुरुओं के व्यक्तिगत जीवन से उदाहरण लेकर गाए गए हैं।

भट्टों मे प्रधान 'कल' के ४६ सवैइये है तथा उसी से इसका प्रारम्भ होता है। शेष का स्वर उसके स्वर का सहयोगी है। भाषा साधारण एवं सरस पंजाबी है।

'सलोक वारां तो वधीक'—द्वितीय गुरु को छोड़ सभी गुरुओं के 'वारों' से अवशिष्ट २११ श्लोको का संग्रह है। 'वारों' में उपयुक्त स्थान न मिलने के कारण इन्हे यहाँ संगृहीत कर दिया है। उन्ही विचारों की स्वतंत्र पुनरावृत्ति है।

मुंदावाणी[2]—'ग्रंथ की समाप्ति की सूचनास्वरूप संग्राहक पंचम गुरु अर्जुन ने सत्य, संतोष तथा विचार तीनों का महत्त्व स्थापित करते हुए सत्गुरु द्वारा अमृत रूपी 'नाम को प्राप्त करके ही ब्रह्मानुभूति का संदेश दिया है। यही 'नाम-मार्ग की महत्ता है, इसीलिए तो

नानक नाम मिलै ताँ जावाँ तनु मनु थीवै हरिआ ॥१॥[3]

गुरू ने युग-युग तक उसमें तल्लीन होकर अपनी 'नाम-साधना' का क्रियात्मक परिचय दिया।

राग माला—'ग्रंथ' के अन्त मे 'राग माला' दी गई है, जिसमें राग-रागनियों का वर्णन है। न इसमें ही 'ग्रंथ' के सब राग हैं और न ही 'ग्रथ' में इसके सब राग प्राप्त है। यह गुरू अर्जुन की रचना मानी जाती है, परन्तु प्रामाणिक रूप से ऐसा नही कहा जा सकता, 'क्योंकि 'ग्रंथ' निर्माण से ६१ वर्ष पूर्व यह 'माधवानल' में प्राप्त है तथा 'आलम' की रचना के नाम से प्रसिद्ध है। यही मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।[4]

इस प्रकार दीर्घकाय देह का संक्षिप्त-सा परिचय भी अनुमान से कही अधिक 'दीर्घकाय' हो गया। 'अस्तु' 'वाहिगुरु' के बड़प्पन का जितना परिचय हो, उतना ही थोडा है, क्योंकि—

तू सुलतानु कहा हउ मीआ तेरी कवन बड़ाई ॥
जा तू देहि सु कहा सुआमी मै मूरख कहणु न जाई ॥१॥

---

१. कहीं गुरू-स्तुति (सिख धर्म की विरोधी विचारधारा) मूर्ति पूजा को स्थान न दे दे, सम्भवतः इसीलिए 'गुरू' नहीं 'गुरूपद स्तुति' को इनमें स्थान मिला है।

२. मुंदना=बंद करना।

३. १४२६ म० ५, १।

४. देखें 'ग्रंथ' की वाणी की तालिका।

विचारधारा एवं 'ग्रंथ' का साहित्यिक परिचय—

'ग्रंथ' मुख्यत: आध्यात्मिक रचना है, क्योंकि इसमें निश्छल अनुभूति की सरल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति है। साहित्यिक कृति की दृष्टि से अनाग्रास ही इसमें उत्कृष्ट साहित्य के तत्त्व संगृहीत मिलते हैं। अत: संक्षेपत: इसका साहित्यिक परिचय भी आवश्यक है। काव्य और ज्ञान दोनों प्रकार के साहित्य में ही इसका अपना स्थान है। काव्य का ही यदि विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाए, तो ज्ञान साहित्य की विशेषताएं भी उसमें अनायास ही उभर आती हैं। काव्य के भी भाव, विचार, कल्पना तथा शैली चार आवश्यक तत्त्व माने गए हैं। 'ग्रंथ' आध्यात्किक रचना होने के कारण भावों तथा विचारों को ही प्रधानता देकर चला है। कल्पना उसके सौंदर्य को बढ़ाती रही है और भाषा एवं शैली भावानुकूल उपयुक्त रूप देकर उसके अभिव्यक्ति-पक्ष को सफल बनाने में सहायक। अत: इन्ही दृष्टियों से उसका परिचय दिया जाता है।

मानव-मन की उदात्ततम भावनाओं की ही यह अभिव्यक्ति है। अत: विचारों के माध्यम से उन्हें शृंखलाबद्ध कर संक्षेपत: उनका दार्शनिक रूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, जो उनके उद्देश्य 'अध्यात्म-पथ का निर्माण' को समझने में सहायक सिद्ध हो सकता है। एक सिख दार्शनिक के शब्दों में यहाँ इस कार्य की कठिनाई का परिचय देना भी अनुपयुक्त न होगा—

"The first named (Adi Granth) is the Bible of the Sikhs and is not easy to handle for Philosophical analysis. Therefore the task of analysing the Sikh doctrines is by no means easy. The teaching of the Guru, both religious and moral, lies so very scattered all over the Granth that a careful research has to be made before the views of the Guru can be brought under different philosophical heads."[१]

उनकी भिन्न-भिन्न समय की अनुभूतियाँ अन्यान्य स्थलों पर अंकित है। क्योंकि बहुत से विचारों की पुनरावृत्ति एक अथवा अनेक गुरुओं द्वारा अन्यान्य स्थानों पर प्राप्त है, अत:—This analytical search will not yield a system unless a real link is discovered and the material is regularly synthesised.[२]

अध्येता का कार्य और भी कठिन हो जाता है, जब विचार-विरोधाभास विचारक को मास्तिष्क खुजलाने की अच्छी सामग्री प्रस्तुत करता है। अत: 'ग्रंथ' में से केवल एक-से भावों को एकत्रित करना ही नही, अपितु उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन ही विचारक को किसी सुनिश्चित विचारधारा अथवा दर्शन का प्रतिपादन

१. Philosophy of Sikhism : Dr. Sher Singh, Page 48–49.
२. Ibid, P. 48-49.

करने मे सहायक सिद्ध हो सकता है। विचारधारा लिखते हुए इन बातों का विशेष ध्यान रखने का प्रयत्न किया है।

(१) ब्रह्म:— तू सुलतानु कहा हउ मीआ तेरी कवन बड़ाई।
जा तू देही सु कहा सुआमी मै मूरख कहणु न जाई ॥१॥[१]

'गोविंद रूप' गुरू ने भी उसकी बड़ाई अपने को 'मूरख' कह कर ही प्रारम्भ की है, क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान है, कि 'आखहि सुरि नर मुनि जन सेव' लेकिन उसके बड़प्पन का तो कोई अंत ही नही, इसलिए 'ता आखि न सकहि केइ केइ।' जब सांसारिक कोई भी व्यक्ति उसकी महिमा का गान नही कर सकता, तो गुरू की दृष्टि 'गावहि ईसर बरमा देवी' पर पड़ी, लेकिन वे थक गए, पर 'ताकी महिमा गनी न आवे'[२] क्योंकि 'ता कीआ गला कथीआ ना जाहि।' जिसकी बात ही नही कही जा सकती, उसकी महिमा का बखान कैसे हो ? सब उसका वर्णन करते-करते थक गए, लेकिन अंनत का अंत कोई न जान सका और गुरू बोले :—

कोइ न जाने तुमरा अंतु।
ऊंचे ते ऊचा भगवंत ॥[३]

इसलिए सभी भक्तों एवं गुरुओं को उसकी महिमा-गान मे ही थका हुआ जान पचम गुरू अर्जुन बोले :—

तुमरी उसतुति तुम ते होई।
नानक अवरु न जानसि कोई ॥[४]

जब ब्रह्म की महिमा ही अनन्त है, तो उसके उद्गम स्थान का ज्ञान आवश्यक अनुभव हुआ। अनादि होते हुए भी वह 'सैभं'(मूलमंत्र) स्वतः उत्पन्न है, लेकिन कब, कहाँ उत्पन्न हुआ, इसका किसी को ज्ञान नहीं, क्योंकि :—

कवणु सु बेला वखतु कवणु कवण थिति कवणु वारु।
कवणि सि रुती माहु कवणु जितु होआ आकारु ॥[५]

इस प्रकार पण्डित और मुल्ला को, वेद तथा पुराण को किसी को भी उसकी उत्पत्ति के विषय में कुछ ज्ञान नहीं, इसे तो केवल 'आपै जाणै सोई।' इस प्रकार जिसके उद्भव और विकास की कहानी केवल उस तक ही सीमित है, क्योंकि 'तुमरी गति निति तु महि जानी।[६] उस अनन्त के अंत का ज्ञान भी किसी को सम्भव नही :—

---

१. ७१५ म० १,१।
२. २६२ म० ५,१।
३. २६८ म० ५,८।
४. २६६ म० ५,७।
५. ४ मं० १,२१।
६. २६८ म० ५,८।

ता का अंतु न जानै कोई ।
आपे आपि नानक प्रभु सोई ॥[1]

ब्रह्म का निवास-स्थान खोजने के प्रयत्न में न केवल वह 'सगल घटा के अन्तरजामी'[2] प्रतीत हुआ, अपितु 'घटि घटि विआपि रहिआ भगवंत ।'[3] वह तो प्रत्येक घट में व्याप्त है । 'घट' तो क्या 'जल थल महीअली साई ।'[4] सर्वत्र होता हुआ भी 'थान थनंतरी रहिआ समाई ।'[5] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है । सर्वत्र व्याप्त का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि वह तो 'सभ के मधि' होकर भी 'सभते बाहिर' है, लेकिन है 'राग दोख ते निआरे ।'[6] सम्भवत. इसीलिए सब के लिए निकट होता हुआ भी सब से दूर है, अर्थात् अंतर मे पहचानने से दूर नहीं है और न पहचाननेवालों को कहीं भी प्राप्य नहीं । अतः गुरू ने तो 'जहँ जहँ देखा तहँ तहँ सोई ।' इसलिए अंतर में देखते हुए गुरू को भ्रम हुआ था, कि वह मन में बैठा है या मन उसमें, 'मन महि आपि मन अपुने माहि ।'[7] कबीर को भी यही भ्रम हुआ था ।[8] दिव्य आत्माओं की अनुभूतियाँ एक-सी ही होती हैं । इस प्रकार उन्होंने ब्रह्म के निवास-स्थान को जान लिया और बोले :—

सचखंडि वसै निरंकारु ॥[9]

यह 'सचखंडी' और कुछ नहीं, मन की पवित्रतम अवस्था में उसकी ही अनुभूति है । कितना निकट, कितना अपना, कितना महान् है भगवान का निवास स्थान ।

घर का ज्ञान होने पर उसके स्वरूप का परिचय पाना भी अनुपयुक्त नहीं, लेकिन पता लगे तो कैसे ? क्योंकि वह तो 'थापिआ न जाइ कीता न होइ ।' न स्थापित किया जा सकता है और न ही बनाया जा सकता है । (भगवान की मूर्ति का कितना सरस और मधुर विरोध है ।) 'आपे आप निरंजनु सोई ।'[10] इसलिए उसका तो 'रूप न रेखु न रंगु किछु', इन स्थूल गुणों की तो बात ही क्या है ? वह तो सम्पूर्ण संसार के आधार 'त्रिहु गुण ते प्रभ भिन ।'[11] सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों से भी निर्लिप्त है और है भी 'जुग जुग एको भेसु ।'[12] सदा एक ही रूप धारण किए रहता है । कभी कुछ परिवर्तन होता तो शायद पता चल जाता । अतः उसके स्वरूप एवं आकार का भी कोई ज्ञान सम्भव नहीं ।

---

१. २७६ म० ५,७ । २. २६६ म० ५,७ ।
३. २ ३ म० ५,२ । ४. २७६ म० ५,१ ।
५. २६१ म० ५,८ । ६. ७८५ म० ५,३ ।
७. २७१ म० ५,७ । ८. २३६ श्लोक ।
९. ८ म० १,३७ । १०. २ म० १,५ ।
११. २८३ म० ५,१ । १२. ६ म० १,२८ ।

बुद्धिमानों का कथन है, कि जिसकी पहिचान स्वरूप से न हो सके, उसे गुणों से पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन आकाररहित वह तो अजन्मा है, इस विचार से ही प्रथम उसके 'नेति' गुणों का विचार करने पर विवश कर दिया। वह न केवल अजन्मा, अनादि एवं अयोनि है, वह तो 'अगम अगोचर अलख अपारा' भी है, क्योंकि 'रूप न रेख' उसका तो कोई चिह्न भी प्राप्त नहीं। इतना ही नहीं, वह तो 'अछल अछेद अभेद'[1] बन कर सर्वत्र समाया हुआ है, इसीलिए तो वह 'अथाह' है। और सर्व सृष्टि का मात्र 'कर्त्ता' होकर भी 'आपि अलेप निरगुण रहता'[2] है। यही उसकी विशेषता है। नेत्र, श्रवण आदि से परे वह न केवल इन्द्रियातीत है, अपितु वेद आदि सम्पूर्ण धार्मिक-ग्रंथों से भी अज्ञेय बना हुआ है। सबका यजमान 'यम' भी तो उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि वह तो अकाल है, उसकी सीमाओं से दूर है। तो आखिर है क्या? वह है '१ओं' (मूलमंत्र) अर्थात् 'ऐकं एकंकार निराला' है, कैसा निराला? 'सति'—एक मात्र सत्य है। 'आदि सचु युगादि सचु।'[3] आज से ही नहीं, अंनत युगों से वह सत्य स्वरूप चला आरहा है और चलता जाएगा इसीलिए तो उसे 'सति सति सति प्रभु सुआमी'[4] कहा गया है। सब में व्याप्त हो उन्हें धारण करनेवाला होने के कारण 'नामु' संज्ञा प्राप्त हुई। संसार का एक-मात्र 'करता' तो वही है 'करण कारण प्रभु एक है दूसरा नाही कोइ',[5] उसी ने तो केवल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, अपितु 'शिव शक्ति आपै उपाइकै' उन्हें स्वत: उत्पन्न कर 'करता आपे हुकमु वरताए',[6] अपनी आज्ञा में ही रखता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियंता भी वही है और 'बाहर हुकमु न कोई' उसकी आज्ञा के बाहर तो कुछ भी नहीं, लेकिन उसका 'हुकमु कहिआ न जाई'[7] तथा उससे 'हुकमु न करणा जाई।'[8] हुकम करवाया भी नहीं जा सकता। तो संसार में होता क्या है?

जोई तिसु भावे सोई करसी।[9]

अपनी इच्छानुकूल वह करेगा—नही, करेगा नहीं, 'जो तिसु भावे सोइ होगु।'[10] उस की इच्छा हुई और वह अबाध गति से, अविच्छिन्न प्रवाहपूर्वक स्वतः होता जाएगा। इसीलिए तो उसे आप्त-काम कहा गया है, क्योंकि वही तो 'उतपति परलउ खिन महि करता'[11] क्षण भर में तो उत्पत्ति प्रलय का करनेवाला है। यही उसकी कर्तृत्व-शक्ति का परिचायक है।

करता 'वह पुरुख'[12] है। सर्व शक्तिमान न केवल 'पतित उधारै' और

---

१. २९० म० ५,२१। २. राग आसा म०५।
३. १ म०। ४. २७१ म० ५,८।
५. २७६ म० ५,१। ६. १२० म० ३,२६।
७. १ म० १,२। ८. ६ म० १,२७।
९. ६ म० १,२७। १०. २७६ म० ५;७।
११. आसा म० ५।
१२. प्राय सभी सिख विद्वानों ने इसका अर्थ 'सर्व व्यापक' किया है। (शब्दारथ पृ० १, जोध सिंह : गुरमत निर्णय पृ० १)।

'पाथर तरावै' है, अपितु 'बिनु सास राखे'[१] भी वही है और न जाने क्षण भर में राजा को रंक, तथा निर्धन को धनवान, क्या कुछ नहीं बना देता ? यही उसकी सर्व शक्तिमत्ता है।

मै विचि सभु आकार है निरभउ हरि जिउ सोइ।[२]

आकाररहित होने से वह तो स्वतः ही निरभउ है, 'निरवैरु' है। अकाल होते हुए भी 'मूरति' (उसकी सता) अवश्य है और है वह 'सैभं' इस प्रकार वह तो 'निरंजन निरंकार निरबान' है।[३] उसकी गुणों से भी पहचान करते-करते थक कर गुरू कहते हैं—

बहुता कहिए बहुता होइ।[४]

इसका तो जितना बखान किया जाए, यह तो उतना ही बढ़ता जाता है, अतः विस्तारमय से लौकिक गुणों का वर्णन किए बिना ही गुरू का अनुकरण करते हुए शांत हो जाना ही उपयुक्त है। यही है—शिष्य जगत् के गुरू—'ग्रंथ'— उसके भी सत्गुरू 'गुरू नानक' तथा उसके भी सतिगुरू[५]—'वाहिगुरू'—की एक झलक।

सृष्टि—

'वाहि गुरू' की 'सिसृक्षा' का ही परिणाम है सृष्टि। इसके निर्माण के लिए उसे किसी प्रयत्न की आवश्यकता नही, केवल 'कीता पसाउ एको कवाउ'।[६] एक इच्छा हुई और अनायास ही सम्पूर्ण सृष्टि-क्रम प्रवहमान हो गया। लेकिन इस क्रम को जानता कोई नहीं, केवल 'जो करता सिदठीकउ साजै आपै जाणै सोई।'[७] एक-मात्र करता ही इस भेद को जानता है। सृष्टि उसका क्रीड़ा-स्थल है 'खेले सगल जगतु' वह स्वतः ही इसका निमित्त और उपादानकारण है, क्योंकि यह तो उसने 'आपि कीनो आपन विसथारु' अपना ही प्रसार किया है। बाहर से कुछ नहीं लिया 'सभ कहु उसका ओहु करने हारु'[८] इसलिए उससे भिन्न संसार में कुछ नही और सर्वत्र एकमात्र वही व्याप्त है। इसके निर्माण का भी एक क्रम है, वह भी 'जिव जिव हुकमु तिवै तिवै कार।'[९]

उसकी आज्ञा के अनुकूल ही सृष्टि विकसित होती गई। बाजीगर की बाजी की तरह उसने स्वतः ही विचार के 'नाना रूप भेख दिखाई।'[१०] इन भिन्न-भिन्न रुपों को स्पष्ट किया है—

---

१. २७७ म० ५, २।　　२. म५ की वार, राग वड़हंस म० ३।
३. २६० म० ५, २१।　　४. ५ म० १, २४।
५. सुखमणि के प्रारम्भ में 'वाहिगुरू' के लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्य रूप से 'गुरू' अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।
६. ३ म० १, १६।　　७. ४ म० १, २१।
८. २७६ म० ५, ७।　　९. ८ म० १, ३७।
१०. राग माझ, म० ५, ४—१।

जैसे जल ते बुदबुदा उपजै बिनसे नीत ।
जग रचना तैसे रची कहु नानक सुन मीत ॥[१]

भेख का विकास इस प्रकार हुआ—

कई जनम भए कीट पतंगा, कई जनम गज मीन कुरंगा ।
कई जनम पंखी सरप होइओ, कई जनम हैवर बृख जोइओ ॥[२]

इतना ही नहीं, सृष्टि रचना के नियमित विकास क्रम में 'पवण पानी अगनी पाताल' और तब धरती आदि भी हुए । इसी प्रकार ब्रह्म की अनन्त रचना में करोड़ों योगी, मुनि, राजा, 'पंखी-सरप', 'पाथर-बिखर', 'पवन-पानी-बैसंतर', 'देस-भूमण्डल', 'सतीअर-सूर-नख्यत्र', 'देव-दानव-इन्द्र',[३] और क्या कुछ नहीं उसने उपजाया । लेकिन महत्त्व इस बात का है, कि 'सगल समग्री अपने सूती धारै'[४], सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने नियन्त्रण में ही रखता है, और सीमित ज्ञानवाला जीव इसे नहीं जान सकता । इसीलिए सृष्टि का विकास क्रम समझाने के लिए उसने वृक्ष का उदाहरण प्रस्तुत किया है:—

'तू पेडु साख तेरी फूली ।'
परिणाम स्वरूप— **'तू सुखम होआ असथूली'**
तथा— **'तू जलनिधि तूं फेर बुदबुदा ।**
तुम बिन अवरु न भालीऐ जीउ ॥१॥'[५]

एक बार नहीं—कई बार 'पसरिओ पासार',[६] न जाने कितनी बार विकसित हुआ और विलीन हुआ ।

शंकर की सृष्टि की तरह न तो केवल इसका आभास मिलता है और न ही यह स्वप्नवत् मिथ्या है, अपितु यह तो—'नानक सचे की साची कार ।'[७] कर्त्ता सत्य की कृति भी सत्य ही है । वह 'आपि सति' है, इसलिए उसने 'किआ सभु सति।'[८] गुरू ने इस विचार को और दृढ़ शब्दों में प्रकट किया—

सचु सचु सचु सचु सभु कीनो ॥[९]

इसलिए—**'सचा आपि सचा दरबारु ।'**[१०]

भगवान का सम्पूर्ण दरबार भी उसकी ही भाँति सत्य है, न प्रतिभासित है और न ही स्वप्नवत् मिथ्या ।

ब्रह्म के आविर्भूत होने पर इसमें सत्त्व, रज, तम तीनो गुणों का विकास होता है । ये तीनो गुण उसकी शक्ति हैं । इनके अनुपात में विषमता ही प्रकृति के अविरल परिवर्तन का कारण है । इसलिए परमात्मा तथा आत्मा की तरह प्रकृति

---

१. १४२ म० ६, २५ । २. १७६ म० ५, १ ।
३. २७५-७६ म० ५, २ । ४. २७६ म० ५, ३ ।
५. १०२ म० ५, १-२८ । ६. २७६ म० ५, ७ ।
७. ७ म० १, ३१ । ८. २८४ म० ५, ७ ।
९. २७१ म० ५, ८ । १०. ७ म० १, ३४ ।

भी सत्, चित् तथा आनन्द है। इसमें किसी का भी लोप नहीं, अपितु अपूर्ण विकसित होने के कारण अभाव हो सकता है। यह अभाव (nothingness—नहीं) अपूर्णता का द्योतक है, क्योंकि प्रकृति तो सदा की भाँति परिवर्तनशील रहेगी ही। 'एको वेसु' तो एक मात्र वही है। सृष्टि में जड़ कुछ नहीं, सभी कुछ चेतन है। हाँ! बहुत कुछ अविकसित रूप में है। निरंतर विकसित होने के साथ-साथ जिसमें जितना चेतन उभर आता है, उतना ही निकृष्ट से उत्कृष्ट वस्तुओं का विकास होता जा रहा है। यही अपूर्णता से पूर्णता की ओर विकास है। लेकिन यह कभी पूर्ण न होगा, क्योंकि न तो कोई पूर्ण है और न हो ही सकता है। एकमात्र ब्रह्म को छोड़ कर 'तू पूरा हम ऊरे होछे तू गउरा हम हऊरे।'[1] तब भी उत्कृष्टतम प्राणी मानव, बुद्धिजीवी होने के कारण सदा से इस दिशा में प्रयत्नशील रहा है और रहेगा, यही उसकी प्रगति का सूचक है, लेकिन खेल का अन्त क्या है? 'खेलु सकोचै तऊ नानक एकै',[2] इस प्रकार क्रीडा के लिए जिस जगत् का प्रसार किया था, उसे अपने में ही संकुचित कर लेता है और वह विशाल ब्रह्माण्ड 'जिस ते उपजे तिस माहि समाये',[3] उसी में समा जाता है। अनुभूति और तीव्र हुई। संसार को उसमें समाता हुआ देख कर गुरू बोले 'जिसते उपजिआ तिसु माहि समाना',[4] तब तक वह उसमें विलीन हो चुका था। तो यह सब क्या था? 'नह किछु जनमै नह किछु मरै।'[5] सब एक-मात्र उसी का आविर्भाव था और उसी मे तिरोहित हो गया।

यह है अनंत की अनंत सिसृक्षा और अनंत सृष्टि, तथा अनंतकाल के लिए उसका अनंत में ही पर्यवसान।

जीवात्मा: –

मन तूं जोति सरुपु है
आपणा मूलु पछाणु।[6]

यह जीव भी उस अनंत ज्योति का स्वरूप है, क्योंकि उसी से उद्भूत यह उसी का अंश है, अतः बहुतायत में उसके गुण इसमें प्राप्त है। इस सम्बन्ध को दशम गुरू ने अधिक दार्शनिक शब्दावली मे 'अग्नि-चिंगारी' के सम्बन्ध से स्पष्ट किया है—

जैसे एक आग से कनोखा आग उठे।[7]

ठीक उसी प्रकार ब्रह्म से ही देही उद्भूत हुआ है और देहधारी देही ही जीव कहलाता है। इसी सम्बन्ध को अन्यान्य स्थलों पर 'तू मात पिता हम बालक तेरे'[8] कह कर सभी गुरुओ ने स्पष्टतः स्वीकार किया है। इस प्रकार जीव भी अनत है, क्योंकि यह विकास-क्रम तो चलता ही रहता है—'इकदू जीवो लख होहि लख

१. ५९७ म० १, १-५। २. २९२ म० ५, ७।
३. २८२ म० ५, ८। ४. २८२ म० ५, २।
५. २८१ म० ५, ६। ६. ४४१ म० ३, ५।
७. अकाल स्तुतिः 'दशमग्रंथ'। ८. २६८ म० ५, ८।

होवहि लख बीस '।[1]

वह स्वतः ही 'पसरिआ आपि होइ अनत तरंग'[2] समुद्र की अनत लहरों की तरह वह स्वय ही अनत जीवो के रूप मे प्रसरित हुआ है और 'मरणहारु इहु जीअरा नाही ।'[3] यह जीव उसी का अंश होने के कारण मरता नही[4], देही देह बदल सकता है, पर नष्ट नही होता । हाँ ! अवसर आने पर उसमें ही विलीन अवश्य हो जाता है ।

पंच ततु मिली इहु तनु कीआ ।[5]

पाँचों तत्त्वों से इस देह का निर्माण हुआ है । नश्वर होते हुए भी यह देह सुलभ नहीं, अपितु इसे पानेवाला सौभाग्यशाली है, क्योंकि 'इस देहि कहुँ समिरहि' देव । देवता तक इस दुर्लभ देह को पाने के लिए भगवान का स्मरण करते हैं' । अतः जीव को इसका महत्त्व समझ कर सदुपयोग करना चाहिए, क्योंकि वही तो प्राणी-मात्र में श्रेष्ठतम है । जीव भी स्रष्टा की सम्पूर्ण सृष्टि की तरह उसी के नियन्त्रण में है, क्योंकि:—

'मारै राखै एको आपि ।
मानुख के किछु नाही हाथ' ।[6]

मनुष्य के हाथ में तो कुछ नही, वही चाहे मारे चाहे रखे । इसलिए भला इसी में है, कि 'जिउ प्रभु राखे तिव ही रहे ।'[7] और जीव स्वतः कुछ कर भी नही सकता । वही 'जो भावै सौ कार करावे ।'[8] उसके सामने किसी भी कार्य में जीव बिल्कुल स्वतंत्र नही । वही होता है, जो वह करवाता है । अपनी परवशता अनुभव करने के बाद ही विगलित 'अहं' जीव विनीत हो पूर्ण आत्मसमर्पण में ही अपने रूप का सम्यक् दिग्दर्शन करा पाता है—'सभि गुण तेरे मैं नाही कोई ।'[9] उस की अपनी तो सत्ता ही कुछ नही । क्योकि एकमात्र ब्रह्म ही पूर्ण है और जीव तो उसके सामने उसका बहुत छोटा-सा अपूर्ण अंश-मात्र है । इस प्रकार जीव उसकी महानता को समझने के बाद उससे नाना सम्बन्ध स्थापित करता है ।, 'कही तू मेरा पिता तू है मेरा माता',[10] कह कर उसका बालक बनता है, तो कहीं 'तू ठाकुर हम दास तुम्हारे' कह कर अपनी विनम्रता प्रकट करता है । कही अपनी परवशता की 'तू जलनिधि हम मीन तुम्हारे ।' कह कर जल बिना मछली की अवस्था से तुलना करता है और भगवान को छोड़ नही सकता, 'जो तुम गिरीवर तो हम मोरा' इसी-लिए तो कही उसका मोर बनता है । इतना ही नहीं जगत का घनिष्टतम सम्बन्ध

१. ७ म० १, ३२ । २ २७५ म० ५, ८ ।
३. गउड़ी म० ५ ।
४. देखें गीता अध्याय २, २२ । 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' आदि ।
५. १०३९ म० १, ७ । ६. २८१ म० ५, १ ।
७. २७७ म० ५, ६ । ८. २७७ म० ५, २ ।
९. ४ म० १, २१ । १०. ११४४ म० ५, ३१ ।

पति-पत्नी का है और आत्मा अनायास ही भगवान की पत्नी बनने के लिए सर्वांशतः अपने को प्रस्तुत कर चुकी है, यही उनका अन्तिम लौकिक सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रकार मानव आत्मा की भी स्वाभाविक इच्छा होती है, कि वह अपने स्वाभाविक उद्गम की ओर चले, तब उसे ज्ञात होता है—

सौ प्रभु दूर नाहिं प्रभु तू है।[1]

केवल अपने अन्तर में उसे उद्भासित करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि 'आतम मही राम राम मही आतमु' लेकिन इस तथ्य को पहिचाननेवाले बहुत कम हैं।[2] जीवों में भी उत्कृष्टतम सत्गुरू है । इसलिए उसका परिचय तो 'गुरू गोविन्द रूप' इतने से ही स्पष्ट है। वस्तुत. 'ग्रथ' का 'सत्गुरू' अवतारों से भी अधिक शक्तिशाली है, और है जीव को ब्रह्म की सर्वोत्कृष्ट देन। 'सत्गुरू' ही नहीं, साधु एवं संत तथा ब्रह्मज्ञानी का भी परिचय आवश्यक है।

'सतगुरू' न होते हुए भी यह उसके ही भिन्न रूप माने जा सकते है, क्योंकि 'पारब्रह्म साध रिदै बसे'[3] और आगे बढ़ते-बढ़ते 'नानक साध प्रभु भेदु न भाई'[4] वह भी उस 'ऐक्य' अवस्था तक पहुँच जाता है पर साध अधिक उपदेश का कार्य न कर व्यक्तिगत उन्नति की अपेक्षा रखता है। उसके इस अभाव को दूर करता है 'संत'। वह स्वतः 'साध' होता हुआ भी परोपकार में इतना रत है, कि उस पर कोई विपत्ति आ जाए तो 'संता' के कारजि आपि खलोआ कम्मु करावणि आया राम'॥[5] ब्रह्म स्वत: आकर उनके काम करवाता है और ब्रह्मज्ञानी की तो बात ही क्या ? वह तो इनसे भी आगे बढ़ 'बन्धन ते मुकता' होकर 'बसे प्रभु सग' और धीरे-धीरे 'आपि परमेसुर' न केवल सगुण ब्रह्म की स्थिति तक पहुँचता है, अपितु उसी विकास क्रम में 'सिसटी करता' तथा 'मुक्ति दाता' बनता हुआ 'पूरण पूरखु विधाता'[6] बन जाता है और किसी को उसकी महानता मे संदेह न रह जाए 'आपि ही निरंकारु'[7] मानव-मात्र को यह संदेश दे दिया, कि प्रत्येक मानव के जीवन का साधन और साध्य 'ब्रह्मज्ञानी' की इस स्थिति मे ही निहित है। उसकी पहचान होने पर यह बात इन शब्दों में और स्पष्ट की गई है—

ब्रह्म महि जनु जन महि पार ब्रह्मु।[8]

इस प्रकार अंश-अंशी अलग नही रह पाते,—'सूरज किरण मिले जल का जल हुए राम।'[9] अपनी किरणों को संगृहीत करनेवाले सूर्य की ही भाँति आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है तथा पानी-पानी मिल के जैसे एक हो जाते है, उसी प्रकार जीव-ब्रह्म एक हो जाते हैं। पानी सम्भवत. अधिक हो जाता है, लेकिन 'जोति जोति रली संपूरनु थीआ राम।'[10] इस प्रकार ज्योति का अंश ज्योति में ही विलीन

१. ३५४ म० १।
२. ११५३ म० १, १।
३. २७२ म० ५, ६।
४. २७२ म० ५, ८।
५. ७८३ म० ५, १०।
६. २७३ म० ५, ८।
७. २७४ म० ५, ८।
८. २८७ म० ५, ३।
९. ८६४ म० ५, ४।
१०. ८४६ म० ५, ४।

हो गया। कबीर के भी 'कुम्भ में जल' भाव की प्रतिध्वनि गुरू अर्जुन के इस पद में प्राप्त है:—

जैसे कुम्भ उदक पूरि आनिओ तब उहु भिनं द्रसटि।
कहु नानक कुम्भु जले महि डारिओ अम्भे अम्भ मिलो॥[१]

'दशम ग्रंथ' में गुरु गोविन्द सिंह ने भी इसी भाव को इन शब्दों में प्रकट किया है—

जैसे एक आग ते कनोखा आग उठे।
न्यारे न्यारे होय के फिर आग मे मिलायेंगे॥[२]

इस प्रकार आत्मा परमात्मा का पूर्ण ऐक्य मान्य है। कुछ सिख विद्वानो का मत है, कि 'ग्रंथ' में आत्मा परमात्मा का पूर्ण ऐक्य मान्य नही है।[३] यह युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। वे साध्य की अंतिम सीढ़ी तक नहीं पहुँच सके, ब्रह्म का सान्निध्य तो अंतिम साध्य न होकर साधन ही है, क्योंकि गुरू ने तो स्पष्ट ही कहा है—

जिस ते उपजिया नानका सोइ फिरि होइआ।[४]

इसी प्रकार की अन्यान्य ऊपर दी गई उक्तियों से स्पष्ट है, कि जीव-ब्रह्म का अंतिम सम्बन्ध तो पूर्ण ऐक्य ही है। यही है जीव का आविर्भाव और तिरोहण; ज्योति का महाज्योति में विलीनीकरण।

साध्य:—

प्रभु के सिमरनि बिनसै दूजा।[५]

इस 'द्वैत' का विनाश ही ग्रंथ का साध्य है और इसका परिणाम है 'गुरु प्रसादि नानक इकु जाता।'[६]; उससे मिल कर पूर्ण ऐक्य।

बहुभ्रमणशील गुरू ने जगत को देखा था। दार्शनिक वाद-विवाद से दूर रह कर भी परिचित थे। इसीलिए उन्होंने सीधा शंकर के 'अहं ब्रह्म' का प्रचार न कर समय, स्थान और परिस्थितियों की पुकार का उपयुक्त उत्तर देने का प्रयत्न किया। इसके लिए आवश्यक था, कि अध्यात्म मन्दिर के उच्चतम-शिखर तक ले जाने के लिए जनता को उसकी प्रत्येक सीढ़ी का परिचय करवाया जाए, ताकि जन-सामान्य उन सोपानों को भी साध्य समझ कर ही बढ़ता चले और प्रत्येक साध्य पर पहुँचने के बाद उसे ज्ञात हो कि साध्य तो अभी सोपान-भर ऊपर है। वह हतोत्साह होने के स्थान पर नवीन उत्साह और स्फूर्ति के साथ निरन्तर तब तक अगले साध्य की ओर प्रयत्नशील रहे, जब तक साध्यों के भी साध्य पूर्ण ऐक्य अवस्था तक पहुँचने के लिए उस। अपनी सत्ता ही न विलीन कर दे। यह 'ग्रंथ' के मनोवैज्ञानिक विकास-क्रम का परिचायक है।

---

१. १२०३ म० ५, ४। २. अकाल-स्तुति : 'दशमग्रंथ'।
३. फिलासफी आफ सिक्खिज्म : डा० शेर सिंह पृ० २०२।
४. ११९३ म० ५, २-१। ५. २६२ म० ५, ३।
६. २८९ म० ५, ८, १९।

सांसारिक सम्बन्धों की अस्थिरता दिखा कर, मोह-माया के जंजाल में फँसाने-वाली सर्पिणी माया से रक्षा ही उसका प्रथम साध्य है। दुःख और पीड़ा के संसार के जन-सामान्य को धर्म की ओर खींचने का कितना सरल और कितना आकर्षक प्रलोभन है। तब क्षण-भंगुर संसार तथा नश्वर देह का परिचय देकर सर्व-ग्रासी भयानक यम से रक्षा किस मानव को नहीं आकर्षित कर लेती। इसलिए सत्गुरू की शरण में जाने का संदेश दिया है, क्योंकि वह 'कालु परहरै'[१] यम से तो रक्षा हो जाए लेकिन सांसारिक बंधनों से छुटकारा भी आवश्यक है। इस प्रकार नया सोपान 'तरै, संसारू'[२] अथवा 'नामु जगत निसतरै'[३] पार जाना है भव-सागर के। जहाँ पहुँचते ही दर्शन हुए 'मोखु दुआरू'[४] के। अत. वही साध्य-साधन-साध्य क्रम में अगला सोपान प्रतीत हुआ; एक बार मोक्ष प्राप्त कर फिर किसी संसार में जाने की इच्छा बाकी रह जाती है! इसलिए आवागमन के चक्कर से छुटकारा पाकर 'गरभि न वसै'[५] उसका लक्ष्य बन जाता है। यही वह विश्राम-स्थल है, जिसे पा 'अमर भये अमरापद पाइआ।'[६] लेकिन इसी अमरत्त्व को ही तो ठुकरा कर देवता मानव-जीवन के इच्छुक हो जाते हैं, तो प्रगति कैसे रुक सकती है? उसके लिए 'परम गति पाइऐ'[७] कहा है। लेकिन यह परमगति तो 'हुकमु बूझि परम पद पाई।'[८] प्राप्त परम पद में परिणत हो गई। यह परम पद ही ब्रह्म का सानिध्य है। सम्भवतः इसीलिए कुछ सुलझे हुए व्यक्तियों ने उसे ही अन्तिम स्थिति समझ कर मानव द्वारा प्राप्य ऊँचे से ऊँची गति[९] कहा है। इस प्रकार परम पद प्राप्त करके भी आवश्यक है, कि 'सदा बसहि पार ब्रह्म के संग।'[१०] उसका शाश्वत सानिध्य करनेवाला ही तो 'सो जनु सचि समाता।'[११] सत्य में समा सकता है। यह उसमें समाना ही निरन्तर ब्रह्मानुभूति है और अविरल ब्रह्मानुभूति का ही परिणाम है—

जिउ जल महि जलु आइ खटाना।
तिउ जोति संगि जोति समाना॥[१२]

और इस प्रकार 'मिटि गए गवन पाए बिस्राम।'[१३] इस अनन्त विश्राम में ही दूजा मिट गया और 'एकु जाता'—वह एक जो 'एको वेसु' है। यही है 'ग्रंथ' के साध्य का भी साध्य और एक-मात्र साध्य, जिसे अध्यात्म मन्दिर का उच्चतम शिखर कहा जा सकता है।

राज न चाहउ मुकति न चाहउ मनि प्रीति चरन कमलारे।[२]

---

१. २६२ म० ५, १२।
२. २६९ म० ५, ७।
३. २६४ म० ५, २।
४. २ म० १, ४।
५. २६२ म० ५, २।
६. २९३ म० ५, ८, २२।
७. २६४ म० ५, २।
८. २६२ म० ५, ४।
९. 'शब्दारथ' : पृ० २६४।
१०. २७८ म० ५, ८, ११।
११. २८२ म० ५, ८।
१२. २७८ म० ५, ११।
१३. २७८ म० ५, ८, ११।
१४. ५३४ म० ५, २९।

सम्भवतः इसीलिए इस प्रक्रिया में साधन 'नाम' एवं भक्ति का इतना महत्त्व है, कि वे साधन होते हुए भी साध्य बन जाते हैं। जीव भगवान् से 'भगवान्' भी नही चाहता। वह तो केवल 'नाम' चाहता है, जो 'नाम' अपने आप ही भगवान् की तरह सब कुछ दे सकता है और एकमात्र सत्य भगवान् की तरह सत्य बन बैठा है— 'सांचा साहिबु साचु नाइ'[1] इस प्रकार साधन का महत्त्व साध्य से भी अधिक है, क्योंकि वही तो एक-मात्र निष्काम इच्छा है और है निष्काम कर्म। अत. उसका स्थान अवश्य ही चिर विश्रांति से महान् है, क्योकि चिर-विश्राम निर्गुण ब्रह्म को भी यह 'नाम' ही तो सगुण-साकार बना लेता है। उसे अपने भक्त को रक्षा के लिए दौड़े जो आना पड़ता है,

'संता के कारजि आपि खलोआ, कंमु करावरिण आया राम'।[2]

और इसीलिए 'निरगुण ब्रह्म गुणों बस होई।' इतना ही नही, 'ग्रंथ' में भगवान् ने स्वयं सच्चे भक्त की महानता इन शब्दों में स्वीकार की है—

'मेरी बांधि भगतु छड़ावै बंधि भगतु न छूटै मोहि।
एक समै मोकउ गहि बाँधे तउ फुनि मो पै जवाबु न होइ।'[3]

सर्वकर्ता, सर्व-नियंता ब्रह्म भी तो भक्त की भक्ति के वश में आ गया और उसके बंधन से कोई छुटकारा नही। अत. वह स्वतः ही साध्य का चरम है, या अवि-रल अनन्य भक्ति। यह अभिव्यक्ति नही, अनुभूति का विषय है। अत इसका निर्णय साधक ही कर सकता है।

अवरोधक शक्तियाँ :

'मन तू जोति सरूप है
आपणा मलु पछाणु।'[4]

अपना परिचय पाने के बाद जीव का अपने साध्य से भी परिचय हो गया। स्वा-भाविक रूप से समुद्र की ओर बढ़नेवाली प्रत्येक पहाड़ी नदी के मार्ग की अवरोधक चट्टानों और उनसे बढ़ कर पर्वत-शृंखलाओं का महत्त्व भुलाया नही जा सकता। इन अवरोधक शक्तियों से टक्कर ले तथा आवश्यकतानुकूल सहायक शक्तियों का आश्रय लेकर अनन्त सागर की विशालता मे ही अपने अस्तित्व को विलीन करने में उसकी सफलता का रहस्य अन्तर्हित है।

बाह्याडम्बर ही जीव के मार्ग की चट्टाने हैं। जप, तप, माला, पूजा, तीर्थ, व्रत, उपवास, स्नान और न जाने क्या-क्या तत्कालीन जन-समाज को विकसित होने में बाधक सिद्ध हुए। इनके परिहार का वर्णन तो सर्वत्र ही प्राप्त है। इन कपट और पाखण्डों का कारण है 'ढाकिनी माया' जो दिन-दहाड़े जीव को बता कर भी उसे लूट लेती है। उसके दो प्रमुख अस्त्र है, कंचा और कामिनी— मोह और ममता।

---

१. २ म० १, ४। २. ७८३ म० ५, १०।
३. १२५३ नाम० ३। ४. ४४१ म० ३, ५।

मोहि विग्रापिग्रा ग्राइग्रा जालि ।

इनके कारण जीव में उद्भूत होते हैं—

'वैर विरोध काम क्रोध मोह ।।[1]
झूठ विकार महालोभ ध्रोह ।।'

इस प्रकार मानव-जीवन के सब दुर्गुणों की उद्भासिनी माया यहाँ ही अपनी शक्तियों का प्रसार रोक नही देती, अपितु इनके माध्यम से मानव-मात्र के 'हउमे' (अहं) को को जागृत करती है। यह 'हउमे' ही दृढ़ पर्वत-शृंखला का रूप धारण कर मानव के आध्यात्मिक मार्ग को अवरुद्ध कर लेता है, क्योंकि मानव तो हउ विचिआइआ हउ विचि गइआ। हउ विचि जमिआ हउ विचि मुआ।[2]

और उसका तो चतुर्दिक विकास सम्पूर्ण जीवन भर ही होता रहा। इसकी भी आधार-भूमि ढूंढी जावे, तो बस है 'दुरमुख मन'। क्योकि 'मैंने की गति कहि न जाइ।'[3] वस्तुतः यह चंचल और विकारी मन ही एक-मात्र अवरोधक शक्ति है। गुरू ने इस बात को पहिचान लिया था, इसीलिए उन्होंने जीव को भी न सम्बोधित कर-जागृत 'अहं मन को ही कहा'—मन तूं जोति सरूपु है

आपणा मूलु पछाणु ।

क्योंकि अवरोधक शक्तियों की जड़ है 'विकारी मन'। सम्भवतः इसीलिए सहायक शक्तियों का परिपक्व फल है 'स्वस्थ मन'। जिसकी परिपुष्टि की है, गुरू ने इन शब्दों में—

'मनि जीतै जगु जीतु।'[4]

सहायक शक्तियाँ :

अवरोधक शक्तियों से पार पाने का सूत्र मिल गया। झरना पर्वत-शृंखलाओं से निकल सरिताओ के आश्रय में आ पहुँचा। सहायक शक्तियों में सबसे महान् शक्ति है 'नदरि'। ते 'जे तिसु नदरि न आवई त वात न पूछे के।'[5] क्योंकि सभी सांसारिक प्रयत्न होने पर भी उसकी कृपा के बिना कुछ नही हो सकता और उसकी कृपा का ही साकार लौकिक फल है 'सत्गुरू'। पर सत्गुरू है कौन ?

'सति पुरखु जिनि जानिआ सतिगुरू तिसका नाऊ।'[6]

लेकिन इस आडम्बरमय युग में यह कैसे पता चले, कि 'सति पुरखु' को किसने पहिचाना है। तो गुरू बोले 'जिस मिलए मन होय आनंदु सो सतिगुरू कहिए।'[8] जिसे मिलने से आन्तरिक आह्लाद की प्राप्ति हो वही सत्गुरू है। संक्षेपतः सत्गुरू के दो कार्य हैं। १-जीव की माया से रक्षा करना तथा २-उसे अध्यात्म-पथ का प्रदर्शन

---

१. २३६ म० ५, ४। २. २६७ म० ५, ७।
३. ४६६ म० १, १, ७। ४. ३ म० १, १२।
५. ६ म० १, २८। ६. २ म० १, ७।
७. २८६ म० ५, १। ८. १६८ म० ४।

करा कर उसका अविरल पथिक बना कर 'बिछुरा मेलै प्रभु'[१] वह बिछुड़े हुए प्रभु से मिला कर 'दूजा विनसे' और 'इकु जाता' बना देता है। इसलिए लौकिक क्षेत्र में गुरू भी 'पूरण' तथा 'अभुल' है इन दो शब्दों मे ही उसका महात्म्य छिपा है। साधन, गुरू का भी साधन है 'नामु'। क्योंकि 'साचा साहिबु साचु नाइ।'[२] वही तो एक-मात्र सत्य है। 'विणु नावै नाहि को थाउ।'[३] और उसके बिना आश्रय भी तो कुछ नहीं। वह न केवल 'सरब रोग का अउखदु'[४] है, अपितु 'पाप परिहरै'[५], 'उधरे जन कोटि'[६] तथा 'निसतरे' और इसीलिए 'ऊँचे उपरि उचा नाऊ'[७] सक्षेपतः यही 'नामु' का महत्त्व है और भगवान् के गुणों का ध्यान ही 'नाम' है तथा इसमे निरन्तर तल्लीनता ही जप। यही सिख धर्म का 'नाम-मार्ग' है, जो भक्ति का ही प्रमुख एवं विशिष्ट अंग है। 'कीरतन' 'नाम' में तल्लीन करने में सहायक है। यह 'विस्माद' ही 'आत्म-विस्मृति' है और इसका चरम ही है 'दूजा बिनसे' अहं का विलीनीकरण, पूर्ण-ऐक्य-साध्यों का भी साध्य। अत इसका महत्त्व भी नहीं भुलाया जा सकता। ये सब अन्तर्मन की अवस्थाएँ है। अत इनका प्रमुख स्थान है और संगृहीत सत्संस्कार वाले व्यक्तियों को सम्भवतः अन्य साधनों की अपेक्षा न हो, लेकिन 'ग्रंथ' का धर्म 'मानव धर्म' है। अतः जन-सामान्य को इस पथ का पथिक बनाने के लिए उपयुक्त परिस्थितियों की भी आवश्यकता है। जिसके लिए न केवल राजनैतिक शाँति, तथा सामाजिक समृद्धि, अपितु धार्मिक वातावरण भी आवश्यक है। इसके लिए सामूहिक दृष्टि से सत्संग तथा वैयक्तिक दृष्टि मे साधु, संत एवं ब्रह्म ज्ञानियों से परिचय आवश्यक है। उनका महत्त्व जीव-प्रकरण मे बताया जा चुका है।

समाज का अंग होते हुए भी व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है। इसलिए कुछ व्यक्तिगत साधन भी जीव के सहायक होते हैं। सत्कर्मो के बिना भक्ति, नाम या गुरू भी प्राप्य नही। 'बिनु गुण कीते भक्ति न होई।'[८] क्योंकि गुण कमाए बिना भक्ति नहीं हो सकती और गुण सत्कर्मो के बिना कमाए नही जा सकते। कर्म का महत्त्व इस दृष्टि मे भी कम नही, क्योंकि 'करनी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि।'[९] अपने ही कर्मो का फल मिलता है। 'जो कमावन सोई भोगु।' अतः सत्कर्मों का जीव को साध्य की ओर ले जाने मे विशेष सहयोग है। सम्यक्-ज्ञान का महत्त्व इससे भी अधिक है, क्योंकि सत्-असत् क्या है ? इसका ज्ञान होने पर ही मानव सत्कर्म में प्रेरित हो सकता है। इसीलिए वेद आदि को नही, उनको ठीक रूप से न जानने-वालों को दोषी ठहराया है। इस प्रकार साधन भक्ति (नाम), ज्ञान का सम्बल और कर्म का सहारा लेकर ही मानव को साध्य की ओर ले जाने में सफल होती है। इस

१. ९१७ म० ५।
२. २ म० १, ८।
३. ४ म० १, ११।
४. २७४ म० ५, ५।
५. २६४ म० ५, १।
६. २६४ म० ५।
७. ५ म० १, २४।
८. ४ म० १, २१।
९. ८ म० १, १।

प्रकार वैयक्तिक जीवन में संयम, संतोष तथा सत्य का आश्रय लेकर सदाचारपूर्ण गृहस्थ-जीवन ही उस दिशा में प्रयाण में सहायक सिद्ध होता है। जहाँ श्रवण, स्मरण तथा ध्यान का महत्त्व बताया है, वहाँ भगवत्-विश्वास, भगवान से भय तथा भगवत् जनों की सेवा भी थोड़े बहुत अंशों में साधनों के उपयुक्त साधन सिद्ध होते है। इस प्रकार जैसे साध्य (चरम साध्य) अपना अस्तित्व विलीन कर पूर्ण ऐक्य है, उसी प्रकार निर्लिप्त जीवन में पवित्र एवं अनन्य मन से एक-मात्र सत्य ब्रह्म की भक्ति मे निरन्तर तल्लीनता ही साधनों का साध्य होकर भी उत्कृष्टतम साधन ही है। इसीलिए कहा है—

मनि जीतै जगु जीतु।[1]

यही है साध्य और साधन का ऐक्य-स्थल।

मानव धर्म का ग्रंथ होने के कारण बाह्याडम्बर एवं 'भेख' का विरोध करने-वाले गुरू एवं संत किस प्रकार किसी 'भेख' विशेष की आज्ञा दे सकते थे। उन्होंने सरलता और स्पष्टता का महत्त्व स्थापित करते हुए केवल निर्लिप्त रहने का संदेश दिया है। 'भेख' कोई भी हो सकता है, उसका उतना महत्त्व नहीं, जितना निर्लिप्तता का।

गुरुओं ने 'ग्रंथ' में कहीं भी मांस, मछली आदि खाने की न आज्ञा ही दी है न विरोध ही किया है। संत कबीर ने अवश्य कामोद्दीपक होने के कारण मछली, मद्य आदि का विरोध किया है।[2] सम्भवतः 'कामिनी के प्रति अवज्ञा भी इसी का परिणाम है। वस्तुतः उनका ध्यान व्यक्ति के निर्लिप्त रहने की ओर अधिक था। अतः उन्होंने सैद्धान्तिक रूप से विकारों का ही विरोध किया है। उन विकारों को उद्दीप्त करने-वाले सभी साधनों का स्वतः ही विरोध समझना चाहिए। हाँ! जब व्यक्ति 'पद्म-पत्रमिवाम्भस.' होकर इतना ऊपर उठ जाता है, कि लौकिक विकारों का उस पर कोई प्रभाव नही रह जाता, तब इनके उपभोग या त्याग का उसके लिए प्रश्न शेष रह ही नहीं जाता।

इसलिए 'मानव धर्म' को, सार्वभौम, सार्वकालिक सत्य को, अपनी परिस्थिति के अनुकूल किसी मत या सम्प्रदाय के कठघरे में सीमित करना उसके महत्त्व को बढ़ाना नहीं, घटाना ही है। इस सब से स्पष्ट है, कि 'ग्रंथ' की विचारधारा की महत्ता 'मानव धर्म' प्रतिपादन में ही है। यही है उसकी विचारधारा का संक्षिप्त परिचय।

'ग्रंथ' में भाव-चित्र एवं शब्द-चित्रों के माध्यम से अत्युत्कृष्ट कल्पनाओं को उपस्थित किया गया है। आत्मा की परमात्मा के लिए तड़पन के चित्रों में न केवल परम्परागत प्रतीकों के माध्यम से उत्कृष्ट काल्पनिक चित्र उपस्थित किए हैं, अपितु उनकी मौलिक कल्पनाएँ भी विशेष उल्लेखनीय है। मीन, चातक आदि की तड़पन तो सर्वत्र ही नए-नए रूप में प्राप्त है, परन्तु सम्यक् विचार को माँ, संतोष को पिता तथा

1. ६ म० १, २८। 2. कबीर श्लोक २३३।

सत्य को भाई बताया है। अतः गुणों को भाई बहिन की तरह प्यार करना चाहिए।[१] इसी प्रकार की अनंत मौलिक कल्पनाओं से 'ग्रंथ' भरा पड़ा है। प्रायः सभी कल्पनाएँ लौकिकता के माध्यम से पारलौकिक जगत् का सम्बन्ध स्पष्ट करती हैं।

'ग्रंथ' में प्रयुक्त कल्पनाओं का क्षेत्र इतना विशाल है, कि प्रकृति के प्रांगण का कोई कोना उससे अछूता नहीं रह जाता। 'वाहिगुरू' की आरती जीव कैसे करे, वह तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही कर रहा है—

गगन में थालु रविचंदु दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती।
धूपु मनआनलो पवणु चवरो करे सगल बनराइ फूलंत जोती।[२]

थाल गगन में रवि तथा चंद्र दीपक ही तो चमक रहे हैं। कितनी विशाल कल्पना है। प्रकृति के क्षेत्र में ही क्या मानव-मन के प्रत्येक भाव के विश्लेषण में मनोवैज्ञानिकता के साथ-साथ इनकी सूक्ष्म कल्पना-शक्ति का भी परिचय मिलता है। उन्होंने तो भव-तारक 'शब्द' को उस 'सची टकसाल' में घड़ा है जहाँ 'जतु पहारा' और 'धीरजु सुनिआरु' है। 'अहरणि मति' तथा 'वेदु हथियारु' बने है इतना ही नही, वहाँ 'भांड़ा भाउ' हैं, उसमें ही 'अमृतु तितु ढालि।'[३] उससे गुरु नानक की सूक्ष्मान्वेषिणी दृष्टि और उनकी सूक्ष्म कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है। ऐसी ही विशाल और सूक्ष्म कल्पनाओं से 'ग्रंथ' भरा पड़ा है।

वस्तुतः 'ग्रंथ' की कल्पनाओं का सौन्दर्य उपमा और रूपक के माध्यम से प्रस्फुटित हुआ है, अतः उसी प्रकरण में इनका विवरण उपयुक्त होगा। कहीं चलते-चलते इधर-उधर मुँह मारनेवाले ऊँट से मन की तुलना कर उसकी चंचलता का प्रदर्शन किया है, तो कहीं पवित्रता के लिए 'उसे निर्मल भांडा' ही बना दिया है। अनंत कल्पनाओं के प्रयोग से लेखकों की सूक्ष्म काल्पनिक दृष्टि का परिचय मिलता है।

'ग्रंथ' की भाषा व शैली का परिचय आसान नहीं। विशिष्ट-वाणियों के परिचय तथा लेखकों के परिचय में इसका परिचय देने का प्रयत्न किया गया है।

कुछ विद्वान् 'ग्रंथ' की भाषा में इतना अधिक मिश्रण देख कर उसे कुछ नाम न दे सके।[४] हिन्दी के कुछ विद्वानों ने इसे 'ब्रजभाषा' कह कर हिन्दी के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न किया है।[५] तीसरी कोटि के प्रायः पंजाबी लेखकों ने इसे शुद्ध पंजाबी का नाम दिया है और 'ग्रंथ' को पंजाबी साहित्य का समृद्धतम आगार माना है।[६]

तीनों विचारों में से कोई भी विचार अशुद्ध नहीं कहा जा सकता, केवल दृष्टि-भेद है। डा० ट्रम्प का इन दोनों ही भाषाओं का सूक्ष्म अध्ययन न था, अतः वे कोई नामकरण न कर सके। हिन्दी के विद्वानों ने बहुत सी जगह ब्रजभाषा को

१. राग गौडी गुरू नानक। २. १३ म० १, ३।
३. ८ म० १, ३८। ४. डा० ट्रम्प आदि।
५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० पीताम्बर पत्त बड़थ्वाल आदि।
६. डा० मोहन सिंह, पूरण सिंह आदि।

पाया तथा पजाबी भाषा की आधारभूत सैद्धान्तिक विशेषताओं से परिचय न रखने के कारण उनका इसे ब्रजभाषा बताना अनुपयुक्त नहीं। सम्पूर्ण 'ग्रंथ' में अच्छी पजाबी मिलने के कारण पंजाबी लेखकों का इसे शुद्ध पंजाबी कहना भी अनुचित नही।

अतः 'ग्रंथ' की भाषा का सैद्धान्तिक विश्लेषण ही इस विषय में उपयुक्त पथ-प्रदर्शन कर सकेगा। अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करते समय लेखकों को ध्यान था, कि—

(१) भाषा जन-सामान्य को समझ में आनी चाहिए।
(२) न केवल पंजाब, अपितु भारत भर की जनता उसे आसानी से समझ सके।
(३) भारतीय सांस्कृतिक अवस्था का चित्र उपस्थित करने की उसमें क्षमता हो।
(४) प्राचीन भारतीय काव्य-परम्परा से भी दूर न हो, अतः प्रसिद्ध मान्यताओं एवं अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग प्राप्त है।
(५) इतना होते हुए भी प्रांत के मुहावरों, लोकोक्तियों तथा बोलियों का बहिष्कार न हो, अतः थोड़े-बहुत आवश्यक परिवर्तन के साथ उनका स्थान भी बना हुआ है।
(६) प्रतिभावान् इन सब बातों का ध्यान रखते हुए भी 'मौलिक' हुए बिना नहीं रह सकता। अतः इन सबको अपनाकर भी उस पर उनकी मौलिकता की अमिट छाप ने 'ग्रंथ' की भाषा को उनकी अपनी भाषा बना दिया।

अतः इससे पूर्व कि हम यह निश्चित करें कि 'ग्रंथ' की भाषा क्या है? इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस दृष्टि से 'ग्रंथ' में कहीं तत्कालीन प्राकृत एवं अपभ्रंश, कहीं ब्रजभाषा, कहीं खड़ी बोली तथा कहीं-कहीं लहंदा आदि अन्य बोलियों के भी दर्शन होते हैं, जिनका विवरण 'वर्गीकृत वाणी' अथवा विशिष्ट वाणियों के परिचय में दिया जा चुका है।

इतना होते हुए भी 'ग्रंथ' की भाषा का निर्णय उसका सूक्ष्म विश्लेषण किए बिना नहीं हो सकता, जिसके लिए इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त हिन्दी तथा पंजाबी भाषा की मौलिक विषमताओं से परिचित होना भी आवश्यक है। संक्षेप मे—

१. पंजाबी स्त्रीलिंग (बहुवचन) के साथ सहायक क्रिया भी उसके अनुकूल परिवर्तित हो जाती है; लेकिन हिन्दी में नही।

हिन्दी	पंजाबी
१. वह जाती है।	ओ जांदी है।
२. वे जाती हैं।	ओ जांदिया हन (हण)।

२. भूतकाल में हिन्दी 'था' के स्थान पर 'सी' का प्रयोग होता है।

हिन्दी	पंजाबी
वह गया था।	ओ गया सी।

३. हिन्दी के 'तो' तथा 'ने' के स्थान पर क्रमशः 'दा' तथा 'ण' का प्रायः प्रयोग मिलता है।

(उदाहरण '१' में दिया जा चुका है)

४. विभक्तियों के प्रयोग में हिन्दी की—को, से, का, के, की, में तथा पर के स्थान पर पंजाबी में क्रमशः नूं, तों, दा, दे, दी, विच तथा ते का प्रयोग होता है।

इन थोड़े से प्रमुख भेदों के आधार पर 'ग्रंथ की भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है, कि विशिष्ट स्थलों को छोड़ कर 'ग्रंथ' में ब्रज-भाषा तथा उससे प्रभावित पंजाबी के भी दर्शन होते हैं।

इसकी शब्दावली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग पर्याप्त है, लेकिन तद्भव शब्द तो भाषा के प्राण ही हैं। जहाँ मुल्लाओं को सम्बोधित किया है, वहाँ फारसी के भी शब्दों का प्रयोग मिलता है। न केवल शब्दावली भावों के अनुकूल बदलती है, अपितु छन्दों के प्रयोग में भी इस बात का ध्यान रखा गया है। मुसलमानों को सम्बोधित करते हुए उनकी शब्दावली, उनके प्रिय राग तथा उनके ही छन्दों तक का आश्रय लिया है।[1] प्रायः पद भक्तिपूर्ण हैं, अष्टपदियाँ धार्मिक एवं दार्शनिक, छंद भगवत्-मिलन का आह्लाद अथवा वियोग का दुःख प्रकट करते हैं। उन्हीं भावों के अनुकूल भाषा क्रमशः सरस एवं मधुर, सरल एवं स्पष्ट तथा उद्वेग-पूर्ण है। योगियों के वर्णन में यौगिक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग है, तो देसी गीतों में प्रांतीय सरस शब्दों का आधिक्य।

'ग्रंथ' में राग का विशेष महत्त्व है, अतः प्रायः सारी ही रचना संगीतात्मक है।[2]

अलंकारों में अनुप्रास, उपमा और रूपक के तो उदाहरण ढूँढने की आवश्यकता ही नहीं। सम्पूर्ण 'ग्रंथ' में कठिनाई से ही कोई पृष्ठ मिल सके, जहाँ इनमें से एक का भी प्रयोग न मिले। परम्परित प्रसिद्ध उपमाओं के अतिरिक्त इस क्षेत्र में इनकी मौलिक प्रतिभा का द्योतन अन्यत्र करवा दिया गया है।[3]

'ग्रंथ' मे कहीं भी प्रयत्न-साध्य मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग नही मिलता, लेकिन अनायास ही इतने सैद्धान्तिक वाक्यों का 'ग्रंथ' में प्रयोग हुआ है, जिन्हें परवर्ती पंजाबी भाषा में अपने आप ही न केवल लोकोक्ति एवं मुहावरों के रूप में स्वीकार किया है, अपितु बहुत-सी सूक्तियाँ भी वहीं से संगृहीत हो सकी है—

१. 'लेखे आवहि भाग'[4] (जो भाग्य में होता है वही मिलता है।)

---

१. विस्तृत विवरण 'वर्गीकृत वाणी' में देखें।

२. विस्तृत विवरण 'राग का महत्त्व' में देखें।

३. देखें 'वर्गीकृत वाणी' तथा विशिष्ट वाणी।

४. १ म० १, २१।

२. 'निवे सु गउरा होइ'[1] (झुकनेवाला ही महान् होता है।)

३. 'मंदा चंगा आपणा आपे ही कीता पावणा'[2] (अपने भले-बुरे कृत्यों का फल स्वतः ही भोगना पड़ता है।)

४. 'फलु तेवेहो पाइऐ जेवेही कार कमाइए'[3] (अपने भले-बुरे कृत्यों का फल स्वतः ही भोगना पड़ता है।)

५. 'मनि जीतै जगु जीतु'[4] (मन जीतने में ही विश्व-विजय है।)

इसकी प्रायः व्याख्यात्मक शैली को व्यास शैली नाम देना अनुपयुक्त न होगा। कुछ विशिष्ट वाणियों—जपुजी, सुखमणी तथा श्लोकों में अवश्य 'गागर में सागर' पद्धति का आश्रय लिया है, जिसे 'समास शैली' भी कहा जा सकता है। लेकिन ऐसी वाणियाँ कम स्थलों पर ही मिलती हैं।

'ग्रंथ' में निम्न छंदों का प्रयोग मिलता है—

सामान्य—दुपदे, तिपदे, चौपदे, पंचपदे, छहपदे, अष्टपदियाँ, छंद, श्लोक (सलोक) प्रायः इनका ही प्रयोग हुआ है। कही-कही निम्न वाणियों का भी आश्रय लिया है—

पड़ताल, काफियाँ, अंजुलियाँ, रुती, दिनरैणि, बणजारा; शब्दों में—पहरे-५, करहले-२, विरहड़े-३, घोड़ियाँ-२, अलाहणियाँ-६, सुचजी-१, कुचजी-१, गुणवंती-१, आरती-५, सोलहे-६२, पउड़िया, वार, पट्टी, बारहमासा, आनन्द, (दक्खिणी) ओंकार, सिद्ध गोष्ठ, बावन अखरी, सुखमणी, थिती।

इन वाणियों में श्लोक, पउड़ियों एवं अष्टपदियों का क्रम स्वतंत्र ही है।[5]

'ग्रंथ' में उत्कृष्ट भाषा 'जैतसरी की वार' में प्राप्त है। उत्कृष्ट राजनैतिक वर्णनमयी कविता 'बाबर वाणी' आसा राग की अष्टपदियों में प्राप्त है। प्रकृति-वर्णन की उत्कृष्ट कविता गुरु नानक का राग तुखारी में 'बारह-माह' है। उत्कृष्ट 'शब्द-चित्र' फरीद के शब्दों में 'बेड़ा बंधि न सकिओ बंधन की बेला' तथा रविदास का 'जो तुम गिरिवर तो हम मोरा' है। जिसमें तेजस्वी मेधा स्वच्छ एवं स्पष्ट झलक रही हो, ऐसी उत्कृष्ट कविता 'सुखमणी' है। 'गागर में सागर' का उत्कृष्ट उदाहरण 'जपुजी' स्वीकार किया जाता है। तथा 'ग्रंथ' का उत्कृष्ट प्रगीत 'मोरी रुण झुण लाइआ भैणे सावणु आइआ' राग बड़हंस में है।

वस्तुतः 'ग्रंथ' अपने आप में उत्कृष्ट रचना है।

यही सत्य महान् है, इसे कुरेद कर इसका सौंदर्य कम करने की सामर्थ्य हम में नहीं, क्योंकि इसका आधार तो वही 'सुलतानु' है, जिसके विषय में कहा गया है—

तू सुलतानु कहा हउ मीआ तेरी कवन वड़ाई।
जा तू देहि सु कहा सुआमी मैं मूरख कहणु न जाई॥

१, २, ३. वार आसा।
४. जपु म० १, २८।
५. विशिष्ट विवरण के लिए देखें 'वाणी ब्योरा' पृ० १२२।

लेखकों का साहित्यिक परिचय —

'ग्रंथ' एक आध्यात्मिक संग्रह हैं। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के लेखकों की रचनाएँ संगृहीत हैं। उनका भी संक्षिप्त-सा परिचय देना आवश्यक है। अतः ऐतिहासिक नहीं, संक्षेप में उनका परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। सुविधा के लिए इन लेखकों को चार कोटियों में रखा जा सकता है :—

१. गुरु।
२. संत या भक्त।
२. गुरु-घर से सम्बन्धित व्यक्ति।
४. भाट।

सबकी वाणी का मूल्यांकन उनकी स्थिति के अनुकूल ही हो सकता है। गुरुओं—प्रथम पाँच गुरुओं (गुरू नानक, गुरू अंगद, गुरू अमरदास, गुरू रामदास, गुरू अर्जुन) तथा नवम गुरू तेग बहादुर को स्थान प्राप्त है। 'सिख धर्म' के जीवित गुरू होने के कारण इनका स्थान अत्युच्च है और इनकी वाणी 'गुरू की वाणी' है, क्योंकि दसों गुरू एक ही ज्योति से ज्योतित भिन्न-भिन्न देह हैं। इससे अधिक कुछ भेद मान्य नहीं और गुरू नानक ने 'जिह दिट्ठा में तेहो कहिआ' है अतः यह वाणी पवित्रतम है।

इन १५ संतों का महत्त्व भी उतना ही है, क्योंकि उनकी वाणी संगृहीत करते हुए गुरू नानक ने अपनी ही वाणी के समान समझ उसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। विचारधारा की दृष्टि से इन्हें भी चार वर्गों में रखना उपयुक्त होगा जिसका विस्तृत विवरण तृतीय अध्याय में मिलेगा।

तृतीय कोटि में सुन्दर, मरदाना तथा 'सत्ता और बलवंत' को स्थान प्राप्त है। ये सभी गुरुओं से सम्बद्ध थे, इनकी वाणी की यहाँ केवल सूचना मात्र है।

तृतीय कोटि में आनेवाले भाटों का महत्त्व 'गुरु-पद-स्तुति' गान में ही है। सिद्धान्तों की दृष्टि से उनका स्वतंत्र महत्त्व नही, अतः उनका परिचय भी सूचना के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

इसी क्रम में सभी लेखकों का परिचय प्रस्तुत है :—

१. गुरू नानक देव (सं० १५२६-१५६६)—जन्म से क्षत्रिय, यात्राओं से श्रमणशील, कर्म से गुरू, चतुर्दिक ज्ञान के भाण्डार, उदात्त भावनाओं के अजस्र स्रोत, अध्यात्म पथ के अविचल पथिक गुरू नानक महान् व्यक्तित्त्व ले संसार में आए। 'मोदी खाने' में बैठे-बैठे उनके अंतर का ब्रह्म तिलमिला उठा। प्रतिभा प्रस्फुटित हुई और अनायास ही नानक के पग 'गुरूत्त्व' की ओर बढ़ चले। उनकी वाणी में रस से भी अधिक राग का महत्त्व है, पर विचारों की उपेक्षा करके नहीं। 'जिह दिट्ठा में तेहो कहिआ' से स्पष्ट है, कि उनकी वाणी अत्यधिक अनुभूति प्रधान है। विचार, कल्पना और अलंकार उनकी वाणी में बहुतायत से प्राप्त हैं, लेकिन उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति में केवल सहायक होकर। अनुभूति के बिना उनका एक शब्द भी प्राप्त

नहीं। समय की पुकार को सुनने के कारण ही उनकी वाणी में कबीर की कटुता तथा स्पष्ट उपदेशात्मकता नहीं। उनकी सरल एवं सरस अभिव्यक्ति खांड चढ़ी हुई कुनैन की गोली है। वह रोग को ठीक अवश्य करती है, लेकिन रोगी को कष्ट अनुभव नहीं होने देती। उनके प्रधानतम विषय है ब्रह्म-प्रेम और ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय 'नाम'—उसका महत्त्व तथा निरंतर स्मरण। 'माया', 'हउमै' (अहं) विषय-विकार, बाह्याडम्बर (जप, तप, तिलक, माला, पूजा, तीर्थ-स्नान आदि) अवरोधक शक्तियों की निःसारता तथा सत्संग, सत्गुरु, तथा अभ्यास से मन को वश में करना एवं उसकी पवित्रता और निष्काम कर्मण्यता आदि सहायक शक्तियों का महत्त्व स्थापित कर धर्म पराङ्मुख जनता को धर्मोन्मुख करना। वस्तुतः सैद्धांतिक सत्यों को ही व्यावहारिक रूप देना उनकी वाणी का उद्देश्य रहा है। उनकी भाषा योगी, पण्डित एवं मुल्ला के अनुकूल बदलती चलती है। सदा ही भावानुसारिणी है। उनकी शैली उस समास-पद्धति को लेकर चली है जो 'गागर में सागर' भरने की क्षमता रखती है, 'मूलमंत्र' और 'जपुजी' इसके उदाहरण हैं। 'ब्रह्म-सूत्रों' से इनकी तुलना की जा सकती है।

जन-भाषा के प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग देखना हो, तो 'आसा की वार' पढ़िए। उन्होंने किसी का कुछ भी अपनाने में संकोच नहीं दिखाया, अपितु अपने विचारों के अनुकूल सरल भाषा में ढाल कर उसे अधिक उपयोगी बना कर अपना लिया है—यह उनकी उदारता का परिचायक है।

इस प्रकार उनकी वाणी में सभी प्रकार के विचार, सभी भाव, जीवन के सभी क्षेत्रों से कल्पनाएँ, भाषाओं के शब्द, सभी शैलियों का प्रयोग तथा सभी संतों की वाणियाँ मिलती हैं। लेकिन इन सबके ऊपर उनकी अनुभूति और उनके संत-व्यक्तित्व की अमिट मोहर की छाप स्पष्ट है। यही उनकी विशेषता है।

२. गुरु अंगद (सं० १५६१-१६०६)—द्वितीय गुरु के 'ग्रंथ' में केवल ६२ श्लोक संगृहीत हैं। इन्होंने गुरु नानक द्वारा बताए गए मार्ग को और स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इन्होंने भगवत्प्रेम की अनन्यता, उसके लिए तड़पन तथा उसमें अबाध गति से प्रवाहित रहने पर जोर दिया है। इसके लिए दृढ़-प्रेम और सेवा का महत्त्व बताया है। इसकी भाषा अति सरल एवं स्पष्ट पंजाबी है, सम्भवतः इसीलिए इन्हें गुरुमुखी लिपि का जन्म-दाता भी कहते रहे हैं, लेकिन भाषा का उद्भव और विकास पहले ही हो चुका था। इन्होंने उसे सरल और स्पष्ट रूप देकर उसका प्रचार अवश्य किया।

३. गुरु अमरदास (सं० १५२६-१६३१)—तृतीय गुरु का विस्तृत अनुभव वाणी की रचना से पूर्व उनके साथ था। अत. उनकी वाणी का उद्देश्य न केवल छूत-छात, जात-पात के भेद-भाव को दूर कर जन-समाज में एकता स्थापित करना था, अपितु ऐसा संदेश देनेवाली वाणी को सर्वोत्कृष्ट बताना भी था। उन्होंने ही सच्ची वाणी का महत्त्व बता कर गुरु अर्जुन को 'ग्रंथ' संग्रह की प्रेरणा दी। इनकी स्पष्टवादिता इनके चरित्र का सबसे बड़ा गुण था। वह उसी रूप में इनकी वाणी

में उतर आया, इसीलिए आवश्यतानुसार इन्होंने फरीद आदि की वाणी की उचित व्याख्या एवं आलोचना भी की है। 'आनंद' में प्रसन्नता तथा 'सद्द' (सुन्दर-रचित) में इनका ही मृत्यु का संदेश है। गुरू नानक की ही भाँति इनकी वाणी में भी भाषा में रूपक, उपमा आदि अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। इनकी भाषा भी प्रायः भावानुसारिणी है। लोकोक्तियाँ एवं मुहावरों का प्रयोग भी प्राप्त है।

४. गुरू रामदास (१५६१-१६३८)—चतुर्थ गुरू रामदास की वाणी में प्रेम की प्रधानता है। इसमें अलौकिक प्रेम को लौकिक उदाहरणों से समझाने का प्रयत्न किया है। जन-सामान्य को भी विनम्र हो अति प्रेम-पूर्वक सम्बोधित किया है। इनकी लम्बी वाणियों में प्रायः एक भाव छिपा रहता है, लेकिन उसकी सुन्दर गठन, सरस शब्दावली तथा मधुर संगीत अनायास ही पाठक को अपने साथ चलने के लिए विवश किए रहता है। उनके शब्द-चित्र तथा मधुर-बोल कहीं-कहीं तो उनके भाव से भी अधिक पाठक को मुग्ध कर लेते हैं, यह उनकी भाषा-शैली की सबसे बड़ी विशेषता है।

५. गुरू अर्जनदेव (सं० १६२०-१६६३)—पंचम गुरू अर्जुन की वाणी 'ग्रंथ' में सब से अधिक संगृहीत है। इनकी वाणी में प्रत्येक प्रकार की विविधता उपलब्ध है। इन्होंने सभी विचारों एवं सभी भावों को लेकर जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों से कल्पनाएँ संगृहीत कर उनमें पिरो डाला है। इनकी सूक्ष्मान्वेषिणी दृष्टि से जीवन का कोई क्रिया-व्यापार न बच सका। सहानुभूति, उदारता, प्रेम, दया, क्षमा तथा विश्वास आदि इनके व्यक्तिगत गुण इनकी कविता में स्पष्ट झलकते हैं। गुरू नानक की ही भाँति इनका पौराणिक ज्ञान भी अत्यधिक था। सभी भक्तों के उदाहरण इनके भक्त रक्षक भगवान् के वर्णन में प्राप्त हैं। ये अपनी किसी भी कविता में ब्रह्म के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना नहीं भूले। यही इनकी वाणी की विशेषता है। 'सुखमणी' इनकी उत्कृष्टतम रचना है। भाषा की दृष्टि से इन्होंने लहंदा, पंजाबी और हिन्दी तीनों का ही प्रयोग किया है, लेकिन अधिक वाणी पंजाबी में ही है। 'जैतसरी की वार' में कहीं-कहीं तो आधुनिकतम खड़ी बोली के भी दर्शन होते हैं, यथा :—

तू मेरा पिता तू है मेरी माता ॥[1]

प्रथम पंक्ति में हिन्दी, द्वितीय में लहंदा (में भी वही भाव) तथा पुनः पौड़ी में भी पंजाबी में उसी भाव की व्याख्या से तीनों भाषाओं पर उनके अधिकार का परिचय मिलता है। वस्तुतः कला के निखरे हुए रूप के दर्शन हमें गुरू अर्जुन में बहुत ही स्पष्ट होते हैं, यही उनकी कविता की महानता है। 'ग्रंथ' के संग्राहक के रूप में सम्पूर्ण वाणी को शुद्ध कर, क्रम-बद्ध कर सम्पादित करना—उनकी विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। उनकी साहित्यिक देन ने उनको अमर बना दिया।

---

१. ११४४ म० ५, ३१।

६--गुरू तेग बहादुर (सं० १६७८-१७३२)— नवम गुरू तेग बहादुर की वाणी 'ग्रथ' में इनके पुत्र गोविंद सिह ने अंकित की। तभी 'आदि ग्रंथ' 'गुरू ग्रंथ' में परिणत हुआ। इनकी वाणी के प्रधान विषय परिवर्तनशील जगत्, आकर्षक धन और सांसारिक सौन्दर्य है। प्रायः छोटे आकार की रचनाओं का निर्माण किया है। विचार भी इनके सीमित ही हैं। समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है, लेकिन उसमें विविधता नही और कहीं-कही तो पुनरुक्ति खटकने भी लगती है। यही वाणी वस्तुतः दुःख में शांतिप्रद है। क्षत-विक्षत मर्म-स्थल के घाव को भरनेवाली है। सब गुरुओं की भाषा से अधिक यह हिन्दी के निकट है। अलंकार सामान्य होते हुए भी उनका प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग हुआ है। इसीलिए शिक्षात्मक होते हुए भी कटु एवं शुष्क नही, अपितु ग्राह्य है। इसकी कला ने इसकी शिक्षा की तीक्ष्णता को छिपा लिया है। यही इनकी वाणी की विशेषता है।

पन्द्रह संतों का विस्तृत विवरण अगले अध्याय में मिलेगा। इनके अतिरिक्त गुरू वंश से ही सम्बन्धित सुन्दर की 'सद्द' नामक रचना में संगृहीत छह पदों में मृत्यु के समय दिया गया तृतीय गुरू अमरनाथ का अंतिम संदेश प्राप्त है। बिहागड़ा 'वार' में गुरू-भक्त मरदाना के तीन शब्द अंकित है, जिनमें 'विस्माद' से उत्पन्न मस्ती और शराब से उत्पन्न मस्ती का आलंकारिक भाषा में वर्णन है। 'वार' रामकली में 'सत्ता ते बलवंत' के आठ शब्द प्राप्त है, जो गुरू के प्रति प्रदर्शित दुर्व्यवहार की क्षमायाचना के रूप में 'माफीनामा' नाम से प्रसिद्ध है। शिष्यों का प्रायश्चित इनमें उभर आया है, पश्चाताप की अग्नि ने उनके 'अहं'को विगलित जो कर दिया हैं। 'ग्रंथ' के लगभग अंत में कल आदि ११ भाटों के १२३ सवैइये गुरू नहीं 'गुरू पद प्रशस्ति के रूप में प्राप्त हैं। कल इनमें प्रमुख है, उसी के ४९ सवैइये है। शेष सबका स्वर उसी का सहायक स्वर है। जन-सामान्य की सरल एवं सरस पंजाबी का आश्रय लिया गया है।

इस प्रकार 'ग्रंथ' का सर्वांगीण परिचय उसके लेखकों अथवा संग्राहकों के परिचय के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था, अतः 'ग्रंथ' के माध्यम से 'गुरू' बननेवाले सभी संग्राहकों का संक्षिप्त साहित्यिक परिचय प्रस्तुत किया गया है।

ग्रंथ की देन—

सफल वह है जो अपने आप को परिस्थितियों के अनुकूल ढाल ले और महान् वह जो परिस्थितियों को अपने अनुकूल ढाल ले तथा उनसे विचलित न हो। नश्वर संसार का प्रवहमान इतिहास इस बात का साक्षी है। मानव ही नहीं, यह नियम प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के विषय में भी उतना ही सत्य है, चाहे वह किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित क्यों न हो ? बुद्ध, चन्द्रगुप्त, कालीदास, शेक्सपीयर, रवीन्द्र, गांधी, अरविंद सब इसी कोटि में आते है। वेद, रामायण, महाभारत, गीता भी इस नियम के अपवाद नहीं। इनका अविचलित स्थायित्व ही इनकी महानता का आधार-स्तम्भ हैं। इसीलिए प्रत्येक वस्तु के मूल्यांकन का माप दण्ड है। 'समाज को उसकी देन'

किस रूप में उसने समाज को कितने समय के लिए प्रभावित किया। इसी से उसके महत्त्व का बोध होता है।

'ग्रंथ' की देन अनत है। यह वह सरस सर्वांगपूर्ण क्षीर सागर है, जिसमें जो ढूँढा जाए, वही सुगमता से उपलब्ध है। तो भी 'ग्रथ' की महान् देन का परिचय देना आवश्यक ही है।

'ग्रंथ' मूलतः आध्यात्मिक कृति है। यह 'जिह दिट्ठा मैं तेहो कहिआ' का संग्रह है। 'मंत्र-द्रष्टारः' ऋषियों के अनुभवों की ही भाँति—यह भी संतों की तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अतः इसकी सर्वप्रमुख देन आध्यात्मिक ही है। यह न केवल ब्रह्म के माहात्म्य से मानव-मात्र का परिचय कराता है, अपितु मानव की प्रसुप्त आत्मा को उद्बुद्ध कर उसे अध्यात्मपथ का पथिक बनने की प्रेरणा भी देता है। इसकी यह प्रेरणा समय, स्थान और परिस्थिति निरपेक्ष होने के कारण शाश्वत एवं महान् है, वस्तुतः यही 'ग्रंथ' की सबसे महान् देन है।

अनुभूत्याधारित 'ग्रथ' शृंखला-बद्ध बौद्धिक विचारधारा को न प्रस्तुत करने के कारण दार्शनिक नहीं, लेकिन 'ब्रह्म सूत्रों' की भाँति सुगठित 'जपुजी' और 'सुखमणी' किसी भी दर्शन से कम सम्बद्ध नहीं। अतएव सिख धर्म का ठोस आधार-दर्शन, इसमें अनायास ही प्राप्त है। 'दार्शनिक वाद-विवादों से अधिक महत्त्व अनुभूत जीवन का है, 'ग्रंथ के इस विचार ने तत्कालीन दर्शन के क्षेत्र मे उपस्थित विषम परिस्थिति को दूर कर प्रत्येक मत के लोगों को निकट ला—उन्हें अधिक उदार और सहिष्णु बनाया।

अध्यात्म-पथ का साधन है धर्म। 'ग्रंथ ने जीवन और धर्म में बनी खाई को भर कर दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। धर्म-समाज का होते हुए भी उससे पहले वैयक्तिक है, अतः सदाचार का महत्त्व स्थापित करते हुए चरित्रवान् को ही श्रेष्ठ धार्मिक स्वीकार किया। यह भी स्पष्ट कर दिया, कि जाँत-पाँत आदि का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं—

हरि को भजै सो हरि का होई ॥

की ध्वनि सर्वत्र सुनाई देती है। 'ग्रंथ' में जुलाहे कबीर, चमार रैदास, छीपी नामदेव, नाई सेन और जाट धन्ना तथा कसाई सधना की वाणी भी इसका ही क्रियात्मक प्रमाण है। 'कथनी' और 'करनी' में ऐक्य स्थापित करते हुए 'ग्रंथ' ने बाह्याडम्बरों की व्यर्थता सिद्ध की। जप, तप, माला, पूजा, तिलक, तीर्थ-स्नान तथा भेष की निस्सारता प्रतिपादित की। इसीलिए धार्मिक क्षेत्र का गुरू नहीं—सत्गुरू ही सत्कर्मों के माध्यम से मानव का पथ-प्रदर्शक बना। इस प्रकार सन्यास का विरोध कर निर्लिप्त गृहस्थ-जीवन तथा निष्काम कर्मण्य-जीवन का महत्त्व प्रतिष्ठापित किया। साधना के क्षेत्र में ज्ञान का सम्बल ले सत्कर्म करते हुए 'नाम-मार्ग' (भक्ति का ही एक अंग) के द्वार खोल दिए, जिसमें जन-सामान्य प्रवेश पा सका और वह मार्ग ही

उसका व्यावहारिक धर्म बन गया। धर्म को मनोवैज्ञानिक आधार देकर हठयोग से अधिक अभ्यास से मन को वश मे करने का पाठ पढाया—'मनु जीतै जगु जीतु' का उच्चारण कर बहुत पुरानी बात को एकदम नए प्रभावोत्पादक ढंग से कहा। इतना ही नही धार्मिक स्थानो को सामाजिक संगठन का स्थान बनाने की प्रेरणा भी इसी से मिली—तथा धर्म को संकीर्णता के कटघरे से निकाल कर उदार-दृटि प्रदान की। इस प्रकार सब धर्मों का आदर करते हुए, 'सह-अस्तित्त्व' की भावना का विकास करते हुए, 'मानव धर्म' की प्रतिष्ठा की। वस्तुत: 'ग्रंथ' का धर्म 'सिख धर्म' नहीं, 'शिष्य धर्म' है और 'शिष्य धर्म' ही 'मानव धर्म' है। संसार के किसी धर्म से इसका विरोध नहीं और किसी विशिष्ट धर्म का प्रतिपादन नहीं, इसका विशिष्ट धर्म केवल 'मानव धर्म' ही है। यही सांसारिक जगत् को 'ग्रंथ' की महानतम धार्मिक देन है।

इस मानव धर्म के माध्यम से समाज में समता का प्रसार 'ग्रंथ' की सबसे बड़ी सामाजिक देन है। मानव-मानव की समता में न धन का, न पद का, न जाति का, न धर्म का, न लिंग का और न ही अवस्था का कोई भेद स्वीकार किया गया है। 'सिख धर्म' मे अमृत-पान के समय इस ऐक्य का पूर्ण परिचय मिल जाता है। इसके लिए ही कट्टरपंथी ब्राह्मण को समझा कर समाज-सुधार के स्वर को प्रधानता देनी पड़ी। चरित्रवान् व्यक्ति को समाज में आदर प्राप्त हुआ। गृहस्थ समाज के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति को कर्मण्य एवं व्यवसायशील बनने का उत्तरदायित्व सौंपा। समाज पर भार बन कर निष्कर्मण्य जीवन व्यतीत करनेवालों को निरुत्साहित किया। इस प्रकार समष्टि के अंग—व्यष्टि के व्यक्तित्त्व का विकास कर समाज में नैतिक आदर्शों की स्थापना की। सत्संग का महत्त्व बता कर धार्मिक स्थानों को सामाजिक संगठन एवं विचार-विनिमय का केन्द्र बनाया। व्यक्तिगत उदाहरणों से समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अत्याचार के विरोध में बलिदान तक होने की प्रेरणा देकर निडर, निर्भय, स्वस्थ एवं स्वतंत्र समाज की नींव डाली। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज को संगठित कर राष्ट्रीय स्तर पर लाने का प्रयत्न किया।

यह राष्ट्रीय-स्तर ही राजनीति में प्रवेश कर गया और समय की पुकार के अनुकूल 'ग्रंथ' का यह सशक्त स्वर—कि 'धर्म, समाज और राजनीति अलग-अलग नहीं, एक ही देह के भिन्न-भिन्न पार्श्व-मात्र है'—आज तक जन-सामान्य को प्रभावित किए हैं। क्योंकि धार्मिक जीवन के विकास के लिए न केवल राजनैतिक शांति, अपितु सामाजिक वातावरण भी आवश्यक है। सामाजिक समता का स्वर राजनैतिक प्रजातंत्रवाद के ही अस्तित्त्व की स्थापना का स्वर है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म, व्यवसाय और मान्यताओं में पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए, जब तक वे समाज के लिए घातक न हों। जहाँ एक ओर राजा को उसके कर्त्तव्य का ज्ञान करवाया है वहाँ जनता को भी उसके अधिकारों का परिचय दे सतर्क किया है। इन सबसे

बढ़ कर राजनैतिक क्षेत्र में जब अत्याचार रुक न सके, तो वीरता की प्रतीक नव-उद्भूत 'सिख जाति' को नैतिक आधार दिया।

सब सिखन को हुकम है गुरू मानियो ग्रंथ।

में ही इसके 'गुरूत्व' का रहस्य अन्तर्हित है।

'ग्रंथ' का उद्देश्य किसी साहित्य को समृद्ध करना न था, तो भी अनायास ही इससे संसार का रहस्यवादी साहित्य अति समृद्ध हो गया। अविकसित शिशु पंजाबी भाषा का इसके माध्यम से न केवल विकसित एवं स्वस्थ रूप ही हमारे सामने आता है, अपितु उसका बहुमुखी विकास भी इसमें प्राप्त है। 'ग्रंथ' में विविध विषय, मानव-मन के प्रत्येक भाव तथा सूक्ष्म कल्पनाएँ सभी शैलियों में लिपटी हुई हमारे सामने आती हैं। किसी भाषा के प्रारम्भ में साहित्य का चतुर्दिक विकास और उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण 'ग्रंथ' की अद्वितीय देन है। इसके कुछ गीत आज ५०० वर्ष व्यतीत होने पर भी पंजाबी के उत्कृष्टतम गीतों में अपना स्थान बनाए हुए है। नवीन छंद, राग एवं स्वरों का संधान 'ग्रंथ' की पंजाबी साहित्य को मौलिक देन है। वस्तुतः 'ग्रंथ' न केवल आज तक के पंजाबी एवं संत लेखकों के लिए आदर्श काव्य प्रस्तुत करता चला आ रहा है, अपितु काव्य के मान-दण्डों का निर्धारण भी इसी के आधार पर हुआ है। भावों के अनुकूल रागों का प्रयोग इसकी अपनी विशेषता है। अतः रागों का इसमें विशेष महत्त्व तथा वैज्ञानिक क्रम इसकी महत्त्वपूर्ण देन है। पंजाबी के प्रत्येक लेखक ने इससे प्रेरणा भी ली है और इसके प्रभाव की अमिट छाप भी इस पर अंकित है। साहित्यिक क्षेत्र में 'ग्रंथ' की इससे बड़ी देन हो भी क्या सकती है?

संगीत के क्षेत्र में राग का महत्त्व स्थापित करना भी 'ग्रंथ' की अपनी ही देन है। वस्तुतः यह राग ही तल्लीनता और 'विस्माद' का आधार है। इस प्रकार संगीत न केवल मनोरंजन का ही साधन बना रहा, अपितु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से 'ग्रंथ' ने तत्कालीन भारत की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थिति का यथातथ्य चित्र उपस्थित किया है। ऐतिहासिकों के लिए अन्य उपयुक्त सामग्री के अभाव में 'ग्रंथ' के प्रामाणिक विवरण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते चले आ रहे हैं।

इस प्रकार 'ग्रंथ' आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक तथा संगीतात्मक सभी दृष्टियों से भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान करता हुआ राष्ट्रीय जागरण का संदेश लेकर आया। यह संदेश ही अमर 'ग्रंथ' के अमरत्त्व का सूचक बन कर युग-युग तक राष्ट्र को निनादित करता रहेगा।

यही है अमर गुरुओं के अमर 'ग्रंथ' की अमर देन और उसी में अन्तर्हित है उसका अमरत्त्व।

तृतीय अध्याय

ग्रन्थ में उल्लिखित सन्त और उनकी वाणी

'संत रामु है ऐको।'[1]

संत का इससे संक्षिप्त परिचय और विस्तृत व्याख्या सम्भव भी नहीं। युग-युग से संसार भर के मनीषी अनंत का परिचय पाने का प्रयत्न करते रहे। सम्भवतः कुछ ने उसे देखा, दूसरों ने समझा, अन्यों ने पाया और कुछ ने उसे अन्तर में उद्भासित कर अनुभव भी किया, लेकिन अनुभूत की उसी रूप में अभिव्यक्ति कोई न कर सका। इसीलिए कहा है, 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'[2] उस एकमात्र 'संत' का विद्वानों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। वस्तुतः यह विद्वान् अन्य कोइ नहीं, 'सत्' के मर्मज्ञ 'संत' ही हैं, क्योंकि महान् महत्त्येव करोति विक्रमम्।' इससे ब्रह्म और उसको पहचाननेवाले, ज्ञेय और उसके ज्ञाता की महानता स्पष्ट है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है, कि ऐसा महान् संत वही है, जिसने सत्य को अनुभव कर लिया है तथा क्योंकि वह लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित है, अतः वह जन समाज का भी पथ-प्रदर्शन करता है।

एक विद्वान ने 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति 'षण्' (सम्भक्तौ) से करते हुए उसे लोकानुग्रहणी बताया है तथा शम् '(शांतौ)' से उसे ब्रह्मानंद सम्पन्न व्यक्ति कहा है, क्योंकि इस 'शांत' का ही अपभ्रंश रूप है संत। इतना ही नही, 'षणु (दाने)' से सन्ति और उसी से इच्छानुकूल फल देनेवाले के अर्थ में 'संत' की व्युत्पत्ति स्वीकार की है।[3] डा० बड़थ्वाल ने 'सत्' का बहुवचन स्वीकार करते हुए उसे 'सत्' का अनुभवकर्त्ता कहा है, तथा 'शांत' का अपभ्रंश मानते हुए उस व्यक्ति को यह संज्ञा दी है, जिसकी कामनाएँ शांत हो चुकी हों।[4] चतुर्वेदी जो ने हिन्दी में एकवचन

१. ग्रंथ ७१३ कबीर ५।
२. ऋग्वेद २, ३, २३, ६।
३. कल्याण संत अंक (विशेषांक) वेद में संत : श्री गंगेश्वरानंद, पृ० ४१।
४. योग प्रवाह : डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल पृ १५८।

में प्रयुक्त 'संत' शब्द को संस्कृत 'सन् (अस्=होना)' से सिद्ध किया है, जिसका अर्थ है, होना 'अथवा' सदा एक रूप रहना ।[१] ऋग्वेद में इसी अर्थ को लेकर वह ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त हुआ है—'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।'[२] क्रांतदर्शी विप्र उस एक व अद्वितीय 'संत' (सत्) का अनेक प्रकार से वर्णन करते है। जो हो, संत शब्द की व्युत्पत्ति में सभी विद्वानों ने उनमें ब्रह्म के ही भिन्न-भिन्न गुणों की सत्ता अनुभव की है और संत शिरोमणि कबीर ने इस बौद्धिक प्रक्रिया के परिणाम को ही प्रातिभ ज्ञान के माध्यम से 'संत रामु है एको' कह कर अभिव्यक्त किया है। दोनों के निष्कर्ष में अन्तर नही; हाँ ! साधन पथ अवश्य भिन्न-भिन्न है। एक का अपने मस्तिष्क के व्यायाम का परिणाम और दूसरे की आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति का सार।

'संत'--सत्येसाधोपूजितेधीरे---प्रशस्ते विद्यमाने च '(अमरकोश) इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। इन सभी शब्दों में संत के गुणो की व्याख्या मिलती है। कबीर के विचारों में 'संत का स्वरूप' जीव-प्रकरण के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक है। संक्षेपतः संत वह निर्लिप्त व्यक्ति है, जिसने एकमात्र सत्य का अनुभव कर लिया है। यद्यपि साधु, भक्त और संत एक ही कोटि के जीव हैं, और ये शब्द सामान्य भाषा में एक दूसरे के लिए प्रयुक्त होते है, तो भी संत इसी कोटि का होता हुआ भी इनसे कुछ आगे बढा हुआ प्रतीत होता है। साधु सरल स्वभाव का वह निर्लिप्त जीव है, जो स्वतः अध्यात्म पथ का पथिक होते हुए असत् मार्ग-गामी संसार से टक्कर लेकर उसे अपने पीछे लगाने की क्षमता नहीं रखता। भक्त अनन्य है। उसमें लोक कल्याण की भावना न भी हो, तो भी वह भव-पार पहुँच ब्रह्म का सानिध्य पा लेता है। जहाँ भक्त को केवल भक्त होना पड़ता है, वहाँ संत को ज्ञानी, भक्त और कर्मयोगी के संग्राहक तत्त्व संगृहीत कर अपने व्यक्तित्त्व का निर्माण करना पडता है। एक लिप्त होता है भगवान् में, तो दूसरा उससे भी निर्लिप्त हो जाता है, क्योंकि वह स्वतः उससे एक रूप हो चुका होता है। एक अपने ही उद्धार में लगा रहता है, और दूसरा लोक-कल्याण से प्रेरित हो जन-सामान्य की यातनाओं का भोगी बन कर भी उन्हें अध्यात्मपथ पर खींच कर ले जाने मे कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ता, क्योंकि पहला सदा पथिक ही बना रहता है और दूसरा साध्य तक पहुँचानेवाला वह राह-गीर है, जो पथिकों को पथ पर अग्रसर करता रहता है। इसीलिए एक को अपने आप आगे बढ़ने की धुन सवार है, तो दूसरे को संसार को आगे बढ़ाने की। एक निष्क-र्मण्य जीवन भी व्यतीत कर सकता है, लेकिन दूसरा निष्काम कर्मण्य जीवन का ही अनुकर्त्ता है। एक के आदर्श दूसरे होते हैं और दूसरे का आदर्श उसका अपना ही यथार्थ जीवन। एक भगवान् की प्रार्थना करता हुआ आगे बढ़ता है, दूसरा सत्कर्मों से, अपने प्रयत्नों से उस दिशा में अग्रसर है। इसीलिए जहाँ एक नम्र

१. उ० प०: प० च० पृ० ४।
२. ऋग्वेद १०, ११४, ५।

है, वहाँ दूसरा उद्दण्ड भी। एक संसार से दूर रहता है, दूसरा जूझता रहता है। जो हो, एक को अपने भगवान पर भरोसा है, तो दूसरे को अपने पर आत्मविश्वास। इसीलिए एक की पुकार सुन भगवान रक्षा के लिए आता है, तो दूसरों का कार्य करने उसे स्वतः आना पड़ता है— 'संता के कारजि आपि खलोइआ हरि कमु करावणि आइआ राम'[1] ग्रंथ इसका प्रमाण है। जो हो संत उत्कृष्टतम कोटि का जीव है, जिसे लोक-लाज नहीं, मान मर्यादा नहीं, मान-अपमान नहीं, सुख-दुख नहीं, मोह-ममता नहीं, वैर-द्वेष नहीं, भूत-भविष्य की परवाह नहीं तथा जिसका अपना-पराया नहीं, सम्बन्धी-सम्पत्ति, लेन-देन नही, कुछ भी नही, कभी भी तो नही। जो 'पद्म-पत्र मिवाम्भसः' 'निर्लिप्त, निष्काम है, निर्वैर है, निर्दोष है अतः निर्मल है। इसीलिए जो उपदेशक नहीं, संदेश-वाहक है। जो जन्म से सामान्य होकर भी कर्म से अद्वितीय है। जो गृहस्थ होकर भी गृहस्थ नही, कर्मण्य होकर भी कर्म-फलेच्छक नहीं, सामान्य होकर भी कार्यों से सामान्य नहीं, किसी का होकर भी किसी विशेष का नहीं, (क्योंकि सब का है)। इस प्रकार वह सम्पूर्ण दैवी गुणों से सम्पन्न है। आवश्यकता पड़ने पर उदण्ड भी हो सकता है और विनीत भी; अकड़ भी सकता है और झुक भी जाता है, अपने में भी मस्त और समाज में भी मस्त, लेकिन इस प्रकार के 'निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः'[2] बिरले ही संत देखने को मिलते हैं।

मध्यकालीन भारत का इतिहास न केवल राजनैतिक, अपितु आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परतंत्रता का इतिहास है। ऐसे समय भारत की पुंजीभूत प्रतिभा और मेधा आध्यात्मिक-क्षेत्र में ही अवतरित हुई, क्योंकि बाह्य अत्याचारों को सहने के लिए प्रबल आंतरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। राज-नैतिक क्षेत्र में जिस सिकन्दर से जनता संत्रस्त थी, उसी की बांधी हुई जंजीर को कबीर ने गंगा के प्रवाह से तुड़वाया था। धार्मिक क्षेत्र में छींपी नामदेव को दर्शन देने के लिए बीठुल के मन्दिर का देहुरा फिरा था। सामाजिक क्षेत्र में ब्राह्मण-भोज में प्रत्येक दो ब्राह्मणों के मध्य चमार रविदास को उन्होंने बैठे पाया था। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका कुछ भी मूल्य हो या न, लेकिन तत्कालीन समाज को नैतिक शक्ति देने के लिए ही पीपा जैसे राजा ने भी भक्ति अपनाई थी।

उस युग में समाज को पतन के गर्त से बचाने का श्रेय भूमिपालों को नहीं, जन-मन के हृदय के सार इन संतों को ही है। अतः युग की पुकार के अनुकूल—इनकी वाणियों का विशेष महत्त्व है। 'ग्रंथ' के माध्यम से उसी का अध्ययन हमारा विषय है, जिसके लिए 'ग्रंथ' के लेखकों एवं उनकी वाणी से परिचित होना आवश्यक है।

'ग्रंथ' के लेखक—

'ग्रंथ' में भिन्न कोटियों के व्यक्तियों की वाणी संग्रहीत है। उनमें सर्वप्रमुख

---

१. 'ग्रंथ' ७८३ म० ५, १०।

२. भर्तृहरि : नीतिशतक।

स्थान प्रथम पाँच तथा नवम गुरुओं का है, जिन्हें प्रथम गुरू नानक की ज्योति ही माना जाता है। पुनः रामानंद, कबीर, नामदेव, रविदास, त्रिलोचन, पीपा, धन्ना, सदना, सेन, वेणी, जयदेव, सूरदास, परमानन्द, शेख फरीद तथा भीखन १५ संतों की वाणी इसमें संगृहीत है। गुरुओं की ही भाँति ये भी स्वतंत्र विचारक थे। ऊपर लिखित संतों के लक्षण भी इनमें बहुतायत से प्राप्त हैं तथा इससे बड़ी बात यह है कि इन्होंने व्यक्तिगत जीवन के माध्यम से ही अनुभूत सत्यों को जनता के सामने रखा था। इसीलिए सिद्धान्तों से अधिक उनके व्यावहारिक प्रयोगों में विश्वासी थे। 'कथनी' और 'करनी' का भेद मिटा कर सरल, संयमित जीवन व्यतीत करते हुए समाज के निम्न कुलों में जन्म लेकर भी अपने कार्यों से महान् बनते गए। इन कारणों से ये १५ संत ही हमारे अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। ११ भाटों की वाणी किसी विचारधारा का प्रचार न कर, केवल 'गुरु-पद-स्तुति' स्वरूप है तथा अन्य चारों लेखकों की वाणी भी न तो उनकी विचारधारा को ही प्रस्तुत करती है और न ही उनके उभरे हुए व्यक्तित्त्व का द्योतन। संतों के अतिरिक्त सबका परिचय गत अध्याय में दिया जा चुका है।

इस प्रकार निम्न १५ संत ही हमारे अध्ययन का विषय हैं। यद्यपि इनमे से प्रत्येक का अपना व्यक्तित्त्व स्वतंत्र रूप से उभरा हुआ है, फिर भी इनके पारस्परिक सम्बन्धों को ध्यान मे रखते हुए इस प्रकार इनका वर्गीकरण किया जा सकता है। संतों में सबसे प्रमुख कबीर है, इसका प्रमाण 'ग्रथ' मे वर्णित उनकी वाणी की अधिकता ही नहीं, अपितु इससे भी स्पष्ट है, कि जहाँ कहीं भी सतों की वाणी उल्लिखित है, उसमें शीर्षस्थान इन्ही का है, यथा गुरुओं की वाणी मे प्रथम स्थान गुरू नानक का।

अतः कबीर और उनके गुरु-भाइयों को एक साथ रख लिया जाता है, इससे उनकी विचारधारा को समझने में सुविधा होगी तथा उनके गुरू रामानंद को इनके साथ ही स्थान देने पर प्रथम कोटि का संगठन इस प्रकार होगा—

(१) रामानंद और उनकी शिष्य परम्परा—सेन, कबीर, पीपा, रैदास, धन्ना तथा सधना को भी इनके साथ ही रखना अनुपयुक्त नहीं।

कबीर के बाद नामदेव का विशेष महत्त्व है, और 'ग्रथ' की वाणी में भी सदा वे ही कबीर का अनुगमन करते है। कुछ लेखकों ने तो कबीर से पहले 'संतमत' के उद्भव के चिह्न नामदेव में ही स्पष्ट पाए है।[1] अतः द्वितीय कोटि मे-

(२) महाराष्ट्रीय संत—नामदेव, त्रिलोचन तथा वेणी को भी इनके साथ ही उपयुक्त स्थान मिल सकता है।

अपने विगत जीवन में सगुण कृष्ण-भक्ति-परक भक्तों की एक अपनी ही कोटि है। यद्यपि इन तीनों की ही रचना अत्यल्प है, तो भी उनका अपना ही महत्त्व

१. मराठी संतों की हिन्दी को देन : डा० विनय मोहन शर्मा, पृ० १२७।
हिन्दी संत काव्य संग्रह : परशुराम चतुर्वेदी, गणेश प्रसाद द्विवेदी, पृ० २२।

है, जो इनके व्यक्तित्त्व की सूचना देता है, अतः इस कोटि में हैं—

(३) **सगुण कृष्णभक्तिपरक**—जयदेव, सूरदास तथा परमानंद। **अवशिष्ट** संतों में शेख फरीद और भीखन दोनों ही मुस्लिम संत हैं। इसे विधि का विधान कहें या भाग्य की विडम्बना—'ग्रंथ' में जहाँ-जहाँ भी दोनों की वाणी अंकित है, वह सबसे पीछे है और यहाँ भी इन्हें यही स्थान प्राप्त हुआ है। लेकिन इससे इनका महत्त्व घटता नहीं, अपितु बढ़ता ही है, अतः इस कोटि में—

(४) **मुस्लिम संत**—शेख फरीद तथा भीखन।

तत्कालीन अवस्था को भलीभाँति परखनेवाले गुरू नानक ने व्यक्तित्त्व से ऊपर उठ कर राष्ट्रीय-स्तर पर संत-मत के प्रचार एवं प्रसार द्वारा धर्म-पराङ्मुख होती हुई जनता को बाह्याडम्बरों से बच कर निष्काम कर्मण्य जीवन का संदेश देने के लिए ही संतों की वाणी को अपनी वाणी के समान महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी समझ कर एकत्र किया था। इस प्रकार संतों की वाणी को 'ग्रंथ' में स्थान देने के कारण तथा उन्हें संगृहीत कर ग्रंथ में अंकित करने का विस्तृत विवरण गत अध्याय में दिया जा चुका है। 'संत वाणी' के अध्ययन के पूर्व उसकी संख्या पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। अतः 'ग्रंथ' में अंकित संत वाणी की संख्या नीचे दी जाती है :—

१. रामानन्द — १ पद (राग बंसत)
२. कबीर — २२५ पद, २४४ श्लोक, १ बावनी (४५ पद), १ थिती (१६ पद) १ वार (८ पद) (१८ रागों में)† कुलवाणी=५३८[1]
३. सेन — १ पद (राग धनासरी)
४. रैदास — ४० पद[2] (१६ रागों में)†
५. पीपा — १ पद (राग धनासरी)

---

†(रागों का विवरण इसी अध्याय में सन्त वाणी की तालिका में देखें)

१. (अ) जोधसिंह : भगत वाणी सटीक, २१९ शब्द, २४५ श्लोक, १ बावन अखरी, भूमिका पृ० (इ) १ पंद्रह तिथि तथा संतवार।

(आ) ज्ञानी प्रताप सिंह : भगत दर्शन, कुल ५४१। वचनारम्भ, पृ० ३।

(इ) परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत-परम्परा, लगभग २२५ पद तथा २५० साखियां, पृ० १७८।

(ई) रामकुमार वर्मा : संत कबीर, २२८ पद तथा २४३ श्लोक, पृ० ८ के बाद (रागु एवं सलोकु निर्देश)।

(उ) वाणी ब्योरा : चरण सिंह, २२३ पद, १ बावन अखरी (४५ पद), १ थिती (१६ पद), (चक्र ४१, पृ० १२१), १ सतवार (८ पद) तथा २४६ श्लोक=कुल ५४१।

२. (अ) संत रविदास और उनका काव्य : स्वामी रामानन्द शास्त्री, वीरेन्द्र पांडेय, लगभग ४० शब्द, पृ० ६०।

(आ) परशुराम चतुर्वेदी : संत काव्य, पृ० २११, लगभग ४० शब्द।

(इ) 'गुरमति प्रकाश' : साहिबसिंह, पृ० ५४, ४१ शब्द।

(ई) वाणी ब्योरा : चरणसिंह (चक्र ४०, पृ० १२०), ४१ शब्द।

६. धन्ना	३ पद[1] (१ आसाराग, १ राग धनासरी)
७. सधना	१ पद (राग बिलावलु)
८. नामदेव	६१ पद[2] (१८ रागों में)†
६. त्रिलोचन	४ पद (१ राग धनासरी, १ स्री राग, २ गूजरी)
१०. बेणी	३ पद (१ स्री राग, १ रामकली, १ प्रभाती)
११. जयदेव	२ पद (१ राग गूजरी, १ मारू)
१२. सूरदास	१ तुक[3] (राग सारंग)
१३ परमानंद	१ पद (राग सारंग)
१४. शेख फरीद	४ पद (२ राग आसा, २ राग सूही) ११२ श्लोक[4]
१५ भीखन	२ पद (राग सोरठि)
	कुल योग—७७५[5]

भाई जोधसिंह ने अपनी गिनती का कोई विवरण प्रस्तुत नही किया, अतः कह नही सकते, उन्होंने किन पदों को गिना है और किन का बहिष्कार किया है। ज्ञानी प्रताप सिंह ने यह संख्या वाणी व्योरा से ली है; उनका अपना कोई मत नहीं, पराश्रित ज्ञान कितना भ्रमोत्पादक होता है, आगे देखेंगे ही। चतुर्वेदी जी ने लगभग कह कर अपनी साहित्यिकता का परिचय दिया है। मैकालिफ ने 'ग्रंथ' का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके भी कबीर एवं अन्य बहुत से संतों के पदों की

---

१ (अ) जोधसिंह : भगत वाणी सटीक (वचनारम्भ) पृ० (इ), ४ शब्द।
(आ) सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० १०६-११०, ४ शब्द।
(इ) परशुराम चतुर्वेदी : संत काव्य, पृ० २२८, ४ शब्द।
(ई) वाणी व्योरा : चरणसिंह : (चक्र ६ पृ० ६७), ४ शब्द।
(उ) साहिबसिंह : गुरमत प्रकाश, पृ० ६८, ३ शब्द।

२. (अ) जोधसिंह : भगत वाणी सटीक (वचनारम्भ), पृ० (इ) ६० शब्द।
(आ) परशुराम चतुर्वेदी : उ० प०. पृ० ११८, ६२ शब्द।
(इ) वाणी व्योरा : चरणसिंह (चक्र ४०, पृ० १२०), ६० शब्द।

३. (अ) जोधसिंह : भगत वाणी सटीक व० पृ० (इ), १ शब्द, १ तुक।
(आ) सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० ४१६, २ शब्द।
(इ) वाणी व्योरा : चरणसिंह (चक्र २८, पृ० ११०), २ शब्द।
(ई) साहिबसिंह : गुरमत प्रकाश पृ० १०१, केवल १ तुक।

४. (अ) सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० ३६३-४१४, ११३ श्लोक।
(आ) जोधसिंह : भगत वाणी सटीक, व० पृ० (इ), १३० श्लोक।
(इ) परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की परम्परा, पृ० ३७४, लगभग १३० श्लोक।
(ई) वाणी व्योरा : चरणसिंह (चक्र ३४, पृ० ११२), ११२ श्लोक।
(उ) शेख फरीद की वाणी सटीक : साहिबसिंह, पृ० ४३, ११२ श्लोक।

५. वाणी व्योरा : चरणसिंह : (चक्र ४०, पृ० १२०), ७६८।
इसमें २४६ कबीर के तथा १३० फरीद के श्लोक गिने गए हैं जो कि क्रमशः संख्या में ५ तथा १८ अधिक हैं। प्रमाण इसी अध्याय में अन्यत्र देखें।

संख्या देने का प्रयत्न नहीं किया। संत वाणी के विशेष अन्वेषणात्मक अध्येता प्रिंसिपल साहिब सिंह ने भी कबीर (श्लोक सटीक) में या अन्यत्र कहीं कोई संख्या नहीं दी। 'ग्रंथ' की सभी उलझनों को सुलझानेवाले गुरूद्वारा प्रबन्धक कमेटी द्वारा प्रकाशित 'शब्दारथ' में पदों की संख्या तो दी ही नहीं,[1] साथ ही कबीर के श्लोकों में आए हुए गुरुओं के श्लोक नं० २०६, २१०, २११, २१४, २२० तथा २२१ में से २१०, २११ तथा २१४ को तो गुरू अर्जुन का बता दिया है। लेकिन २०६ (म० ५), २२० (म० ३) तथा २२१ (म० ५) पर कोई टिप्पणी नहीं दी।

हिन्दी साहित्य में इस दिशा में प्रयत्नपूर्वक प्रामाणिक कार्य करनेवाले डा० रामकुमार वर्मा ने 'संत कबीर' में काव्य के पाठ्य-भाग एवं संख्या की प्रामाणिकता के विषय में लिखा है, 'अतः हम श्री गुरू ग्रंथ साहिब में आए हुए कबीर के कविता-पाठ को अधिक से अधिक प्रामाणिक मानते हैं। ... मैंने 'संत कबीर' का सम्पादन श्री गुरू ग्रंथ साहिब के पाठ के अनुसार ही बड़ी सावधानी से किया है। इसमें कबीर का काव्य पाठ्य-भाग और संख्या की दृष्टि से ठीक-ठीक प्रस्तुत किया है। अतः कबीर की काव्य-सम्बन्धी सभी सामग्री को देखते हुए 'संत कबीर' के पाठ को अधिक से अधिक प्रामाणिक समझना चाहिए।'[2]

ऐसा प्रतीत होता है, कि विज्ञ लेखक ने 'ग्रंथ' में सूची का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है, इसीलिए उनकी सूक्ष्मान्वेषिणी दृष्टि निम्न स्थलों से चूक गई है।

(१) राग रामकली में कबीर के ११वें पद (पृ० १४७) में उन्होंने कबीर के ११वें तथा १२वें दोनों पदों को मिला दिया है। इस प्रकार कुल पदों की संख्या १३ के स्थान पर १२ कर दी है।

(२) राग भैरउ में कबीर का जो १२वाँ पद (पृ० २१४) उद्धृत किया है, वह कबीर का न होकर गुरू अर्जुन का है। 'ग्रंथ' में स्पष्ट ही उस पर म० ५ लिखा है।[3] गुरू अर्जुन ने कबीर के ११वें पद की व्याख्या में ही उसे निर्दिष्ट करके इसका उच्चारण किया है। उसमें कबीर का नाम भी आता है, सम्भवतः इस भ्रम से वर्मा जी ने उसे कबीर का पद मान लिया है। कबीर के प्रामाणिक पाठ पर कार्य करनेवाले श्री पारसनाथ तिवारी ने भी इसे कबीर की रचना नही माना है।[4]

(३) कबीर के श्लोकों में से श्लोक नं० २२० तृतीय गुरू का तथा श्लोक नं० २०६, २१०, २११, २१४ तथा २२१ पंचम गुरू अर्जुन के है।

'ग्रंथ' में स्पष्ट ही 'म० ३' व 'म० ५' लिखा है, लेकिन वर्मा जी इन्हें कबीर का ही समझ बैठे।

---

१. 'शब्दारथ', पृ० १३७५।

२. संत कबीर (प्रस्तावना)—उन्होंने कबीर के २२४ पद तथा २४३ श्लोक गिने है। (रामु एवं सलोकु का निर्देश), पृ० २७।

३. 'ग्रंथ', पृ० ११६०।

४. श्री पारसनाथ तिवारी का लेखक के नाम पत्र।

(४) निम्न पाँच श्लोक वर्मा जी की दृष्टि मे न आ सके :—

(क) रागु गुजरी वार 'म० ३' मे पद ३ के बाद पृ० ५०६ पर सलोकु 'कबीर मुकति दुआरा' आदि (दो श्लोक)।

(ख) राग बिहागडा वार म० ३ में पद १६ के बाद पृ० ५५५ पर सलोकु 'कबीर मरता मरता' एक श्लोक।

(ग) राग रामकली वार म० ३ में प्रथम पउड़ी के बाद पृ० ६४७ पर सलोकु 'कबीर महि दी करि कै ······' एक श्लोक। तथा

(घ) राग रामकली वार म० ३ तृतीय पउड़ी के बाद पृ० ६४८ पर सलोकु 'कबीर कसउटी राम की ······' एक श्लोक।

इस प्रकार ये पाँच श्लोक भी वर्मा जी की प्रामाणिक दृष्टि से बचे रहे।

(५) बावन अखरी, थिंती तथा वार को एक-एक पद भी गिना जा सकता है और अलग-अलग भी।

'ग्रंथ' के पदों आदि की संख्या के विषय में स० चरण सिंह की (अथक परिश्रम से प्रस्तुत) 'वाणी व्योरा' पुस्तक प्रामाणिक मानी गई है और सम्भवतः एक युग तक मानी भी जाती रहेगी। वाणी की गणना का उनका श्रम स्तुत्य अवश्य है; तो भी उनकी गणना में निम्न अभाव खटकते ही हैं :—

(१) राग गूजरी में कबीर के दो श्लोकों के स्थान पर एक ही गिना है।[१]

(२) राग रामकली में कबीर के १३ पदों को १२ गिना है।[२]

(३) राग मारु में कबीर के किसी एक पद को गिनना भूल गए, अतः पद संख्या ११ के स्थान पर उन्होंने गिनती १० ही की है।[३]

(४) राग भैरउ में कबीर के पदों में से १२वाँ पद (जो कि गुरू अर्जुन का है) कबीर का ही गिन लिया है, इस प्रकार कबीर के १६ के स्थान पर २० पद गिने हैं।[४]

(५) राग बसंत में कबीर के अंतिम पद को न गिन कर उनकी संख्या ८ के स्थान पर ७ ही की है।[५]

(६) कबीर के २४३ श्लोकों में 'म० ३' का १, 'म० ५' के ४, नामदेव का १ तथा रविदास का १ गिन कर कबीर के श्लोकों की सं० २३६ दी है।[६] 'जबकि' 'म० ५' के ५ श्लोक है तथा 'म० ३' का एक। इस प्रकार यहाँ कबीर के श्लोकों की संख्या २३७ है[७] नामदेव तथा रविदास के विषय में लेखक संदिग्ध प्रतीत होता है,

---

१. चक्र ७, पृ० ६८ : २. चक्र २०, पृ० १०५।

३. चक्र २३, पृ० १०७। ४. चक्र २६, पृ० १०६ :

५. वाणी व्योरा चक्र २७, पृ० ११०। ६. चक्र ३४, पृ० ११४।

७. श्लोक न० २०६, २१०, २११, २१४ तथा २२१ म० ५ के तथा २२० म० ३ का। क्योंकि इन पर भी स्पष्ट ही ये चिह्न अंकित हैं।

सम्भवतः इसीलिए आगे गणना में अपना यह विचार बदल दिया और उनके नाम पर किसी श्लोक की गणना नही की, अपितु इसी भ्रम मे यहाँ गुरुओं के नाम पर गिने हुए श्लोकों को भी कबीर के नाम पर गिनता गया है।[1]

(७) रागो से अगली वाणी मे कबीर के श्लोकों की सख्या २३६ दी है, तथा १ श्लोक नामदेव और १ श्लोक रविदास के नाम से गिना है।[2] परन्तु अन्यत्र कबीर के कुल पदों का योग करते हुए उनके श्लोको की सख्या २४६ दी है।[3] अत में पुनः सम्पूर्ण वाणी का योग करते हुए 'कबीर के सलोक' शीर्षक के अन्तर्गत आए हुए श्लोकों की संख्या २४३ दी है।[4] इस प्रकार कबीर के श्लोको की संख्या मे ही वे स्वतः उलझे रह गए।

उन्होने २६२ शब्द (४५ बावन अखरी, १६ थिंती तथा ८ वारों के मिला कर) तथा २४६ श्लोक मान कर योग ५४१ कर दिया है। न जाने २२३ शब्द गिनने में कौन-कौन से शब्द जोड़े तथा २४६ श्लोक गिनने मे और कहाँ से ले आए।

कबीर के श्लोको में संख्या (२१२, २१३)[5] क्रमशः नामदेव द्वारा त्रिलोचन का प्रश्नोत्तर उपस्थित करते है, किसी सबल प्रमाण के बिना कबीर की वाणी में से निकाल कर उन्हें उन दोनों की कृति मे नहीं माना जा सकता। यही बात श्लोक न० २४१ तथा २४२[6] के विषय में है उनके रचयिता भी क्रमश. नामदेव तथ रविदास किसी निश्चित प्रमाण के बिना नही माने जा सकते—ध्वनि अवश्य उनकी मिलती है।

कबीर के श्लोक न० २६,[7] ३३,[8] ५८,[9] ५६,[10] तथा ६५[11] की अन्यत्र पुनरावृत्ति हुई है तथा श्लोक न० २३८[12] भी कुछ शब्दों व मात्राओं के परिवर्तन के साथ अन्यत्र

१. चक्र ४०, पृ० १२० । २. चक्र ३४, पृ० ११४ ।
३. चक्र ४१, पृ० १२१ । ४. चक्र ४२, पृ० १२६ ।

५. नाम माइआ मोहिआ कहै तिलोचनु मीत ॥
काहे छीपहु छाइलै राम न लावहु चीतु ॥२१२॥
नामा कहै तिलोचना मुखते रामु सम्हालि ॥
हाथ पाउ करि कामु सभु चीतु निरंजन नालि ॥२१३॥

६. ढूंढत डोलहि अंध गति अरु चीनत नाही संत ॥
कहि नामा किउ पाइऐ बिनु भगतहु भगवंतु ॥२४१॥
हरि सा हीरा छाडि के करहि आन की आस ॥
ते नर दोजक जाहिगे सति भाखै रविदास ॥२४२॥

७. 'ग्रंथ वार बिहागड़ा' 'म० ३' पद १६ के बाद सलोक पृ० ५५५ ।
८. 'ग्रंथ वार रामकली' 'म० ३' पउड़ी ३ के बाद सलोक (२) पृ० ९४८ ।
९,१०. 'ग्रंथ वार गूजरी' 'म० ३' पउड़ी ३ के बाद सलोक (२) पृ० ५०६ ।
११. 'ग्रंथ वार रामकली' 'म० ३' पउडी एक के बाद सलोक पृ० ९४७ ।
१२. 'ग्रंथ वार रामकली' घरु २ वाणी कबीर जी अन्तिम पद पृ० ९७२ ।

प्राप्त हैं। 'ग्रंथ' भर के केवल एक स्थान पृ० ३२६ पर राग गउड़ी पद १४ का शीर्षक इस प्रकार लिखा मिलता है 'गउड़ी कबीर जी की नालि रलाई लिखिआ महला ५' पद को ध्यानपूर्वक पढ़ने से ज्ञात होता है, कि तीसरी तुक पर यह कह कर :—

कहु कबीर परगट भई खेड ॥ लेले कउचूधै नित भेड ॥३॥

अपनी बात पूरी कर दी और गुरू ने यह कह कर :—

राम रमत मति परगटि आई ॥ कहु कबीर गुरि सोझी पाई ॥४॥१॥१४॥

'मति परगटि' का साधन स्पष्ट कर दिया है कबीर से सम्बन्धित होने के कारण उसका नाम ले दिया है। और बहुत सूक्ष्म दृष्टि से यदि देखा जाए, तो पता लगता है, कि यहाँ अंकित ३५ पदों में संख्या पहले तुकों की संख्या पुनः पद संख्या से चलती है, यथा तेरहवें पद में चार तुक हैं, तो उसकी संख्या है '॥४॥१३॥' और पंद्रहवें में ५ तुकें है, तो उसकी संख्या है '॥५॥१५॥' लेकिन केवल इसी पद में '॥४॥१॥१४॥' है। यह बीच का '॥१॥' गुरू की ही एक तुक का द्योतक है और वह भी अंतिम तुक का— जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं।

डाक्टर वर्मा और भाई चरण सिंह इन सूक्ष्मताओं से तो बहुत दूर रह गए। इतने पर भी यदि 'हिन्दी साहित्य' वर्मा जी की गणना को प्रामाणिक मानता रहे तथा 'पंजाबी साहित्य' एव 'आदि ग्रंथ' के विद्यार्थी 'वाणी ब्योरा' का(यह कह कर कि इसमें बहुत परिश्रम किया गया है) अंधाधुन्ध अनुसरण करते रहे, मुझे बुरा नहीं मानना चाहिए।

राग भैरउ में नामदेव के ११ पदों के बाद एक पद रविदास का है, पुनः अंतिम एक पद नामदेव का ही है। वाणी ब्योरा के लेखक की यह भूल[1] अन्य पराश्रितों की गणना में भी उसी प्रकार चली आई है। तभी सम्भवतः हिन्दी के दोनों लेखकों ने भी 'लगभग ४० पद' लिख कर अपने संदेह का स्थान बना रहने दिया है। इस प्रकार राग भैरउ में नामदेव के १२ पदों के स्थान पर ११ तथा रविदास के १ पद के स्थान पर २ गिने हैं तथा दोनों की वास्तविक संख्या में एक का अन्तर आ गया है। इन्होंने रैदास के ४१ पद गिन कर नामदेव के ६० ही गिने हैं, जबकि रैदास के ४० तथा नामदेव के ६१ पद हैं।

धन्ना के पदों की संख्या ४ बतानेवालों ने सम्भवतः स्वतः 'ग्रंथ' को देखे बिना ही वाणी-ब्योरा को आधार बना कर एक दूसरे से ऐसा ही उद्धृत कर लिया है। 'ग्रंथ' को देखने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि, राग आसा में धन्ने के नाम पर मिलनेवाले तीन पदों मे से दूसरे पद पर स्पष्ट ही 'महला ५' अंकित है।[2] मैकालिफ ने बिना कोई कारण दिए ही निःसन्देह इसे धन्ने का ही पद कहा है।[3] उसे पढ़ने से यह

१. चक्र २६, पृ० १०९।
२. 'ग्रंथ' पृ० ४८७।
३. Macauliffe : S. R- Vol. VI, p. 109, F. N.

बात और भी स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वह पहले पद की व्याख्या प्रस्तुत करता है।[२]

भाई जोधसिंह ने राग सारंग में परमानन्द के पद के बाद प्राप्त एक तुक तथा अगले सम्पूर्ण पद को सूरदास का ही माना है।[३] मैकालिफ ने दो पूर्ण पदों का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए यहाँ प्राप्त एक तुक 'छाड़ि मन हरि विमुखन को संगु ।।' वाले पद के विषय में लिखा है कि वह साधारण 'ग्रंथ' में अप्राप्य है, क्योंकि कर्तारपुर-वाली बीड़ में इस तुक को छोड़ कर शेष पद को मिटाया गया है, लेकिन बन्नोवाली बीड़ में–तथा कई अन्य बीड़ों मे यह पद प्राप्त है। इसके कारण से मैकालिफ ने अनभिज्ञता प्रकट की है।[४]

In the Granth Sahib this is headed Mahala V, under which the compositions of Guru Arjun are included, but there appears no doubt that it was Dhanna's composition.'.

२. विस्तृत प्रमाण के लिए देखें गुरूमत प्रकाश : माहिबसिंह (पृ० ६७-६६)

३. (क) भगत वाणी सटीक 'भूमिका' : जोध सिंह ।

(ख) 'ग्रंथ' पृ० १२५३ ।

छाड़ि मन हरि बिमुखन को संगु ।।
सारंग महला ५ सूरदास ।
१ ओं सतिगरू प्रसादि ।। ।। हरि के सगि बसे हरिलोक ।।
सूरदास मनु प्रभि हथि लीनो दीनो इहु परलोक ।।२।।१।।

४. In the 'Granth Sahib' of Bhai Banno, the following hymn of Sur Das in the same measure is also found. The ordinary Granth Sahib only contains the first line. The hymn was originally copied into the Granth Sahib of Kartarpur, but a pen was subsequently drawn through it and sulphate of arsenic rubbed over it for more complete erasure. The reason for its erasure has not been explained. The subject of the hymn is the old one. Evil communications currupt good manners—as stated by the old Greek poet Menander. '0 man, abandon the society of those who turn away from God;......What availeth it to bathe an elephant in the river ? He will soil his body as before. (This verse is omitted in some recensions of Bhai Banno's granth Sahib—S.R. Macauliffe, Vol. VI, P. 419-420.)

वाणी व्योरा के लेखक चरण सिंह ने राग सारंग की वाणी का विवरण देते हुए सूरदास के दो दुपदे लिए है ।[1] पुनः भक्त वाणी की कुल गणना करते हुए सूरदास का एक ही दुपदा लिखा है ।[2] इससे स्पष्ट है कि वे इस समस्या को न सुलझा सके ।

इस विषय में प्रिंसिपल साहिब सिंह का मत विशेष महत्त्व रखता है । मैकालिफ का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा है, कि कर्तारपुरवाली बीड़ में केवल एक तुक ही अंकित है । हड़ताल से कहीं नही मिटाया हुआ ।[3] मैकालिफ ने स्वतः नहीं देखा, अतः स्वतः प्रमाण अधिक सबल है । कुछ बीड़ों में यह पूरा पद प्राप्त होता है ।

इसको ध्यान से पढ़ने से प्रतीत होता है, कि इसमें सूरदास ने यह विचार प्रकट किया है कि जिस प्रकार काले कम्बल का कालापन कितना ही धोने पर भी नहीं मिट सकता---उसी प्रकार अत्यधिक बेमुख---घनिष्ठ सांसारिक को भी कभी भगवत्-उन्मुख नही किया जा सकता । यह विचार गुरू की शक्ति एवं महानता में अविश्वास प्रकट करता है, तथा गुरू विचारधारा का विरोधी है ।[4] फरीद ने तो इतना ही कहा था, कि वृद्धावस्था मे भगवत्-उन्मुख होना कठिन है । तो तृतीय गुरू को उसकी आलोचना करने की आवश्यकता अनुभव हुई थी, कि कठिन कुछ नहीं; कभी नही; केवल उसकी कृपा-दृष्टि की आवश्यकता है ।[5]

ऐसी अवस्था में गुरू विचारधारा के विरोधी स्वर को गुरू क्यों कर उसमें स्थान देने लगे ? हमारा विचार है, कि सगुण-साकार कृष्ण भक्त सूरदास के इस पद में निर्गुण-उपासना न मिलने के कारण इसे अंकित नहीं किया ।[6] पद को ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि एक तुक लिखाने के बाद गुरू को यह ध्यान आया, अतः उन्होंने अवशिष्ट पद को उद्धृत न कर अगले पद में उसकी आलोचना प्रस्तुत की है । सूरदास के पद की व्याख्या एवं आलोचना होने के कारण उसका नाम लेकर अपने विचार को प्रकट किया है । यह नियम 'ग्रंथ' में समान्यतः प्राप्त है । इसी कारण पद के अंत मे 'नानक' के स्थान पर सूरदास नाम प्राप्त है । कबीर के श्लोकों में तथा धन्ने के पदों के बीच में उच्चरित गुरू अर्जुन के पद में भी यही बात पाई जाती है । इससे स्पष्ट है, कि 'ग्रंथ' में सूरदास की केवल एक ही तुक अंकित है ।

शेख फरीद के शब्द तो चार ही है, लेकिन श्लोकों की अंतिम गिनती देख कर जिन्होंने लगभग १३० या ११३ संख्या दे दी है, उनका भी कोई दोष नहीं, क्योंकि श्लोकों की गिनती का कार्य उनके स्थान पर गुरू स्वतः ही जो कर गए थे । मैकालिफ ने १३० में से १७ श्लोक निम्न गुरुओं के रचित लिखे है—

प्रथम गुरू (म० १) श्लोक संख्या ११३, १२० =२

---

१. चक्र २८ पृ० ११० । २. चक्र ४१ पृ० १२१ ।
३. गुरुमत प्रकाश : साहिब सिंह पृ० ६१ ।
४, ५. विस्तृत विवरण के लिए देखें अध्याय पंचम, सूरदास ।
६. देखें श्लोक संख्या १२ फरीद एवं १३ 'म० ३' 'ग्रंथ' पृ० १३७८ ।

तृतीय गुरू	१३, ३१, ५२, १०४, १२२, १२३, १२४	=७
चतुर्थ गुरू	१०५, १२१	=२
पंचम गुरू	७५, ८२, १०८, १०६, ११०, १११	=६
	योग	=१७

इस प्रकार उनकी गणना के अनुसार फरीद के श्लोको की संख्या १३०—१७=११३ होती है। हमे इस पर भी असंतोष न होता, यदि इनको अपनाने में थोड़ा-सा ध्यान दिया होता।

श्लोक नं० १०५ पर स्पष्ट ही 'म० ५' लिखा है[1] लेकिन मैकालिफ बिना किसी प्रमाण के कहते है, कि यह 'म० ४' का है।[2]

१—श्लोक नं० ८३, जिस पर स्पष्ट ही 'म० ५' अंकित है, उसे भी गुरू अर्जुन का न मान कर फरीद का ही मान लिया है।[3]

२—श्लोक नं० ३१ को उन्होंने गुरू अमरदास द्वारा रचित बताया है और न० ३२ को फरीद का ही।[4] जबकि ३१ तो फरीद का ही है और ३२ भी गुरू अमरदास का न होकर गुरू नानक का—क्योंकि नानक के नाम पर वह ग्रंथ मे पहले भी आ चुका है।[5]

३—श्लोक नं० १२४ जो कि गुरू नानक की रचना है, उसे तृतीय गुरू अमरदास के नाम से सम्बद्ध कर दिया है।[6] यह रचना भी ग्रंथ में पहले आ चुकी है।

मैकालिफ की बात छोड़ें—अंग्रेज लेखक था, सलाहकार भी उचित पथ-प्रदर्शन न कर सके होंगे—भटक गया। लेकिन वाणी व्योरा का विज्ञ लेखक भी न जाने क्यों इतनी बड़ी भूलें करता रहा और किसी ने सुधारने तक का प्रयत्न न किया।

फरीद के श्लोकों का विवरण देते हुए उसने ३ श्लोक तृतीय गुरू के तथा ५ पंचम गुरू कें अंकित किए है। इस प्रकार फरीद के १२२ श्लोक बताए है।[7] लेकिन जब भक्तों की कुल वाणी की गणना की—तो पुन: फरीद के १३० श्लोक ही लिख दिए है।[8]

साहिब सिंह ने फरीद के श्लोकों की संख्या इस प्रकार दी है। उनमें :—

गुरू नानक के न० ३२, ११३, १२० तथा १२४=४
गुरू अमरदास के—१३, ५२, १०४, १२२ तथा १२३=५
गुरू रामदास के— १२१=१

१. 'ग्रंथ' पृ० १३८३। २. सि० रि० मैकालिफ भाग ६ पृ० ४१०।
३. वही : भाग ६ पृ० ४०६।
४. वही : भाग ६ पृ० ३८८, ३८६।
५. वार मारु 'म० ३' में छठी पौडी में 'म० १' 'ग्रंथ' पृ० १०८८।
६. सि० रि० मैकालिफ भाग ६ पृ० ४१३।
७. चक्र ३४; पृ० ११४। ८. चक्र ४२, पृ १२६।

गुरू अर्जुन के—७५, ८२, ८३, १०५, १०८, १०६, ११० तथा १११ = ८
कुल = १८

अतः फरीद के—१३०-१८ = ११२[१]

मैकालिफ की ही भाँति उन्होंने भी अपने इस विचार की पुष्टि में कोई प्रमाण नही उद्धृत किया—सम्भवतः विषय का अंतरंग ज्ञान होने के कारण वे इसकी आवश्यता ही न समझते हों। यह अभाव खटकता अवश्य है, यद्यपि श्लोक संख्या ११२ में कोई अंतर नही आता।

इनमें श्लोक न० १३, ५२ तथा १०४ से पूर्व 'म० ३' तथा ७५, ८२, ८३, १०५, १०८, १०६, ११० तथा १११ से पूर्व 'म० ५' स्पष्ट ही अंकित मिलता है। शेष श्लोक न० ३२,[१] १३२,[२] १२०,[३] १२१,[४] १२२,[५] १२३,[६] तथा १२४[७] 'ग्रंथ' मे पहले आ चुके हैं, अतः तदनुकूल ३२, ११३, १२० तथा १२४ प्रथम गुरू नानक के हैं, १२१ गुरू रामदास का तथा १२२, १२३ गुरू अमरदास के नाम पर अंकित हैं। इस प्रकार कुल संत-वाणी की संख्या ७७५ है।

अब तक प्राप्त प्रमाणों के आधार पर 'ग्रथ' में वर्णित 'सत-वाणी' का यह उपयुक्ततम आकलन है, ऐसा कहें तो अनुपयुक्त नही। 'मानव अपूर्ण है' अतः संशोधन का स्थान तो सदैव बना ही रहता है।

समय, स्थान एवं तत्कालीन परिस्थितियों का ठीक-ठीक ज्ञान होने पर ही हम किसी वस्तु का उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। अतः सम्पूर्ण संत-वाणी की 'ग्रंथ' में स्थिति हम यहाँ उपस्थित करते है, जो कि उसकी विचारधारा को समझने एवं उचित मूल्यांकन में सहायक सिद्ध होगी :—

१- स्री राग—

संत का नाम	पद संख्या	'ग्रंथ' में पृष्ठ संख्या
कबीर	१	६१
त्रिलोचन	१	६२
कबीर	१	६२
बेणी	१	६३
रविदास	१	६३

संत-वाणी = ५ पद राग की कुल वाणी = २११

१. शेख फरीद की वाणी सटीक : साहिब सिंह, पृ० ४३।

१. 'ग्रंथ' वार मारु 'म० ३' में सलोक 'म० १' पृ० १०८८।

२. 'ग्रंथ' वार स्री राग 'म० ४' में सलोक 'म० १' पृ० ८३।

३. 'ग्रंथ' सलोक वारा त वधीक 'म० १' सलोक न० १८, पृ० १४११।

४. 'ग्रंथ' कानड़े की वार 'म० ४' पृ० १३१८।

५. 'ग्रंथ' कर वडहंस 'म० ४' में सलोक 'म० १' पृ० ६१।

६. " वही।

७. 'ग्रंथ' वार श्री राग 'म० ४' में सलोक 'म० १' पृ० ६१।

२- राग माझ*— कुल वाणी = १६४

३- राग गउड़ी—

कबीर	७४	३२३-३४०
कबीर	१बावन अखरी (४५)	३४०-३४३
कबीर	१थिती (१६)	३४३- ४४
कबीर	१ सतवार (८)	३४४- ४५
नामदेव	१	३४५
रविदास	५	३४५- ४६

संत-वाणी = १४६, कुल वाणी = ८१४

४- राग गूजरी—

कबीर	२ श्लोक	५०६[1]
कबीर	२	५२४
नामदेव	२	५२५
रविदास	१	५२५
त्रिलोचन	२	५२५-२६
जैदेव	१	५२६

संत-वाणी = १० (८ पद, २ श्लोक) कुल वाणी = १६४

५- राग आसा—

कबीर	३७	४७५-८४
नामदेव	५	४८५-८६
रविदास	६	४८६-८७
धन्ना	१	४८७
गुरु अर्जुन (म० ५)	१	४८७[2]
धन्ना	१	४८८
शेख फरीद	२	४८८

संत-वाणी = ५२, कुल वाणी = ५१०

६- देव गंधारी*— कुल वाणी = ४७

७- राग बिहागड़ाः—

कबीर	१ श्लोक	५५५[3]

कुल वाणी = ८१

*. इनमें संत वाणी नहीं है।

१. देखें यही अध्याय 'कबीर की वाणी'।

२. विस्तृत विवरण के लिए देखें यही अध्याय 'कबीर की वाणी'

३. वही।

८- राग बड़हंस—		कुल वाणी = १२०
९- राग सोरठी—		
कबीर	११	६५४-५६
नामदेव	३	६५६-५७
रविदास	७	६५७-५९
भीखन	२	६५९
सत-वाणी = २३,		कुल वाणी = २५९
१०- राग धनासरी—		
कबीर	५	६९१-९२
नामदेव	५	६९२-९४
रविदास	३	६९४-९५[1]
त्रिलोचन	१	६९५
सेन	१ (आरती)	६९५
पीपा	१	६९५
धन्ना	१ (आरती)	६९५
संत-वाणी = १७		कुल वाणी = ११९
११- राग जैतसरी—		
रविदास	१	७१०
		कुल वाणी = ९६
१२- राग टोड़ी—		
नामदेव	३	७१८
		कुल वाणी = ३४
१३- राग बैराड़ी*—		कुल वाणी = ७
१४- राग तिलंग—		
कबीर	१	७२७
नामदेव	२	७२७
संत-वाणी = ३		कुल वाणी = ३०
१५- राग सूही—		
कबीर	५	७९२-९३
रविदास	३	७९३-९४
शेख फरीद	२	७९४
संत-वाणी = १०		कुल वाणी = २०६

---

१. तीसरा पद आरती है।

१६- राग बिलावलु—

कबीर	१२	८५५-५७
नामदेव	१	८५७
रविदास	१	८५८
सधना	१	८५८
संत-वाणी=१६		कुल वाणी=२५७

१७- राग गोंड—

कबीर	११	८७०-८७३
नामदेव	७	८७३-७४
रविदास	२	८७५
संत-वाणी=२०		कुल वाणी=४९

१८- राग रामकली—

कबीर	१ श्लोक	९४७[1]
कबीर	१ श्लोक	९४८[2]
कबीर	१०	९६८-७२
कबीर	३ (अलग संख्या)	९७२
नामदेव	४	९७२-७३
रविदास	१	९७३
बेणी	१	९७४
संत-वाणी=२१ (१९ पद, २ श्लोक)		कुल वाणी=४७४

१९. माला गउड़ा—

नामदेव	३	९८८
		कुल वाणी=१७

२०. राग मारु—

कबीर	९	११०२-५
कबीर	२ श्लोक	११०५
नामदेव	१	११०५
कबीर	१	११०५
जैदेव	१	११०६
कबीर	१	११०६
रविदास	२	११०६
संत-वाणी=१७ (१५ पद, २ श्लोक)		कुल वाणी=३२०

१. देखें यही अध्याय कबीर की वाणी।

२. वही।

२१. राग तुखारी*—		कुल वाणी = २७
२२. राग केदारा—		
कबीर	६	११२३
रविदास	१	११२४
संत-वाणी = ७		कुल वाणी = २५
२३. राग भैरउ—		
कबीर	११	११५७-११६०
गुरू अर्जुन (म० ५)	१	११६०[1]
कबीर	८	११६०-११६२
नामदेव	११	११६३-६६
रविदास	१	११६७
नामदेव	१	११६७
संत-वाणी = ३२		कुल वाणी = १३२
२४. राग बसंत—		
कबीर	७	११६३-६५
रामानंद	१	११६५
नामदेव	३	११६५-६६
रविदास	१	११६६
कबीर	१	११६६
संत-वाणी = १३		कुल वाणी = ८६
२५. राग सारंग—		
कबीर	२	१२५१-५२
नामदेव	३	१२५२-५३
परमानंद	१	१२५२
सूरदास केवल १ तुक		१२५२
गुरू अर्जुन	१	१२५३[2]
कबीर	१	१२५३
संत-वाणी = ८,		कुल वाणी = २८६
२६. राग मलार—		
नामदेव	२	१२६२
रविदास	३	१२६३
संत-वाणी = ५,		कुल वाणी = १६१

१. देखें यही अध्याय कबीर की वाणी।
२. देखे यही अध्याय सूरदास की वाणी।

२७. राग कानड़ा—

नामदेव	१	१११८
		कुल वाणी=११५

२८. राग कलिआनः— कुल वाणी=२३

२९. राग प्रभाती—

कबीर	५	१३४९-५०[1]
नामदेव	३	१३५०-५१
बेणी	१	१३५१
संत-वाणी=९		कुल वाणी=६७

३०. राग जैजैवंतीः— कुल वाणी=४

रागों में कुल संत-वाणी=४२६ रागों में कुल वाणी=४९८४

श्लोक कबीर	=२३७[2]	१३६४-७७
श्लोफ फरीद	=११२[3]	१३७७-७५

'ग्रंथ 'में कुल संत-वाणी=७७५ 'ग्रंथ' में कुल वाणी=५८९४[4]

'ग्रंथ' में वर्णित वाणी की दृष्टि से संतों में शीर्षस्थान कबीर का है, तत्पश्चात् नामदेव तथा पुनः रैदास को स्थान मिला है। सम्भवतः वाणी अंकित करने में भी इस क्रम को निर्धारित करने का यही कारण हो। इस क्रम का कहीं भी उल्लंघन नहीं हुआ। चाहे, एक ही राग में किन्हीं दो संतों की वाणी दो बार ही क्यों न आई हो, तो भी इसी क्रम का ध्यान रक्खा गया है। फरीद की वाणी जहाँ कहीं भी अंकित है, सबसे पीछे है, पर महत्त्व की दृष्टि से इनके बाद उन्हीं का स्थाम है। शेष संतों के पद प्रायः इन्हीं के स्वर में स्वर मिला कर उस राग में वर्णित प्रधान विचार को और अधिक व्यापक बनाने में अपना सहयोग देते हैं, लेकिन उनकी संख्या कम होते हुए भी—अपनी कृति के माध्यम से उनका व्यक्तित्त्व स्पष्ट झलक रहा है, इस तथ्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। अतः रागों में वर्णित प्रधान विचार के अनुकूल ही संतों के शब्दों का चयन कर उन्हें वहीं संगृहीत किया

१. कबीर का पांचवां पद आरती है।

२. देखें यही अध्याय कबीर की वाणी।

३. वही : फरीद की वाणी।

४. रागों की कुल वाणी तथा 'ग्रंथ' की कुल वाणी का आधार 'वाणी ब्योरा' चक्र ४२, पृ० १२६ है, यदि इसे लगभग मानें, तो उचित होगा। हमारा सम्बन्ध गुरुओं की वाणी की संख्या से नहीं, भाव से है।

गया है। यह 'ग्रंथ' की क्रम-बद्धता की एक अपनी ही विशेषता है और इस विशेषता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही हम भी यहाँ संतों की विचारधारा का अध्ययन रागों के अनुकूल ही करते है। प्रत्येक राग में सगृहीत संत-वाणी मे विचारों का अद्भुत साम्य है। एक राग में प्रत्येक संत का प्रधान स्वर एक ही है, यद्यपि उसके सहयोगी साधनों में अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, और यह भेद ही उनके व्यक्तित्व का परिचायक है, क्योंकि 'भिन्न रुचिर्हि लोक: ।' इतना ही नहीं, उसी राग मे वर्णित गुरू-वाणी का अध्ययन करने पर उसी प्रधान विचार का स्वर उनमें भी स्पष्ट सुनाई पड़ता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। इससे भी स्पष्ट है, कि एक राग में एकत्रित वाणी का आधार केवल 'राग' ही नहीं, अपितु प्रधान विचार भी है।[1] संत-वाणी में 'राग-ऐक्य' का दृष्टिकोण मुझे प्रभावित नहीं कर सका। या तो मैंने इस दृष्टि से 'संत-वाणी' का अध्ययन ही नही किया अथवा यों कहूँ कि 'राग-शास्त्र' से मेरी अनभिज्ञता का ही यह परिणाम है, तो अधिक उपयुक्त होगा। वस्तुत. केवल 'रागोत्पन्न तल्लीनता' से निरन्तर प्रवहमान एक ही भाव या विचारोत्पन्न तल्लीनता मेरे लिए अधिक स्थायी मूल्य रखती है। राग की समाप्ति के बाद हमारी तल्लीनता बहुत देर नक नही रह पाती—लेकिन भावोत्पन्न तल्लीनता—उसके श्रवण या पठन के बहुत देर बाद तक भी अन्तर को आनन्द-विभोर किए ही रहती है, क्योंकि विलीन होते-होते भी बौद्धिक प्राणी के लिए एक आनन्दमय भाव की अमिट छाप छोड जाती है। अत 'राग-ऐक्य' के साथ-साथ मेरी दृष्टि में 'भाव-ऐक्य' को उससे भी अधिक महत्त्व देना आवश्यक है। इस प्रकार ऊपर प्रदर्शित संत-वाणी की स्थिति उनकी विचारधारा का अध्ययन एवं मूल्यांकन करने में अपना विशेष महत्त्व रखती है।

सर्वप्रथम 'स्री राग' में वर्णित गुरूवाणी का प्रधान विचार है कि 'श्री' सम्पत्ति की देवी है। सांसारिक तथा आध्यात्मिक दो प्रकार की सम्पत्ति जीव को लुभाए हुए है। उसे सांसारिक सम्पत्ति के प्रलोभन से बच कर आध्यात्मिक सम्पत्ति को प्राथमिकता देनी चाहिए। जिसकी प्राप्ति मे गुरू उसका सहायक सिद्ध होगा।[2]

सभी संतोकी वाणी मे सर्वप्रथम मोह और माया के कारण जीव को विषयों में फँसा हुआ बताया है।[3] विषयों में फँसा हुआ जीव यम को भूल चुका है, यह कह कर उसे सतर्क किया है।[4] साथ ही सतर्क जीव को उससे रक्षा का साधन बताया है, 'नाम'। वह 'नाम' जो एकमात्र गुरू-कृपा से ही प्राप्त है।[5] तब अन्त में 'नाम' का महत्त्व बताते हुए ब्रह्म से नाम-दान की प्रार्थना की है।[6] यही सांसारिकता त्याग कर आध्यात्मिक पथ निर्माण की योजना है। 'ग्रथ' का सारा 'सदेश' और उसका

१. देखें गत अध्याय, 'वाणी-क्रम का आधार।'
२. १४ म०, १, १।
३. ९१ क, १ ; ९२ त्रि० १ ; ९३ बेणी: १।
४. ९१ क, १, ९२ त्रि १
५. ९१ क, १, ९३ बेणी १।
६. ९१ क, १, ९२ त्रि० १ ; ९३ बेणी १।

विकास-क्रम गुरू ने प्रारम्भ में ही बता दिया है, ताकि इस पथ का पथिक अपने पथ को समझ कर ही आगे बढे, क्योंकि इन संतों के 'नाम-मार्ग' में (जो कि भक्ति-मार्ग का ही एक अग है) ज्ञान का सम्बल तथा कार्य का क्रियात्मक रूप आवश्यक उपकरण के रूप में प्रयुक्त होते है।

कबीर अपने प्रथम पद में इन विचारों की स्थापना के साथ नाम को ऐक्य विधायक बताता है।[१] त्रिलोचन उनका समर्थन करने के साथ-साथ सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ ब्रह्म पर मुग्ध होकर उसी में तल्लीनता की याचना करता है। इसमे प्रार्थना का स्वर प्रधान होकर भक्त की नम्रता की सूचना देता है। पुन: कबीर ने अन्तर मे अनहद-नाद सुन 'राम-रसायन' पान में ही मस्ती की अभिव्यक्ति की है।[२] तब गर्भ में अपनी स्थिति भूलनेवाले जागृत 'अहं' से उत्पन्न दुर्बुद्धि, अत: दुष्कर्मप्रवृत्त जीव को ललकारते हुए बेणी ने सत्कर्मों का महत्त्व बताया है।[३] मरणोन्मुख कृश एवं जीर्ण शरीर भी विषयिणी बुद्धि का त्याग नही कर पाता, क्योंकि इच्छाओ का तो नाश हुआ ही नही, अपितु वे तो बढती ही गई।[४] अत. हे जीव ! अमूल्य जीवन नष्ट न कर, नाम-स्मरण से ही भव पार करो।

राग के अन्तिम पद के साधनों से अधिक महत्त्व साध्य को देते हुए रविदास की आत्मा पुकार उठी है—

> **तोही मोही मोही तोही अन्तरु कैसा।**
> **कनक कटिक जल-तरंग जैसा॥**[५]

ब्रह्म 'पतित-पावन' इसीलिए तो है, क्योंकि रविदास पापी है। उसका स्वामित्व भी तो रविदास के सेवकत्त्व पर ही आधारित है।[६] यही तरंग की जल के साथ उच्छृंखल कल्लोल है। तथापि उसका व्यक्तित्त्व सेवा द्वारा ब्रह्म से एकता के ज्ञान का इच्छुक बना रहने में ही झलकता है।[७]

इस विचार-शृंखला मे रविदास का विचार अपनापन लिए हुए अन्य संतों की सामान्य विचारधारा से मेल नही खाता।

राग गउड़ी में 'ग्रंथ' में संगृहीत कबीर की वाणी का तीसरा भाग प्राप्य है तथा इस राग की कुल वाणी मे भी गुरू अर्जुन को छोड कर उनकी वाणी सबसे अधिक है।[८] न केवल आकार अपितु विचारों की दृष्टि से भी कबीर के सभी विचार इस वाणी मे किसी न किसी रूप में प्राप्य है। तो भी उनके प्रधान विचारों का विश्लेषण गुरुओं के निम्न प्रधान विचारों से ऐक्य रखता है।

गुरुओं ने निरन्तर प्रवहमान सृष्टि-क्रम का विस्तार से वर्णन कर उसके उत्पादक एवं नियंता भय-उत्पादक ब्रह्म को विशेष महत्त्व दिया है तथा इस भय को

---

१. ९१ क, १। २. ९२ त्रि० १।
३. ९२ क०, १। ४. ९३ बेणी १।
५. 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा' (नीतिशतक, भर्तृहरि)।
६, ७. ९३ रवि १। ८. ९३ रवि १।

दूर करने के लिए जिस 'नाम' की अथवा भगवत्तल्लीनता की आवश्यकता है, उसके लिए मन को अभ्यस्त करना चाहिए। उनका यही स्वर प्रधान है। इस राग में सर्वत्र गम्भीरता का वातावरण विद्यमान है।

कबीर के ३० के लगभग पदों में 'नाम' का महात्म्य बताया गया है। यहाँ तक कि साधन-मात्र नाम को ही साध्य तक बना दिया है। क्योंकि सर्पिणी माया से बचने का, विषयों से छुटकारा पाने का, सांसारिक सम्पत्ति से मुँह मोड़ने का, (क्योंकि नाम-धन सब धनों से महान् है) ऐहिक सम्बन्धियों से मोह का रिश्ता तोड़ने का और न केवल यम से बच कर भव पार जाने का, अपितु मोक्ष प्राप्त कर आवागमन के चक्कर से छूट जाने के बाद ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्मानुभूति तथा अन्त में ब्रह्म से ऐक्य सम्बन्ध स्थापित करने का यही तो एकमात्र मार्ग है। इसकी शक्ति की महत्ता का चरम तो 'अचरजु भइया जीव ते सीउ।'[१] जीव को ही शिव (ब्रह्म) में परिणत कर देने में है। इस प्रकार न केवल कबीर का ही प्रधानतम स्वर 'नाम' है, अपितु भगवान का बैल बन कर रैदास भी यही कहता है—

मैं राम नाम धनु लादिया विखु लादी संसारि ॥[२]

और इसी का व्यापारी होने के कारण उसे संसार-मात्र के भक्षक यम से डर नहीं। तभी तो वह उसमें भलीभाँति रंगे रहने की प्रार्थना करता है।

पुनः कुछ पदों में नश्वर संसार[३] तथा अस्थिर देह[४] का वर्णन करते हुए उसके उत्पादक एवं नियंता ब्रह्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। उसे निर्गुण कह कर उसकी साकारता एवं सीमा-बद्धता का दृढता से विरोध किया है। सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वान्तिरयामी ब्रह्म ही तो अजन्मा एवं अनादि होने से एक-मात्र पूर्ण है। संक्षेपतः यही उसके गुणों की व्याख्या का सार है। लेकिन भक्त-तारक या उद्धारक ब्रह्म ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। कबीर के साथ-साथ रैदास और नामदेव का तो एक मात्र पद केवल ब्रह्म के उस गुण की सोदाहरण व्याख्या ही है। गणिका और कुब्जा को तो छोड वह जप, तप, कुल, क्रम किसी का भी ध्यान रखे बिना ही जीव (चेतन) को तो क्या, पत्थर (जड़) को भी तार देता है।[५]

शरीर की क्षण-भंगुरता एवं संसार की अस्थिरता दिखा, जीव को विषय-त्याग कर,[६] इन्द्रियों को संयमित[७] कर जीवन व्यतीत करने का संदेश दिया है। इसके लिए निरंकुश मन को वश में करना है। अतः मानव जीवन के विकास में मन का विशेष महत्त्व है।[८] निरन्तर अभ्यास से ही चंचल मन को सांसारिक प्रलोभनों से हटा कर ब्रह्म में लगाया जा सकता है।[९] इन विचारों में गीता के उपदेश—

---

१. ३४४ क, १३।
२. ३४६ रवि, २।
३. ३२५ क, ११।
४. ३२५ क, ८, १६, ३२, ६०, ३४५ रवि ३।
५. ३४५ नाम, १।
६. ३२४ क, ६।
७ ३२५ क, १३।
८. ३३१ क, ४२।
९. ३३८ क, ६८।

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'[१] की ध्वनि ध्वनित हो रही है। सफलता का एक-मात्र रहस्य ही मन को अपने अनुकूल बना लेता है। क्योंकि 'इहु मनु सकती इहु मनु सीउ' है।[२] इसीलिए 'मन साधे सिद्धि होइ'[३] इस प्रकार भगवत्प्राप्ति में मन की एकाग्रता आवश्यक है।

सभी ने जप, तप, व्रत, पूजा, तीर्थ, स्नान, सूतक, श्राद्ध आदि सभी बाह्या-डम्बरों का विरोध किया है।[४] सन्यासी बनने के प्रयत्न में बन घूमना अथवा मोक्ष पाने के प्रयत्न में तीर्थों में निवास करनेवाले उसके कटु व्यंगों से बच नही सकते।[५] रविदास ने भी इन पाखण्डों का विरोध करने में कबीर के स्वर में अपना सहयोग दिया है।[६] उसी निर्गुण ब्रह्म की, जिसका स्वरूप एवं महात्म्य ऊपर देख आए है। भक्ति-मार्ग का पथ-प्रदर्शक है एकमात्र सतगुरू,[७] क्योंकि उसके बिना मार्ग का ज्ञान नही और मार्ग-ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं। गुरू का ज्ञान आवश्यक इसलिए भी है, क्योंकि वेद-पुराण उस ज्ञान को नहीं दे सकते, इसीलिए कबीर और रविदास को इनका विरोध करना पड़ता है।[८] भक्ति भी न तो साकार[९] की ही हो और न ही अन्यान्य देवी-देवताओं की।[१०] वह अनन्य[११] की होनी चाहिए, क्योंकि वही तो एक-मात्र पूर्ण है और है भव-बन्धन-नाशक, यम्र-रक्षक, मोक्ष-दाता तथा आवागमन के चक्र का विनाशक। इस प्रकार योनिभ्रमण[१२] के जंजाल से वह केवल अनन्य भक्त की ही रक्षा करता है। ऐसा भक्त ही अंतर में उसकी अनुभूति[१३] करता है। और यह अनुभव 'गूंगे का गुड़' है।[१४] अनुभूति की इस तल्लीनावस्था तक पहुँच कर, जीव का ब्रह्म से ऐक्य[१५] हो जाता है। यही जीव का साध्य है।

जहाँ कबीर ने अपने जुलाहेपन[१६] की परवाह किए बिना भगवान् से उद्धार का प्रार्थना की है, वहाँ रविदास तो कहता ही यह है कि चमार रविदास[१७] को अपनी भक्ति में तल्लीन करने की कृपा करो।

इस प्रकार संक्षेप में अपने सभी धार्मिक विश्वासों को कबीर ने इन पदो मे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

राग आसा भी संसार-चक्र में फँसे जीव को निराश होने से बचाने के लिए आशावादी दृष्टिकोण लेकर आता है। गुरुओ की धारणा है, कि मानव-मात्र

१. (गीता अध्याय ६, ३५)।
२. ३४२ क, ३३। ३. ३४२ क, ३२।
४. ३२४ क, ४, ५, ७, १५ ; ३४५ नाम, १ ; ३४६ रवि० ५।
५. ३२४ क, ६, ७। ६. ३२४ क, ३ ; ३४५ रवि०, ३।
७. ३२७ क, २० ; ३४६ रवि० ५। ८. ३२९ क, ३० ; ३४६ रवि०, ५।
९. ३२५ क, १० : ३४६ रवि०, ५। १०. ३२४ क, ३ ; ३४५ रवि० ३।
११. ३२४ क, ३, ३४५ रवि ० ५। १२. ३२५ क, १३ ; ३४६ रवि० ५।
१३. ३३१ क, ४३ ; ३४५ रवि० ३। १४. ३२७ क, १८।
१५. ३२७ क, २० : ३४६ रवि० ५। १६. ३३५ क, ५४, ६६।
१७. ३४५ रवि १।

दुर्बलताओं का पुतला है। लेकिन दुःख की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह अभाव विगत कर्मों के फलस्वरूप है।[१] अतः भविष्य में सत्कर्म कर—आध्यात्मिकता की ओर पग बढ़ाना चाहिए।[२] गुरू सहायक सिद्ध होगा[३] और ब्रह्म में पूर्ण विश्वास रख कर की गई सच्ची प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जा सकती।[४]

संतों की वाणी में इसके परिणामस्परूप ब्रह्म से एक-मात्र प्रीत लगाने को ही जीवन का सत्य कहा गया है।[५] यही सबका सबसे प्रधान स्वर है। इसी स्वर की व्याख्या में पहले उसका माहात्म्य-ज्ञान एवं गुणगान[६] आवश्यक है, क्योंकि एक-मात्र सर्वकर्त्ता वही सर्वव्यापक होकर सबका शरणदाता है।[७] अतः विषयों का त्याग कर, नाम अपना कर, उसी में तल्लीन हो जाओ[८] क्योकि कृपा करते समय उसे भक्त की जाति[९] से कोई सरोकार नहीं। उसे नाम में तल्लीन सच्चा भक्त चाहिए, वह उसकी कृपा का पात्र बन जाता है।

इस राग में भी कबीर की पर्याप्त वाणी है। इन प्रधान विचारों के सहयोग मे ही जहाँ एक ओर सर्पिणी माया[१०] का विकराल वर्णन प्राप्त है; वहाँ साथ ही रक्षक गुरू का भी महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।[११] क्योंकि वही तो माया की सपत्नी (सौकन)[१२] भक्ति को उपस्थित कर देता है। नारी (माया) पुरुष को मोह सकती है, लेकिन नारी (माया) नारी (भक्ति) को नहीं। अनुभूति का तर्क तार्किकों के तर्क से कितना महान् है, क्योंकि अन्तर में गहन सत्य को छिपाए हुए है। वेद पढ़ना बेकार है, क्योंकि वे यम-रक्षक भक्ति नहीं दे सकते[१३] और उनसे भी अधिक व्यर्थ है पूजा, तीर्थ-स्थान[१४] एवं उच्च कुलाभिमान।[१५] क्योंकि ये सभी बाह्याडम्बर जीव को वास्तविक मार्ग न दिखा कर भ्रम में ही डाले रहते हैं। इसीलिए इनसे बच-कर भक्ति में तल्लीन आत्मा परमात्मा की पत्नी[१६] बन जाती है, यह सम्बन्ध निकट तम होते हुए भी साध्य का अंतिम स्तर नही, इसीलिए उसे पूर्ण ऐक्य[१७] में ही अधिक विश्वास है। जगत निर्माता ब्रह्म को भी जुलाहे कबीर ने जुलाहा[१८] कह कर अपने व्यक्तित्त्व का परिचय दिया है।

---

१. बार आसा म० १, १०।
२. ४६८ म० १, ८।
३. ३५९ म० १, ३।
४. ३५५ म० १, २१।
५. ४८४ क, ३७, ४८५ नाम १, ४८६ रवि० ३; ४८८धन्ना २, ४८८ फरीद २।
६. ४८४ क, ३६, ४८५ नाम २, ४८६ रवि ४, ४८७ धन्ना १, ४८८ फरीद १।
७. ४७६ क, ३, ४८५ नाम १, ४८६ रवि० ३, ४८७ धन्ना २, ४८८ फरीद १।
८. ४७५ क, १, ४८४ नाम ३, ४८६ रवि० ४, ४८७ धन्ना १, ४८८ फरीद २।
९. ४८२ क २६, ४८१ नाम ५, ४८६ रवि ३, ४८७ म० ५, १।
१०. ४७५ क, २, १९।
११. ४७८ क, १०।
१२. ४८३ क, ३२।
१३ ४७८ क; १०।
१४. ४७८ क, १३।
१५. ४७७ क, ८।
१६. ४८३ क, ३०।
१७. ४७८ क, ११, ३६।
१८. ४८४ क, ३६।

जहाँ कबीर की अनुभूति विचारों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, वहाँ नामदेव के पदों में तल्लीनता अधिक है। कबीर ने अपना संदेश दूसरों तक भी पहुँचाया था लेकिन नामदेव तो अपने आपको भगवदर्पण कर चुके थे। उन्हे ससार से कोई मतलब नहीं। सम्भवत. इसीलिए 'जत देखउ तत सोई' कह कर ही शांत नहीं हो जाते अपितु मस्ती मे अलापते ही जाते है 'सभु गोविन्द है सभु गोविन्द है। गोविन्दु बिनु नहीं कोई'[१] इसीलिए आडम्बरमयी पूजा में उन्हें विश्वास नही. भौरे के जूठे फूल से पवित्र भगवान का शृंगार कैसा ? बछड़े के जूठे दूध से स्वच्छ भगवान का भोग कैसा ?[२] और फिर 'इमै बीठलु ऊभै बीठलु बीठल बिनु संसारु नही'[३] इसीलिए तो छीपे के घर जन्म ले नामदेव[४] ने गुरू-कृपा से नाम पाया और उसे संसार का क्या ज्ञान वह तो राम को नामु जपउ दिन राती'[५] यह है भक्त की तल्लीनता और अनन्यता।

रविदास ने कर्मफल की अज्ञानता[६] पर बल देते हुए सत्संगति[७] का विशेष महत्त्व बताया है तथा कबीर और नामदेव की ही भाँति 'जाती ओछा' कह कर अपना परिचय दिया है पूर्ववर्ती सफल भक्त कबीर और नामदेव की तरह नाम लेकर भगवत् मिलन की आशा में, 'हरि हरि हरि हरि हरि हरि हरि'[८] करता हुआ उसी में अपने आपको तल्लीन कर बैठा।

इन सबको भगवत्-भक्ति में तल्लीन हुआ देख धन्ने ने अपने मन को विषयों से बचे रहने के लिए अधिक सतर्क किया[९] तथा गुरू की शरण ली। तभी सम्भवत: संतों की वाणी के बीच पंचम गुरू अर्जुन देव ने भक्ति से भव-पार जानेवाले छींपा नामदेव, जुलाहा कबीर, गोचारक रैदास तथा सेना नाई का[१०] उदाहरण देकर जाट धन्ने को भक्ति के लिए प्रोत्साहित किया---'इहि विधि सुनि कै जाटरो उठि भगती लागा।' तथा उसी क्षण '......मिले प्रतखि गुसाईयाँ धन्ना बड़भागा'[११] और उसके दर्शन होने से प्राप्त परमानन्द की धन्नां ने अगले ही पद में अभिव्यक्ति भी करदी।[१२]

अंतिम दो पद फरीद के हैं। उसमें इस वाणी का निष्कर्ष अधिक व्यावहारिक रूप से हमारे सामने आता है। वे स्पष्ट ही कहते हैं, कि 'नाम' छोड़नेवाले जगत पर भार हैं।[१३] भगवान को पहिचाननेवाले ही उसका पैर चूम सकते है (अर्थात् आत्मसमर्पण द्वारा अपना सकते हैं।)[१४] नश्वर संसार में सभी ने लौट आना है। अत: झूठ छोड़ एक-मात्र सत्य उसी ब्रह्म का मन में विचार करो।[१५] जिन बातों को

---

१. ४८५ नाम, १।
२. ३. ४८८ नाम २।
४. ४८६ नाम, ५।
५. ४८५ नाम, ३।
६. ४८६ रवि० १।
७. ४८६ रवि० २।
८. ४८७ रवि० ५।
९. ४८७ धन्ना० १।
१०. ४८७ म० ५, १।
११. ४८७ म० ५, १।
१२. ४८८ धन्ना २।
१३. १४. ४८८ फरीद १।
१५. ४८८ फरीद २।

अन्य संतों ने सिद्धान्तों अथवा अनुभूति के माध्यम से हमारे सामने रक्खा। फरीद ने उन्हीं को अधिक लौकिक एवं व्यावहारिक बना कर प्रस्तुत किया है।

राग गूजरी गुर्जर प्रदेशवासियों का राग है, जिसमें भक्ति की प्रधानता है। भक्ति भी 'मुरारि' की क्योंकि ब्रह्म तो सभी जगह व्याप्त है। अतः देश-कालानुकूल ही हम उसे देख पाते है। इसमें ब्रह्म के लिए 'मुरारि' शब्द का बहुतायात से प्रयोग मिलता है।[१] बाह्याडम्बर का तीव्रता से विरोध कर 'करणी कुंगू जे टलै घट अंतरि पूजा होई'[२] आंतरिक पूजा के महत्त्व से ही राग का प्रारम्भ होता है। इस आंतरिक पूजा की एक-मात्र सामग्री स्थिर चित्त में 'नाम' का ध्यान है। इसीलिए तो---

निमख न बिसरउ मन तें हरि हरि साध संगनि महि पाइआ ॥[३]

और जिन भाग्य-हीनों ने अंतर में ध्यान नही लगाया तथा नाम नहीं पाया; वे अनायास ही गुरू की साहित्यिक गालियों के पात्र बन बैठे—'नामु पदारथु जिनु नर नहीं पाइआ ते भाग हीन मुए मरि जावै।'[४]

संतों की वाणी में भजन का अत्यधिक महत्त्व स्थापित किया गया है।[५] उसके बिना तो जीवन भर पछताना पड़ेगा और पशु-जीवन से भी निकृष्ट जीवन व्यतीत करना होगा।[६] कबीर ने तो यहाँ तक कह दिया, कि बैल की तरह पग-पग पर ठोकर खानी पड़ेगी। पुनः मार्ग-दर्शक सत्गुरू का महत्त्व बताते हुए[७] उसके माध्यम से नाम पर विश्बास लाने[८] को सबर्ण कहा है और 'नाम' अंतर में है। अतः बाह्याडम्बर का विरोध करना भी स्वाभाविक ही है।[९]

कबीर एक पद में तो नाम में ही खोए रहे और दूसरे में माँ का करुण-क्रंदन सुन कर अपने आपको नीच जुलाहा स्वीकार करके भी 'नाम' स्मरण मे भी अपना लाभ देखते है। 'सर्वदाता' ही उसके परिवार के भोजनादि का प्रबंध करेगा,[१०] क्योंकि वह तो पूर्ण आत्मसमर्पण कर चुका है। नामदेव के माधुर्यमय व्यंग के माध्यम से उसका व्यक्तित्त्व झलक रहा है —

'एकै पाथर कीजै भाउ ॥ दूजै पाथर धरीऐ पाउ ॥
जे ओहु देउ त ओहु भी देवा ॥[११]

जूठे फूल, दूध और पानी तथा सर्प-श्वास-युक्त मलय-समीर से भगवत्पूजा न कर सकनेवाले रविदास को यही भय है, कि ऐसा न कर सकने पर उसकी न जाने

१. ५०४ म० १, २, ५०८ म० ५, १। २. ४८६ म० १, १।
३. ४९५ म० ५, ३। ४. ४९४ म० ४, ३।
५. ५२४ क० १, ५२५ नाम० १, ५२६ त्रिलोचन २. ५२६ जयदेव १।
६. ५२४ क, १, ५२५ नाम २, ५२६ त्रिलोचन २।
७. ५२४ क, १, ५२५ नाम १, ५२५ रवि १, ५२५ त्रिलोचन १।
८. ५२४ क, १,२, ५२५ नाम १, ५२६ जयदेव १।
९. ५२५ नाम १, ५२५ रवि १, ५२५ त्रिलोचन १, ५२६ जयदेव १।
१०. ५२४ क, २। ११. ५२५ नाम १।

क्या गति होगी ।[१] त्रिलोचन ने तो बाह्याडम्बरी पंडितों के साथ गुदड़ी, मुंदा धारण कर राख मलनेवाले योगियों को भी आड़े हाथों लिया[२] और स्पष्ट ही अंतर में भगवत्स्मरण का महत्त्व प्रतिपादित किया। अंतकाल तक बनी रहनेवाली सांसरिक इच्छाओं के दुष्परिणाम घोषित कर[३] एक-मात्र नारायण का स्मरण करनेवाले को मोक्षगामी बताया है। अंत मे साकार भक्त जयदेव का कृष्ण भी यहाँ तो सर्वव्यापक, सर्वकर्त्ता, सर्वरक्षक, त्रिकालातीत एवं अद्वितीय होने के कारण स्वत. ही साकारता का बंधन तोड़ असीम बन गया।[४] ब्रह्मगुण गान मे तल्लीन वह दुष्कर्म त्याग कर हृदय पवित्र कर, मन, वचन तथा कर्म से पूर्ण आत्मसमर्पण कर भगवत्स्मरण से ही अपने व्यक्तित्व को विस्मृत कर बैठा। उसका 'मुरारि' ही जो इस राग का 'मुरारि' है।

सोरठि राग उस पवित्र अमृत रूपी जल का राग है, जिसे पीकर जीव अमर हो जाता है। अमृत ब्रह्मानुभूति है, जिसके लिए सांसारिक जीव युग-युग से तृषित है, इसीलिए तो गुरू बोल उठे—

जिसु जलनिधि कारणि तुम जगि आए सो अमृत गुर पाही जीउ ॥[५]

कि वह अमृत तो गुरू के माध्यम से ही प्राप्त होगा।

इस राग की वाणी का महत्त्व संतों द्वारा साधन की विस्तृत व्याख्या मे निहित है। ब्रह्म का गुणगान सभी ने एक स्वर से किया।[६] पुन: क्षणिक देह की, सांसारिक संबंधों की तथा नश्वर संसार की अस्थिरता का वर्णन प्राप्त है।[७] अत: जीव को 'कुछ और' की आवश्यकता है और वही तो अमृत है भगवत्नाम।[८] इसलिए उसका महत्त्व प्रतिपादित करना निश्चित है, क्योंकि इस एक-मात्र साधन के बिना तो संसार की बाजी ही हारी जाएगी। इतना ही नहीं' नाम' के समर्थन में तो ज्ञानाडम्बर विरोधी कबीर तथा रविदास ने वेद-पुराणों को भी प्रमाण-स्वरूप उपस्थित कर दिया, उनका मत भी यही जो है।[९] दुष्कर्म त्याग कर सत्कर्म अपनाने से ही[१०] गुरू पथ-प्रदर्शक बनेगा[११] और अन्तर में ब्रह्म के दर्शन कराएगा।[१२] इसके लिए पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक है[१३] और उससे भी अधिक आवश्यक है

---

१. ५२५ रवि १।
२. ५२५ त्रिलोचन १।
३. ५२६ त्रिलोचन २।
४. ५२६ जयदेव १।
५. ५९८ म० १, ९।
६. ६५५ क, ७, ६५७ नाम २, ६५८ रवि० ४, ६५९ भीखन २।
७. ६५६ क, ९, ६५८ रवि० २: ६५९ भीखन १।
८. ६५४ क, ३, ७, ९, ६५७ नाम २, ६५९ रवि० ६, ६५९ भीखन २।
९. ६५४ क, ३, ६५८ रवि० ४।
१०. ६५६ क, ९, ६५७ नाम ३, ६५८ रवि ३।
११. ६५५ क, ३, ६५७ नाम २।
१२. ६५५ क, ७, ६५७ नाम, ३, ६५७ रवि १, ६५९ भीखन २।
१३. ६५५ क, ४, ६५६ नाम, १, ६५८ रवि ५, ६५९ भीखन २।

भगवत्कृपा ।[1] इसीलिए कृपालु भगवान् का वर्णन प्राप्त है । इस आंतरिक ज्ञान से अनुभूति होती है और अनुभूति का चरम ही उससे ऐक्य मे परिणत होता है ।[2] यही नामामृत पान से सुलभ अमरत्त्व है ।

कबीर ने जप, तप, का विरोध करते हुए भक्ति को श्रेष्ठतम बताया है,[3] लेकिन श्रेष्ठ होते हुए भी, 'भूखै भगति न कीजै यह माला अपनी लीजै'[4] कह कर गृहस्थ आवश्यकताओं का परिचय दिया है, परन्तु अंतिम प्रधान स्वर तो नामामृत पान कर ब्रह्मप्राप्ति का ही है ।

अनुभूति प्रधान नामदेव मे भी कबीर की ही तरह योग का वर्णन मिलता है । इसीलिए नामदेव ने कहा है कि 'अनहद' का अनुभव 'गूंगै महामृतरसु चाखिआ पूछै कहनु न जाई हो'[5] व्यर्थ है इसलिए वह तो उसी में तल्लीन हो गया है । रविदास की विचारधारा उसके व्यक्तित्त्व को उभार कर हमारे सामने रखती है ।

जब हम होते तब तू नाही अब तू ही मे नाही ।
अनल अगम जैसे लहरि भइओदधि जल केवल जल माँही ।।[6]

भक्त और भगवान है तो अन्योन्याश्रित, पर है भी एक ही । अपने अंदर जब रविदास ब्रह्म को अनुभव करता है, तब बाहर उसकी सत्ता ही क्या ? लहर अन्ततोगत्त्वा तो जल ही है । इसीलिए उसकी भक्ति का इतना महत्त्व है, कि राजे, तथा इन्द्र भी उसकी भक्ति के बिना किसी गणना में नही ।[7] इसलिए भक्त भगवान से बत्ती और दीए का, चकोर तथा चाँद का सम्बन्ध जोड़ता है[8] क्योंकि आत्मा की तडपन में ही तो परमात्मा का महत्त्व छिपा है और इसीलिए 'साची प्रीती हम तुम सिउ जोरी'[9] भगवान से सच्चा प्रेम लगा लेने पर कोई भय नही । लेकिन सम्पूर्ण सासारिक वैभव होते हुए भी 'राम नाम बिनु बाजी हारी'[10] अंत मे अपने कार्य का वर्णन करते हुए कहता है, कि लोग जूते गठवाते है, पर अब चमार रविदास को भी यम का भय नहीं, क्योकि भगवत् शरण मे आकर 'नाम' मे तल्लीन हैं ।

भीखन के सारे 'ग्रथ' मे केवल यही दो शब्द है, जो उसकी बौद्धिक प्रतिभा एव वैज्ञानिक विकासक्रम मे उसके चातुर्य के द्योतक हैं । भाव भीखन के दोनों पदों का भी वही है, लेकिन भिन्न शैली मे अधिक व्यावहारिक ढंग से अभिव्यक्ति हुई है । साहित्यिकता से जीवन के सैद्धातिक सत्यो का क्रियात्मक रूप उपस्थित किया गया है । सबने कहा देह नश्वर है, लेकिन वह बोला—

---

१. ६५६ क, ८, ६५७ नाम, २, ६५८ रवि २, ६५९ भीखन १ ।
२. ६५५ क, ६, ६५६ नाम, १, ६५७ रवि १, ।
३. ६५४ क, ३ ।
४. ६५६ क, ९ ।
५. ६५७ नाम, २ ।
६. ६५७ रवि १ ।
७. ६५८ रवि ३ ।
८. ६५८ रवि ५ ।
९. ६५९ रवि, ५ ।
१०. ६५९ रवि ६ ।

नैनहु नीरु बहै तनु खीना भए केस दुधवानी ।
रूंधा कंठु सबदु नहीं उचरै अब किया कराई परानी ॥[1]

देह की नश्वरता क्रियात्मक रूप से वह करुणा नहीं उपजा पाती, जो ऊपर वर्णित जर्जर शरीर। इसलिए 'राम राह होहि बैद बनवारी'[2] होकर वही तो उद्धार कर सकेगा। 'नामामृत' उसकी औषधि है।[3] काव्यमय रूपक का सौन्दर्य यहा अपना ही है। 'हरिगुण' गूंगे को मिठिआई'[3] है, जिसे वह अनुभव ही कर रहा है, बखान नही कर सकता। उसने तो सभी इन्द्रियाँ कान, जिह्वा तथा चित्त तक को उसी में एकाग्र कर दिया और तब—

कहु भीखन दुइ नैन संतों इवे जइ देखा तह सोई ॥[4]

वह तो सर्वत्र भगवद्दर्शन मे खो गया। यही उसका साध्य है। उसे संतों का बौद्धिक ऐक्य नही चाहिए, उसे चाहिए थे भगवद्दर्शन और भावात्मक तल्लीनता। सो उसने तब पा ली, जब जगत में सर्वव्यापक को ही अनुभव करने लगा। इस प्रकार भीखन का स्वर भावों की दृष्टि से अन्य संतों से दूर नही, पर अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह उनसे बिल्कुल भी मेल नहीं खाता। उसने क्रियात्मक जगत के माध्यम से अपने आप को प्रस्तुत किया है—सैद्धांतिकता उसके किसी भी विचार को स्पर्श नही कर पाई। यही है उसका व्यक्तित्व और यही है उसका सरल, व्यावहारिक 'संतत्त्व'।

राग धनासरी का कई दृष्टियों से सत-वाणी मे विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस राग मे 'ग्रंथ' में वर्णित १५ संतों में से सबसे अधिक (सात) संतों की वाणी सगृहीत है।[5] उनमें से भी सेन और पीपा जिनके 'ग्रंथ' में केवल एक-एक ही शब्द है, इसी वाणी में प्राप्त है। त्रिलोचन और धन्ना की वाणी भी राग धनासरी के बाद 'ग्रंथ' मे कही नही आती।[6] रविदास, सेन तथा धन्ना में 'आरती' प्राप्य है।[7] जिसके साथ ही सेन तथा धन्ना की वाणी 'ग्रंथ' में समाप्त हो जाती है। गुरुओं की वाणी से तुलना करने पर गुरू नानक देव की इसी राग में मिलनेवाली आरती का स्वर-भाव ही नही, शब्द और पदावली में भी इतनी अधिक समता रखता है,[8] जो अति महत्त्वपूर्ण यह निष्कर्ष हमें दे चुका है, कि इस वाणी का उच्चारण करते हुए गुरू नानक के पास रविदास की वाणी थी, जिसे उसने अपनी यात्रा मे स्वतः ही संगृहीत किया था।[9] इस प्रकार उस राग में संगृहीत सत-वाणी अपने आध्यात्मिक मूल्य के साथ-साथ ऐतिहासिक मूल्य भी रखती है जो संत-वाणी का गुरू-वाणी से सम्बन्ध स्थापित करने में (अन्त.साक्ष्य की दृष्टि से) अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

१, २. ६५६ भीखन १।
३. ६५६ भीखन २।
४. ६५६ भीखन २।
५. देखें सन्त-वाणी की तालिका।
६. देखे 'ग्रन्थ' पृ० ६९५।
७. देखें 'ग्रन्थ' ६९४-९५।
८. विस्तार के लिए देखे गु० प्र० सा० सि पृ० ५०-५३।
९. गत अध्याय देखे 'सन्त वाणी कहां से किसने एकत्रित की ?

भाव की दृष्टि से भी इस वाणी का अपना ही महत्त्व है, यद्यपि त्रिलोचन, सेन, पीपा तथा धन्ना का केवल एक-एक ही पद है, लेकिन अन्य सतो से अथवा परस्पर उनमें भी विचार-साम्य नही। अन्तिम दो पीपा और धन्ना को छोड़ कर शेष संतों में 'नाम' एवं भक्ति का महत्त्व अवश्य ध्वनित होता है।[१] गुरू-वाणी में भी यह स्वर इस रूप मे मिलता है—'कल महि राम नाम सारु'[२] गुरू नानक ही नही, पंचम गुरू की वाणी के अन्तिम शब्द भी 'बिनवति नानक धूरि साधू नामु प्रभू अमोलई'[३] नाम का महत्त्व बताता है।

इस प्रकार 'नाम' और भक्ति का महत्त्व स्थापित करते हुए उसे अपनाने का स्वर इन सब में मिलता ही है। कबीर और नामदेव मे क्षणिक जीवन, नश्वर संसार की हीनता का वर्णन भी मिलता है।[४] शेष सभी संतों के न केवल सब विचार, अपितु उनकी अभिव्यक्ति भी उनके पृथक्-पृथक् व्यक्तित्त्व की द्योतक है।

कबीर ने नश्वर संसार को जान लिया है, परन्तु अकथ्य अज्ञेय ब्रह्म[५] को देख वह पूर्ण आत्मसमर्पण[६] कर उसकी शरण में चला जाता है और जब नाम स्मरण द्वारा उसका अनन्य भक्त बना रहता है, तब उसे काशी या मगहर में मृत्यु से भय नहीं रहता,[७] क्योंकि वह तो 'जिउ जलु जल महि पैसि न निकसै तिउ दुरि मिलिओ जुलाहो'[८] मर कर ब्रह्म में ही मिल गया। इसका तो उसे पता ही है, कि तारक ब्रह्म ने 'नाम' का आश्रय लेनेवाले 'अजामल गज गनिका पतित करम कीनै' तो भी उन्हें भव पार लगा दिया। इसीलिए कबीर विषय-विष को त्याग नामामृत पान करता हुआ यह कह कर शान्त हो जाता है—

राम सिमरि राम सिमरि राम सिमरि भाई।
राम नाम सिमरन बिनु बूडते अधिकाई ॥[९]

नामदेव तो दुर्योधन और रावण के[१०] उदाहरण प्रस्तुत कर जागृत 'अहं' जीव को ललकार उठता है—

काहे रे नर गरबु करत हहु बिनसि जाइ झूठी देही ॥

अतः माया लिप्त संसार से छूटने का एक मात्र उपाय भक्ति है[११] और भगवत्-लीन होते ही आत्मा परमात्मा के लिए उसी प्रकार तड़प उठती है, जैसे चकवी सूर्योदय के लिए और चातक वर्षा के लिए।[१२] निरन्तन नाम मे तल्लीन जिस भक्त में यह तड़पन शाश्वत है, वही धन्य है।[१३]

---

१. ६६१ क, १; ६६४ नाम ५, ६६४ रवि १, २; ६६५ त्रिलोचन १; ६६५ सेन १।
२. ६६२ म० १, १। ३. ६६१ म० ५, ४। ४. ६६२ क, २; ६६२ नाम १।
५, ६. ६६१ क, १। ७. ६६२ क, ३।
८. ६६२ क, ३। ९. ६६२ क, ५।
१०. ६६२ नाम १। ११. ६६३ नाम २।
१२. ६६३ नाम ३। १३. ६६४ नाम ५।

इस प्रकार नामदेव तो कभी भी मोक्ष की इच्छा नहीं रखता, उसे भगवान से मिलना नहीं है, नाम को तो केवल 'नाम' की अनंत प्यास ही तड़पाए रखती है। यही उसका साधन है, यही उसका साध्य। कितनी उच्च कोटि की भक्ति है।

एक युग से भगवान् की प्रतीक्षा करनेवाला[1] रविदास सब इन्द्रियों को अन्तर्यामी ब्रह्मोन्मुख[2] करता हुआ कहता है—'साध सगति बिनु भाउ नहीं ऊपजै' और 'भाउ बिनु भगति नही होई तेरी' इस भक्ति का साधन जान रविदास तो उसकी आरती में मस्त हो गया—'नामु तेरो आरती भंजनु मुरारे। हरि के नाम बिनु सगल झूठे पसारे।'[3] इसलिए तेरा नाम ही तो उरसा, (चंदन घिसने का पत्थर) चन्दन तथा केसर है। वही तो दीये, बत्ती और तेल में व्याप्त है, उसी की ज्योति से सकल अन्तर ज्योतित होता है। धागा, फूल और माला सभी कुछ तो वही है। इसीलिए तो 'कहै रविदासु नामु तेरो आरती सनितामु है हरि भोग तुहारे'[4] और मौन रविदास उसके नाम में खो गया।

सांसारिकता से विरक्त त्रिलोचन को देख—उसकी असंतुष्ट पत्नी भगवत्-निन्दा मे लगी, तो भक्त की आत्मा पुकार उठी[5]—'नारायण निंदसि काइ भूली गवारी, दुक्रित सुक्रित थारो करमु री।'[6] कर्मफल को मिटाया नही जा सकता, संसार की महान् शक्तियाँ भी कर्मफल को भोगे बिना बच नहीं सकती। चंद्र कलंकित है, अरुण अपंग है, समुद्र खारा है और शिव को भी कपालधारी होना पड़ता है। इस प्रकार कर्म और कर्मफल का महत्त्व स्थापित करते हुए बोले—'पूरबलो क्रित करमु न मिटै री घर गेहणि ताचे मोहि जापीअले राम चे नामं' और यह कह कर 'बदति त्रिलोचन राम जी'[7] सांसारिक बंधन एवं अभाव अपने ही सुकृत-दुष्कृत्यों के फल है। अत. उसको तो भोगना ही पड़ेगा। 'नाम' मे मन लगाने से संतोष, सुख व शान्ति मिल सकती है।

सारे 'ग्रंथ' मे सेन जी केवल भगवान की आरती करने ही पहुँचे है। सांसारिकों के धूप, दीप और घृत का वर्णन उन्होंने किया है, पर बाह्याडम्बरमयी सामग्री से उनके 'निरंजनु' की आरती न हो सकेगी। अतः हृदयरूपी दीये में प्रेम की बत्ती लेकर चले है, क्योंकि उसकी आरती के लिए यही उत्तम सामग्री है।[8] रामानन्द उसकी भक्ति को भली प्रकार जानता है और उसी में परमानन्द प्राप्त होता है। सेन तो उसके भव-तारक रूप पर मुग्ध है, अतः 'सेनु भणै भजु परमानन्दे'। वह तो उसका भजन करता हुआ उसी में आनंदमग्न है। उनका अन्य विचारों से तो कोई सम्बन्ध ही नहीं। सेन की आरती सुन पीपा कैसे पीछे रह सकते थे—

१. ६९४ रवि, १। २. ६९४ रवि, २।
३, ६९४ रवि, ३। ४. ६९४ रवि, ३-४।
५. (१) सि० रि० भाग ६, पृ० ८० (२) भगत वाणी सटीक : जोधसिंह पृ० १९६।
६. ६९५ त्रिलोचन, १। ७. ६९५ त्रिलोचन, १।
८. ६९५ सेन, १।

वे भी 'ग्रंथ' में केवल एक शब्द ले सेन की आरती की व्याख्या करने आ खड़े हुए। लेकिन उनका दृष्टिकोण अपना ही था। सेन ने तो केवल दीया-बत्ती ही अन्तर मे देखे थे, लेकिन उन्होंने तो शरीर को ही देवता और मन्दिर जाना तथा उसी मे ही धूप, दीप, नैवेद्य सभी कुछ ढूंढ निकाला।[१] अधिक क्या सभी विधियो का भण्डार उनकी दृष्टि मे वह देह ही है, (क्योकि ससार मे कुछ आता-जाता तो है ही नहीं) बोले, आरती के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नही, क्योंकि—

'जो ब्रह्माण्डे सो पिंडे' लेकिन **'जो खोजै सो पावै।'**

इसीलिए तो सत्गुरू के महत्त्व को स्वीकार करते हुए परम तत्त्व के सम्मुख 'पीपा प्रणवै' और उसी मे तल्लीन होने पर उसकी वाणी शांत हो गई।[२]

पीपा की वाणी सुन कर धन्ना (जो अपनी शेष वाणी आसा राग मे ही उद्धृत कर आए थे) भगवान की आरती करने आ खड़े हुए, क्योंकि 'आरती' के बिना वाणी अपूर्ण ही रह जाती है। सम्भवतः ऐसा उन्हें अनुभव हुआ हो। पीपा ने देह का महत्त्व स्थापित किया और धन्ना ने देह के रक्षार्थ ही गृहस्थ की आवश्यकताओं का अनुभव कर प्रथम भगवत्-स्तुति की—

'जो जन तुमरी भगति करते तिनके काज संवारता'[३] और पुनः दाल, सीधा, घी, गऊ, भैंस—लवेदी और घोड़ी तो क्या अन्त में 'घर की गीहनि चंगी, जनु धन्ना लेवै मंगी'[४]। निःसकोच सुगृहिणी की भी याचना की। धन्ना स्पष्ट ही प्रवृत्तिमार्गी भक्त रहा है और नीच जातिवालों को भी भक्ति से भव-पार जाता देख 'इहि बिधि सुनिकै जाटरो उठ भगती लागा'[५] जाट धन्ना भक्ति में लग चुका था। भगवान से इतना आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था, कि उसे यह सब माँगने में कोई संकोच नहीं। पूर्ण आत्मसमर्पण के बाद वही तो एक-मात्र आधार है। यही धन्ना की भगवान से आत्मीयता, उसकी प्रवृतिमार्गिता एवं उच्च भक्ति की सूचक आरती है।

जैतसरी राग के अन्त में केवल अन्तिम पद रविदास का है, जिसमें उसने स्वामी को सर्वसमर्थ और अपने को कलयुग का कामी कहा है, क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ माया के हाथ बिक चुकी हैं। इन्द्र को भी प्रभावित करनेवाले काम का उदाहरण देकर उसकी महत्ता स्थपित करते हुए एक-मात्र ब्रह्म की ही शरण ली है, क्योंकि अन्य कोई समर्थ शरणदाता नही।[६]

इसी प्रकार राग टोडी मे केवल नामदेव के तीन छोटे-छोटे पद हैं। पहले में राम को पास अथवा दूर बतानेवालों की वाणी को उतना ही असम्भव बताया है, जितना पानी में मछली का खजूर पर चढ़ना, क्योंकि ब्रह्मानुभव करनेवाले मौन रह कर अनुभव ही करते है।[७] इसलिए वेदपाठी पण्डित उसे नहीं जानता, पर मूर्ख नामदेव ने उसे अनुभव किया है।[८] उसे जान कर नाम लेने का महात्म्य इतना बताया

१, २. ६६५ पीपा १। ३, ४. ६९५ धन्ना १।
५. ४८८ धन्ना २। ६. ७१० रवि १। ७, ८. ७१८ नाम १।

है, कि पतित से पतित भी उसके 'नाम' से तर गए ।[1] पुनः व्रत, तीर्थ आदि बाह्याडम्बरों का विरोध कर, सत्कर्म करनेवाले 'नाम' लेकर सभी तो बैकुण्ठ गए ।[2] अन्त में लौकिक उदाहरण देते हुए कहा, जैसे कुम्हार की हाँडी, भैंस के सींग, माली के घर केला तथा गोकुल में 'स्याम' अच्छे लगते है, उसी प्रकार भगवान के नामों में 'राम' नाम ही सबसे अच्छा लगता है ।[3] इस प्रकार नामों में भी 'राम' नाम को ही नामदेव ने शीर्षस्थान दिया है, क्योंकि भक्त को तो एक ही नाम में तल्लीन रहना है।

राग तिलंग प्रथम वियोग पुन. भगवान से मिलने की आशा में प्रसन्नता का राग है। यह मुस्लिम राग है। अतएव इसकी शब्दावली में भी फारसी के अधिक शब्द प्राप्त है। माया एवं बाह्य वेश के कारण उत्पन्न जीव और ब्रह्म के अन्तर को दूर करने के लिए आत्मविकास की आवश्यकता है, यही इसका प्रधान स्वर है ।[4]

कबीर और नामदेव दोनों ने ही ब्रह्म का गुण-गान करते हुए उसे सर्वस्रष्टा एवं सर्वदाता बताया है ।[5] पुन कबीर ने अहं जागृत करनेवाले एवं चिंता न मिटानेवाले वेदों के ज्ञान को व्यर्थ बताया है ।[6] तथा एक मात्र अल्लाह को पवित्र कह कर केवल उसकी कृपा प्राप्त करनेवाले को ही ब्रह्मज्ञानी बताया है ।[7] नामदेव तो उसका गुण-गान कर उसके 'नाम' में ही मस्त हो जाता है, क्योंकि विषयों के कारण अंधे एवं निराश्रय का 'नाम' ही तो एक-मात्र आधार है ।[8] उसे साध्य का ध्यान नही, भगवान की परवाह नहीं—क्योंकि वह तो एक-मात्र उसके 'नाम' में ही मस्त हो चुका है। यही उसका साधन है और यही उसका साध्य।

सूही राग विवाह का राग है। यह आत्मा और परमात्मा के परिणय का आह्लादसूचक है। बसंत ऋतु में विशेष रूप से गेय है। इस परिणय के लिए जीव को अपना भांडा (मन) साफ करने की आवश्यकता है। इसीलिए 'भांडाधोई' से राग को प्रारम्भ कर पुन. २, ३ पदों में बाह्याडम्बरी योगियों को सतर्क करते हुए गुरू ने कहा है, कि 'भेख' नही 'भांडे' की पवित्रता पर ही यह परिणय निर्भर है। जीव और परमात्मा का यह मिलन सूफियों को विशेष प्रिय है।

संतों की वाणी में भी प्रधान स्वर मन को पवित्र कर 'नाम' में तल्लीनता का है[9] मन से सांसारिकता का मल दूर करने के लिए उन्होंने क्षणिक जीवन,[10] मोहमय अस्थिर संबंध[11] नश्वर सम्पत्ति तथा नाशवान् संसार[12] का रूप जीव के सम्मुख

१, २. ७१८ नाम, २ ।
३. ७१८ नाम, ३ ।
४. ७२३ म० ५, २ ।
५. ७२७ क, १, ७२७ नाम, १ ।
६. ७२७ क, १ ।
७. ७२७ नाम, २ ।
८. ७२७ नाम, १ ।
९. ७९२ क, १ ; ७९३ रवि २ ।
१०. ७९२ क, २, ७९३ रवि २, ७९४ फरीद २ ।
११. ७९२ क, १, ७९३ रवि २ ।
१२. ७९२ क, २. ७९४ रवि २, ३; ७९४ फरीद २ ।

रखा है। दूसरी ओर आते हुए यम के दूतों[१] का दृश्य उपस्थित किया। तब भयभीत जीव को यम से रक्षा के लिए 'नाम' का महत्त्व[२] बताया। अशक्त वृद्धावस्था में ही नाम लेना चाहिए, क्योंकि नाम ही तो यम से बचा कर भव-पार ले जाकर भगवान से मिला सकता है। इसी आत्मा (स्त्री) और परमात्मा (पुरुष) के परिणय का सभी ने वर्णन किया है।[३]

इसी की व्याख्या में कबीर ने विषयों की कौवो से तुलना करते हुए 'थाकी सुन्दर काइआ' और 'एक न थाकसि माइआ'[४] कह कर उसे ही ब्रह्म भुलानेवाली बताया है। अतः 'जाकउ हरि रंगु लागा। धनु धनु सो जनु पुरखु सभागा'[५] ब्रह्म के रंग में लीन ही तो सौभाग्यशाली है। कबीर के अंतिम पद का स्वर अन्य पदों से भिन्न है, जिसमे उसने देह (दुर्ग) रचना का वर्णन किया है तथा इन्द्रियों से रक्षक सत का महत्त्व स्वीकार करते हुए 'संत रामु है एको'[६] कह कर संत---निन्दकों को दूर भगाया है। 'तनु मनु देह न अंतरु राखै'[७] रविदास की पतिव्रता आत्मा ने तो कह कर पति (भगवान्) के सम्मुख आते ही पूर्ण आत्मसमर्पण कर अपने आपको उसकी शरण में सौंप दिया और 'जिउ जानहु तिउ करु गति मेरी'[८] यह है उसकी दीनता और आत्मसमपर्ण का चरम। यही है भक्त रविदास के व्यक्तित्व की एक झलक।

फरीद ने भी अपने आपको परमात्मा की पत्नी स्वीकार किया तथा उसका महत्त्व न जानने के कारण युवावस्था व्यर्थ गवाई।[९] अपनी मूर्खता और पति के क्रोध का ज्ञान होते ही वह पछताया। खड्ग के समान विकट जीवन-पथ में एक-मात्र प्रभु ही साथी है। अतः जीवन के प्रात.काल में ही उस पथ के पथिक बनना चाहिए,[१०] ताकि उसे प्राप्त कर सके। इसी भाव को अगले पद में तो और भी स्पष्ट कहा है, कि जीवात्मा यदि माया में फँसी रह गई तो पति से 'फिरी होई न मेला।'[११] और तब देह नष्ट हो जाएगी तथा देही (हंस) चला जाएगा।[१२] इस प्रकार फरीद का स्वर भी प्रधान स्वर का ही सहायक स्वर है।

राग बिलावलु प्रसन्नता का राग है। आनन्दोल्लास मे भगवत्-महिमा एवं गुण-गान करता हुआ भक्त पुकार उठता है—

---

१. ७९२ क, ३, ७९३ रवि २, ७९४ फरीद २।
२. ७९२ क, १, ७९३ रवि २,३।
३. ७९२ क, २, ७९३ रवि २, ७९४ फरीद २।
४. ७९२ क, २, ७९३ रवि १, ७९४ फरीद १।
५. ७९३ क, ४। ६. ७९२ क, ३।
७. ७९३ क, ५। ८. ९. ७९३ रवि १।
१०. ७९४ फरीद १। ११. ७९४ फरीद २।
१२. फरीद के इस पद की व्याख्या गुरू नानक के 'जप तप का बंधु बेड़ुला' (७२९ म० १,४) में प्राप्त है।

तू सुलतानु कहा हउ मीआ तेरी कवन बड़ाई।
जा तू देहि सु कहा सुआमी मैं मूरख कहनु न जाई ॥[१]

भगवान के गुण अनत है, जीव सीमित शक्ति एवं अज्ञ; वह उसका रूप कैसे बखान कर सकता है ? गुरुओं की वाणी का प्रधान स्वर यही है जिस प्रकार ताल का पानी भी गंगा से मिल कर पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार गुरु शरण मे आए भगवत्-निन्दक को भी वह भव-पार लगा देता है।[२] और 'नाम' ही इसका साधन है। यह दूसरा विचार है।

संतों की वाणी मे प्रार्थना का स्वर प्रधान है।[३] संतो की प्रार्थना में आडम्बर नही, वे तो पूर्ण आत्मसमर्पण कर केवल उसकी शरण मांगते हैं।[४] उनका ध्येय महान् है, लौकिकता से कही दूर—क्योकि, उन्हें सत्य का ज्ञान हो चुका है। अतः वे तो शाश्वत भगवत्कृपा की ही प्रार्थना करते है। यही उनका प्रधानतम स्वर है। नामदेव को छोड़ शेष संतों ने ब्रह्म गुण-गान से भी अपनी वाणी का महत्त्व बढ़ाया है[५] और ब्रह्मा का पाप एवं दुष्कर्म नाशक रूप ही उन्हें सबसे अधिक प्रिय रहा है।[६] क्योंकि शरण में आते हुए सब पापों को स्वीकार कर अति नम्र बन जाना आवश्यक है, नहीं तो आत्मसमर्पण कैसा ? साधन भक्ति और उसमें भी 'नाम' के महत्त्व को वे भूले नही,[७] क्योंकि शरण में लेने पर ब्रह्म 'नाम' तो स्वतः ही उन्हें दे देंगे।

यहाँ कबीर के पदों में विचारधारा का क्रम अधिक वैज्ञानिक एवं सम्बद्ध बन सका है। जगत् एवं देह की अनित्यता[८] उसे यम की याद दिला देती है[९] साथ ही उसे यह भी ज्ञान हो जाता है, कि माया निर्लिप्त भक्त ही मुक्त है[१०] और उसे ही ब्रह्म प्राप्ति होती है।[११] इसीलिए सत मत की भक्ति ज्ञान का सम्बल लेकर चलती है। जिज्ञासु की जिज्ञासा कुछ आधार बना कर अनुभूति की दिशा में अग्रसर होती है और तब गुरु माध्यम से 'रामै रंगि राता'[१] कबीर को विश्वास हो गया है कि 'मिलि है सारंग पानी रे'[१२] यह पता लगते ही कबीर बोल उठे—'तुम समसरि नाही दइआलु मोहि समसरि पापी'[१३] तब कबीर की माँ रुष्ट होकर झल्ला उठी।

'ताना बाना कछु न सूझै हरि रसि लपटिओ। हमारे कुल कउने राम कहिओ' 'जब की माला लई निपूते तब ते सुखु न भइओ'[१४] सुख होता भी कैसे ? ताना बुनते-बुनते नाम में तल्लीन हो गया। कपडा बना नही, तो रोटी कहाँ से मिले। माँ

१. ७१५ म० १,१। २. ८५४ म ३, १३।
३. ८५५ क, ३, ८५८ रवि १, ८५८ सधना ११।
४. ८५५ क, ३, ६, ८५८ रवि १, ८५८ सधना १।
५. ८५७ क १०, ८५८ रवि १,२, ८५५ स० १।
६. ८५६ क, ६, ७; ८५८ रवि २, ८५८ सधना १।
७. ८५७ क, ४, ८७५ नाम १।
८. ८५७ क, १०, ११। ९. ८५५ क, १।
१०. ८५७ क, १२। ११. ८५७ क, ११।
१२. ८५५ क, १। १३. ८५६ क, ३। १४. ८५६ क, ४।

का उपालम्भ कितना सत्य है, सम्भवतः इसीलिए कबीर और ये सभी संत गार्हस्थ्य जीवन के त्याग का—निवृत्ति मार्ग को अपनाने का न तो उपदेश ही दे सके और न ही स्वतः उसके अनुयायी बन सके। उनका संदेश एवं आदर्श तो निर्लिप्त प्रवृत्ति-मार्गी बनने का है। यह कबीर के गार्हस्थ्य जीवन की निष्कपट झलक है। तब अनुभूत आत्मा बोल उठी 'कोई हरि समानि नही राजा'[1] क्यों? क्योंकि 'मन मेरे बाजे अनहद बाजा' उसे भगवान पर विश्वास है, उसने जैदेव नामा बिप्र सुदामा' सभी का तो उद्धार किया है।[2] अतएव कबीर 'सरनि परे तुमरी पगरी' यह कह कर 'इह विनती सुनी अहु मत घालहु जम की खबरी'[3] उसने पूर्ण आत्मसमपर्ण करके भी विनती न छोडी। भक्त की दीनावस्था का यही चरम है। व्यक्तित्त्व कैसे 'अहं' का यही तो विनाश है। भगवान् की शरण पा—उसे भली-भाँति जान कर अंतर में अनुभव करते-करते कबीर बुडबुड़ा उठा 'आप आप ते जानिआ' और अंत मे 'तेज तेज समाना'[4] क्रमशः माया का प्रभाव और जीव के आवागमन का चक्र समाप्त हुआ। यही है नश्वर संसार का अंत।

नामदेव को न तो संसार का ज्ञान है और न उसकी नश्वरता का। अपने नाम के अनुकूल 'नाम' में ही वह तो तल्लीन है, क्योंकि गुरू ने उसे यही शब्द दिया है। इसलिए उसका तो प्रधान स्वर यही है 'नामदेइ सिमरन करि जाणाँ।'[5]

'दारिदु देखि सभ को हसै ऐसी दसा हमारी'[6] रविदास को अपनी दरिद्रता का विचार कही भी तो भूला नही। लेकिन शरणागत ने शरण मे उसे अपना जो लिया, अतएव उस अथक के गुण-गान मे तल्लीन थक कर पुकार उठता है 'जैसा तू तैसा तुही किआ उपमा दीजै'[7] भगवान् तो कुल, धन जाति आदि का विचार किए बिना ही भक्त को तार देते हैं, इसीलिए, तो 'पंडित सूर छत्रपति राजा—' लेकिन 'भगत बराबरि अउरु न कोइ'[8] नीच कुलोत्पन्न होने के कारण रविदास को तो भगवत्सामीप्य प्राप्त करना था न। अतः भक्ति अपना सभी भक्तों को निकट स्थान प्राप्त है, अपनी इस धारणा का प्रसार भी तो आवश्यक था। यही उसके उत्तर की प्रतिध्वनि है।

संत सधना का सारे 'ग्रंथ' मे एक ही पद प्राप्त है। इसमें भी 'नृप-कन्या' प्राप्त्यर्थ वेशधारी स्वार्थी एवं कामार्थी व्यक्ति की कथा की व्याख्या में ही अपने विचारों को प्रकट किया है।[9] भगवान तेरे शरणागत होने का क्या लाभ यदि पुरातन कर्मफल का तू नाश नहीं करता?[10] क्योंकि एक-मात्र तू ही सर्व-समर्थ है। भक्त की

१. ८५६ क, ५।
२. ८५६ क, ७।
३. ८५६ क, ६।
४. ८५७ क, ११।
५. ५५८ नाम, १।
६, ७. ८५८ रवि १।
८. ८५८ रवि २।
९. ८५८ सधना १। सि० रि० मैकालिफ. भाग ४, पृ० ८७; भगत वाणी सटीक: जोध सिंह पृ० २२४।
१०. ८५८ सधना १।

तड़पन की तुलना बूंद भर जल के लिए प्यासे चातक से की है।[1] लेकिन मृत्यु के बाद तो समुद्र भर पानी भी उसके किसी काम का नहीं, और न ही माया में लिप्त मनुष्य को मरने के बाद 'नाम' रूपी नौका भव-पार ले जाने के लिए किसी काम की होती है।[2] अत. सधना तो अपने व्यक्तित्त्व का पूर्ण विघटन करके पहले ही शरण में आकर पुकार रहा है—(क्योंकि आजीविका में हिंसावृत्ति के कारण उसे अपने गत जीवन में अर्जित पापों का ढेर जो दिखाई दे रहा है।) 'मैं नाही कछु हउ नाही किछु आहि न मोरा, अउसर लजा राखि लेहु सधना जनु तोरा।' यही उसकी शरणागति है, और है भगवत्-विश्वास।

राग गौंड संयोग एवं प्रसन्नता का राग है। भक्तों को कष्टों से बचाने भगवान आता है।। क्योंकि भक्त का कष्ट स्वतः भगवान का कष्ट है। इस प्रकार भगवान द्वारा रक्षित भक्त उसे पा प्रसन्न हो उठता है। यही है भगवत्मिलन और उससे उत्पन्न आह्लाद। अपने आप को उच्च जाति व पद का समझनेवाला कष्ट-दाता है, लेकिन भक्ति में जाति व पद का कोई महत्त्व नहीं, यह भी स्पष्ट किया गया है। अनुपात की दृष्टि से इस राग में भक्तों की वाणी सबसे अधिक परिमाण में प्राप्त है।'[3]

संतों की वाणी का प्रधान स्वर यही है, कि 'नाम' बिना भव-पार नही पहुँचा जा सकता,[4] क्योंकि तीर्थ स्थान, दान, पूजा आदि सभी बाह्याडम्बर व्यर्थ हैं।[5] अतः गुरू-कृपा से प्राप्त[6] अनन्य भक्ति[7] आवश्यक है। यह अनन्य भक्ति ही तो भक्त को पार लगाती है। इसी भक्ति के कारण ही भगवान ने समय-समय पर (कष्ट के समय) अन्यान्य संतों की रक्षा की है,[8] साधु निन्दक या कष्ट देनेवाला 'पापी नरकि सिधारिआ'[9] यह कह सभी भक्त सर्वव्यापक एवं सर्वान्तरयामी ब्रह्म के गुण-गान में तल्लीन हो जाते हैं।[10]

कबीर ने इसीलिए तो संत से विचार-विनिमय से उपकार तथा असत के सम्मुख मौन रहने का संदेश देकर संत-माहात्म्य स्थापित किया है।[11] पशु के समान मर कर भी काम मे न आनेवाली मनुष्य देह को तो 'हाड जले जैसे लकरी का तूला' और 'केस जले जैसे घास का पूला' ऐसा तत्त्वहीन बताया है। क्योंकि पाँचों तत्त्वों में भी असली तत्त्व तो वही है अतः 'राम नाम न छोडउ'[12] आत्मा के 'नेति'

१. २. ८५८ सधना १।
३. कुल ४९ शब्दों में २० भक्तों के है। देखें तालिका १।
४ ८७२ क, ९, ११; ८७३ नाम १, ५ : ८७५ रवि १।
५. ८७२ क, ८, ८७३ नाम १, ८७५ रवि २।
६. ८७१ क, ७, ८७४ नाम ४, ६।
७. ८७२ क, ९, ८७३ नाम २, ४, ६, ८७५ रवि १।
८ ८७१ क, ४, ८७३ नाम ३, ८७५ रवि १। ९. ८७० क, १ ८७५ रवि २।
१०. ८७३ क ११, ८७४ नाम ६, ८७५ रवि १।
११. ८७० क, १,। १२. ८७१ क, ३।

स्वरूप[1] के वर्णन में थक कर कहु कबीर—'इहु राम का अंसु, जस कागद पर मिटे न मंसु।'

तब दुष्प्रभावशालिनी माया ने 'जगत पिआरी' बन कर न केवल 'ब्रह्मा बिसनु महेसर बेधे' इस प्रकार सब को विचलित किया, केवल कृपालु गुरू ही भक्त की उससे रक्षा कर पाता है।[2] अतः भव पार जाने को भक्त के लिए 'नाम' उतना ही आवश्यक है, जितना जल रखने के लिए घड़ा, मणियों को पिरोने के लिए सूत तथा पुत्र जन्म के लिए माँ-बाप आदि का होना आवश्यक है। इस 'नाम' को अपनाने के लिए मन को पवित्र रखना आवश्यक है, क्योंकि 'मन कूटै तउ जम ते छूटै'[3] इस प्रकार यम से छूट कर ही भक्त को 'तिन कउ मिलिबो सारंगपानी' यही तो जीव का साध्य है अतः 'जपीऐ नामु अंत कै सादि'[4] जिस प्रकार अन्न ही प्राणदाता है, उसी प्रकार 'नाम' जाप ही भगवत्मिलन करानेवाला है। क्योंकि 'तजिऐ अंनिन-मिलै गुपालु' भगवत्प्राप्ति के लिए 'नाम' जाप ही भोजन है। यह है उद्दण्ड कबीर की मधुर अनुभूतियों का परिणाम।

सामान्यतः नामदेव भक्त ही है, लेकिन यहाँ उसें भी बाह्याडम्बर के खण्डन की आवश्यकता अनुभव हुई और एक साथ ही अश्वमेध यज्ञ से लेकर दान, स्नान, वेद, षटकर्म सभी को व्यर्थ बता डाला।[5] लेकिन भव-पार होने के लिए तो 'सिमिर सिमिर गोविंद'[6] नामी के लिए आवश्यक है ऐसी अनन्यता; तल्लीनता जैसी मृग की नाद में, मछुए की मछली में, सुनार की आभूषण में तथा जुआरिए की कौड़ियों में।[7] अन्यथा अन्य देवी-देवता के पुजारियों की दुर्दशा का भी वर्णन आगे है।[8] अनन्यता से भी बढ़ कर आवश्यक है, भगवान् के लिए अंत.करण की तीव्रतम तडपन, जैसी मीन में पानी के लिए, बच्छे में गाय के लिए तथा विषयी में पर नारी के लिए होती है।[9] 'तैसे राम नामा बिनु बापरो नामा'[10] अन्ततोगत्वा है तो भक्त ही, अतः भगवान् से प्रार्थना कर उठता है, 'मोकउ तारि ले'[11] क्योंकि 'मैं अजानु जनु तरिबे न जानउ' अतः 'बाप बीठुला बाह दे' भक्त की असमर्थता में ही उसकी महानता छिपी है, उसके दीन अशक्त रूप के पीछे ही तो उसके दयालु सशक्त पति का रूप स्थिर है। भगवान् ने ध्रुव, प्रह्लाद, अजामिल, गणिका किसकी पुकार सुन उन्हें नहीं तारा अतैव[12] 'राम नाम गहु मीता'।[13]

नामदेव का अंतिम पद गौंड में होते हुए भी जिसके ऊपर 'बिलावलु गौड' लिखा है, वाक्य रचना एवं क्रिया पदों की दृष्टि से आधुनिकतम खड़ी बोली के

---

१. ८७१ क, ५।
२. ८७२ क, १।
३. ८७२ क, ६।
४. ८७२ क, १०।
५, ६. ८७३ नाम १।
७. ८७३ नाम २।
८. ८७४ नाम ६।
९, १०. ८७४ नाम ४।
११. ८७३ नाम ३।
१२. ८७४ नाम ५।
१३. ८७४ नाम ६।

निकट है और उसमें 'भक्त मूर्ख नामा' अक्खड़ नामदेव बन मूर्खों को समझाने चला है—हे पंडित ! तुम्हारी गायत्री लंगड़ी है।[१] 'पांडे तुमरा रामचंदु सो भी आवतु देखिआ था' उसे ही तुम भगवान् कहते हो न जिसकी पत्नी को रावण चुरा ले गया था।[२] इसीलिए 'हिन्दु अन्हा तुरकु काणा' और 'दुहाँ ते गिआनी सिआणा' क्योंकि ये दोनों तो 'हिंदू पुजै देहुरा मुसुलमान मसीत' और 'नामे सोई सेविआ जउ देहुरा न मसीत'[३] यही है नामदेव के बीठल का स्वरूप—निराकार—केवल 'नाम' स्मरण से प्राप्य।

रविदास सदा की भाँति नीच जाति के भक्तों के भी उद्धारक मुकुन्द को नहीं भूल सकता।[४] इसलिए भक्त में 'उपजिओ गिआनु हुआ परगास'[५] और तृष्णा समाप्त करके वह भगवत्सेवा में तल्लीन हो गया।[६] रविदास का इस राग में यह स्वतंत्र विचार है।

राग रामकली विशेष महत्त्वपूर्ण राग है। यह योगियों का राग कहा जा सकता है। क्योंकि इसी में गुरू नानक की 'सिद्ध-गोष्ठ' नामक वाणी संगृहीत है। सांसारिक व्यवहार में सफलता पाने के लिए गुरू ने आध्यात्मिकता एवं सदाचार के उपयुक्त संतुलन का महत्त्व स्थापित किया है। बाह्याडम्बरों का त्याग कर, इन्द्रियों को वश में कर, अंतर्मुखी प्रवृत्ति बना 'नमसकारु करि हिरदे माहि' कह कर अन्तर में ही ब्रह्म की अनुभूति को विशेष महत्त्व दिया है।[७]

संतों की वाणी में भी विषयी जीव को इन्द्रियों को वश मे करने का उपदेश दिया है।[८] जिसका साधन है अंतर्ज्ञान, जो योग द्वारा उद्भासित होता है।[९] प्रायः सभी में इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना का वर्णन मिलता है।[१०] इस प्रकार स्पष्टतः योग का महत्त्व स्वीकार किया गया है। तब अनहद-श्रवण एवं अंतर-अनुभूति को ही साध्य बताया है।[११] क्योंकि बाह्याडम्बर तो पाखंड-मात्र है, अतः उनका विरोध किया है।[१२] पढ़ना भी बेकार है,[१३] क्योंकि वह ज्ञान बढ़ा सकता है, लेकिन ब्रह्म तो केवल अनुभूतिगम्य है।[१४] परिणामस्वरूप नामामृत का पान कर[१५] उसी में तल्लीन होना चाहिए।

---

१. ८७५ नाम ७। २, ३. ८७५ नाम ७।

४, ५. ८७५ रवि १। ६. ८७५ रवि २।

७. देखें 'ग्रंथ' एक परिचय।

८. ९७१ क० १०; ९७२ नाम २।

९. ९७० क० ६, ९७३ नाम ४,५, ९७४ बेणी १।

१०. ९६८ क० १, ९७३ नाम ५, ९७४ बेणी १।

११. ९६९ क० १,२, ९७३ नाम ४, ८७४ बेणी १।

१२. ९७० क० ७, ९७३ नाम ६,७।

१३. ९७१ क० १२, ९७२ नाम १, ९७३ रवि १।

१४. ९७ क० १०, ९७३ नाम ७,५, ९७३ रवि १, ९७४ बेणी १।

१५. ९७१ क० ९, ९७३ नाम ७, ९७३ रवि १, ९७४ बेणी १।

कबीर ने मोहिनी माया का भी वर्णन किया है, रक्षक गुरू का महत्त्व भी स्वीकार किया है। जहाँ नाम को आधार बना कर संयमी हो अंतर्मुखी प्रवृति कर योगी को भी यह कह कर 'ऐसा जोगु कमावहु जोगी'[१] चेतावनी दी है। शरीर की तुलना वृक्ष से करते हुए योग के महत्त्व को स्वीकार किया है। वहाँ 'तू' ब्रह्मनु मैं कासीं का जुलहा मुहि तोहि बराबरी कैसे कै बनहिं'[२] कह कर बाह्याडम्बरी ब्राह्मण को ललकारा है तथा 'पहिले दरसनु मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई।२। जैसा मगहरू तैसी कासी हम एकै करि जानी' कह कर अपने सिद्धांतों को क्रियात्मक रूप दिया और 'राम कबीरा एक भए है कोई न सकै पछानी'[३] गर्वोक्ति द्वारा चिढ़ते हुए ब्राह्मण को सदा चिढ़ते रहने के लिए ही छोड़ कर चल बसे या एकत्त्व को प्राप्त हो गए।

नामदेव प्रधानतः भक्त है, अतः उसका प्रधान स्वर कार्य करते हुए भी नाम में ही रमते रहना है। उसका मन तो 'नाम' से दूर जाता ही नहीं—'नामदेव' जो ठहरा।[४]

'कहत नामदेउ सुनहु तिलोचन बालकु पालंन पउढ़ी अले'[५] नामदेव का त्रिलोचन को सम्बोधित करना उनके समकालीन होने का द्योतक है, यह उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

रविदास में योग के स्वर के स्थान पर पढ़ाई को व्यर्थ बता कर उच्च कुलोत्पन्न नाशक 'अहं' को त्याग कर, अंतःअनुभूति पर बल दिया है।[६]

बेणी का स्वर तो पूर्णतः योग का स्वर है, और गुरू नानक के ऐसे ही पद से अत्यधिक भाव, शब्द एवं पद साम्य है।[७]

इसमें उसने इड़ा, पिंगला आदि से आगे बढ़ दशम द्वार तक का भी वर्णन किया है। 'तइ बाजै सबद अनाहद बाणी' को उसने सुन जो लिया था।[८] इन्द्रियों को वश में कर 'अजरू जरै सु निझर झरै' की स्थिति तक पहुँचनेवाले बेणी का यह पद उसे योग-विरोधी नहीं, अपितु योग के सम्यक् ज्ञान एवं अभ्यास द्वारा ब्रह्मामृतपान का अनुभवकर्त्ता सिद्ध करता है।[९] इस प्रकार बेणी का एकाकी स्वर ही गुरू नानक के उसी राग की वाणी एवं शब्दों के भी इतना निकट है, कि इसमें विचार-भेद एवं विषमता को कोई स्थान प्राप्त नहीं। अतः बेणी के इस पद का इस राग में विशेष ऐतिहासिक महत्त्व भी है, क्योंकि यह पद यह भी सिद्ध कर चुका है, कि अपनी वाणी लिखते समय नानक के पास बेणी की सम्पूर्ण वाणी उपस्थित थी।[१०]

---

१. ६७० क० ५। २. ६७० क० ५।
३ ६६६ क० ३। ४. ६७३ नाम ४।
५. ६७२ नाम १। ६. ६७४ रवि १।
७. देखें संत-वाणी किसने संगृहीत की? ८. ६७४ बेणी १।
९. ६७४ बेणी १। १०. देखें संत-वाणी किसने संगृहीत की?

माली गउड़ा भी भगवत्प्राप्ति की तीव्र चाह का राग है। इसमें सर्वसमर्थ एवं सर्वदाता भगवान् का गुण-गान करता हुआ सीमित समर्थ जीव थक जाता है, पर उसका अंत कहाँ ? केवल १७ शब्दों के इस राग में तीन नामदेव के हैं।

नामदेव के लिए तो भगवान् की 'नाम' रूपी बेणु ही धन्य है, जो अंतर में अनहद नाद पैदा करती है[१] तथा खेलते बालकृष्ण को देख प्रसन्न होनेवाली माँ को धन्य कहा है।[२] पुनः गज, द्रौपदी व अहल्या के तारक भगवान् को धन्य कह 'अधमु अजाति नामदेउ तउ सरनागति आइ अले'[३] क्योंकि उसे पूर्ण विश्वास है, कि भगवान् तो शरण में आए अधम से अधम भक्त को भी तार देते हैं। 'एकल माटी कुंचर चींटी' और उसका सर्वान्तरयामी राम तो 'असथावर जंगम कीट पतंगम घटि घटि राम समाना रे'[४] अतः अनन्य हो 'प्रणवैनामा' क्यों कि अनन्य भक्त के निष्काम होने पर 'को ठाकुरु को दासा रे'[५] भक्त इतने उच्च पद पर पहुँच जाता है अतः इस राग में भगवत्मिलन को उत्सुक जीव उसके गुण-गान में ही अपने को भुला देता है और अनायास ही अपने साध्य पर जा पहुँचता है। यही इस राग की विशेषता है।

राग मारु यद्यपि युद्ध का राग है, लेकिन गुरू इसे भी नम्रता के राग में परिणत करते हुए बोले- 'साजन तेरे चरन की होई रहा सद धूरि, नानक सरणि तुहारीआ पेखउ सदा हजूरी'[६]

इस प्रकार 'अहं' नाश कर पूर्ण आत्मसमर्पण को ही इस राग में प्रधान स्थान प्राप्त है। आत्मसमर्पण में भी तारक ब्रह्म से 'नाम' दान की प्रार्थना की गई है।

संतों की वाणी का प्रधानतम स्वर भी नाम का ज्ञान एवं उसका महत्त्व-कथन है,[७] वस्तुतः उसका महत्त्व जप द्वारा भव-पार ले जाने में है, परिणामस्वरुप जीव को एक-मात्र जप का ही आश्रय लेना चाहिए।[८] क्योंकि 'राजा-राम जपत को को न तरिओ' इसके लिए इन्द्रियों को वश में कर[९] तथा मन को शुद्ध कर उसे अन्तर में अनुभव करना होगा[१०]। उस अनुभूति में तल्लीनता आने पर 'उदक समुदं सलल की साखिआ नदी तरंग समावहिगे'[११] अथवा 'सलल कउ सललि संमानि आइआ, नदी में तरंगवत् अथवा जल में जलवत् साध्य है। साध्य-प्राप्ति में गुरू-उपदेश के महत्त्व

१, २. ६८८ नाम १। ३. ६८८ नाम २।
४, ५. ६८८ नाम ३। ६. ६८९ म० १, १।
७. ११०२ क० १, ६, ११०५ नाम १, ११०६ रवि २।
८. ११०६ क० १, ११०५ नाम १, ११०६ रवि २।
९. ११०४ क० ७, ११०६ जयदेव १।
१०. ११०४ क० ८, ११०५ नाम १, ११०६ जयदेव १।
११. ११०३ क० ४, ११०५ नाम १, ११०६ जयदेव १।

को भी स्वीकार किया है।[१] इन पदों में ब्रह्म के कृपालु, ऋद्धि-सिद्धि दाता रूप का तो वर्णन है ही, इन सबसे अधिक गुण-गान 'तारक-ब्रह्म' का है।[२]

कबीर ने तो 'वेद पुरान पड़े का किआ गुनु खर चन्दन जस भारा'[३] कह कर 'नाम' का ज्ञान आवश्यक ही कर दिया, क्योंकि महत्त्व न जाननेवाले गधे पर चन्दन भार-मात्र ही तो है। कबीर के 'मनु जीते जगु जीतिआ'[४] का विशेष महत्त्व न केवल भाव की दृष्टि से है, अपितु गुरु नानक को भी यह पद इतना अच्छा लगा कि अपने उत्कृष्टतम (सूत्र) वाणी जपुजी में इन्होंने इसे ही 'मनि जीतै जगु जीतु'[५] इस रूप में परिवर्तित किया, जो कि सिख धर्म के अत्युत्कृष्ट सिद्धान्त-सूत्र के रूप मे प्रचलित है। सत्कर्मों का महत्त्व स्थापित करते हुए कबीर ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए नीच जाति में उत्पन्न होने को दोष रूप में स्वीकार नही किया। अतः कर्म-क्षेत्र से पलायन को दुतकारा है[६] और जाते-जाते यह भी उद्घोष कर गए—'अनभउ किनै न देखिआ'—भगवान् केवल अनुभूति-गम्य है और अनुभूति भी अदृश्य।[७] अतः बिना कहे-सुने उसे केवल अनुभव करने का ही प्रयत्न करना चाहिए।[८]

तब बाह्याडाम्बर विरोधी नामदेव तारक भगवान की सोदाहरण महत्ता स्थापित करते हैं—

नामा कहै भगति बसि केसव अजहूँ बलि के दुआर खरो।[९]

नामदेव की जिस भक्ति के वश भगवान् है, दुष्कर्मों का त्याग कर उसकी ओर जीव को प्रेरित करते हुए कबीर कहते है—'रामु नामु जानिओं नहीं कैसे उतरसि पारि।'[१०]

तत्पश्चात् प्राप्त जयदेव के पद मे सामान्य भक्तों के स्वर से भिन्न योग का स्वर प्रधान हो गया है,[११] तथा योग की आन्तरिक क्रियाओ द्वारा ब्रह्म से समदृष्टि उत्पन्न कर जल मे जलवत् समा कर'बदति जैदेव जैदेव कउ रमिआ ब्रहमु निरबाणु लिवलीणु पाइआ' वह तो उसमें लवलीन हो गया।

'रामु सिमरु पछुताहिगा मन पापी जीअरा लोभु करतु है आजु कालि उठि जाहिगा'[१२] कबीर पुनः दृढ़तम शब्दों में लोभी एवं भ्रम मे पड़े हुए जीव को सतर्क कर

१. ११०३ क० ४; ११०५ नाम १।
२. ११०४ क० ५, ११०५ नाम १, ११०६ रवि १।
३. ११०३ क० १।
४. ११०३ क० २।
५. ६ म० १, २८।
६. ११०५ क० २।
७. ११०४ क० ८।
८. 'कबीर का सबदु रागु मारू बाणी नामदेउ जी का' भूल से कबीर का नाम पहले और नामदेव का पीछे आता है. जबकि शब्द नामदेव का पहले और कबीर का बाद में है। यह भी एक अपवाद ही है, ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त।
९. ११०५ नाम १।
१०. ११०५ क० १।
११. १००६ जयदेव १।
१२. ११०६ क० १।

देता है। स्पष्ट ही कहता है 'धन जोबन का गरबु न कीजै'—क्योंकि धर्मराइ तो लेखा मांगेगा, अतः 'कहतु कबीरु सुनहु रे संतहु साध संगति तारि जाँहिगा ।।' यदि अब भी भ्रम में पड़ा हुआ जीव सतर्क न हो, तो इन अपढ़, परन्तु अनुभूत संतों का क्या दोष ?

रविदास को अपनी नीच-जाति का ध्यान है, अतः उसमें कबीर की अक्खड़ता नही—विनम्रता है, क्योंकि उसका ब्रह्म तो 'नीचह ऊच करै' और ऐसा करते हुए 'मेरा गोबिंदु काहू ते न डरै'[१] वही तो सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धियों का दाता है, अतः—

हरि हरि हरि न जपसि रसना। अवर सभ छाडि बचन रचना ।।[२]

उसके 'नाम' में तल्लीनता ही भव-पार होने का एक-मात्र उपाय है, क्योंकि 'नामदेव कबीरु तिलोचनु सधना सैनु तरै'[३] यह सब भक्त नीच होते हुए भी 'नाम' द्वारा भगवत्कृपा से 'तरे' हैं। उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी स्पष्ट है, कि रविदास आयु में इनसे कुछ छोटा तथा इन सबसे परिचित था। जो इनका समय निर्धारण करने में एवं जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने में सहायक है।

इस प्रकार राग-मारु में वर्णित संत-वाणी का अपना विशेष महत्त्व है। राग केदारा की स्थिति विचित्र ही है, यह वियोग का राग होते हुए भी उसके साथ-साथ प्रसन्नता का राग है। आत्मा और परमात्मा में माया के कारण बहुत अन्तर है, यही वियोग का कारण है। लेकिन जीव की तीव्र मिलन-चाह इस अन्तर को कम होता देख कर प्रसन्न होती है, क्योंकि मन में 'नाम' होते हुए भी अदृश्य उसे 'गुरू पूरा मिलै लखावीए रे ।।'[४] अतः संत के गुण बताते हुए सत्संगति एवं गुरू का महत्त्व भी स्पष्ट किया है।

'उसतति निंदा दोऊ बिबरजित तजहु मान अभिमान' तथा 'कामु क्रोध लोभु मोहु विबरजित' जो 'हरि पद चीनै' वही तो संत है।[५] तृष्णा माया के भ्रम से बच कर जिसके अन्दर 'दीपकु परगासिआ' और इस प्रकार 'अंधकारु तह नासा'[६] वही तो असली संत है। दूसरे पद में कबीर ने सांसारिकों में अपने आपको संतों से प्राप्त हीरे रूप 'हरि के नाम के विआपारी'[७] कहा है, क्योंकि 'आपहि रतन जवाहर मानिक आपे है पासारी'[८] वह स्वयं ही तो सब कुछ है। यही एक-मात्र सत्य है। निर्गुण काव्य में कवित्व के दर्शन न करनेवाले हिन्दी कवियों के उत्कृष्टतम रूपकों में इसे स्थान न दें, तो हमें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु 'मनु करि बैलु सुरति करि पैदा गिआन गोनि भरि डारी' की साहित्यिक सादगी हमें लुभाए बिना नहीं रहती।

---

१. ११०६ रवि १। २. ११०६ रवि २।
३. ११०६ रवि १। ४. १११८ क० १।
५, ६. ११२३ क० १। ६. ११२३ क० २।
७. ११२३ क० २।

अतः योग-साधना द्वारा दशम द्वार में पहुँच अमृत रस पान करते हुए अभय-पद पाकर उसी में मस्त होने का वर्णन कबीर के अगले पद में मिलता है।[१] जिससे योग का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। पुनः शेष पदों में क्षणिक देह[२] एवं अस्थिर सांसारिक सम्पत्ति[३] के लिए यम को भूल कर 'नाम' को भुलाने में जीवन की व्यर्थता प्रतिपादित की गई है।[४] 'अहं' छोड़[५] एक-मात्र कर्त्ता भगवान की कृपा से प्राप्त गुरू से भेंट कर तारक 'नाम' में तल्लीन होना ही जीवन भर की सफलता है।[६] यही कबीर का स्वर है।

रविदास भक्ति का माहात्म्य बता जीव को सतर्क करता है, 'रे चित चेति चेत अचेत'[७] क्योंकि इस भक्ति से ही वाल्मीकि और अजामिल 'ऐसे दुरमति निस-तरे तू किउ न तरहि रविदास'[८] यह कह रविदास तो भगवद्भक्ति में तल्लीन हो गया। जहाँ कबीर की वाणी उपदेशात्मक अधिक है, वहाँ रविदास की क्रियात्मक अधिक। सम्भवतः उसने गंतव्य को जान लिया है और यह है अभी उस पथ का अनवरत पथिक।

प्रातःकाल में गेय राग भैरों विशेषतः सर्दी का राग है। इसमें गम्भीर विचारों का प्रतिपादन हुआ है। मानव-जीवन की बड़ी अवरोधक शक्ति 'अहं' से ही 'रोगी ब्रहमा बिसनु सरुद्रा रोगी सगल संसारा[९] सम्पूर्ण संसार रोगी है। इससे रक्षक गुरू का माहात्म्य इसका दूसरा प्रधान विषय है। क्योंकि उसके अलावा यज्ञ, दान, जप, पुण्य तथा अन्य कोई भी सत्कर्म बिना 'नाम' के भव-पार नहीं पहुँचा सकता।[१०]

संतों की वाणी का प्रधानतम स्वर 'नाम' के महत्त्व का दिग्दर्शन है।[११] क्योंकि एक-मात्र 'नाम' ही भव-तारक एवं अभयपद देनेवाला है[१२] और जिस हरि का यह 'नाम' है, उसकी महिमा का तो कोई अन्त ही नहीं।[१३] अतः अनन्य भक्ति[१४] की आवश्यकता है, जिसका सच्चा मार्ग-दर्शक है सत्गुरू।[१५] सत्संगति एवं सत्कर्म भी नाशक 'अहं' के विघटन में कुछ अंशों तक सहायक सिद्ध होते है।[१६]

कबीर के पद प्रायः उपदेशात्मक ही पाए जाते है, लेकिन यहाँ उसके पद व्यक्तिगत ही अधिक है। कबीर की सम्पूर्ण सम्पत्ति तो एक ही है और वह 'इहु

१. ११२३ क० ३। २. ११२४ क० ४।
३. ११२४ क० ५। ४. ११२४ क० ४, ६।
५. ११२४ क० ५। ६. ११२४ क० ६।
७,८. ११२४ रवि १। ९. ११५३ क० १, १।
१०. ११२७ म० १, ८।
११. ११५७ क० १, ११६३ नाम १, ११६७ रवि १।
१२. ११६२ क० १६, ११६४ नाम ४, ११६७ रवि १।
१३. ११५८ क० ३, ११६४ नाम ५, ११६७ रवि १।
१४. ११५७ क० १, ११५६ नाम ८।
१५. ११६० क० ११, ११६७ नाम ११।
१६. ११६१ क० १४, ११६५ नाम ८।

धनु मेरे हरि को नाउ'[१] उस नाम से इतनी घनिष्ठता स्थापित कर ली, और उससे बोला, कि 'तुमहि छोडि जानउ नही दूजी'[२] क्योंकि उसी ने तो माया एवं नाशक 'अहं' से रक्षा की है'[३]। रावण की नश्वर लंका की भाँति सांसारिक सम्पत्ति का कोई महत्त्व नही,[४] अतः एक-मात्र सत्य एवं पवित्र[५] ब्रह्म के सेवक बनो, क्योंकि 'मैला ब्रहमा मैला इंदु'[६] और संसार में सभी कुछ तो मैला है। अतः निमाज आदि बाह्या-डम्बर छोड़[७] उसे अन्तर में पहचानो। पुनः उस सत्संगति का महत्त्व बताया है'[८] जिससे 'संतन संगि कबीरा बिगरिओ'। पुनः माथे पर तिलक और हाथ में माला ले जिन 'लोगन रामु खिलउना जानाँ'[९] उन्हें कबीर ने दुत्कारा और अपने को पागल कहनेवालों को 'कबीर का मरमु राम पहिचाना'[१०] कह कर संतुष्ट किया। अत. 'पंडित मुल्ला छाड़े दोऊ'[११] तथा अपना जुलाहे का क्रियात्मक जीवन बिताया और 'नाम' से ही धनी बन बैठा। क्योंकि 'निरधन आदरु कोई न देइ'[१२] गुरू सेवा से भक्ति तथा भक्ति से ही मानव-देह प्राप्त हुई है, अतः उसका सदुपयोग भगवत्भजन में ही है,[१३] पुनः दुष्प्रभाविनी माया का वर्णन किया है[१४] तथा कर्मानुकूल फल-विधान में विश्वास प्रकट किया है।[१५] विराट् दुर्ग रूपी देह के राजा (मन) को 'साध संगति अरु गुरू की कृपा ते पकरिओ गढ़ को राजा'[१६] वश में कर लिया। भक्ति, सत्कर्म तथा सत्संगति को सहायक बना कर। तब 'स्मरण' भय से यम भी भागा और कबीर ने 'राजु लीओ अविनासी'[१७] यौगिक देह में सहस्रदल कमल में पहुँच उसने अमृत-रस का पान किया[१८] क्योंकि ब्रह्म के निवास स्थान 'शून्य' को उसने जान कर उसी मे ध्यान लगाया था।[१९] अंत में पण्डों, मुल्लाओं तथा योगियों के लिए अक्खड़ कबीर भी भगवान् से सामने दीन होकर आरती करने लगा। सम्भवतः इसीलिए कि ग्रंथ में उसका यह अन्तिम पद है। प्रथम उसके स्वरूप और गुण का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, लेकिन 'बिदिआ कोटि सभै गुन कहै, तऊ पारब्रह्म का अन्त न लहै'[२०] इस बेचारे अपढ़ जुलाहे की क्या बिसात?—थक कर, अन्य देवी-देवताओं का विरोध कर[२१]—अनन्य बन 'देहि अभै पदु मांगउ दान' यह प्रार्थना करते हुए निरन्तर भक्ति में ही तल्लीन हो गया। यह है कबीर के 'कबीरत्त्व' का दिग्दर्शन।

सिकन्दर लोदी द्वारा जंजीर से बाँध कर गंगा में फेंकने का वर्णन उसी में

१, २. ११५७ क० १।
३. ११६१ क० १४।
४. ११५८ क० २।
५. ११५८ क० ३।
६. ११५८ क० ३।
७. ११५८ क० ४।
८. ११५८ क० ५।
९, १०. ११५८ क० ६।
११. ११५९ क० ७।
१२. ११५९ क० ८।
१३. ११५९ क० ९।
१४. ११६० क० १३।
१५. ११६१ क० १५।
१६. ११६१ क० १७।
१७. ११६१ क० १७।
१८. ११६२ क० १९।
१९. ११६२ क० १९।
२०, २१. ११६२ क० २०।

है;[१] परन्तु भक्त की रक्षा की परवाह ब्रह्म को स्वतः ही है, जंजीर टूट गई और कबीर सुरक्षित रहा। एक पद में लोई को भी सम्बोधित किया है।[२] उनका ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

नामदेव तो 'नाम' के लिए इतना व्यग्र हो उठा है, कि 'नाम' न लेनेवाली जीभ के 'करउ सत खंड'[३] क्योकि जीभ का तो कार्य ही एक है—'भगवत्भजन' और उसके बिना 'जैसे पसु तैसे ओइ नरा'[४] इतना ही नहीं, 'जो न भजते नाराइना, तिन का मै न करउ दरसना'[५] इससे अधिक मानव की क्या उपेक्षा हो सकती है। नामदेव ने 'नाम' का महत्त्व जान अपने 'नाम' को भी सार्थक सिद्ध कर दिया। इसीलिए औरों को भी बिना वाद-विवाद के उसे स्वीकार करने को कहा।[६] कामी को कामिनी, भूखे को अनाज, प्यासे को पानी तथा लोभी को धन की तड़पन की तरह ही नामदेव को 'नाम' की तड़पन थी[७] और इस तड़पन के निरंतर अभ्यास ने उसे इतना स्वाभाविक बना दिया है, जितना बालक का अपनी माँ से सहज स्नेह,[८] क्योंकि स्वतः उद्भूत प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। सर्वनियंता एवं सर्वदाता ब्रह्म स्वतः ही भक्त के रक्षार्थ आता है यह प्रह्लाद का उदाहरण देकर सिद्ध कर दिया है।[९] क्योंकि 'नामे नाराइन नाही भेदु' नामदेव ने अपने नाम के अनुरूप ही 'नाम' को विशेष महत्त्व दिया है अतः गुरू का सर्वत्र इतना वर्णन कर उसके सम्पूर्ण महत्त्व को ही स्वीकार किया है। रक्षक एवं मार्ग-दर्शक तो क्या, वह तो सभी तीर्थों का स्नान करनेवाला एवं विष को भी अमृत कर देने वाला है।[१०] वस्तुतः वही तो अमरत्त्व देनेवाला है।[११] इसलिए 'सति सति सति सति सति गुरदेव' और 'झूठु झूठु झूठु झूठु आन सभ देव'[१२] सम्भवतः इससे बड़ा स्थान किसी का हो ही नहीं सकता—या नामदेव के गुरु की महानता है अतः नामदेव 'गुर की सरणाई'[१३] शरण में जाकर शांत हो गया।

भगवान को दूध पिला उसके दर्शन करना,[१४] मंदिर से निकाला जाकर उसके पीछे बैठना और उसका देहुरा फिरना[१५] तथा सुल्तान द्वारा बाँधे जाकर गौ जिलाना;[१६] नामदेव के विषय में प्रसिद्ध घटनाओं का इन्ही पदों में उल्लेख मिलता है। इनका उसके चरित्र से सम्बन्ध होने के कारण किम्वदंतियों के रूप में ऐतिहासिक मूल्य भी है।

---

१. ११६२ क० १८ ।
२. ११६१ क० १५ ।
३. ११६३ नाम १ ।
४, ५. ११६३ नाम २ ।
६. ११६४ नाम ४ ।
७. ११६४ नाम १ ।
८. ११५७ क १, ११६४ नाम १ ।
९. ११६० क ११, ११६७ नाम ३ ।
१०. ११६१ क, १४, ११६५ नाम ३ ।
११. ११६५ नाम ३ ।
१२. ११६६ नाम ११ ।
१३. ११६७ नाम ११ ।
१४. ११६४ नाम ३ ।
१५. ११६४ नाम ६ ।
१६. ११६६ नाम १० ।

रविदास ने अपने एक पद में ही भगवत्स्पर्श पाकर पवित्र हुए[१] निष्काम जप करनेवाले को ही वास्तविक योगी बताया है।[२] ब्रह्म-ज्ञान होने पर धार्मिक क्रियाओं का उसी प्रकार कोई महत्त्व नही रह जाता, जैसे फल लगने पर फूल का अर्थात् वह स्वतः ही नष्ट हो जाता है।[३] ऐसा जीवन्मुक्त ही निर्वाण पद को प्राप्त होता है।[४] अतः 'नाम' न जपनेवाले से अधिक अभागा कोई नहीं। इसमे रविदास ने 'ब्रह्म-ज्ञान' का विशेष महत्त्व स्थापित किया है।

राग के अन्तिम पद में नामदेव जब अन्तर में भगवान् के विराट रूप के दर्शन करता है, उस समय सम्मुख कोई मुसलमान आ जाता है, तो वह उसी में उस रूप को देख कर उसका वर्णन कर देता है और अन्त में यह घोषणा करता हुआ 'नाम का सुआमी अन्तरजामी फिरे सगल बेदैसबा' उसी सर्वान्तिरयामी में ही लीन हो जाता है।

इस प्रकार भैरो राग मे वर्णित वाणी का सभी दृष्टियो से अपना महत्त्व है।

बसंत ऋतु का द्योतक राग बसत प्रसन्नता का राग है। ऋतु से उत्पन्न पार्थिव प्रसन्नता का सम्बन्ध गुरु ने धार्मिक जीवन से जोड़ते हुए लिखा है—'करम पेडु साखा हरी धरमु फुलु फलु गिआनु।'[५]

वस्तुतः गुरू का 'शब्द' ही उसका ज्ञान कराता है और इस ज्ञान का आश्रय लेकर करनेवाली भक्ति ही निरन्तर प्रसन्नता का कारण बनी रहती है इसीलिए आगे चल कर उसने कहा—'नानकु सिमरे एकु नामु, फिरि बहुरि न धाई'[६] और तब उसे मोक्ष की भी आवश्यकता नही रहती, क्योंकि 'जिसते उपजिआ नानका सोई फिरि होआ'।[७]

यही इसकी प्रधान विचारधारा है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसमें गुरू अर्जुन के एक पद[८] का विशेष महत्त्व है, जिसमे अजामिल, गणिका, ध्रुव, प्रह्लाद, द्रौपदी आदि के उद्धार के साथ-साथ भगवान ने धन्ना, त्रिलोचन, बेणी, जैदेव, नाई सेन, कबीर, नामदेव तथा रैदास को भी उनकी भक्ति के कारण ही भव-पार पहुँचाया है।

आनन्दातिरेक में सभी संत ब्रह्म गुण-गान में तल्लीन हैं।[९] नामदेव को छोड़ सभी ने नाशक 'अहं' का नाश करने का उपदेश दिया।[१०] और 'अहं' को नाश कर नाम का महत्त्व बताया।[११] सत्संग एवं गुरू द्वारा ब्रह्म को अन्तर में अनुभव कर उसमें ही तल्लीनता को महत्त्व प्रदान किया है।[१२]

---

१ से ४. ११६७ रवि १।
५. ११६१ म० १, २। ६. ११९३ म० ५,१।
७. ११९३ म० ५,२। ८. ११९२ म० ५,१।
९. ११९३ क, १, ३, ११९५ रामानंद १।
१०. ११९३ क, २, ११९६ रवि १।
११. ११९३ क, २, ११९५ नाम १, ११९६ रवि १।
१२. ११९४ क, ५, ६, ११९५ रामानंद १, ११९६ नाम २, ११९६ रवि १।

कबीर ने क्षणिक देह[१] एव प्रभावशाली मोहिनी माया[२] का विस्तार से वर्णन किया है। ससार-मात्र झूठा है।[३] (यहाँ कुछ भी तो पवित्र नही) अतः वासना का त्याग कर अन्तर मे ही ध्यान लगाना चाहिए क्योकि ब्रह्म ही भक्त-उद्धारक है। उदाहरणस्वरूप प्रह्लाद का विस्तृत वर्णन[४] तथा नामदेव एवं जयदेव[५] के नाम भी गिनाए है। यहाँ विचार-साम्य के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व भी प्राप्त है, (जैसा कि ऊपर देख आए है) कि गुरू अर्जुन ने भी अन्यान्य भक्तों के साथ-साथ तरनेवालों मे इन भक्तों का भी नाम लिखा है।

रामानंद का सम्पूर्ण 'ग्रंथ' में केवल एक यही पद है। उन्हें तो पूजा के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'कत जाईऐ रे घर लागों रंगु'[६] घर में जो रंग लग गया है और सतगुरू ने यह भी बता दिया, कि 'सो ब्रहमु बताइआ मन ही माहि' उसे तो वेद-पुराणों को भी देखने की नही, क्योंकि वह तो अन्तर में ही प्राप्त हो गया। मार्ग दर्शक गुरू की प्रशंसा करते हुए 'रामानंद सुआमी रमत ब्रहम' वह तो उसी में तल्लीन हो गया। यहाँ वर्णित रामानंद के इस विचार का विशेष महत्त्व इस दृष्टि से है, कि वह उसकी संस्कृत में प्राप्त अन्य विचारधारा से मेल नहीं खाता, अपितु इस पद मे निर्गुण काव्य के अन्तर्गत आनेवाले सन्त मत के सभी प्रधान लक्षण प्राप्त है।

नामदेव तो भक्त है, उसे 'अहं' का ज्ञान ही नहीं, फिर उसके विनाश की बात तो दूर रही। वह तो 'तेरी भक्ति न छोडउ भावै लोगु हसै' में विश्वासी है क्योंकि उसे अनुभव हो गया है कि 'चरण कमल मेरे हीअरे बसै'[७] वह तो तैरना भी नहीं जानता, इसलिए दीन होकर भगवान् से प्रार्थना करता है—'संसारु समुंदे तारि गोविन्दे'[८] सांसारिक दुःखों को दूर करने का साधन 'गंगा गइआ, गोदावरी संसार के कामा'[९] गंगा आदि संसार के काम की है, उसके काम का तो नाम है। अतः 'हरि चरन मेरा मनु राता'[१०] कह कर वह तो उसी में तल्लीन है और निरन्तर तल्लीन बने रहने की ही प्रार्थना करता रहता है। नामदेव का प्रधान स्वर अन्य संतों के स्वर से भिन्न है, उसमें ज्ञान नहीं, विरोधी शक्तियों का परिहार नहीं, उसमें तो तल्लीनता है, एक-मात्र तल्लीनता।

रविदास ने प्रधान विचारों में ही हिरण में कस्तूरी की भाँति जीव मे ब्रह्म को बताया है[११] तथा जप द्वारा उसकी प्राप्ति में जातिगत विषमता का खण्डन करना वह यहाँ भी नहीं भूला।[१२]

१. ११९३ क २।
२. ११९४ क ३।
३. ११९५ क ७।
४. ११९४ क ४।
५. ११९३ क २।
६. ११९६ रामानन्द १।
७. ११९५ नाम १।
८. ११९६ नाम २।
९. ११९५ नाम १।
१०. ११९६ नाम ३।
११. ११९६ रवि १।
१२. ११९६ रवि १।

अन्त में पुनः कबीर विषयों में लिप्त, बाह्य सौंदर्य पर मोहित जीव को भोगों का दुष्परिणाम[1] एवं यम की मार याद दिलाता हुआ उससे बचने के लिए कहता है। इस पद का स्वर भी रक्षात्मक ही है। राग की प्रधान विचारधारा 'प्रसन्नता' की बाधा को दूर करने में सहायक अवश्य है, लेकिन स्पष्टतः साध्य की ओर ले जाकर प्रसन्नता देनेवाली नही।

यही राग बसंत का आह्लादमय निनाद है। राग सारंग मे 'ग्रथ' में विशेषतः ब्रह्मानुभूति के राग प्रारम्भ होते है। जिज्ञासु जीव की जिज्ञासा यहाँ अपने चरम पर है और चातक के समान अनुभूति के पिपासु जीव की तृषा शांति का साधन गुरु-प्रदत्त 'ना' रूपी वर्षा है।[2] इस अनुभूति-पथ के पथिक तृषित जीव की तड़पन एवं उसकी शांति का साधन ही इस राग का प्रधान स्वर है, क्योंकि 'हरि रस रंगि रसन नहीं तृपती'[3] 'नाम' द्वारा प्राप्त हरि-रस के बिना तो तृप्ति ही नहीं होती।

संतों की सामान्य विचारधारा में सांसारिक सम्पत्ति को नश्वर[4] बता कर उस पर गर्व करने का विरोध किया है। इसका साधन है विषयों से बचना[5] एवं दु:संगति का त्याग[6]। विकारों से बचने के बाद जीव को बताया है, कि भगवत्भजन के बिना जीवन व्यर्थ है।[7] यह कह कर सभी संत अपने-अपने ढंग से प्रभु गुण-गान में तल्लीन हो गए।[8]

कबीर ने सम्पत्तिशाली रावण की अस्थिरता के साथ-साथ 'माता-पिता बनिता सुत' सभी सम्बन्धों को भी क्षणिक बताया है।[9] ब्रह्म के उस सर्वशक्तिमय एवं कर्त्ता रूप का परिचय दिया है, जो राजा को भिखारी तथा भिखारी को राजा और जल को थल तथा थल को जल बना देने की सामर्थ्य रखता है।[10]

यहाँ नामदेव की माया के कष्टप्रद रूप का वर्णन करता हुआ, जीव को उसका वास्तविक रूप बताता है 'जल ते तरंग तरंग ते है जलु कहन सुनन कउ दूजा'[11] इसलिए यह भक्त नहीं, यह तो भक्त के अन्दर वह स्वयं ही 'आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तूरा'[12] गाता, नाचता और तूरा बजाता है। इस प्रकार नामदेव के बंधनों को भगवान छुड़वाता है और स्वतः भगवान भी उसके बंधन में बंध जाता है, यही उसके जीवन की सफलता है।[13]

'ग्रंथ' में परमानंद का केवल एक यही पद प्राप्त है। इस एक पद में ही सूत्र-रूप से बहुत कुछ कह डाला। उन पुराणों का सुनना बेकार है, जो पवित्र भक्ति न

१. ११९६ क १। २. १२०२ म० ५, १। ३. ११९७ म० १, २।
४. १२५१ क १, १२५२ नाम १। ५. १२५२ नाम १, १२५३ परमानन्द १।
६. १२५२ क १, १२५२ नाम १, १२५३ परमानन्द १, १२५३ सूरदास १।
७. १२५१ क १, १२५२ नाम १, १२५३ परमानन्द १।
८. १२५२ क २, १२५२ नाम १। ९. १२५२ क १।
१०. १२५२ क २। ११. १२५२ नाम २।
१२. १२५२ नाम २। १३. १२५३ नाम ३।

उपजा सकें और क्षुधार्थ जीव को भक्ति न दे सकें।[1] जिस जीवन ने काम, क्रोध आदि विकार तथा परनिंदा, हिंसा आदि दुष्कर्म न छोड़ कर हरिकथा नहीं सुनी, वह सत्संगति एव पवित्र कथा का महत्त्व क्या जाने ? जिसे पाकर परमानंद अपने जीवन को सफल समझता है।[2] तब 'ग्रंथ' में सूरदास की केवल इतनी तुक 'छाडि मन हरि बिमुखन को संगु' प्राप्त है। इसका शेष भाग जो कि गुरू विचारधारा का विरोधी है, प्रामाणिक ग्रंथ में अप्राप्त है।[3]

उसी की व्याख्या में अगला पद गुरू अर्जुन का है, जिसमें अनन्य भक्ति को ही भगवत्प्राप्ति का मार्ग बताया है, क्योंकि 'हरि के संगि बसे हरि लोक'।[4]

राग के अन्त में पुनः कबीर का पद सम्भवतः इसलिए रखा गया है कि गुरू की वाणी से उस राग का अंत न हो जिसमें भक्त-वाणी संगृहीत है। कबीर तो अपनी पहली बात को और दृढ़ता से स्पष्ट करते हुए कहता है 'हरि बिनु कउनु सहाई मन का' क्योंकि शेष सम्बन्ध क्षणिक एवं संसार-मात्र तो नश्वर है और 'कहा बिसासा इस भांडे का' यह जीव तो—'कहै कबीरु सुनहु रे संतहु इहु मनु उडन पखेरु'[5] बन के पक्षी की भाँति न जाने देही कब उड़ जाए, अतः 'भगवत् नाम' में ही तल्लीन होने में भलाई है।

इस प्रकार ब्रह्मानुभूति का प्रथम विशिष्ट राग—राग मलार की आधार-भूमि प्रस्तुत करता है। यही इस राग में वर्णित वाणी का विशेष महत्त्व है।

राग मलार वर्षा ऋतु में, उसमें भी विशेषतः जब वर्षा हो रही हो—ऐसी रात्रि में गेय है। भगवत्मिलन की प्रसन्नता और उससे उत्पन्न आनन्द ही इस राग के विशिष्ट भाव हैं। गुरुओं ने इसमें जीव की तड़पन की—कमल और मछली की पानी, चातक की वर्षा के लिए तड़पन से तुलना की है।[6] गुरू का 'शब्द' इस प्यास को शांत करने वाला जल है[7] और इस अनंत शब्द-जल से जीव का अंतर आह्लाद-विस्मित हो जाता है।[8] यही इस राग का प्रधान स्वर है।

इसमे कबीर का कोई शब्द नहीं। नेवल नामदेव के दो तथा रविदास के तीन शब्द हैं। उन्होंने सर्वव्यापक[9] ब्रह्म का गुण-गान कर उसके भक्त-उद्धारक[10] रूप को सोदाहरण प्रस्तुत किया है, क्योंकि एक-मात्र भक्ति ही तो भव पार पहुँचाने का मार्ग है।[11] भक्ति दाता होने के कारण गोपाल की सेवा[12] में ही तो वेद उसका गुण-गान करते है, वायु उसे चँवर झलता है तथा 'चंदु सूरज दीवडे' बने हुए है।[13] अतः

१. १२५३ पर० १।
२. १२५३ पर० ३-१।
३ विस्तृत विवरण देखें यही अध्याय 'सन्त वाणी'।
४. १२५३ म० ५,१।
५. १२५३ क १।
६. १२७५ म० १-१।
७. १२७५ म० १-४।
८. १०७५ म० १-५।
९. १२९२ नाम १, १२९३ रवि० २।
१०. १२९२ नाम २, १२९२ रवि २।
११. १२९२ नाम २, १२९३ रवि० १।
१२. १२९२ नाम १, १२९३ रवि० १।
१३. १२९२ नाम १।

नामदेव उसकी शरण में जाते हुए पुकारता है 'मो कउ तू न बिसारि तू न बिसारि, तू न बिसारि रामईआ ।'[1] साथ ही मंदिर से निकाले जाने का वर्णन करते हुए जब उसने 'फेरि दीआ देहुरा'[2] तब उसे 'दयालु कृपालु' कह कर उसी में तल्लीन हो गया । यही भगवत्-मिलन का आह्लाद है ।

रविदास तो 'नागर जनाँ मेरी जाति बिखिआत चमार' लेकिन 'रिदै राम गोविन्द गुन सार'[3] कह कर ही अपना परिचय देता है गंगा में मिल कर शराब तथा ब्रह्मगुण लिखा जाने पर हेय; वही ताड़पत्र भी पूज्य बन जाता है ।[4] अतः वह तो बिना जाति देखे भक्ति के कारण ही जीव को तारता है । 'ढोर ढोवता नितहि बानारसी आस पासा'[5] तुम्हारे 'नाम' की शरण में आए हुए ऐसे रविदास को 'अब विप्र परधान तिहि करहि दुंडउति'[6] क्योंकि विष्णु और शिव भी 'ता समतुलि नहीं आन कोऊ'[7] नाम जपनेवाले के बराबर नही, अन्यों की तो बात ही क्या, नीच-कुलोत्पन्न व्यास ही नही, ओछी छींपा जाति का नामदेव तथा गाय-बध करनेवाले कुल में उत्पन्न कबीर सभी भक्ति के कारण प्रसिद्ध हुए[8] और अब 'दासान दासा' रविदास को ब्राह्मण 'करहि डंडउति' यह भक्ति का ही माहात्म्य है ।[9]

अतः 'ग्रंथ' में अपने अंतिम शब्द में रविदास सांसारिक सम्पत्ति को छोड़ सतत अवरोधक विषय-विकारों से बच धर्मराज के लेखे का ध्यान करता हुआ भगवान से प्रार्थना करता है—हे प्रभु ! अब तो बता दो 'मिलत पिआरो प्राण नाथु कवन भगति ते'[10] और उसका निनाद शांत हो जाता है । बस यही है, भक्त की भक्ति, और तल्लीनता जिसमें रम कर भी वह उसे नहीं जान पाता ।

राग कानड़ा के अन्तिम पद में नामदेव ने 'ऐसो रामराइ अंतरजामी' कह कर उसका परिचय दिया है । वह तो निर्लिप्त हो प्रत्येक घट में निवास करता है । उसे देखना है तो चले आइए 'जैसे दरपन माहि बदन'[11] आप दर्पण से परिचित नही अथवा वह कृत्रिम है । अच्छा आइए और आगे चले आइए—

पानी माहि देखु मुखु जैसा । नामे को सुआमी बीठलु ऐसा ।।[12]

अब तो उसके दर्शन का साधन प्रतीत हुआ । इस प्रकार जीव को ब्रह्म के दर्शन का साधन बता कर स्वतः अपने अंतर में ही उसे देखने लग जाता है । यही है भक्तों की 'कथनी' और 'करनी' में ऐक्य का ज्वलंत उदाहरण । इसी कारण धर्म को उन्होंने समाज के लिए 'हौआ न बना रहने देकर जन-सामान्य के अंतराल से सम्बन्धित कर दिया । यही है, उनकी प्रतिभा की महानतम देन ।

राग प्रभाती प्रभात का ही द्योतक है । यह प्रातः की आशा तथा उषा की

१, २. १२९२ नाम २ ।
३, ४, ५. १२९३ रवि १ ।
६. १२९३ रवि १ ।
७. १२९३ रवि २ ।
८, ९. १२९३ रवि २ ।
१०. १२९३ रवि ३ ।
११. १३१८ नाम १ ।
१२. १३१८ नाम १ ।

लालिमा उस ज्ञान की प्रतीक है, जो गुरू शब्द के ध्यान से उत्पन्न[१] ब्रह्म-ज्ञान अथवा ब्रह्मानुभूति से प्राप्त है। इस अंतिम राग में साधक भी तो साधना की अंतिम सीढ़ी —पूर्ण ब्रह्मानुभूति एवं उससे ऐक्य तक पहुँच गया है। यही इस राग का प्रधान स्वर है।

संतों की वाणी में ब्रह्म का गुणगान तो प्राप्य है ही।[२] उसमें उसके सर्व-व्यापक एवं सर्वकर्त्ता रूप को प्रधानता देकर उसका निराकार रूप भी हमारे सामने रखा है।[३] पुनः सभी ने बाह्याडम्बर का विरोध कर,[४] अन्तःकरण को पवित्र कर, उसमें ब्रह्म को पहिचान[५] उसी मे ध्यान लगाने का उपदेश दिया है। क्योंकि वह तो 'नाम' द्वारा ही प्राप्य है[६] और 'नाम' ही गुरू का 'शब्द है।[७] अतः उसी में तल्ली-नता ही अमरत्त्व-पद को देनेवाली[८] अथवा पूर्णतया ब्रह्मानुभूति करवानेवाली है।

इसी प्रसंग में कबीर ने सृष्टि रचना का वर्णन देने के साथ साथ, वेदों को नहीं अपितु उन्हें न समझनेवाले को दोषी ठहराया है[९] तथा 'शून्य' की आराधना को ही उसकी साधना बताता है। कबीर का अंतिम पद भी आरती का ही है। यह आरती अंतर में ही की है। जिसमे नाम रूपी बत्ती से ज्ञान रूपी ज्योति ज्योतित हुई[१०] और इसी का आंतरिक 'अनहद' नाद सुनाई पड़ा,[११] क्योंकि यह आरती भी अकथ्य एवं निरंकार परन्तु केवल अनुभूतिगम्य की आरती है।[१२] इस प्रकार कबीर तो अनहद 'श्रवण' में ही तल्लीन हो गया है।

'नाम' में तल्लीन नामदेव की तड़पन तो इतनी तीव्र हो चुकी, कि 'मन की बिरथा मनु ही जानै कै बूझल आगै कहिए'[१३] क्योंकि मेरा प्रभु रविआ सब रे ठाई' इसीलिए नामदेव तो उसी में तल्लीन हो गया और अंत में 'अमरु होइ सद आकुल रहै' अब तो उसे भी कहने को कुछ बाकी नहीं रहा।[१४]

अंतिम पद में बेणी ने बाह्याडम्बरों का विरोध विस्तारपूर्वक कर दुष्कर्म-त्याग की ओर जीव का ध्यान आकर्षित किया है, क्योंकि संसार के सभी कर्म व्यर्थ हैं यदि 'आतम ततु न चीनिआ'[१५] अतः आत्मतत्त्व की पहचान ही बेणी[१६] का अंतिम शब्द है। यद्यपि यह राग के साध्य प्रधानतम साध्य को नहीं उपस्थित करता, परन्तु उसका प्रमुखतम साधन 'आत्मतत्त्व' को पहचानने में ही अपनी

१. १३३० म० १,६। २. १३५० क ५, १३५० नाम १,३।
३. १३४९ क ३,५, १३५१ नाम २। ४. १३४९ क, २, १३५१ बेणी १।
५. १३४९ क ३, १३५० नाम १, १३५१ बेणी १।
६. १३५० क, ५, १३५० नाम १।
७. १३४९ क, ३, १३५० नाम १, १३५१ बेणी १।
८. १३४९ क, १, १३५१ नाम, ३, १३५१ बेणी १। ९. १३५० क, ४।
१० १३५० क, ५। ११. १३५० क, ४, ५।
१२, १३५० क, ५। १३ १३५० नाम १।
१४. १३५१ नाम ३। १५. १३५१ बेणी १।
१६, 'आत्मान विद्धि'।

वाणी का पर्यवसान कर देता है। यही रागों में अन्तिम परन्तु आध्यात्मिक जीवन के प्रभात-राग प्रभाती की विशेषता है।

रागों के बाद कबीर के श्लोक प्राप्त है। वस्तुत: यह श्लोक भिन्न-भिन्न समय की अनुभूति के विकीर्ण बिन्दुओं के अतिरिक्त कुछ नहीं, लेकिन 'ग्रंथ' में जिस रूप मे संगृहीत हैं, उनमें ढूँढने पर थोड़ा बहुत सम्बन्ध मिल ही जाता है। इस प्रकार अलग-अलग अपने में पूर्ण भाव रखते हुए भी कुछ श्लोक मिल कर एक ही भाव को और अधिक दृढ़ता से स्पष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं। यहाँ इसी रूप में इनका संक्षेपत. अध्ययन प्रस्तुत किया है।

प्रथम बारह श्लोकों में 'नाम' को ही एक-मात्र सुख का साधन बताया है (३) जिससे नीच जाति का मनुष्य भी भव-पार हो जाता है, लेकिन सत्संग एवं 'हम राखे गुर आपने' (८) कह कर 'नाम' देनेवाले गुरू का महत्त्व स्वीकार किया है।

दूसरी लड़ी (१३–४०) में शक्तिशाली 'चोर माया का प्रभाव एवं विस्तार से वर्णन देने के बाद, नश्वर संसार और क्षणिक देह (३५) के लिए विषयों और भोगों में फँस कर जीवन को गँवा कर," सम्पत्ति एकत्रित करनेवाले को 'नाँगे पावहु ते गए जिन्ह के लाख करोरि' (२७) यह कह कर सतर्क किया हैं। अत: 'नाम' जप में ही असली सुख है। इस बात पर अगली लडी (४१–७०) में अधिक जोर दिया हैं। इन्द्रियों को वश में कर (४२) विकारों से बच कर ही, यह जो श्रेष्ठ मनुष्य जन्म मिला है, इसमें सफलता पाने का एक ही साधन है—

'कबीर लूटना है त लूटि लै राम नाम है लूटि' नही तो बाद में पछताना पड़ेगा, क्योंकि 'प्रान जाहिगे छूटि।'

अगली लडी (७१–१०१) में 'नाम' का महत्त्व बताया है, कि इसके बिना विषय-विकार छूट नहीं पाते और यह 'नाम' ही जाति का अभिमान, कुसंग, पर-निंदा, लालसा तथा देह के मोह को दूर करने में सहायक सिद्ध होता है। इसमें सत्संग का विशेष महत्त्व (७७-३९-१००) बताया है, तथा यह 'नाम' गुरू से ही प्राप्त है। कुछ श्लोकों में ब्रह्म गुण-गान (८१) भी प्राप्त है।

पुन: १३१ तक के श्लोकों में भी नाम का ही विशेष महत्त्व बता कर उसका 'स्मरण' आवश्यक बताया है, क्योंकि 'सिमरन' माया के चक्र में फँसनेवाला उसका पुत्र कमाल ही वंश को डुबा सकता है। इसीलिए सत्संगति से प्राप्त यह 'नाम' और (११५) ध्यानपूर्वक उसका स्मरण तो—'जाके संग ते बीछुरा ताही के संग लागु' (१२९) उस ब्रह्म में ही मिला देनेवाला हैं।

अत· अगले (१३२-१८३) श्लोकों में जीव को युवावस्था में ही—शरीर के ससक्त होते हुए ही—इसी समय (१३८) नाम स्मरण की याद दिलाता है। अशक्त शरीर ऐसा न कर सकेगा। सांसारिक विचारों और उनसे उत्पन्न 'अंह' (१४६)

से रक्षा का एक-मात्र उपाय प्रभु शरण में आकर 'हरिजनु ऐसा चाहिए जैसा हरि ही होइ' (१४६) हरि तुल्य होना ही है। इसके लिए अन्तर में उसे अनुभव (१७०) करते हुए उसमें पूर्ण तल्लीनता आवश्यक है।

अगली कडी (१८४-२२७) में दु:ख का एक-मात्र कारण प्रभु विस्मरण बताया गया है जिसे योग, पूजा, निमाज एवं स्नान आदि बाह्याडम्बर दूर नहीं कर सकते, (१६७) अतः कुसंग का त्याग कर (११७) सत्संग का महत्त्व (१६५-१६६) बताते हुए सत्गुरू की शरण में जाने का सन्देश दिया है, (२०७) क्योंकि एक-मात्र वही रक्षक सिद्ध हो सकता है।

कबीर के श्लोक नं० २०८ के भाव को और दृढ़ शब्दों में स्पष्ट करते हुए गुरू अर्जुन के श्लोक नं० २०६, २१०, २११ यहाँ अद्भुत है। कबीर ने यम को आता हुआ बता कर समय बेकार न गँवाने का उपदेश दिया है तो गुरू ने गुरू का आश्रय ले (२०६) कुसंग त्याग कर (२११) साधुता ग्राह्य है (२१०); यह सन्देश दिया है। श्लोक नं० २१२, २१३ में त्रिलोचन एवं नामदेव के प्रश्नोत्तर को ही दिया। जिसमें त्रिलोचन नामदेव को कार्य में नही नाम में चित्त लगाने को कहता है और नामदेव उत्तर देता है, कि 'हाथ पाउ करि कामु सभु चीतु निरंजन नालि' (२१३) चित्त तो उसी में संलग्न है। अगले श्लोक में गुरू अपनेपन का लोप कर सभी कुछ उसका बताते हुए उसमें ही विलीन होने का वर्णन करता है (२१४)।

'भगवान मेरे चित्त की नही, अपितु अपने ही चित्त की बात करता है' कबीर के २१६ वें श्लोक के साथ तृतीय गुरू अमरदास यह विचार प्रकट करता है कि 'चिंता भि आपि कराइसी अचितु भी आपे', अतः एक-मात्र वही आराध्य है। आगे गुरू अर्जुन और देह (२२०) को सतर्क करता हुआ कहता है कि सांसारिक लालचो मे फँसे हुए तूने क्षण भर भी उसे याद नही किया और पाप कमाता हुआ मर चला है। (२२१) अर्थात् और किसी बात की चाह एवं चिन्ता किए बिना ही उसमे ध्यान लगाना चाहिए।

अन्तिम लडी (२२८-२४५) में उसने स्पष्ट ही कहा है विकारों (धूप) से रक्षक नाम वृक्ष है और आश्रय साधू उसकी छाया है (२२८) अतः सत्संगति का महत्त्व बताते हुए अन्तर में ध्यानपूर्वक उसमें मन लगाना चाहिए। अपने इस विचार को नामदेव व रविदास के विचार उद्धृत कर पुष्ट किया है (२४२-२४३) और अन्त में वैरागी बन कर भी गृहस्थ की इच्छाओं को न त्यागनेवाले को कोसना पड़ा। क्योंकि कबीर मन, वचन तथा कर्म की एकता के पोषक थे। उन्होंने सिद्धान्तों का प्रचार नहीं, अपितु उन पर आधारित क्रियात्मक-धर्म का व्यावहारिक-आचरण का पालन कर जन-सामान्य के सम्मुख जीवन आदर्श उपस्थित किया है। यह 'कथनी' और 'करनी' की एकता ही संतों की—और उनके भी अग्रणी कबीर की सबसे बड़ी विशेषता रही है, जिसने कबीर को क्रांतिकारी बनाया।

कबीर के बाद फरीद के श्लोक प्राप्त हैं। ये भी स्वतन्त्र होते हुए भी परस्पर सम्बन्धित होकर एक ही भाव को अधिक सशक्त वाणी में प्रस्तुत कर पाते हैं।

पहली लड़ी (१-१५) में बताया है कि जीव के दिन जगत में गिने हुए है। लेकिन मोह में इस बात को भूल कर मायावश हो वह अपनी युवावस्था विषयोपभोग में ही बिता देता है। वृद्ध शरीर तो 'नाम' लेने में भी अशक्त है और शीघ्र ही वह यम का शिकार हो जाता है, लेकिन बार-बार समझाने पर भी नहीं समझता।

'युवावस्था में 'नाम' न कमानेवाला वृद्धावस्था में भी 'नाम' नहीं कमा सकता।' (१२) फरीद के इस श्लोक की आलोचना में अगले श्लोक (१३) में तृतीय गुरू अमरदास ने कहा, कि भगवान की शरण में आने के लिए कभी देरी नही होती—जब कभी, जो कोई भी उसकी शरण में जाए उस पर वह कृपा कर ही देता है। सम्भवतः गुरू अमरदास अपने पिछले जीवन में भक्ति के चरम पर पहुँच उसे पहचान पाए थे।

दूसरी लड़ी (१६-३६) में बताया है, कि सच्चे दरवेश (भक्त) में सांसारिक विषमताओं को सहने के लिए पर्याप्त सहनशीलता होती है। उसे कोई सांसारिक प्रलोभन अपने मार्ग से विचलित नही कर सकता है। क्योंकि उसे मिट्टी में मिलनेवाली क्षणिक देह का ज्ञान है, अतः 'पराई चोपडी' पर न ललचा कर वह अपनी कमाई हुई सूखी को ही अच्छा समझता है। उसे वनगमन की आवश्यकता भी अनुभव नहीं होती है क्योंकि उसे ज्ञान है, कि गृहस्थ मे रह कर युवावस्था में ही 'नाम' (भक्ति) कमाना है। इसीलिए वह अतिथि-सत्कार में भी नहीं चूकता। साधना एवं बाह्य वेश को व्यर्थ जानता हुआ वह क्षण भर भी स्मरण बिना नष्ट नहीं करता। लेकिन चिंताग्रस्त सांसारिक जीव को कभी ध्यान नहीं आता, कि वह परमात्मा से बिछुड़ कर आया है।

फरीद ने ३१ वें श्लोक में कहा है पति द्वारा निरादृत पत्नी का 'सुहागिन' होना भी बेकार है, क्योंकि पितृ-गृह एवं श्वसुर-गृह कहीं भी उसका आदर नही। अर्थात् भगवान की शरण मे न जानेवाले जीव को इहलोक व परलोक कही भी स्थान प्राप्त नही। अगले श्लोक में गुरू नानक ने इसकी व्याख्या में पति द्वारा प्रेम की जानेवाली पत्नी को ही वास्तविक रूप मे 'सुहागिन' संज्ञा दी है, क्योंकि प्रभु (पति) कृपा प्राप्त जीवात्मा (पत्नी) ही सौभाग्यशालिनी होती है।[1]

अगली शृखंला (३७-६५) मे मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी एवं सृष्टि का 'सरदार' कहा है। लेकिन सांसारिक सम्पत्ति एकत्र करने में उसने युवावस्था ही नहीं अपितु सारी आयु कष्टों मे ही गँवा दी। ये 'विषु-गंदले' पदार्थ तो मृत्यु के समय साथ नहीं जाते, पर वह यह अनुभव न कर पाया और मृत्यु के समय (पति) भगवान के सम्मुख उसे लज्जित होना पड़ता है। सम्पूर्ण धार्मिक कृत्य करते हुए भी यदि मन से

१ गुरू का यह श्लोक थोडे से शब्द-भेद के साथ अन्यत्र भी प्राप्त है। देखें—'ग्रन्थ' पृ० १०८८ म० १, सलोक १।

सांसारिक प्रलोभन न जा सके, तो सब धर्म-कर्म बेकार है । अतः अंतर से निर्मल होने की आवश्यकता है, क्योंकि हंस (आत्मा) केवल मोती (सार) ही चुगता है और कुछ नहीं ।

फरीद ने ५१ वें श्लोक में ब्रह्म में संलग्न व्यक्ति में रक्त का अभाव बताया है, रक्त से तात्पर्य यहाँ सांसारिकता से है । उसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए ५२ वें श्लोक में गुरू अमरदास लिखते है, कि सम्पूर्ण देह ही रक्त से परिपूर्ण है लेकिन भगवद्-भय से भक्त की देह में वह अग्नि में पड़ी हुई धातु की भाँति पवित्र हो गया है ।

अगली कड़ी (६६-९२) में बताया है, कि प्रतिदिन मनुष्यों को मरता देख कर भी मूर्ख जीव देह की क्षणिकता को नहीं अनुभव कर पाता । माया से उत्पन्न अहंकार जीव को ब्रह्म की याद ही नहीं आने देता और वह सांसारिक सम्पत्ति की प्राप्ति के दुःख में ही फँसा रह जाता है । इसी में शरीर जीर्ण हो जाता है । इस प्रकार बुरे कामों में फँसे जीव का एक-मात्र रक्षक है सत्गुरू । जिन्हें गुरू-कृपा प्राप्त नहीं, वे भोगों में नष्ट हो जाते हैं, पर उनकी तृष्णा नहीं समाप्त होती ।[1] लेकिन जिन पर भगवत्कृपा हो चुकी है, उन पर माया एवं सांसारिक प्रलोभनों का कोई प्रभाव नही पड़ता, यही उनकी महानता है ।

फरीद ने ७४ वें श्लोक में मन को 'टोंए टिव्बे' से रहित कर मैदान की तरह एक-सा करने का उल्लेख किया है, उसकी व्याख्या गुरू अर्जुन ने ७५ वें श्लोक में यह कह कर की है, कि जीव को सबमें परमात्मा का रूप देखते हुए किसी को नीच न कह कर अपने समान ही समझना चाहिए, क्योंकि सभी में वह विद्यमान है ।

इसी प्रकार फरीद के ८१ वें श्लोक में संसार को ही दुःखमय बताया गया है, लेकिन सिख धर्म में निराशावाद को कोई स्थान नही । अतः उसकी आलोचना में श्लोक ८२, ८३ में गुरू अर्जुन ने बताया कि सांसारिकों को ही वह दुःख प्रतीत होते हैं जिन्होंने सत्गुरू का आश्रय लेकर भगवत्प्रेम में अपने को लगा दिया है, उनके लिए कोई दुःख नहीं, पर ऐसे बिरले ही हैं ।

अन्तिम लड़ी (९३-१३०) में बताया है कि देह नाश एवं संसार का नाश देख कर भी स्वार्थी एवं लोभी जीव अज्ञानवश भगवत्स्मरण नही करता ।ऐसे मानव से तो पक्षी ही अच्छे हैं । भक्त बनने के लिए घर छोड़ने की नहीं—मन के विकार छोडने की आवश्यकता है । बाह्य वेश धारण करके नहीं अपितु गृहस्थी रह कर ही भक्ति कमानी चाहिए । मन में प्रातः प्रभु स्मरण तथा व्यवहार में किसी को कष्ट न देना, नम्रता तथा सहनशीलता इसके सहायक तत्त्व हैं, क्योंकि सभी जीवों में वह ब्रह्म है, जिसे प्राप्त करने के लिए ही जीव ने यह मानव देह धारण की है ।

फरीद ने श्लोक नं० १०३ में ब्रह्म प्राप्ति के लिए फकीर वेश धारण करने को कहा, लेकिन तृतीय गुरू ने (१०४ में) उसकी आलोचना करते हुए केवल 'मन की पवित्रता' को आवश्यक बताया है और पंचम गुरू अर्जुन ने (१०५ में) धन अथवा

१. 'तृष्णा न जीर्णावयमेव जीर्णा, कालो न यातो वयमेव याता ।' आदि (भर्तृहरिः नीतिशतक)

यौवन के अहंकार से मस्त व्यक्ति को भगवत्प्रेम से वंचित बताया है ।

श्लोक नं० १०७ में फरीद ने भगवान को भुलानेवालो को याद दिलाया, कि भगवान उनके कामों को देखता ही रहता है । अतः उसे स्मरण करना चाहिए और अगले चार श्लोकों ((१०८-१११) मे गुरू अर्जुन ने साधन बताया है कि सांसारिक व्यवहार में एक समान होकर (सुख, दु.ख में भी)[1] भगवान के समान ही रूप धारण कर उससे मिलना चाहिए ।

पुनः श्लोक नं० ११२ में फरीद ने, प्रातः उठ कर भगवत्स्मरण करनेवाले ही भगवत्कृपा के पात्र होते है, ऐसा लिखा है, लेकिन गुरू नानक ने (११३) में स्पष्ट किया है, कि बहुत से जागते हुए भी भगवत्कृपा नहीं पाते, जबकि कुछ को सोते हुए वह स्वतः ही जगा देता है अर्थात् कृपा-पात्र बना लेता है ।

श्लोक नं० ११६ में फरीद ने कहा है कि भगवत्प्राप्ति के लिए 'मैं शरीर को तपाने के लिए तथा अन्य भी सभी शारीरिक कष्ट सहन करने को तैयार हूँ ।' गुरू नानक ने अगले श्लोक में इसलिए तप का विरोध कर परमात्मा को अन्दर देखने को कहा, कि कहीं शिष्य वर्ग इसे तप का प्रेरक न समझ ले । अगले श्लोक में गुरू रामदास ने अन्तर में उसे पहचानने में गुरू को सहायक बताया है । तब गुरू अमरदास ने अगले दो श्लोकों में बाह्याडम्बरी साधुओं को 'बगुला' कह कर उनका विरोध किया हैं । अन्त में नानक ने पुनः हंस एवं बगुले को महत्त्व न देकर भगवत्कृपा का महत्त्व स्थापित किया, क्योंकि वह बगुले को भी हंस में परिणत कर सकता है और उसी की कृपा से कोई भी तर सकता है ।

इस प्रकार संत-वाणी में जहाँ कही भी गुरू-विचारधारा के विरुद्ध वाणी का आभास भी मिला, वहीं प्रायः किसी न किसी गुरू ने या तो उसकी उचित व्याख्या की है अथवा आलोचना कर अपना मत प्रतिपादित कर दिया है, ताकि भ्रम का स्थान न बना रह जाए ।

इस प्रकार 'ग्रंथ' में स्थिति के अनुकूल सम्पूर्ण 'संत-वाणी' के विचारों का क्रमिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । इसमें संतों का सामूहिक व्यक्तित्व ही अधिक उभर सका है, व्यक्तिगत नही । प्रकरण के अनुसार बहुत से विचारों की पुनरावृत्ति भी मिलती है । विचार-क्रम के अनुकूल किसी भी विषय पर उनकी अलग से धारणा स्पष्ट नहीं होती, परन्तु संक्षेप में सभी विचारों का सार मिल जाता है । अत. अगले अध्यायों में उनके व्यक्तित्त्व के माध्यम से उनके विचारों का विशद् विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है । संत शिरोमणि कबीर को ही शीर्ष-स्थान् मिला हैं ।

---

१. सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ २, ३८ ।

चतुर्थ अध्याय

कबीर के धार्मिक विश्वास

व्यक्तित्व—

कबीर सभ ते हम बुरे हम तजि भलो सभु कोई ।
जिनि ऐसा करि बूझिया मीतु हमारा सोई ॥[1]

कबीर का यह सर्वग्राही व्यक्तित्व इसमें झलक रहा है, जिसने कभी किसी का कोई

भी सत्य अपनाने में हिचकिचाहट नही जतलाई और जिसने उस सत्य के प्रसार मे किसी अवरोधक शक्ति के बाँध को नही सहारा । उसमें अपने को बुरा कह कर भी समाज की बुराइयों को उभारने की ऐसी शक्ति थी, जो बुद्ध से आज तक किसी भी दिव्य आत्मा के माध्यम से अवतरित नही हुई । कबीर के प्रचण्ड विरोध में भी वह शक्ति थी, जिसका ऊपर से विरोध करते हुए, किसी का भी अंतःकरण उन कटु सत्यों की महानता का विरोध न कर सका, राजनैतिक सत्ता जिसे दबा न सकी, समाज जिसे सहार न सका और धर्म जिसमें संकुचित न रह सका । कबीर का व्यक्तित्व ज्ञान, भक्ति और कर्म की सामग्री के उस अनुपात से तैयार हुआ था, जिसे उसके बाद सम्भवतः ब्रह्म भी भूल गया । उसका ज्ञान पढ़ाई का नहीं, गुढ़ाई का ज्ञान था, अन्तःज्ञान था, स्वतः उद्भूत ज्ञान था । चंद्र की भाँति सूर्य को तो ज्योतित होने के लिए ज्योति की आवश्यकता नही, वह स्वतः अग्नि-पिण्ड जो है । कबीर की भक्ति अनन्य और अनवरत थी, जिसका आधार थी उनकी अनुभूति । अनुभूति भी आज के रहस्यवादी कवियों जैसी काल्पनिक नहीं, अपितु अनुभूत अनुभूति । उनका कर्म था क्रियात्मक । निष्काम कर्मण्य-जीवन उनका आदर्श नहीं, उनका दैनिक व्यावहारिक जीवन था । यह कहना भूल है, कि कबीर ने उपदेश दिया था । कबीर ने तो केवल संदेश दिया था, अपनी आत्मा की अनुभूति की अभिव्यक्ति के माध्यम से । वह ऐसा जुलाहा था, जैसा न हुआ है, न होगा । उसने जो

---

१. ७ श्लोक ।

वस्त्र तैयार किया, वह भी उसके व्यक्तित्व की तरह अनश्वर है। उसकी वाणियों के सूतों से बुना हुआ -यह मानवधर्म सत्य, नित्य एवं कल्याणकारी वह आकर्षक वस्त्र है, जिसे युग-युग तक मानव-मात्र ओढ़ता रहेगा, पर सम्भवतः अपना न सके। कबीर के वस्त्रों को ओढ़ कर अपनानेवाले भी उसी की तरह अमर हो गए हैं और होते जाएँगे। भारतीय मनीषा के क्षितिज पर रवीन्द्र, गांधी और अरविंद ऐसी ही तीन विभूतियाँ अभी विलुप्त हुई हैं। जो हो, न हिन्दू न मुसलमान—जात से मनुष्य न योगी, न भोगी—कर्म से कोरी, न राजा, न शासक—समाज के नियंता, न ज्ञानी, न भक्त—केवल संत और जगत् के लिए जो न जन्मे न मरे (क्योंकि किंवदंती के अनुसार जन्म के बदले उन्हें लहरतारा तालाब के पास पाया गया था और मृत्यु के समय चादर के नीचे फूल ही मिले थे, जिन्हें हिन्दू-मसलमानों ने आधा-आधा बाँट लिया था)। ऐतिहासिक भौतिक दृष्टि से इसका महत्त्व हो या न हो? हाँ! आध्यात्मिक दृष्टि से दैवी आत्माएँ तो आवश्यकतानुसार उद्भासित-मात्र होती है और समय की पुकार का समुचित उत्तर देकर विलीन हो जाती है। यही उसका आविर्भाव और तिरोहण है। अपनी कृतियों के माध्यम से वे अमर होते है। जुलाहे का कपड़ा भी उतना ही मजबूत है, जितना विश्व के जुलाहे का। उसने भी सूर्य और चंद्र की ढरकियों से विश्व-वस्त्र का निर्माण किया था।[1] कोरी ही कोरी को जान सकता है। कबीर की वाणी इस बात का प्रमाण है।

लौकिक दृष्टि से भी तो 'हउ पूतु तेरा तू बापु मेरा'[2] वह उसका ही पुत्र बना रहा। कुछ बड़ा हुआ, तो माँ की तरह उससे भी अपने अपराधों की क्षमा की अभिलाषा करता हुआ मचल पड़ा—'रामईआ हउ बारिकु तेरा'[3] इस रूप में न सही उसे पता तो है, कि 'पिता हमारो बड़ गोसाई' इसीलिए 'बापि दिलासा मेरो कीन्हा'।[4] वही पुत्र बड़ा होकर हरि सेवक बन गया और 'दासु कबीरु तासु मदमाता'[5] हो गया। वह असत्य संसार के सम्मुख जितना प्रचण्ड है, सत्य ब्रह्म के सम्मुख उससे भी कहीं अधिक विनीत —

तुम समसरि नाही दइआलु मोही समसरि पापी ॥[6]

अपने आप को पापी समझनेवाली आत्मा एक-मात्र प्रभु रक्षक की दासी बन गई।[7] कौन जानता था, कि यह दासी ही एक दिन हरि की बहुरिआ'[8] का रूप धारण कर लेगी, जो आयु में अपने प्रियतम से कुछ छोटी है। जो हो, लौकिक और अलौकिक सभी सम्बन्ध तो उसने प्रियतम से स्थापित किए, जब तक अपना व्यक्तित्व ही उसमें पूर्णतया विलीन नहीं कर दिया और तब—'जब हम होते तब तुम नाही, अब

---

१. ४७६ क, ३।
२. ४८४ क, ३६।
३. ४७८ क, १२।
४. ४७६ क, ३।
५. ६६७ क, २।
६. ८५५ क, ३।
७. १२५२ क, २।
८. ४८३ क, ३०।

तुम हहु हम नाही' क्योंकि 'अब हम तुम एक भए हहि एकै देखत मनु पतिआहि'[१] यह हैं कबीर की कबीर (महान्) बनने की कहानी।

अपने वस्त्र का अन्तिम तार पिरोया है उसने 'निरंकार निरबानी' की आरती से,[२] जिसमें अभय-पद की याचना की है।[३] पापी मन ने भगवान से रक्षा की प्रार्थना एक बार नही, अनेक बार की है।[४] क्योंकि मन ने पाप भी तो थोड़े नहीं किए। इन पापों के प्रायश्चितस्वरूप ही तो वह हरि-चरण की शरण में जा पहुँचा[५] और जिस पर उसे विश्वास था, उस स्वामी ने उसकी रक्षा भी की, पहले सर्व-ग्रासिनी माया से,[६] और तब सबके भक्षक यम से—रक्षक जो ठहरा।[७] रक्षक के भी मिलने का कारण था, उसका कबीर को पता लग गया था—'कहु कबीर मै सो गुरू पाइआ जा का नाउ बिबेकु'[८] कौन जानता है, कि विवेक-शक्ति जागृत होने के कारण उसी को गुरू मान लिया है। जो हो, इस गुरू ने न केवल उसे भगवन्नाम दिया, अपितु सर्पिणी माया से रक्षा भी की। इतने से क्या होता? इसी गुरू की कृपा से उसने भगवान को भी पाया है।[१०] इसी में तो उसकी अभय-पद की प्रार्थना की सार्थकता निहित है, अतः उसकी पूर्ति के साधन गुरू को भी साध्य जितना महान् आसन दे दिया, तो क्या अनुचित किया? साध्य का महत्त्व तो साधन से ही न। गुरू से मिला तो केवल 'नाम' लेकिन इस बात का भी ज्ञान हो गया, कि भक्ति से ही मुक्ति मिलती है[११] और विचार किए बिना ही कबीर ने दीन होकर भगवद्भक्ति की प्रार्थना प्रारम्भ कर दी।[१२] ब्रह्म की शरण में पहुँचे, तो उसी के सान्निध्य की प्रार्थना कर बैठे।[१३] समाज कहता है, कबीर आक्रामक है, प्रचण्ड है, उद्दण्ड है और है निर्भीक स्पष्ट वक्ता अपढ़, असभ्य तथा गँवार। समाज कुछ भी असत्य नही कहता। लेकिन भगवान ने अपने भक्त में जो विनम्रता और दीनता अनुभव की है, यह सत्य उससे भी कहीं महान् सत्य है। क्योंकि यह तो एक-मात्र सत्य की अनुभूति है। नाम से अनन्य भक्ति तथा भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है। यह पता लगते ही कबीर ने तो 'मनु दे रामु लीआ है मोलि'[१४] इस प्रकार राम रसायन में मतवाला होकर वह तो सदा के लिए हरि-ध्यान में लीन हो गया।[१५] क्योंकि संसार को छोड़ कर उसे भगवान की तड़पन जो लग गई थी।[१६] इसीलिए अपने आप को उसने भगवान के गुणों में स्थिर कर लिया।[१७] इस प्रकार नाम की मस्ती से वह 'रामू रंगि राता' ही

---

१. ३३६ क, ७२। २. १३५० क, ५२०।
३. ११६२ क, २०। ४. ८५६ क, ५, ४७१ क, १४, ८५५ क, ३।
५. ३३० क, ५०। ६. ४८० क, १६।
७. ४७१ क, १४, ११६२ क, १८।
८. ७९३ क, ५। ९. ८ श्लोक।
१०. ६५५ क, ५। ११. ८५७ क, ११, ६६।
१२. ९७० क, ८। १३. ११६१ क, ६।
१४. ३२७ क, १६। १५. ४८२ क, २६।
१६. १८२। १७. ११६४ क, ५।

बना रहा।[1] कबीर का स्वामी तो अंतःकरण में है।[2] यह जान कर वह उसी में लीन हो गया,[3] और थोड़ी देर बाद जब 'अंतरगति हरि भेटिआ' तब उसका अंत-र्मुखी मन पुकार उठा—'अब मेरा मनु कतहूँ न जाइ'[4] इस प्रकार मुक्ति देनेवाली भक्ति को वह किसी अवस्था में छोड़ने को तैयार नहीं।[5] इसीलिए भगवान से बोला कि संसार में—'हमारा को नहीं हम किसहू के नाही'[6] और भगवान तुम्हारे सामने —'कबीर मेरा मुझमें किछु नही जो किछु है सो तेरा। तेरा तुझ कउ सउपते किआ लागै मेरा।'[7]

सब कुछ सौंप कर भक्त अनवरत रूप से अनन्य भक्ति में तल्लीन है, और सुध आने पर अनुभव नहीं कर पाता कि—'पीअ महि जीउ बसै जीअ महि बसै कि पीउ'[8] यह है भक्त की भक्ति की चरमावस्था और तल्लीनता की हद।

यह सब देख कर भगवान ने ही कबीर को महान् बना दिया।[9] जब सारा ससार मरता गया, लेकिन कबीर न मरा,[10] तो उसकी मरने की उमंग के उच्छलन ने यह साकार रूप धारण किया—'कबीर, मुहि मरने का चाउ है मरउ त हरि कै दुआर'।[11] इतना ही नहीं, अनहद नाद से जो ब्रह्मानुभूति होती है,[12] उस प्रभु-मिलन से उसके मन को संतोष होता है।[13] इस लोक में भगवत्प्राप्ति के बाद उस आवागमन से मुक्त होने की सूझती है।[14] मुक्ति के बाद राम और कबीर मिल कर एक हो जाते है[15] तथा 'सूतै सूत मिलाए कोरी'[16] विश्व कोरी और जगत् प्रसिद्ध कोरी मिल जाते है। यह मिलन ऐसा है जैसे—'जीव जलु महि पैसि न निकसै तिउ दुरि मिलिओ जुलाहो'।[17] इससे भी बढ़ कर 'आप ते आप जानिआ तेज तेजु समाना'[18] तेज महा तेज में समा गया। लेकिन अब तक तो कबीर इतना आगे बढ़ चुका, कि उसे महा तेज में समाने की आवश्यकता ही नहीं रही। इसीलिए कबीर कहता है कि अब जब 'मुझ महि रहा न हू' तब कबीर ही 'तूँ तूँ करता तू हुआ' वह स्वतः ही ब्रह्म में परिणत हो गया।[19] यह तो हुआ कबीर का 'कबीरत्त्व'। उसके पारिवारिक जीवन की एक झाँकी उसके लौकिक व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डालने में सहायक सिद्ध हो सकेगी, अतः वह भी उपेक्षणीय नहीं।

'हमारे कुल कउने राम कहिओ। जब माला लई निपूते तब ते सुखु न

---

१. ८५९ क, २।
२. ११५६ क, ११।
३. ११५१ क, ११।
४. ११०३ क, २।
५. ६६।
६. ११५६ क, ५।
७. २०३।
८. २३६।
९. ६२।
१०. ६६।
११. ६१।
१२. ८५६ क, ५।
१३. ११०४ क, ५।
१४. १३६६ क, २१।
१५. ६६६ क, ३।
१६. ४८४ क, ३६।
१७. ६६२ क, ३।
१८. ८५७ क, ११।
१९. २०४।

भइओ ।'[१] सुख होता भी कैसे ? माँ को लौकिक सुख चाहिए था, जिसका आधार है धन और कबीर ने कमाई आरम्भ कर दी थी नाम-धन की—जो हो, यह संघर्ष घटा नही, अपितु बढ़ता ही गया ।

'मुसि मुसि रोवै कबीर की माई' क्योंकि 'तनना बुनना सभु तजिओ है कबीर' तथा 'हरि का नाम लिखि लीओ सरीर' ।[२] कबीर ने बहुत समझाया, पर माँ कहाँ माने । विवश हो, वह तो इतना ही कह कर चुप हो गया—

'हमरा इनका दाता एकु रघुराई' सांसारिक मोह-माया के चक्कर में फँसे हुए व्यक्तियों से पीछा छुड़ाना इतना आसान नही । कबीर ने सत्संगति और साधू सेवा बढ़ाई, तो माँ ने क्रोध और व्यंग बढ़ाए—

'हम कउ साथरु उन कउ खाट' तथा 'हम कउ चाबनु उन कउ रोटी'[३] ये 'कमर बधि पोथी' मुँडिया है, जिनसे मुँडिया (कबीर) मिल कर एक हो गया है । माया-लिप्त माँ का पुत्र ही धन निर्लिप्त हुआ था, तो उसकी प्रतिक्रिया उसके पुत्र मे ही क्यों न होती, इसीलिए तो कबीर को कहना पड़ा था—

'बूड़ा बंसु कबीर का उपजिओ पूतु कमाल'[४] यह है, उसके पारिवारिक जीवन की कहानी । सामाजिक क्षेत्र में उसने किस पंडे को नहीं धिक्कारा, किस ब्राह्मण नही, 'बाम्हन' को नही ललकारा—'तूँ बाम्हनु मैं कासी क जुलहा बूझहु मोर गिआना'[५] किस योगी को नही फटकारा और किस काजी तथा मुल्ला को नही झाड़ा । उसने किसी को भी न पुचकार कर सबको पुचकारा था अपने व्यक्तित्व की ज्योति से । सबो फटकार कर, दूर भगा कर भी आकर्षित किया था अपनी सीधी, सरल एवं मर्मस्पर्शी वाणी से ।

राजनैतिक अत्याचारों से प्रताड़ित उसकी यातनाएँ भी यातनाएँ न बन सकीं । सिकन्दर के हाथी ने कुचलने के बदले उसे नमस्कार किया था ।[६] गंगा ने उसे बहा ले जाने के स्थान पर उसकी जंजीर को तोड़ कर बहा दिया था ।[७]

ऐसा था उसका जीवन । कोरी के घर जन्म लिया,[८] लेकिन माँ-बाप का पता नही । जीवन भर गृहस्थी रहे, लेकिन पत्नी का बोध नही । मगहर में भगवान के दर्शन पाए,[९] लेकिन जन्म-स्थान का ज्ञान नही । जन्म भर कपड़ा बुनते रहे,[१०] लेकिन भाव का पता नहीं । उमर भर मूर्तियों का विरोध करते रहे, परन्तु किसी भी मूर्ति से परिचय नही । आयु-भर अत्याचारियों से जूझते रहे, पर थोड़ा भी परेशान नहीं । अक्षर-भर पढ़े नहीं,[११] पर सब को पढ़ा दिया । लिखना आता नहीं था, पर ब्रह्म गुण-गान में सातो समुद्रों को स्याही बना कर समाप्त कर दिया ।[१२] उपदेश नहीं दिया,

१. ८५६ क, ४ । २. ५२४ क, २ ।
३. ८७१ क, ६ । ४. ४८४ क, ३३ ।
५. ४८२ क, २६ । ६. ८७० क, ४ ।
७. ११६२ क, १८ । ८. देखें ऐतिहासिक परिचय ।
९. ६६९ क, ३ । १०. ४८२ क, २६ ।
११. ८५५ क, २ । १२. ८१ श्लोक ।

पर उपदेशक बने रहे। वेद सुने नहीं, पर उनका सार सुना दिया। काव्य जाना नहीं, पर काव्य बना दिया। (माँ द्वारा) स्वयं सुधरे नहीं, पर समाज को सुधार दिया। भूखे भक्ति की नही, भिक्षा ली नही,[1] पर भर-पेट खाया। अधिक क्या मरते समय काशी रहे नहीं,[2] पर काशीवास (का फल) पाया। यही है उनकी महानता, कि जीवन में महान् बने नहीं, पर अनायास ही महत्ता पा ली।

ऐतिहासिक परिचय—

महान् पुरुषों के ऐतिहासिक जीवन के विषय में प्राय: कम ही ज्ञात होता है, विशेषतः हमारे देश भारत में तो और भी कम। कबीर का जीवन-वृत्त अपने आप में एक पूर्ण शोध प्रबन्ध की सामग्री है। तो भी संक्षेपतः कुछ प्रमुख बातों से परिचित कराया जाता है, जिनका दिग्दर्शन उनके व्यक्तित्व के माध्यम से नहीं हो सका।

कबीर ने सं० १४५५ मे जन्म लिया[3] और स० १५७५ में मर कर अमर हो गए।[4] सम्भवत: १२० वर्ष की उनकी आयु[5] ठीक ही हो, क्योंकि ऐसे असाधारण व्यक्ति के लिए इतनी आयु अविश्वसनीय नही। वे जुलाहे थे।[6] काशी मे रहे थे,[7] और मगहर में मरे थे।[8] रामानंद उनके गुरू थे।[9] उनकी माँ भक्तो के कारण प्राय: तंग रहती थी।[10] उनके सम्बोधनों से प्रतीत होता है, कि लोई उनकी स्त्री थी, कदाचित् उसका 'धनिया' नाम[11] इसीलिए दिया हो, कि दुलहिन को धन्या कहा जाता है। कमाल उनके पुत्र थे,[12] जिनके विषय मे प्रसिद्ध है, कि कबीर के शिष्यों के कथन के अनुकूल उन्होंने 'पंथ' नही चलाया, अतः कपूत कहलाए।[13] उमर भर ताना बुनते रहे।[14] राजा (सिकन्दर) ने उन पर अत्याचार किए थे, लेकिन 'भगवान ने उनकी रक्षा की थी।[15] वे पढ़े लिखे न थे।[16] जयदेव और नामदेव से परिचित थे।[17] जो हो, उनका साहित्यिक जीवन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

साहित्यिक मूल्यांकन—

काव्य का महत्त्व यदि स्थायित्व और प्रभाव की दृष्टि से देखा जाए, तो हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान बेजोड है। यदि रस को ही काव्य की कसौटी माना जाए, और शांत तथा भक्ति को भी रसों की कोटि में स्थान दिया जाए, (जैसा

---

१. ६५६ क०, ११। २. ३२६ क०, १५।
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा पृ० २४८।
४. कबीर की विचारधारा : डा० गोविन्द त्रिगुणायत पृ० ५३।
५,६. कबीर साहिब जी की परचई : अनंतदास, (अप्रकाशित, ना० प्र० सभा, काशी)।
६. ४८२ क०, २६। ७. ६६६ क०, ३।
८. ३२६ क०, १५। १०. ८७१ क०, ६।
११. ४८४ क०, ३३। १२. ११५ श्लोक।
१३. हिन्दी साहित्य : आचार्य ह० प्र० द्वि० ; पृ० १२६।
१४. ४८२ क०, २६। १५. ८७० क०, ४।
१६. ८५५ क०, २। १७. ११६३ क०, २।

कि दिया जा चुका है) तो कबीर का काव्य आत्मा को कितना आह्लादित करता है, यह 'ब्रह्मानन्द सहोदर' रस का अनुभवकर्त्ता अवश्य अनुभव कर सकता हैं। हाँ! उसके काव्यत्त्व मे से लौकिक रस की आशा करनेवाला रसिक उसे शुष्क, नीरस उपदेश-मात्र कह कर काव्य में स्थान न भी दे, तो किसी को क्या आपत्ति ?

यह कहना भूल है, कि कबीर ने उपदेश दिया था, कबीर ने तो केवल संदेश दिया था—अपनी आत्मा का—निश्छल अनुभूति की सरल, स्पष्ट एवं सरस अभिव्यक्ति के माध्यम से। तुलसी उपदेशक हो सकते है, क्योंकि उन्होंने समाज के लिए आदर्शों की स्थापना करनी थी। काव्य-प्रणयन करते समय उन्हें इस बात का ज्ञान था, यह ठीक है, कि उनका आवरण अधिक सज, संवर कर हमारे सामने आया है, लेकिन यह भूल न जाना चाहिए कि आत्मा का संदेश, यदि बिना आवरण के भी हो, तो भी अधिक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, अधिक मर्मस्पर्शी होता है, अतः अधिक स्थायी भी होता है। उसका सौदर्य आन्तरिक सौंदर्य हैं, जिस पर काव्य जगत् युग-युग तक मोहित रहता है। उसका सत्य शाश्वत सत्य है, जो युग-युगान्तर तक परिवर्तनशील नहीं। उसका सन्देश महान् सन्देश है, जो अनन्त-काल पर्यन्त सब को समान रूप से प्रेरणा देता रहता है और कबीर का काव्य इन कसौटियों पर महान् ठहरता है। उपदेष्टा को पहले ध्यान होता है, कि उसे कब, कहाँ, किसको, किस रूप मे क्या कहना है ? परन्तु आत्मा का सन्देश स्वतः निःसृत होता है। उसके लिए कोई दिशा नहीं, कोई नियंत्रण नही, कोई बन्धन नहीं। अगर वह श्रोता की आत्मा को मोहित कर लेता है, आनन्दविभोर कर देता हैं, तो अवश्य ही काव्य है और कबीर का काव्य इससे दूर नही।

कबीर परभाते तारे खिसहि तिउ इहु खिसै सरीरु।
ए दुइ अखर ना खिसहि सो गहि रहिओ कबीरु ॥[1]

जिनमें इस प्रकार के पद भी शान्त रस उत्पन्न न कर सकें, उनके काव्य रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की अपेक्षा लौकिक रस के निकट समझा जाए, तो अधिक उपयुक्त होगा। कबीर की प्रतिभा अद्वितीय थी, इसमें दो मत नहीं। कबीर का शास्त्रीय ज्ञान नही, लौकिक ज्ञान असीम था। उनके ज्ञान का आधार था—दृश्य-जगत् और अन्तःकरण के अनुभव। उन्होंने पंडे-पंडित, बाम्हन-ब्राह्मण, मुल्ला-मौलवी और काजी-हाजी को ऊपर से तो देखा ही था, अन्तर से उनके अन्तर्मन की अवस्थाओं का अध्ययन भी किया था। अगर सूर का 'बाल-कृष्ण' 'पग द्वै द्वै धरनी' करता हुआ मानव-मन को चुरा सकता है, तो यह भी स्मरण रहे, कि पंडों को सुनाई जानेवाली फटकार भी साहित्यिकों का जमघट इकट्ठा कर देती है। अन्तर इतना ही है, कि प्रथम कोटि के काव्य रसिक पुस्तकी विद्या के माध्यम से वहाँ तक पहुँच पाते हैं और दूसरे अपढ़ कबीर को समझनेवाले बेचारे अपढ़ और असभ्य का विशेषण पाते हैं।

---

१. १७१ श्लोक।

कबीर की अभिव्यक्ति में 'नंगे' गांधी की उस लंगोटी से भी अधिक शक्ति है, जो विश्व की एक सबलतम पार्लियामेंट के नियम बदलवा सकती है, क्योंकि उनके हाथ में सोटी थी।[1] इसी प्रकार कबीर की अभिव्यक्ति पर अलंकार और छंदों के बन्धन का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि उनके पास आत्मा का दिव्य संदेश था। दिव्य व्यक्तियों के लिए लौकिक नियमों के बन्धन टूट जाते हैं और उनकी परख उनकी अपनी ही कसौटी पर होती है। इतना होते हुए भी कबीर के काव्य में पर्याप्त उत्कृष्ट रूपक, उपमाएँ और अन्य अलंकार भी मिलते है। जो हो, उत्कृष्ट काव्य की कसौटी पर कबीर का काव्य खरा उतरता है। विद्वान् समालोचक कबीर की जिन वाणियों को काव्य की परिधि में नही रख पाते, काव्य की दृष्टि से उनकी आलोचना उतना ही महत्त्व रखती है, जितना नेहरू के किसी भी राजनैतिक भाषण की साहित्य की कसौटी पर परख। उन्हें यह भूल न जाना चाहिए, कि कबीर का व्यक्तित्व जिन संग्राहक तत्त्वों से संगृहीत हुआ था, उनमें कवि-कार्य का कोई स्थान् न था, लेकिन उनकी प्रतिभा, उनका अनुभूत ज्ञान एवं निश्छल अभिव्यक्ति इतनी सबल थी, कि अनायास ही उसने उत्कृट काव्य में अपना स्थान बना लिया और हिन्दी साहित्य के किसी भी महान् कवि से पीछे न रहा।

सूर ने सोते हुओं को सहलाया था, तुलसी ने उन्हें जगाया था, लेकिन कबीर ने जागते हुओं को झकझोरा था। इसीलिए पुराना साहित्य सूर के 'राधा-कृष्ण' में ही रमा रहा। द्विवेदी-युगीन साहित्य तुलसी के राम के आदर्श और मर्यादाएँ स्थापित करता रहा। लेकिन गत पच्चीस, तीस वर्षों का साहित्य इस बात का प्रमाण है, कि हिन्दी साहित्य ही नहीं, अपितु भारतीय मनीषा का झुकाव कबीर साहित्य की ओर अधिक रहा है और बढ़ता ही जा रहा है। क्योंकि जागृत भारत को जागरित आत्मा का स्वतन्त्र सन्देश स्वतन्त्रोन्मुख करने पर विवश था। आज का साहित्यिक राजनैतिक परतन्त्रता की बेड़ियाँ काट स्वतन्त्र हो चुका है। इस अवस्था में निश्चित रूप से स्वतंत्र विचारों का उन्मुक्त आलिंगन जन-जीवन को अमर जागृति का संदेश दे रहा है और देता रहेगा। संत साहित्य और विशेषत: कबीर पर जितना शोध कार्य हुआ है, हो रहा है, अन्य किसी कवि पर नही, यह तथ्य इस सत्य का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

कबीर के धार्मिक विश्वास—

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।[2]

---

१. गांधी को—नहीं; ब्रिटेन के बादशाह को गांधी से मिलना था और वहां के नियम के अनुसार उसे केवल उनकी राष्ट्रीय वेश-भूषा (कोट-पैंट) में ही मिला जा सकता था। गांधी ने इस बन्धन को अस्वीकार किया था और पार्लियामेंट के विशेष अधिवेशन ने इसके लिए नियम का बन्धन हटाया था।

२. वैशेषिक दर्शन, १, १।

ऐहिक एवं पारलौकिक सुख, शान्ति एवं समृद्धि की ओर ले जानेवाला साधन धर्म है। सृष्टि के विकास क्रम के साथ-साथ बौद्धिक मानव मृत्यु के माध्यम से यम के संहारक प्रहार को न सह सका। सदा बने रहने की बलवती इच्छा ने उसमे एक अज्ञात शक्ति के प्रति भय उत्पन्न कर दिया। इस भय से ही मानव में उस शक्ति के प्रति विश्वास, श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न हुआ। यह भगवत्प्रेम ही धीरे-धीरे कुछ बन्धनों के साथ मानव धर्म मे परिणत हुआ।

यों तो 'धारणाद्धर्म मित्याहु.'[१] धारण करने से ही धर्म बन जाता है। इसीलिए अग्नि का धर्म दाहकता है। जो हो, धर्म के इन मूल-तत्त्वो से जब मानव सम्बद्ध होता है, तब वे ही मानव-धर्म में परिणत हो जाते है। इस प्रकार मानव-धर्म के भी दो उद्देश्य है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है— ऐहिक एवं पारलौकिक सुख, शांति एवं समृद्धि पाना। ऐहिक समृद्धि अपने आप में साध्य नही, वह तो केवल साधन रूप में स्वीकार्य हो सकती है। ऐहिक सुखों को मानव भ्रमवश साध्य समझ बैठता है, वस्तुतः पारलौकिक उन्नति एवं सुख ही मानव-जीवन का साध्य है। और जो मानव-जीवन का साध्य है, वही मानव-धर्म का वास्तविक उद्देश्य है। सम्भवतः इसी कारण धर्म के दो पक्ष है, सिद्धान्त पक्ष और व्यवहार (आचार) पक्ष। स्मृतिकार ने 'आचार प्रभवो धर्म.'[२] कह कर आचार का महत्त्व स्थापित किया था, क्योंकि उन सब सिद्धान्तों का ज्ञान बेकार है; यदि जीवन मे उन्हें क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सकता। इसीलिए युधिष्ठिर को 'सत्यं वद' का पाठ एक मास-भर न याद हो सका था। तब भी 'धर्मराज' की उपाधि उन्ही को मिली थी। लेकिन यह न भूल जाना चाहिए, कि बिना सत्य के ज्ञान के उसे आचरण में कैसे उतारा जा सकता है? अतः सिद्धान्त-पक्ष का ज्ञान होना भी उतना ही आवश्यक है। जो हो, दिव्य आत्माओं की अनुभूति पर आधारित सिद्धान्तों को आधार बना कर सम्यक् व्यवहार (आचार) पूर्वक जीवन व्यतीत करना ही, वह धार्मिक जीवन है, जो निर्लिप्त मानव को ऐहिक सुखों के माध्यम से उद्भासित करके पारलौकिक सुख, समृद्धि एवं शाति की ओर ले जाता है।

मानव धर्म महान् है। उसे किसी तर्क की नही, अनुभूति की आवश्यकता होती है। उसके आचार में किसी बंधन की नही, एक-मात्र सद्भाव और निर्लिप्तता का ही राज्य होता है। लेकिन मानव पारिवारिक एव सामूहिक प्राणी है, अतः उसने मानव धर्म को भी सामाजिकता के कटघरे मे बद करना प्रारम्भ कर दिया। सामाजिकता के संकीर्ण घेरे में मानव-धर्म पनप नहीं सकता। अतः उपयुक्त क्षेत्र के अभाव में उसमें विकार आने अवश्यम्भावी हैं। इन विकारों के ही परिणाम-स्वरूप श्रीकृष्ण को कहना पड़ा था—

---

१. महाभारत पर्व; ६९, ५९।

२, मनुस्मृति, १, १०२।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥[1]

धर्म के नाश और अधर्म की वृद्धि होने पर ही दिव्य आत्माओं को संसार में अवतरित होना पड़ता है । ये दिव्य-आत्माएँ और कुछ नहीं, वे ही लौकिक महापुरुष है, जिन्होंने अंतःकरण में स्थित ब्रह्म को उद्भासित कर लिया है । परिस्थितियों का ऐसा करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण संयोग एव सहयोग होता है । सम्भवतः इसीलिए बर्कले ने तो यहाँ तक कहा है, कि 'विश्व की महान् विभूतियाँ काल-प्रसूत होती है', जो बहुत सत्य है । रावण की विकृत प्रतिभा से उत्पन्न दुराचारों ने प्रवासी दशरथ-पुत्र को राम बना दिया था । कंस के अत्याचारों ने तथा दुर्योधन के 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि' (सुई की नोक के बराबर भी भूमि न दूँगा) वाले हठ ने ब्रज की गोपियों के कन्हैया को भगवान श्रीकृष्ण बनने पर विवश कर दिया था । 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' ब्राह्मणों के याज्ञिक अनाचारों ने बुद्ध मे सहज-प्रतिभा उद्बुद्ध कर उसे भगवान बुद्ध बना दिया था । इसी प्रकार भारतीय मनीषा के क्षितिज पर अभारतीय मानव मानव नहीं, दानवों की राजनैनिक एवं सामाजिक ही नहीं, अपितु धार्मिक क्षेत्र की नृशंसता तथा भारतीय धर्म नहीं, उसके आचार के आडम्बर ने कबीर को कबीर (महान्) बनने के लिए पुकारा था । इसीलिए द्विवेदी जी को लिखना पडा— 'कबीर आविर्भूत हुए थे ।'[2] जो हो, वे आविर्भूत हुए हों या न । हाँ ! ब्रह्म को अवश्य ही उन्होंने अपने अंतःकरण में 'आविर्भूत' कर लिया था ।

इसीलिए सत्य का कवच पहन कर, कटु सत्यों का प्रहार करते हुए उन्होंने समाज के सब अधर्मा ठेकेदारों को झाडा, फटकारा और समझा कर सहलाया भी, ताकि वे उचित पथ पर अग्रसर हो सके ।

कबीर अपनी आत्मा का सच्चा पुजारी था और सत्य दो नहीं हो सकते । इसीलिए उसने किसी सत्य का कभी विरोध नहीं किया और जो सत्य नहीं, वह धर्म भी नहीं हो सकता, अतः उसने किसी धर्म का विरोध नही किया । उसने तो केवल सत्य अथवा धर्म के आवरण के नीचे जमी हुई मैल को बाहर निकाल फेंकने का प्रयत्न किया । अतः कबीर के धर्म की सबसे पहली और सबसे बड़ी विशेषता यही है, जिसके कारण वह आज का आडम्बरपूर्ण 'कबीर-पंथ' नहीं, 'मानव धर्म' बन सका । आत्मा के सच्चे सेवक होने के कारण कबीर 'मंत्र द्रष्टारः' ऋषियों के स्तर से भिन्न स्थिति पर न था और दिव्य आत्माओं की अनुभूतियाँ प्रायः एक सी होती हैं । एक न भी हो, तो भी सत्य अवश्य होती है । दिव्य ही क्या ? प्रत्येक आत्मा की अनुभूति सत्य होती है, इसीलिए तो कहा जाता है, कि 'जीव के अंतःकरण से निकला हुआ प्रत्येक शब्द कुंदन होता है । जीवन महान् है

१. गीता, अध्याय ४, ७ ।   २. कबीरः आचार्य ह० प्र० द्वि० पृ० १७० ।

और इस तथ्य मे निहित सत्य की कसौटी है अनुभूति—निश्छल और पवित्र अंतः-करण की एकमात्र अनुभूति ।

कबीर का 'कबीरत्त्व' इसी में है, कि उसने जो अनुभव किया, केवल वही कहा, उससे न कुछ अधिक, न कुछ कम । इसीलिए उसके कथन में सत्य का बल है, वाणी का ओज है, भाषा की सरलता और सादगी है, जिन्दगी की सच्चाई है, वास्तविक आचार की रूप-रेखा है, हृदय का पीड़न है, भाव का उच्छलन है, ज्ञान का प्रकाश है, बौद्धिकता का विकास है, मानव-मन का स्वभाव है, समाज का कल्याण है और है जीवन का अमर संदेश । जिसने उसे पहचाना, वह अमर हो गया, जिसने उसे जाना, वह ज्ञानी हो गया, जिसने उसके रहस्य को समझा, वह समझदार हो गया, जिसने उसे पढ़ा, वह पंडित हो गया, जिसने उसे सुना, वह निर्मल हो गया; और जिसने उसे अपनाया, वह तो कबीर (महान्) ही हो गया ।

कबीर ने सबको सब कुछ करने से रोका था, पर किसी को भी कुछ करने पर विवश नहीं किया । कबीर ने सब को फटकारा था, पर किसी को भी सहलाए बिना न जाने दिया । कबीर ने सबको पकड़ा था, पर किसी को भी सुधारे बिना न छोडा । कबीर ने सबको ललकारा था, पर किसी को समझाए बिना न त्यागा । वस्तुतः कबीर ने उलझे हुओं को सुलझाया था और सुलझे हुओं को राह लगाया था ।

कबीर जन्म, जाति और कर्म से सामान्य-मानव थे, इसीलिए उनके माध्यम से मानव-धर्म का प्रसार हुआ । कबीर दार्शनिक न थे, लेकिन उन्होंने सम्पूर्ण दर्शनों के तत्त्व के दर्शन कर लिए थे, कबीर तार्किक न थे, लेकिन तार्किकों के प्रत्येक तर्क से परिचित थे, कबीर वेद-पाठी भी न थे, पर वेदों का सार उन्होंने संसार को पढ़ा दिया था, कबीर पुस्तकी-विद्या के ज्ञाता न थे, पर सम्पूर्ण संसार का उन्हें ज्ञान था, कबीर सामाजिक दृष्टि से बाह्यआचारवान् न थे, पर व्यक्ति-गत दृष्टि से आन्तरिक रूप से आचारवान् भी थे, इसीलिए तत्कालीन समाज के कबीर कुछ भी न होकर, सब कुछ (नियंता) थे । यही है कबीर का 'क़बीरत्त्व' ।

उसके 'कर्म और धर्म' में एकता थी, 'कथनी और करनी' में साम्य था, 'कहनी और रहनी' में समरूपता थी । इसीलिए उनका धर्म 'नकद धर्म' था । वह नकद धर्म जिसका आधार कबीर को मान्य नही, जिसको सीमित रखना कबीर को सह्य नहीं, और जिसका उपदेश कबीर को ग्राह्य नहीं, क्योंकि वह तो केवल संदेश देने की साधना लेकर आया था—वह भी कथनी नहीं, करनी के माध्यम से । इसीलिए कबीर का धर्म योग मे अटका नही, वहाँ से 'सहज' बन कर निकल आया, ज्ञान में उलझा नहीं, वहाँ से विवेक बन कर चला आया, और भक्ति में रमा नहीं, वहाँ से अनुभूति बन कर बढ़ निकला । इसीलिए वह विभिन्न मतों से विवाद करके भी स्वतः विवाद में नही पडा, सम्प्रदायों से झगड़ कर भी स्वतः झगड़े में नहीं फँसा, जाति के बंधन तोड़ कर भी स्वतः उन बंधनों में नहीं रमा ।

ऐसा था कबीर का धर्म । इसीलिए वह किसी मानव विशेष का धर्म न बन कर भी मानव धर्म ही बन गया । और धर्मो (सम्प्रदायो) को मार कर स्वतः अमर हो गया ।

कबीर दार्शनिक न थे । अत: उन्हें किसी दर्शन विशेष के बंधन में बाँधना उनके साथ और अपने साथ अन्यान्य होगा, क्योंकि अनुभूति तर्क की सीमाओं से परे की वस्तु है और दर्शन का आधार तर्क ही है । इस प्रकार कबीर की अनुभूतियों को मस्तिष्क के साँचे में ढाल कर— परिणामस्वरूप किस आकार के विचार निकाल सकेंगे, यह उन रचनाओं के माध्यम से स्पष्ट ही है, जिनमे किसी ने उनका रुझान अद्वैतवाद तथा किसी ने विशिष्टाद्वैतवाद की ओर बताया है । जो हो, यहाँ कबीर के धर्म का अध्ययन, ब्रह्म, सृष्टि, जीवात्मा, उसका साध्य, साधन तथा अवरोधक शक्तियों के माध्यम से हुआ है ।

ब्रह्म—माहात्म्य

कबीर सात संमुदहि मसु करउ कलम करउ बनराइ ।

बसुधा कागदु जउ करउ हरिजसु लिखनु न जाइ ॥[१]

ब्रह्म का माहात्म्य तो इतने से ही स्पष्ट है, कि अपढ कबीर ब्रह्म के गुण अंकित करने बैठा, तो 'बसुधा कागदु' तथा 'सात संमुदहि मसु' सामग्री का ही अभाव अनुभव हुआ, तो हरि-गुण ही क्या लिखना था ? कबीर तो जीव ही था । सनक एवं सनन्दन आदि भी उसका गुण-गान करते है[२] तथा वेद उसके दूध के भंडार हैं और समुद्र मथने की मटकियाँ ।[३] लेकिन बेअंत के अनंत माहात्म्य का अन्त कहाँ ? 'सुरपति, नरपति' उसके गुणों को जानने मे असमर्थ है तथा 'चारू वेद अरु सिम्रिति पुरानां' उसके माहात्म्य का बखान करने में अशक्त है और बेचारे सनक, सनन्दन तथा महेश की तो बात छोड़ो, अपितु 'शेष नागि तेरो मरमु न जानाँ'[४] शेषनाग भी तो उसके रहस्य को न जान सका । नारद और शारदा उसकी सेवा में उपस्थित हे, तथा ब्रह्म-पत्नी कमला की दासी ही बन बैठी है, लेकिन ब्रह्म तो दूर—उसके माहात्म्य का भी तो इनको क्या ज्ञान ?[५] भगवान की शरण मे आए हुए सिद्धों ने भी अपनी समाधि के माध्यम से उसका अन्त नही पाया । और इन सबसे बढ कर 'ठाढ़ा ब्रहमा निगम बीचारै' लेकिन 'अलखु न लखिआ जाई'[६] वेदों का चिन्तन करता हुआ ब्रह्मा भी उसके दर्शन न पा सका । दर्शन कर भी कैसे सकता था ?

सतरि सैइ सलार है जाके । सवा लाख पैकाबर ताके ।।

इनके अतिरिक्त छप्पन करोड़ कार्यकर्त्ता तथा तैंतीस करोड सेवकों का जमघट वहाँ मौजूद है । यह चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करनेवाले प्राणी भी तो उसी की कृपा का फल है ।[१] अत उसका माहात्म्य समय, स्थान और प्राणियों की

१. ८१ श्लोक ।
२. ३३९ क० ७४ ।
३. ६५५ क० ५ ।
४. ६९१ क० १ ।
५. ४७८ क० १३ ।
६. १३५० क० ५ ।

सीमा का विषय बन ही नहीं सकता, क्योंकि वह स्वयं भी तो असीम एवं अनत है। अगणित चन्द्र जहाँ दीपक का कार्य करते है तथा करोड़ों सूर्य जहाँ प्रकाश करते है, वही 'ब्रह्मा कोटि बेद उचरै।' लेकिन उसके माहात्म्य का क्या अन्त ? करोड़ों धर्मराज उसके प्रतिहारी बने हुए हैं तथा असंख्य पवनें जिसके चौबारों में प्रवाहित हो रही है तथा —

समुन्द कोटि जा के पानीहार।

उसी ब्रह्मा के 'रोमावलि कोटि अठारह भार' हैं। देवताओ का कथन ही क्या ? उनके भी राजा इन्द्र—इन्द्र भी एकाध नही—

इन्द्र कोटि जाके सेवा करहि।

तथा—**गंध्रब कोटि करहि जैकार। बिदिआ कोटि सभै गुन कहै।**
तऊ पार ब्रहम का अन्तु न लहै।'

ऐसा महान है वह ब्रह्म, जिसके माहात्म्य का ही कोई अंत नही। जहाँ उस अरूप का रूप महान् है और वह दृश्य-जगत् से परे की वस्तु है, वहाँ उसकी कर्त्तव्य-शक्ति का ज्ञान भी तो मानव-मन की सीमाओं में आबद्ध नही। क्योंकि जब चाहे तब हँसते को रुला सकता है और रोते को हँसा देता है। 'जल ते थल करि' थल से कूप और उससे मेरु पर्वत तक बना डालता है। क्षण-भर में 'भेखारी ते राजा' तथा 'राजा ते भेखारी' बना देता है, तथा नारी से पुरुष और 'पुरखन ते जो नारी' बनाते भी जिसे देर नही लगती।[1] इन सबसे बढ़ कर उसका माहात्म्य उसमें है, कि जिसे ब्रहमै कथि कथि अंतु न पाइआ' वही बेचारा 'राम भगति बैठे घरि आइआ' क्योंकि विश्व की सम्पूर्ण सम्पत्ति और ऐश्वर्य से जिसकी तुलना नही की जा सकती, कबीर ने 'मनु दे रामु लिआ है मोलि।'[2] इसीलिए भक्ति के कारण से तो वह घर बैठे बैठे भक्त के यहाँ पहुँच जाता है। यही है भक्त की भक्ति की शक्ति और भगवान की उदारता की महानता। इसीलिए कबीर उसका अनंत माहात्म्य लिख कर भी न लिख सके थे। उसका गुण-गान करके भी शांत बने रहे थे। उसका अनुभव करके भी केवल 'गूंगे का गुड़' ही बता सकते थे। इसीलिए गुरू नानक ने उसका माहात्म्य बताते हुए अपने को मूरख कह कर अपनी असमर्थता एवं विनम्रता का परिचय दिया है[3] और 'दासु कबीर तेरी पनह समाना'[4] बन गया है। सम्भवतः इसीलिए ही तुलसी ने भी अनंत हरि की कथाएँ भी अनंत ही बताई है। जो हो, जिस ब्रह्म का माहात्म्य वेदों के माध्यम से ब्रह्मा भी नहीं प्रकट कर सके, इस सीमित शक्ति जीव की तो बिसात ही क्या कि उस तक पहुँचे, लेकिन 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' का भाव लेखक को असीम तक पहुँचने का अदम्य उत्साह और अनवरत प्रेरणा प्रदान किए हुए है। सम्भवतः इसीलिए वह इस दिशा मे प्रयत्नशील है।

---

१. ११५२ क० ३। २. ३२७ क० १७।
३. ७१५ म० १, १। ४. ११६ क० १५।

आविर्भाव

पूति पिता इकु आइआ। बिनु ठाहर नगरु बसाइआ ॥[1]

कबीर का ब्रह्म निर्विवाद रूप से अजन्मा, अनादि तथा अयोनि है, लेकिन भक्त में इतनी शक्ति है, कि वह स्वतः ही उसे उद्भासित कर लेता है, अन्यथा नास्तिकों के लिए ब्रह्म की स्थिति ही कहाँ है ? इस प्रकार ब्रह्म को तभी सत्ता में अनुभव किया जा सकता है, जब भक्त उसे उद्भासित कर ले, 'यही पुत्र (आत्मा) पिता (परमात्मा) का आविर्भाव है।' इसके भी प्रकट होने का स्थान विशेष है, और वह है—'दिल महि सांई परगटै।'[2] भक्त को उसके प्रकट होने के स्थान का भी ज्ञान हो गया, अतः साधन की आवश्यकता अनुभव हुई। कबीर ने वह भी बता दिया, कि देह पर विचार करते हुए अंतःअग्नि को प्रज्वलित करें, तो ब्रह्म अंतःकरण में उद्भासित हो जाएगा।[3] इससे भी सरल साधन है, संसार की विषमताओं से विचलित हुए बिना जब भक्त को—'हरख सोग दोझै नही तब हरि आपहि आप'[4] हर्ष, शोक आदि प्रभावित न कर सकेंगे, तो ब्रह्म स्वतः ही अंतर में प्रकट हो जाएगा। इस प्रकार यह भक्त की भक्ति की ही शक्ति है, जो वह ब्रह्म को उद्भासित कर लेता है। अतः आविर्भूत ब्रह्म के गुणों के माध्यम से उसका स्वरूप निर्धारित करना अनुपयुक्त न होगा।

ब्रह्म के गुण

वास्कलि के 'आत्मा क्या है ?' यह पूछने पर भाव की आत्मा ने दो बार मौन रह कर उसे अपना संदेश दे दिया था, लेकिन तीसरी बार भाव को कहना ही पड़ा था, कि आत्मा मौन है।'[5] सम्भवतः इसीलिए 'आत्मानं विद्धि' का भारतीय--दर्शन में मानव-जीवन के साध्य के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान बना हुआ है। आत्मा तो शांत है, लेकिन परमात्मा क्या है ? 'स एष नेति'[6] वह आत्मा से भी एक पग आगे—वह 'यह भी नही', 'वह भी नही' और 'बहुत कुछ नहीं'। 'मंत्र द्रष्टारः' ऋषियों ने इस 'नेति' पद्धति से ही उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया है। अनुभव बहुत कुछ एक से होते है। संतों ने विशेषतः संत शिरोमणि कबीर ने इसी रूप में उस अनंत ब्रह्म के अवर्ण्य गुणों को अनुभव करने का प्रयत्न किया है। जिसके माहात्म्य वर्णन में जीव और देवी-देवता तो क्या ! ब्रह्मा भी हार मान बैठे, लेकिन अपनी सीमित सामर्थ्य का ज्ञान होते हुए भी कबीर नही। उसी कबीर के अलिख्य ब्रह्म नहीं,—केवल उसके गुणों को लिखने का यह प्रयत्न-मात्र है।

कबीर का ब्रह्म अनादि है। ब्रह्म से प्रार्थना करते हुए और उसके ज्ञान से मन में संतोष अनुभव करते हुए अनादि ब्रह्म को धन्य बताया है।[7] इतना ही नही,

---

१. ६५५ क० ६। २. १८६ श्लोक।
३. ११५६ क० ११। ४. १८१ श्लोक।
५. दास गुप्त व हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ ४५।
६. बृहदारण्यकोपनिषद्—४, ४, २२। ७. ८७३ क०, ११।

उसका ब्रह्म अनादि होने के कारण 'आवै न जाई मरै न जीवै'[१] इसलिए अजन्मा भी है। योग से ब्रह्मरंध्र के प्रति अनुराग उत्पन्न करते हुए वह कहता है, कि ब्रह्मा न तो जन्म ही लेता है और न मरता ही है, केवल अंत करण मे अनुभव किया जा सकता है।[२] भव-सागर को तरने के लिए तत्पर मनुष्य को केवल ब्रह्मा से स्नेह करना चाहिए, क्योंकि एक-मात्र वही अजन्मा और अमर है। इस प्रकार कबीर का अजन्मा ब्रह्म, स्वतः ही, अनायास ही अमर भी है, इसमे सन्देह को कोई स्थान नही। तार्किक दृष्टि से भी यह युक्तिसंगत है, जिसका जन्म नही होता, जो स्थिति या सत्ता में आता ही नही, उसके नाश या समाप्ति का प्रश्न उठता ही नहीं।

कबीर का अलंघ्य ब्रह्म अगम एवं अतर भी है। उसे लाँघ कर आगे बढ़ने की बात तो दूर रही—उस तक पहुँचना ही असम्भव नही, तो अति कठिन अवश्य है। इसीलिए ब्रह्म के 'नेति' स्वरूप का वर्णन करते हुए थक कर कबीर कह ही देता है, कि—असमर्थ एवं सीमित-शक्ति जीव द्वारा किसी भी प्रकार वहाँ नही पहुँचा जा सकता, क्योंकि 'अगम अगोचर रहै निरंतरि'[३]—कौन? 'अगम' अगोचर रहता है या अगोचर अगम? इतना ही नहीं, तिथि वर्णन में वह स्पष्ट की कह उठता है कि, त्रयोदशी को अगम ब्रह्म के यशगान में प्रवृत्त हो जाओ, क्योंकि वह कही भी स्थिर न होकर सर्वव्यापक है।[४] बावन अखरी में इस भाव को और स्पष्ट करते हुए वह कहता है, कि ब्रह्म तो अतर है, उसे किसी भी प्रकार तरा नही जा सकता। वह तो समस्त त्रिभुवनव्यापी है, अतः समस्त त्रिभुवन को मन में समा लेने पर ही उस तत्त्व में इस (जीव) तत्त्व को सुख की प्राप्ति हो सकती है।[५] इस सम्पूर्ण मलिन ब्रह्माण्ड में 'इकु हरिनिरमलु'[६] है, लेकिन इसका भी न अन्त है और न पार ही पाया जा सकता है। इसीलिए वह अपार है। बावन अखरी में भी ब्रह्म के अपार गुण का वर्णन करते हुए कबीर ने लिखा है, कि उसका पार तो प्राप्य नही, हाँ। उसकी परम ज्योति से परिचय अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।[७] यौगिक शरीर मे ब्रह्म की स्थिति निर्धारित करते हुए ब्रह्म-रंध्र के ऊपर दशम द्वार का ज्ञान करा कर भी स्पष्ट ही कहा है, कि 'ता अंतु न पारु।'[८] इसीलिए तो कबीर का अलंघ्य ब्रह्म अगम, अनर एवं अपार भी है, यह एक निर्विवाद सत्य है। जिस ब्रह्म की दूरी का ज्ञान नही—वहाँ तक पहुँचा नहीं जा सकता, उसकी गहराई का भी ज्ञान सम्भव नही। इसीलिए कबीर ने उसी ब्रह्म को अपार के बाद अथाह कहने का भी प्रयत्न किया है। बावन अखरी में आए 'थ' का सदुपयोग उसने ब्रह्म को अथाह कह कर उसकी गहराई का ज्ञान करने में किया है. 'थया अथाह थाह नही पावा'[९] और संसार तो अस्थिर है, अत' हमे उस ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। सनक, सनंदन, शिव और शुकदेव आदि ब्रह्म

---

१. ३३३ क०, ४७।
२. ३४१ क०, २१।
३. ३३३ क०, ४८।
४. ३४४ क०, १४।
५. ३४१ क०, २२, (३ अ) 'अगम अगोचर अलख अपारा' (७९५ म० १, २)
६. ११५८ क०, ३।
७. ३४१ क०, २७।
८. ११५९ क०, १०।
९. ३४१ क०, २३।

से उत्पन्न सभी कवि, योगी और जटाधारी काल-कवलित हो चुके, लेकिन अथाह ब्रह्म की थाह न पा सके।[१] अत: प्रार्थी कबीर तो केवल उसके गुणों मे ही स्थिर होने की याचना करता है, थाह पाने की नही।

पुन: कबीर ससार के इस भ्रम को दूर करने के लिए कि ब्रह्म अपार एवं अथाह होकर भी ज्ञात हो सकता है, इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसे अनत कहता है। ब्रह्म के 'नेति' गुणो की व्याख्या में इसे वह अन्तिम पद-चिह्न समझता हे। जैसा कि ब्रह्म के माहात्म्य वर्णन मे हम देख आए है, कि करोड़ों विद्याएँ उसका गुण-गान करके भी उसका अंत न पा सकी।[२] ब्रह्मरंध्र में एक मात्र पवित्र होने के कारण उसका अन्त है ही नही।[३] ब्रह्मरंध्र के ऊपर दशम द्वार का ज्ञान प्राप्त योगी तो उसके अंत का क्या ही ज्ञान रख सकता है, जबकि सनक और सनंदन तक तो उसका अंत पा न सके।[४] इतना ही नही, सभी धार्मिक पुस्तके पढ़ कर मनुष्य और देव तो क्या, 'वेद पड़ि पड़ि ब्रहमे जनमु गवाइआ।'[५] लेकिन अनन्त का अंत कहाँ ? अनन्त ही जो ठहरा।

अनन्त होने के कारण वह अनश्वर, अविनाशी, अक्षर अत.एव अमर है। कबीर कहता है, मनुष्य और प्राणीमात्र तो क्या, धरती और आकाश भी नष्ट होते है। वेद, स्मृतियाँ और कुरान भी काल की अबाध गति के चक्र से नही बचते।[६] इतना ही क्या, योग ध्यान मे तल्लीन शिव भी अमर नही। यह तो एक-मात्र कबीर का स्वामी ब्रह्म ही है, जो सदा समान रूप से रहता है। इसीलिए तो वह नश्वर ब्रह्माण्ड से परे अनश्वर और विनाशी ससार से दूर अविनाशी है।[७] प्रभातकालीन तारों की भाँति शरीर को अस्थिर बताते हुए 'दुई अखर ना खिसहि'[८] केवल दो अक्षर 'रा' और 'म' को कबीर ने अक्षर बताया है और इन्ही बावन अक्षरों में से परीक्षा करके दो अक्षरों में चित्त को लगाने का उपदेश दिया है।[९] उसके अजन्मा होने के साथ-साथ अमर होने का वर्णन भी ऊपर किया जा चुका है।

कबीर के धैर्य की महानता में ही उसकी महानता छिपी है। उसकी अतृप्ति एवं असंतोष में ही उसकी अनन्य भक्ति के दर्शन होते हैं। एक बार ब्रह्म को अनंत कहने के बाद वह शांतिपूर्वक घर बैठ जाए ऐसी बात नही। अपनी सामर्थ्य को सीमित जान वह प्रयत्नशील न रहे, ऐसी बात भी नही—उसे लगन है, अनवरत एवं अनन्य—वह भी अंनत की। इसीलिए तो उसे अनन्त कह कर भी उसने उसके अक्षर एवं अनश्वर रूप की स्थापना कर ली। अनन्त की ओर बढ़ना भौतिक दृष्टि से अवश्य बुद्धिमत्ता नही है। इस वैज्ञानिक युग मे वैज्ञानिक भी सात चन्द्र और सूर्य ग्रहों

१. ११५४ क०, ५। २. ११६२ क०, २०।

३. ११५८ क०, ३।

४. ११५९ क०, १०; (४ अ) 'तू अथाह अति अगम' (१३०९ म० ४, १६)।

५. ४७८ क०, १०। ६. ११६३ क०, २।

७. ११६३ क०, १। ८. १७१ श्लोक।

९. १७३ श्लोक।

की ओर ही बढ़ रहे है, अनन्त की ओर नही। लेकिन कबीर को इन बाह्य साधनों एवं उपकरणों की आवश्यकता नही। हिलने-डुलने तक की भी आवश्यकता नही। वह तो एकाग्रता एवं तल्लीनता से अपने अन्तर में ही अनन्त की ओर बढ़ रहा है। इसीलिए अरेख और अरूप को असीम तथा अज्ञेय कह कर भी वह छोड़ने को तैयार नही। कर्मण्य कबीर के ताने के विश्लेषण में ही तो ब्रह्म का विश्लेषण छिपा है। उसके अलौकिक रूप और गुणों को छोड़ कर लौकिकता के माध्यम से हमें अननुमेय का अनुमान कराना चाहता है, अज्ञेय का ज्ञान कराना चाहता है, और चाहता है अमूल्य का मूल्य जतलाना।

कबीर का ब्रह्म असम है। उसकी किसी से समानता की ही नहीं जा सकती। मूर्ख सांसारिकों को वह चेतावनी देता है, कि संसार के राजे तो चार दिन के झूठे राजे है, इनसे अच्छा तो ब्रह्म का सेवक ही है।[१] और 'कोउ हरि समानि नही राजा'[२] अतः उससे इनकी समता या तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए तो कबीर ने उसे अनुपम कहा है।[३] ज्योतिस्वरूप ब्रह्म को उसने उपमारहित तत्त्व बताया है। सूर्य और चन्द्र में भी उसी की अनुपम ज्योति है।[४] घट-घट निवासी ब्रह्म घट (शरीर) के नष्ट हो जाने पर भी नही घटता है, क्योंकि 'घट फूटे घटि कवहि न होई' अतः उसकी सत्ता और महत्ता कम नही हो पाती।[५] इसीलिए तो 'सो दिया न जाइ' है, किसी को लौकिक धन, सम्पत्ति की तरह दिया नही जा सकता।[६] जीव ने ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति की है, जो न तो दिया ही जा सकता है और न ही दूसरे के पास पहुँचाया जा सकता है।[७] एक बार मिलने के बाद वह अत्याज्य हो जाता है, उसे छोड़ना तो क्या, चाह कर भी छोड़ा नही जा सकता।[८] वह अभेद्य है, उसे अश रूप में न तो अलग ही किया जा सकता है, और न ही खण्ड-खण्ड किया जा सकता, वह अपने रूप में ही पूर्ण रहता है।[९] काजी को ललकारते हुए कबीर कहता है, उस अल्लाह को पाने के छह भेद हैं, लेकिन यदि उनसे तुम अपने मन को भेद लो (वश मे कर लो), तभी तुम अभंग (जिसे खण्ड-खण्ड कर विभाजित नही किया जा सकता) तथा अछेद (जिसका छेदन नहीं किया जा सकता) ब्रह्म को प्राप्त कर सकोगे।[१०] ब्रह्म की तो बात ही दूर की है, उसके नाम-मात्र को भी 'अगनि न दहै', वायु अपने में लीन नहीं कर सकती है और चोर की तो शक्ति ही क्या, कि उसके पास आने का दुस्साहस करे।[११] इसीलिए तो उसका ब्रह्म भौतिक वस्तुओं के सभी गुणों से परे है। कबीर का स्थिर ब्रह्म अगोप्य भी है। उसकी शरण लेते हुए कबीर ने उसे पर्वत की भाँति

१. २. ८५६ क०, ५। ३. ३४४ क०, १०। ४. ६७२ क०, ११।
५. ३४० क०, ७५। ६. ६५६ क०, ९।
७. ६५६ क०, ९। ८. ६५६ क०, ९।
९. ६५६ क०, ९। १०. ३४० क०. ७५
१० अ. 'अहं अछल अछेद समाइआ'। (सुखमणी २१, म० ५)
११. ३३६ क०, ५८।

स्थिर बताया है। जिसके हृदय में उसकी अनुभूति है, वह छिपाए भी अधिक देर तक छिपी नही रह सकती।[१] अन्त.ज्योति स्वत: ही संसार पर अपना प्रभाव डालती है, इस प्रकार गुप्त रहना भी सम्भव नही। कबीर का ब्रह्म अक्रेय है, उसे खरीदा भी नही जा सकता। आडम्बरी एवं स्वार्थी ससार को उसकी चेतावनी है, कि विपत्ति पड़ने पर नाम स्मरण कर सुख शांति की कल्पना करते हो, यह उचित नही, विपत्ति का मूल्य नाम स्मरण द्वारा देकर भगवान को खरीदना चाहते हो, लेकिन यह सम्भव नही। ब्रह्म ऐसा नहीं, कि वह धन से खरीदा जा सके।[२] धन से ही क्या किसी भी वस्तु से उसका मूल्य नही आँका जा सकता (एक-मात्र अनवरत अनन्य भक्ति से उसे पाया जा सकता है) इसीलिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर अक्रेय को अमूल्य कह कर समझाने का प्रयत्न किया है। सांसारिको ने कांसी, तांबे का व्यापार किया और संतों ने गोविन्द के नाम का। कबीर कहता है, वह तो हरि-नाम के व्यापार के भी आगे अमूल्य हरि-हीरे को प्राप्त किए है। सासारिक व्यक्ति उसके मूल्य को न जान ही सकते हैं, न आँक ही सकते है।[३] 'कंचन सिउ पाइऐ नही तौलि'[४] राम का मूल्य सोने से भी नही आँका जा सकता, इसीलिए तो कबीर ने 'मनु दे रामु लीआ है मोलि'।[५] इस प्रकार अमूल्य ब्रह्म को उसने मन की तुला पर तोलने का दुस्साहस किया है। उसने भौतिक स्थूल गुणों से परे के ब्रह्म को भावात्मक सूक्ष्म गुणों से भी दूर बताया है।

'परम जोति परखोतमो जाकै रेख न रूप'[६] कबीर के ब्रह्म के रूप की तो बात ही सम्भव नही, बल्कि वह तो अरेख है। जिसकी रेखा ही नहीं खींची जा सकती, तो वह रूप में क्या आएगा—अतः वह स्वतः ही अरूप भी है। ऐसा ब्रह्म शरीर में सहस्र-दल कमल में निवास करता है।[७] ब्रह्म के रूप के विषय में कबीर की धारणा विस्तार मे विश्लेषण का विषय है, अतः यहाँ तो उसके अरूप गुण का परिचय-मात्र दिया गया है, विस्तृत विश्लेषण आगे होगा। कबीर का ब्रह्म घट-घट निवासी होकर भी स्वयं अघट (अशरीरी) ही है। उसने स्पष्ट ही कहा है, प्रतिपदा को प्रभु का विचार करो, तो 'घट महि खेलै अघट अपार' अंतर में उसका ज्ञान एवं अनुभव होगा।[८] अघट होने के कारण ही वह अमल है, 'मैला ब्रहमा मैला इंदु रवि मैला मैला है चंदु' इतना ही क्या ब्रह्माण्ड में हीरा, पवन, अग्नि या जल कुछ भी तो निर्मल नहीं, एक-मात्र ब्रह्म ही निर्मल है। इसीलिए तो ज्योतिस्वरूप ब्रह्म को उन्होंने 'मल' तथा 'अमल' दोनों से ही परे बताया है।[९]

इस प्रकार ब्रह्म का गुणगान करते हुए कबीर को अनुभव होता है, कि

१. ९६९ क०; ३।
२. १६३ श्लोक।
३. ११२३ क०, २।
४. ३२७ क०, १९।
५. ३२७ क० १९।
६. ८५७ क०, १०।
७. ८५७ क०, १०।
८. ३४३ क०, २।
९. ३४४ क०, ११।

शायद वह ब्रह्म का ज्ञान किसी इन्द्रिय के माध्यम से कर सके। उसका ध्यान अपने शरीर, उसकी इन्द्रियाँ और उसकी सामर्थ्य पर जाता है। वह उन्हें दौड़ा कर ब्रह्म की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है, लेकिन उसका अनुभव इन्द्रियों के माध्यम से जगत् को ब्रह्म की स्पष्ट झलक देने में अपने आप को असमर्थ पाता है। इसीलिए वह तो अतीन्द्रिय कह कर उसके 'नेति' स्वरूप का वर्णन छोड़ आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है— विशाल मृग-मरीचिका ही उसका आशा-केन्द्र है, ब्रह्म की झलक पाने का।

इस प्रकार सर्वव्यापक को जगत मे सीमित न बता कर, सम्पूर्ण संसार में एक-मात्र उसी का राज्य स्थापित करके भी कबीर उसे अगम कहता है। ऐसा अगम वह अतीन्द्रिय भी है। वह कबीर और जीव को इन्द्रियों से भी ज्ञेय नहीं, लेकिन कबीर का धैर्य सराहनीय है। वह उसे इन्द्रियातीत जान कर भी प्रत्येक इन्द्रिय के माध्यम से उस तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। सर्वप्रथम अपने विस्फारित नेत्रों का उपयोग करता है, पर ब्रह्म के दर्शनों के अभाव में वह उसे अदृश्य कहता है।[1] भक्त को उस भगवान् का भजन करने का सदेश देता है, जो 'आवत दीसै जात न जानी।'[2] पुन. बोल और अबोल के मध्य बताते हुए कहता है, कि वह जैसा है, उसे उसी रूप मे कोई नही देख सकता। उसका रूप स्थिर है, पर है अदृश्य।[3] अतः उसे हृदय मे अनुभव करनेवाले को ही सन्तोषी बताता है, लेकिन उसे इस रूप मे कोई देख सके? तब संसार में एक-मात्र वही होगा, लेकिन वह तो अगोचर है न।'[4] उसे तो कोई देख ही नही पाता। ज्योति के भीतर ही अपना विस्तार करनेवाला निरजन और अलख हीरा है।[5] यद्यपि हिरण्यकश्यप से भक्त प्रह्लाद का उद्धार करने के लिए वह आया, फिर भी उसका पार (भक्ति और महिमा) का कोई नही पा सका।[6]

इस प्रकार कबीर को जब यह विश्वास हो जाता है कि वह चर्म चक्षुओं से परे की वस्तु होने के कारण अदृश्य, अगोचर एवं अलख है, तब भी वह उसे दृश्य बनाने का प्रयत्न छोड़ता नही। हाँ! साधन परिवर्तन में वह अवश्य विश्वासी प्रतीत होता है। अतः वह स्थूल चर्म-चक्षुओं का स्थान सूक्ष्म अन्तःदृष्टि को प्रदान कर ब्रह्म-दर्शन में प्रयत्नशील है। इस प्रकार काजी को फटकारता है, कि तुम अपवित्र हो, अतः ब्रह्म के दर्शन नही कर सकते।[7] ब्रह्म-वेद-विचार के माध्यम से भी उसके दर्शन नही कर सका।[8] पुनः भक्त से कबीर कहता है, कि तुम्हें अन्धकार में एक दीपक की ज्योति चाहिए, जो इन्द्रियातीत एवं अगोचर ब्रह्म को भी तुम्हें प्राप्त करा सके।[9] यहीं तो वह आन्तरिक ज्योति एवं अन्तःदृष्टि है, जो अगोचर ब्रह्म को गोचर

१. ३३३ क०, ४८। २. ३३७ क०, ६२।
३. ३४० क०, ७५। ४. ३४२ क०, ४२।
५. ६७२ क०, ११। ६. ११६४ क०, ३।
७. १३५० क०, ४। ८. ६५५ क०, ७। ९. १३५० क०, ५।

बनाने की सामर्थ्य रखती है। इतना होते हुए भी कबीर तो ब्रह्म का पीछा छोड़ नही सकता, चाहे वह अगोचर ही क्यों न हो। उसे पूर्ण विश्वास है, भक्त की अनन्य भक्ति पर और गुरू की अपार कृपा पर। इसीलिए वह निर्भीकतापूर्वक घोषणा करता है, कि अल्लाह तो अलख है, लेकिन गुरू के मीठे गुड़ (ज्ञानोपदेश) ने मेरी सभी शंकाएँ नष्ट कर 'सरब निरंजनु डीठा' सर्वत्र ही मुझे ब्रह्म के दर्शन कराए।[1] इससे स्पष्ट है, कि कबीर का ब्रह्म चर्म-चक्षुओं से अवश्य ही परे की वस्तु है, लेकिन भक्त की भक्ति की शक्ति अन्तःज्ञान से उसे भी दृश्य बना ही लेती है। इस प्रकार कबीर का ब्रह्म अदृश्य होकर भी दृश्य है तथा दृश्य होकर भी अदृश्य है और जो अदृश्य है, वह अवर्ण्य भी है। भौतिक पदार्थों के वर्णन द्वारा कुछ रूप-रेखा निर्धारित की जा सकती है। इसीलिए तो सृष्टि के आरम्भ से ही मानव ने वेद, पुराण, स्मृतिओं और कुरान द्वारा, वाणी के माध्यम से उसका वर्णन करने का प्रयत्न किया है। अनेक विद्वान् अनेक रूपों में उसका वर्णन करते आए हैं।[2] लेकिन आज तक भी वह अवर्ण्य ही बना हुआ है।

कबीर का विचार था, कि वर्णन से पूर्व उसके विषय में पढ़ा ही जाए, तभी सम्भवतः उसकी रूप-रेखा स्पष्ट हो और वेद आदि के माध्यम से पढ़ने के पश्चात् वह वर्णन की सीमाओं में बंध सके। यद्यपि कबीर पढ़े नही, तदपि उनका गुनना उन्हें अनुभव करा चुका, कि वेद, पुराण आदि के 'पड़ै सुनै किया होई' न उसका रूप ही स्पष्ट होता है और न ही उसकी प्राप्ति।[3] इसलिए वह अपठ्य है और जो पठ्य नही, वह कथ्य भी नही 'सहज की अकथ कथा है निरारी' यह क्यों नहीं कही जा सकती है? इसका अपनी सीमित वाक्-शक्ति से उसने परिचय देने का प्रयत्न इस प्रकार किया है। जहाँ वह है, वहाँ न वर्षा, न सागर, न धूप, न छाया, न उत्पत्ति और न ही प्रलय है। वहाँ न जीवन है न मृत्यु और न सुख या दुखानुभूति। शून्य की जागृति और समाधि की निद्रा का भी वहाँ अभाव है, न वहाँ रात दिन की स्थिति है तथा न ही वहाँ जल, पवन व अग्नि है। यह तो ब्रह्म की नहीं—ब्रह्म की कथा की एक झलक-मात्र है। जिसकी कथा ही अकथ्य है वह ब्रह्म स्वयं कथ्य कैसे? उसके सौंदर्य पर मोहित होकर कबीर ने स्पष्ट ही कहा है, कि वाणी द्वारा उसके सौंदर्य का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो आँखों का विषय है, वाणी का नही।[4] तब अनायास ही तुलसी की यह पंक्ति 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' स्मरण हो आती है। अर्थ तथा भावसाम्य दर्शनीय है। वह ब्रह्म कबीर अथवा जीव-मात्र द्वारा ही वर्ण्य नहीं, अपितु वेद, पुराण, देवता एवं ब्रह्मा भी उसका वर्णन एवं कथन नहीं कर पाए। जब ब्रह्मा भी उसका वर्णन नहीं कर पाता, तो अपनी सीमित शक्ति का ज्ञान रखनेवाला कबीर कह उठता है, वाणी से न कहे

१. १३४९ क० ३।
२. 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद २, ३, २३, ६)।
३. ६५५ क०, १। ४. १२१ श्लोक।

जानेवाले ब्रह्म ! कबीर तेरी ही आरती उतारता है।[1] जो कहा ही नही जा सकता, वह सुना कैसे जा सकता है ? ब्रह्म के गुण और रूप सुनने के कारण ही वेदादि धर्म ग्रंथों को 'श्रुति' नाम दिया गया है, लेकिन वेद-पाठ द्वारा जिसे नही जाना जा सकता, कबीर को विश्वास है, कि वेद श्रवण द्वारा भी वह अश्रव्य ही बना रहता है। इसीलिए वेद-पुराणों का श्रवण भी व्यर्थ ही है, वे ब्रह्म के गुण तथा रूप की झलक-मात्र भी देने मे अपने आप को समर्थ नही पाते[2] और जो सुना नही जा सकता, उसके लिखे जाने का प्रश्न ही नही उठता—कबीर को स्वय अपढ़ कहा गया है, वस्तुतः अन्धराज सूर के अन्तःचक्षु जितने सूक्ष्मदर्शी थे, उससे कही अधिक गहन था अपढ कबीर का अन्त.ज्ञान। इतना होते हुए भी लौकिक अक्षर-ज्ञान के अभाव में ही उसने पारलौकिक अक्षर का ज्ञान ही नही, अनुभव भी प्राप्त किया था। इसीलिए उसने लिखने की आवश्यकता ही न समझी, पर जब लिखने की कल्पना की तो वह कितनी महान् थी, यह हम ऊपर देख ही आए हैं, कि सम्पूर्ण समुद्र स्याही और समस्त बनराज लेखनी बन कर कागज रूपधारिणी सम्पूर्ण धरित्री पर भी उसका गुण नही लिख सकते। कबीर की अपनी असमर्थता तो जो है, सो है ही, सामग्री का अभाव उससे भी बड़ा अभाव है। अतः उसका ब्रह्म पूर्णतः अलिख्य है।[3]

जिह्वा जहाँ अपनी प्रथम शक्ति वर्णन-शक्ति से उसका वर्णन नही कर पाती, वहाँ उसका दूसरा गुण आस्वादन भी है। लेकिन कबीर का ब्रह्म तो अस्वाद्य ही है। जिस प्रकार गुड़ खा कर गूगा मन में ही प्रसन्न होता है, उसी प्रकार भक्त भी केवल अन्त.करण से उसके रस को अनुभव ही कर पाता है ; न तो जिह्वा से उसका रसास्वादन और न कथन ही कर पाता है।[4] केवल जीभ ही नही, मुख से उसे खाया या उसका उपभोग भी तो नहीं किया जा सकता।[5] कबीर ने ऐसे ब्रह्म को प्राप्त किया है जो न दिया जा सकता है, न छोड़ा जा सकता है, न अलग किया जा सकता है और न ही खाया जा सकता है। अतः वह तो अस्वाद्य एवं अखाद्य बना हुआ है।[6]

ऐसा रूप रहित ब्रह्म स्पृश्य कैसे ? उस अनुभूतिगम्य को सांसारिक प्राणी और जीव तो क्या—देवी-देवता भी स्पर्श करने का असफल प्रयत्न ही कर सके, इसलिए अशरीरी वह अस्पृश्य है और परिणामस्वरूप केवल अनुभूतिगम्य है।

अतः बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से कबीर को जिसका ओर-छोर नही मिलता, वह मन, बुद्धि एवं हृदय से उसकी ओर बढ़, उसका रूप स्थिर एवं स्पष्ट कर उसे पाने का असफल प्रयास करता है। मन का गुण है चंचलता और क्रिया कल्पना। ब्रह्माण्ड स्थित ब्रह्म तक, ब्रह्माण्डबिहारी मन कल्पना में भी तो नहीं पहुँच पाता,

१. १३५० क०, ५। २. ६५५ क०, ७।
३. ८१ श्लोक। ४. ३२७ क०, १८।
५. ६५५ क०, ६। ६. ६५५ क०, ६।

उसे पकड़ने की तो बात ही अलग है। कितनी अच्छी बच्चों की आँख-मिचौनी है। इसीलिए कबीर का कल्प्य ब्रह्म भी अकल्प्य ही बना रहा है। मस्त हाथी की तरह मत्त मन शरीर में ही उसकी कल्पना कर उसे ढूंढता है, पर मत्त मन की कल्पना स्थिर ही नहीं, उसका चांचल्य उसके कार्य मे बाधक है[1] शरीर के सीमित क्षेत्र से दूर कबीर ने मन को पक्षी की भाँति स्वतंत्र कर दसो दिशाओं मे भेजा, कि अपनी कल्पना की उड़ान से ब्रह्म का कोई छोर तो वह पकड़ सके, लेकिन स्थिर ब्रह्म तक चंचल मन की तो क्या, उसकी कल्पना में भी पहुँच नही है।[2] इसीलिए तो कबीर को कहना पड़ा कि फल संगति के अनुकूल ही प्राप्त होता है। कहाँ चंचलतम मन जिसे तुलसी ने 'पीपर पात सरिस' कहा है और ब्रह्म, मन की पहुँच कल्पना-शक्ति से भी अति दूर का विषय है, अतः अकल्प्य है। विवेक-बुद्धि की शक्ति है और ज्ञान-प्राप्ति उसका गुण एवं साधन। मन की हार के बाद बुद्धि को भी अपनी सामर्थ्य जतलाने का अवसर प्राप्त हुआ। लेकिन वह तो बोधगम्य नही, अतः अबोध्य है। ज्ञानगम्य नही, अतः अज्ञेय है, 'फिर बुद्धि का विषय कैसे हो सकता है'। कबीर ब्रह्म के ज्ञान तक देर में पहुँचता है पहले वह उसकी बनाई हुई सृष्टि के ज्ञान का प्रयत्न करता है, लेकिन उसमें सम्पूर्ण संसार को असफल पा वह कह उठता है कि सृष्टिकर्त्ता का ज्ञान कैसा ?[3] कार्य का ही ज्ञान नहीं, तो कार्यकर्त्ता के गुणों से ही क्या परिचय ? कुछ परिचय तो हो भी सकता है, पर उनका ज्ञान कहाँ ? उसे प्राणी-मात्र तो क्या, देवी-देवता भी नही, लेकिन केवल ब्रह्म ही जान सकता है। कबीर का अनुभव कितना स्पष्ट और विश्वास कितना दृढ़ है, इस वाक्य से प्रतीत होता है। हज आदि द्वारा ब्रह्मज्ञान मे असफल काजी को फटकारता है, कि तू अपवित्र है, क्योंकि वहाँ जा कर भी तूने उसके दर्शन नही किए। वह तेरे लिए अदृश्य ही बना रहा, तूने उसका ज्ञान नही प्राप्त किया, बह अज्ञेय ही बना रहा।[4] अतैव तू स्वर्ग की कल्पना को त्याग कर नर्क से ही सन्तुष्ट हो। कबीर को जीव की सीमित शक्ति एवं सामर्थ्य का ज्ञान है, अतः उन्हें अज्ञेय का ज्ञान न हो, उससे न तो कबीर को ही दुःख है और न ही असंतोष। इसीलिए ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने में अग्रणी शक्तिशाली सेवक सनंदन, महेश तथा शेष को भी जब उसने असफल पाया, तो उसे दुःख अवश्य हुआ।[5] शक्तिशाली एवं गतिशील सुर तथा सुरपति भी जब उसका ज्ञान न पा सके, तो उसका दुःख निराशा में परिणत हुआ और वेद, पुराण, स्मतियों के माध्यम से कमला भी जब कमलापति का ज्ञान न पा सकी, तो उसकी निराशा में दृढ़ता आ गई। जीव ही क्या, प्राणी-मात्र स्वभाव से आशा-वादी है। सम्भाव्य तो क्या, स्पष्ट प्रत्युत्पन्न दृश्य अनिष्ट को भी वह अचिंत्य एवं अकल्प्य बनाने का दुस्साहस करता है जिस दुर्योधन का युद्ध पितामह भीष्म, गुरू

१. २२४ श्लोक।
२. ८६ श्लोक।
३. १७६ श्लोक।
४. १३५० क०, ४।
५. ६११ क० १।

द्रोण और सूतपुत्र कर्ण न जीत सके, उसी की विजय की आशा 'शल्यो जैष्यति पाण्डवान्' कह कर दुर्योधन को करनी पड़ी थी। लेकिन कबीर तो उत्थान की ओर अपनी आशा बढ़ा रहा है। जीव-देवी-देवता तथा कमला (ब्रह्म-पत्नी) जिसका ज्ञान न पा सकी, उसी की ज्ञान-प्राप्ति के लिए कबीर ने स्वय ब्रह्मा को ला खड़ा किया, लेकिन उसका दुःख निराशा एव घोर निराशा—आशा के स्थान पर शोक मे ही परिणत हो सकी, क्योंकि उत्कृष्टतम धार्मिक ग्रथ वेदों के माध्यम से उत्कृष्टतम ब्रह्मा भी अपनी विवेकशील बुद्धि से उसका ज्ञान न प्राप्त न कर सका।[१] अप्रत्यक्ष रूप से कबीर अपनी तुच्छ बुद्धि का परिचय देता है। ब्रह्म-ज्ञान व गुण-गान मे अपनी सीमित सामर्थ्य के विरुद्ध भी अपने दुस्साहस से हमें परिचित कराता ही चलता है। फिर भी उसका ब्रह्म तो अज्ञेय ही बना रहता है। जिस ब्रह्म का ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता, उसका चिन्तन भी कैसा? तो भी कबीर ने उसे चिन्तन का विषय बनाने का प्रयत्न किया है। स्पष्ट ही उसे स्वीकार करना पड़ा है, कि सामान्य प्राणी तो क्या बड़े-बड़े ऋषि या मुनि भी चिन्तन द्वारा उसका पार न सके, अतः बह अज्ञेय अचिंत्य ही बना रहा।

कर्म मे विश्वासी योगी सिद्धियों के माध्यम से ब्रह्म के रूप को स्पष्ट कर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते है। बन में कठिन तप कर अथवा देह को कष्ट दे, वे ब्रह्म की ओर बढ़ने का प्रयत्न करते है, लेकिन बाह्याडम्बरो का विरोध करते हुए कबीर ने ऐसे योगियों को स्पष्ट ही जतला दिया है, कि ब्रह्म असाध्य है। देह को कष्ट दे सिद्धि प्राप्त कर सांसारिकों को अवश्य प्रभावित किया जा सकता है, लेकिन असाध्य ब्रह्म को सिद्ध नही किया जा सकता। बाह्याडम्बर वर्णन में इसका सविस्तार वर्णन मिलेगा। इस प्रकार मन, बुद्धि और कर्म से परे के ब्रह्म को कबीर ने अनुमान से भी दूर ही बताया है और उसे अननुमेय कहा है। वाणी से जिसके सौन्दर्य का वर्णन सम्भव नही, उसका तो कहना ही क्या? उसके चरण-कमलों के आनन्द का भी अनुमान नही किया जा सकता।'[२] अनुपम नृप ब्रह्म का तो कबीर सेवक-मात्र बनता है, उस स्वामी की ओर तो कौन बढ़ सकता है, जबकि कोई भी जीव उसका तो क्या, उसके गौरव का भी अनुमान नहीं लगा सकता। जीव जिस ब्रह्म के गौरव एवं आनन्द का ही अनुमान नही कर सकता, और उसका तो 'कउ बोलि न सकै अन्दाजा।'[३] अतः इन्द्रियातीत ब्रह्म अननुमेय भी है। इस प्रकार वर्णन करते-करते कबीर का धैर्य समाप्त होने को आता है, तो वह उसे असीम कह अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। जो व्यक्ति ब्रह्म को सीमा और परिमाण में समझता है, वह तो बातों ही में बैकुण्ठ की प्रशंसा करता है। न तो वह बैकुण्ठ को ही जानता है और न ही बैकुण्ठ निर्माता को।'[४] इतना ही नहीं अनेक प्रकार के अन्न से मिश्रित भिक्षा को सर्वोत्कृष्ट बताता हुआ कबीर उसके राज्य की व्यापकता

१. ४७८ क० १०।
२. १२१ श्लोक।
३. ८५६ क०, ८।
४. ३२५ क० १०।

बताता है, क्योंकि यह भिक्षा उसकी ही दी हुई है, जिसका राज्य शून्य में भी फैला हुआ है, क्योंकि उसका कोई अन्त ही नहीं।[1] इसीलिए तो 'राजा सम मिति नहीं जानी तेरी'[2] आत्मा परमात्मा की सीमा को जान भी कैसे सकती है ? इतना ही नहीं उसकी शक्ति भी असीम है, वह रोते को हँसा देती है और हँसते को रुला देती है। वासस्थ को उजाडती है और उजड़े हुए को वासस्थ करती है। वह जल से थल, थल से कूप, पुनः कूप से मेरू का निर्माण करती है। 'राजा ते भेखारी' और भिखारी को राजा बना देती है। दुष्ट एवं मूर्ख को पण्डित तथा पण्डित को मूर्ख बना देती है; तथा इस प्रकार जो स्वयं असीम है,[3] उसकी शक्ति और सामर्थ्य को सीमाओं में बाँधना तो क्या, केवल सीमा में बाँधने की बात सोचना ही अपनी अल्पज्ञता का परिचय देने से अधिक कुछ नही।

कबीर कवि नही, जो मन से उसकी कल्पना कर पाता, कबीर ज्ञानी भी नही, जो बुद्धि से उसका चिन्तन कर पाता और कबीर योगी तो है ही नहीं, जो योग या सिद्धि द्वारा उसकी ओर बढ़ता (क्योंकि उसके पहले जीवन का यह अनुभव सफल नही रहा)। अतः अपढ कबीर अब तो बन चुका है केवल अनन्य भक्त और उससे भी बढ़ कर एक-मात्र संत। वह अज्ञेय और असीम को केवल हृदय से अनुभव करता है। उसकी अनुभूति मे ही संसार का सम्पूर्ण भेद अथवा जगत का एक-मात्र सत्य—सत्य, जो शिवं, सुन्दर तथा शाश्वत होने से ही सत्य है—वह सत्य-ब्रह्म छिपा है। वह एक-बार नही—बार-बार पण्डित और पण्डों को, मुल्ला तथा मौलवियों को धिक्कार कर—ललकार कर और तब पुकार कर कहता है, कि वह तो केवल हृदय में तथा वहाँ भी केवल अनुभूतिगम्य ही है। अन्यथा ज्ञेय नहीं, प्राप्त नही।

ब्रह्म को यदि प्राप्त ही करना है, तो प्रेम करने की अनन्य साध ले हृदय मे देखो, सहज भाव से खेलते-खेलते ईश्वरानुभूति होगी।[4] अल्लाह को अदृश्य बना कर भी कबीर ने कहा है, कि 'लखिआ गुरि गुड़ दीना मीठा'[5] इस प्रकार अन्तःदृष्टि से ब्रह्म के दर्शन होते है। यही कबीर की ब्रह्मानुभूति है। मन जीत कर संसार के प्रति उदासीन हो, जिसने ज्ञानानंजन प्राप्त किया है, उसकी अन्तःदृष्टि जागृत है और तब वह आंतरिक रूप से ब्रह्म से भेंट कर लेता है। यह भेंट ही ब्रह्मानुभूति है जिसके बाद मन कही नही जाता।[6] ब्रह्म अनाहत नाद में कैसे रत है, यह वही जानते है, जिन्होंने इस तत्त्व को पहचाना है।[7] यही भक्त कबीर के 'गूँगे गुड़ खाइआ' की अनुभूति है।[8] जो दृढ़तापूर्वक उसमें हृदय लगाने से सम्भव है। अनुभव किया हुआ ब्रह्म—वर्ण्य नही, कथ्य नही, अननुमेय भी नही—केवल अनुभवगम्य ही है। कबीर

---

१. १६८ श्लोक।
२. १२५२ क०, २।
३. १२५२ क०, २।
४. २३६ श्लोक।
५. १३४६ क०. ३।
६. ११०३ क०, २।
७. ३२७ क०, १८।
८. ३३४ क०, ५१।

की जब 'राम-नाम लिव लागी' तो उसने 'अनभउ एक देखिआ' और यह अनुभव ही ब्रह्मानुभूति है।[१] ब्रह्मानन्द रस शरीर में चू रहा है वह सहज मतवाला है, जिसने राम-रस के माध्यम से उसका पान किया है।[२] निरञ्जन को पहचान कर हृदय में लाने पर ही ब्रह्म का सच्चा अनुभव प्राप्त होता है। इस प्रकार अनुभव में तल्लीन कबीर कहता है कि 'अनभउ किनै न देखिआ' वह तो केवल अनुभूतिगम्य ही है।[३] यही है, कबीर की ब्रह्म पर विजय।

जो कबीर उसे सांसारिक गुणों से परे अजन्मा, अनादि, अनश्वर तथा अमर कह आया है, वही भावात्मक गुणों से परे उसे अनुपम, अत्याज्य एवं अभेद्य बताता है। इन्द्रियातीत होने से वह अदृश्य, अवर्ण्य एवं अश्रव्य बना हुआ है। सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों से परे होने के कारण वह अचिन्त्य, अकल्प्य एवं अननुमेय है। इस सबके परिणामस्वरूप ही वह अज्ञेय होने से असीम भी है, यह असीम होने से अज्ञेय कहा नही जा सकता। हाँ, अन्योन्याश्रय सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। इसीलिए वह केवल अनुभूतिगम्य है, अन्य कुछ भी नही। यही कबीर के ब्रह्म के 'नेति' रूप की कहानी है।

कबीर के 'नेति' ब्रह्म में किन गुणों का अभाव है, यह जान लेना भी अनुपयुक्त न होगा। सर्वप्रथम कबीर ने अपने ब्रह्म को निर्गुण अर्थात् गुणों से रहित कहा है।[४] साकार का विरोध करता हुआ कबीर कहता है, कि जब मै ब्रह्म को निर्गुण कहूँ तो क्रोध की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह सांसारिक गुणों से रहित ही है। इतना ही नही, जब भक्त की बाह्य इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं, तब कोई बिरला ही ज्ञानवान् ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को जान सकता है। मैं उसके निर्गुण स्वरूप को किसी से नही कह सकता।[५] कबीर का यह ब्रह्म जो निर्गुण है, स्वतः ही निराकार है। आकार में आते ही गुणों का आरोप तो उसमें अपने आप ही हो जाएगा। निराकार की स्थापना के लिए पहले वह साकार रूप का विरोध करता है। सम्पूर्ण सृष्टि में सृष्टिकर्त्ता है, पर केवल श्याममूर्ति के रूप में नही।[६] अन्तर्दृष्टि से देखने पर वह सर्वत्र विद्यमान प्रतीत होता है। इसीलिए घट में अघट (शरीररहित) निराकार प्रभु क्रीड़ा करता हुआ अ नुभव होता है.[७] तथा जो प्रभु को सीमा या आकार में जानता है, वह बैकुण्ठ की कल्पना-मात्र करता है। यह कह कर भी कबीर ने ब्रह्म के निराकार रूप की स्थापना की है।[८] अन्त में आराध्य ब्रह्म को वह निराकार बताता है और एक-मात्र उसी की अनन्य भक्ति एवं उपासना से भव-पार पहुँचा जा सकता है।[९] इस प्रकार कबीर का निर्गुण ब्रह्म निराकार है और जो निराकार है वह निरञ्जन है ही।[१०] अष्ट-धातु से बने हुए इस शरीर में परम ऐश्वर्यमान् निरञ्जन ब्रह्म स्थित है। यह कह कर कबीर उसकी स्थिति पर प्रकाश डालता है। कबीर

१. ३३२ क०, ४६। २. ३२८ क०, २१।
३. ११०४ क०, ८। ४. ३२५ क० ९।
५. ३३३ क०, ४७। ६. ७९२ क०, १।
७. ३४३ क०, २। ८. ३२५ क०, १०।
९. ४८४ क०, ३७। १०. ३४३ क०, ४३।

ज्ञानी को कहता है, कि तू ब्रह्म का विचार कर और उसकी ज्योति का अपने में विस्तार अनुभव कर। हीरे के समान पवित्र 'निरञ्जन अलखु' ब्रह्म को देख कर नमस्कार कर तथा उसकी आराधना कर।[१] कृष्ण के अवतार रूप का खण्डन करते हुए कबीर कहता है, कि यदि भक्त-उद्धारक कृष्ण नन्द का पुत्र था, तो नन्द किसका पुत्र था ? जब आकाश आदि दसो दिशाएँ न थी, तो नन्द कहाँ था ? वस्तुतः 'निरञ्जन' तो उसी का नाम है, जो न तो योनियों में भ्रमण करता है और न ही जिस पर कोई सांसारिक संकट पड़ते है।[२] इस प्रकार निरञ्जन ब्रह्म का रूप और भी स्पष्ट कर देता है। अन्य देवी देवताओं को छोड़ कर वह एक-मात्र 'निरंजन ध्यावहु' का संदेश देता है।[३] जब नामदेव से त्रिलोचन कहते है, कि भाई ! तुम सांसारिक कर्मों को छोड़ हृदय में ब्रह्मानुभूति क्यों नहीं करते ? तो नामदेव उत्तर देते है, कि मुख से राम-नाम लेते हुए हाथों से सांसारिक कार्य करते हुए भी 'चीतु निरञ्जन नालि' ही है।[४] इस प्रकार कबीर ब्रह्म के निरञ्जन रूप की स्थापना कर भक्तों को, अनन्य हो, उसकी ही आराधना का सन्देश देता है। स्वत. भी अन्त में निरकार एवं निरबानी कह कर ही उसकी आरती उतारी है।[५] इस प्रकार जिसका रूप सम्पूर्ण जगत में होकर भी वह स्वयं रूपरहित है। प्रत्येक घट में स्थित होकर भी जो ब्रह्म स्थिति-रहित है। उसमें मल कहाँ से ? अत् ब्रह्म को निर्मल बताया है। जो निर्मल है, उसमें विकार नहीं और जो निर्विकार है उसमे दोष कहाँ से ? अत. वह निर्दोष है। इस प्रकार कबीर का ब्रह्म निर्मल, निर्विकार एवं निर्दोष है[६] और वही सदा स्थायी होने से निरन्तर है। कोई समय या स्थान नही, जब या जहाँ उसका अभाव हो। इसीलिए तो उसे निरन्तर (सदा स्थायी) कहा है।[७] जहाँ वह है, 'तह उतपति परलउ नाही'[८] अतः जन्म तथा मृत्युरहित है। जहाँ वह है, वहाँ शून्य की जागृति तथा समाधि की निद्रा दोनों का ही अभाव है। सुख और दुःख से भी रहित है। न वह बोला जा सकता है और न ही छोड़ा जा सकता है। न हल्का है और न भारी। जल, पवन अथा अग्नि का भी वहाँ अभाव है।[९] उच्च और नीच सभी भावनाओं का उसमें अभाव है तथा 'नीच ऊच नही मान अमाना'।[१०] वह तो अर्ध तथा ऊर्ध्व के बीच में समरूप से पहिचाना जा सकता है। अन्त में कहता है, कि वही वस्तुतः ब्रह्म है, जो कभी संकट में नहीं पड़ता। योनिभ्रमण के चक्कर से रहित कबीर का ठाकुर ऐसा है 'जा कै माई ना बापो रे'[११] हरि सेवक को समरूप या एकरूप बनने का संदेश देता हुआ कहता है, कि जिस प्रकार न वह कभी गर्म होता है और न ही शीतल, उसी प्रकार भक्त को भी समरूप होना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्म में किन सांसारिक

१. ९७२ क, ११।
२. ३३८ क, ७०।
३. ३२७ क, १८।
४, २१३ श्लोक।
५. १३५० क, ५, (अ) 'जहं निरंजन निरंकार निरबान' (म० ५, सुखमनी २१)
६. ११५४ क, ८।
७. ९६९ क, ३।
८. ३३३ क, ४८।
९. ३३३ क, ४८।
१०. ३४४ क, १४।
११. ३३८ क० ७०।

गुणों का अभाव है उसी की संक्षेप में कबीर ने व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।[1]

कबीर 'सभ घट देखउ पीउ' अतः नीचे नेत्र करने की क्या आवश्यकता है ?[2] जयदेव, नामदेव आदि ने भी भक्ति के मर्म को समझा, जिसे कोई बिरला ही भक्त समझ सकता है। उन्होंने भी यही अनुभव किया 'जीउ एक अरु सकल सरीरा' है और उसी में कबीर रमण कर रहा है।[3] सर्वव्यापक ब्रह्म ही सर्वान्तिरयामी है, जहाँ भी अन्तःदृष्टि जाती है, 'तत अन्तरजामी'[4] बावन अखरी में ब्रह्म को घट-घट निवासी कहा है—प्रत्येक अन्तर में उसका अपना स्थान है।[5] 'हरि माहि तनु है तनु माहि हरि है,' अतः वह हरि ही सर्वमय एवं निरंतर है।[6] मुल्ला को समझाते हुए कबीर कहता है, कि अन्तर्यामी ब्रह्म तो समीप ही है, उसे बाहर ढूँढने की क्या आवश्यकता ?[7] गुरू-उपदेश से सभी प्राणियों में अलख अल्लाह ही दिखाई देता है। इस प्रकार कबीर का ब्रह्म सभी जीवों में स्पष्टतः सम्पूर्णतः अन्तरयामी है।[8] सर्वान्तिरयामी ब्रह्म ही सर्वव्यापक है। जो चेतन को चेतन बनाए है, वही जड़ को भी जड़ बनाए हुए है।[9] मुल्ला को पुकारता हुआ कबीर कहता है, जब तुम सभी प्राणियों में एवं ब्रह्म को सर्वव्यापक बताते हो, तो मुर्गी को क्यों मारते हो ? आकाश एवं तारों की स्थिति ब्रह्म की स्थिति से ही है, सूर्य और चन्द्र की ज्योति ब्रह्म की ज्योति से ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ब्रह्म ही परिव्याप्त है, लेकिन असली भक्त ही उसे जान पाता है।[10] सत्गुरू की कृपा से माया का जलता अंगारा बुझ गया। तभी कबीर कहता है, मुझे अनुभव हुआ, कि 'जल थलि पूरि रहै प्रभु सुआमी' अतः वह सर्वान्तिरयामी है।[11] कबीर कहता है, भक्त ! तू उस सारंगपाणि का भजन कर, जो भवसागर के इस पार और उस पार सर्वत्र एक-सा व्याप्त है।[12] ब्रह्म, जिसका तीनों लोकों में विस्तार है, वह तो वट के बीज में भी सूक्ष्म रूप से रमण कर रहा है।[13] सर्वान्तिरयामी सर्वव्यापक भी इसीलिए है, कि वह घट-घट में होकर घट के फूटने पर भी उसमें अपनी स्थिति बनाए रखता है। रूप परिवर्तन से उसकी स्थिति में कोई भेद नही आता, वह तो सर्वव्यापक ही बना रहता है।[14] ब्रह्म का तन 'त्रिभुवण महि रहिओ समाई' अत. समस्त त्रिभुवन में समा जाए, तभी ऐक्य हो सकता है।[15] जो ब्रह्म बाह्य था, वही अन्तरंग हो चुका है। तभी ज्ञान होता है, कि वह तो सर्वव्यापक है।[16] ब्रह्म के रूप में अभेद स्थिर कर अर्थात् सब दशाओं एवं अवस्थाओं मे

---

१ १४९ श्लोक। २. २३५ श्लोक।

३. ३३० क०, ३६। ४. ३३१ क०, ४०।

५. ३४० क०, १०, 'घट घट विआपि रहिआ भगवत' (म० ५, सुखमणी २३)

६. ८७० क०, ३। ७, ११५१ क०, क०, ११।

८. १३४९ क०, ३। ९. १३५० क०, ४।

१०. ३२९ क०, २९। ११. ३३१ क० ४०।

१२. ३३७ क०, ६१। १३. ३४० क०, ३।

१४. ३४० क०, १०। १५. ३४१ क० २२।

१६. ३४२ क० ३०।

अप्रभावित रह समरूप ब्रह्म सदा सर्वव्यापक है। चतुर्दशी को देखने पर ज्ञात होता है, कि ब्रह्म चौदह लोकों के मध्य रोम-रोम में निवास करता है। इस प्रकार उसकी सर्वव्यापकता से अरणु और परमाणु भी अवशिष्ठ नहीं।[१] अन्त में थक कर वह कहता है, कि हे भक्त ! सदैव उसी का चिन्तन कर और उसी को अन्तर्दृष्टि से देख, तो ज्ञात होगा, कि वह तो यत्र-तत्र एवं सर्वत्र ही विद्यमान है।[२] इस प्रकार कबीर अपने अनुभूत ज्ञान को इतनी दृढता और आत्मविश्वास के साथ सबके सामने रखता है, कि उसे मानने के लिए हम अनायास ही बाध्य हो जाते है। यही कबीर के ब्रह्म की सर्व-व्यापकता के विषय में भी कहा जा सकता है। सर्वव्यापक होने के कारण वह सर्वज्ञ है। वह सब कुछ सुनता है, इसीलिए बांग देते मुल्ला को फटकारते हुए कहता है, कि वह तो तुम्हारे अन्तर की भी आवाज सुनता है। बाहर पुकारने की आवश्यकता नही। वह सब कुछ देखता है, अतः पाप एवं दुराचार करते हुए व्यक्ति को उसकी उपस्थिति अनुभव करके सावधान होना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्म के सबसे बड़े गुण उसकी सर्वज्ञता से कबीर हमें परिचित कराता है।[३]

सर्वव्यापक ब्रह्म सृष्टि-कर्त्ता एवं सर्वस्रष्टा है। सृष्टि रचना-क्रम पर प्रकाश डालते हुए कबीर कहता है, कि सर्वप्रथम अल्लाह ने प्रकाश की सृष्टि की। तब प्रकृति और सब मनुष्य एवं प्राणी उसी ने उत्पन्न किए। एक ही मिट्टी से कुम्हार रूपी ब्रह्म ने सबका निर्माण किया है। अतः उनमें कोई भेद नहीं, क्योंकि न तो मिट्टी ही खराब होती है और न निर्माता ब्रह्म ही।[४] इस प्रकार उस सृष्टि-कर्त्ता में ही सृष्टि और सृष्टि मे ही स्रष्टा है। मनुष्य जो करता है, वही सोचता है। हाथ और मस्तिष्क का क्रिया एवं विचार से सम्बन्ध जोडा गया है। कबीर के इस पद से इस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन होता है, कि वस्त्र निर्माता जुलाहे कबीर ने जगत् निर्माता ब्रह्म को भी जुलाहा बना दिया। जिस का रहस्य किसी ने नही जाना और 'सभु जगु आनि तनाइओ तांणा'।[५] पृथ्वी और आकाश को उसने करघा बनाया तथा सूर्य और चन्द्र को ढरकी बना कर साथ-साथ चलाया, तभी तो वस्त्र रूपी संसार का निर्माण हुआ है। इसीलिए तो सांसारिक कबीर ने अपना करघा तोड़ कर अपना सूत ब्रह्म के सूत से मिला ऐक्य स्थापित किया है।[६] हिरण्यकशिपु द्वारा तंग किया जाता हुआ प्रह्लाद सृष्टा के सृजन का महत्त्व बताता हुआ कहता है कि मुझे क्यों तंग करते हो ? प्रभु ने ही तो जल, थल, पर्वतों आदि का निर्माण किया है और ऐसे राम को मैं छोड़ने का नही। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा कबीर का ब्रह्म है। वही आत्मा का भी उत्पादक है।[७] आत्मा जिस प्रकार अपने आदि स्थान (ब्रह्म) से उत्पन्न हुई है उसी प्रकार अंत तक निपट जाए, तभी

१. ३४४ क०, १३।
२. ७२७ क०, १।
३. १८४ श्लोक।
४. १३४९ क०, ३।
५. ४८४ क०, ३६।
६. ४८४ क०, ३६।
७. ११९४ क०, ४।

उसके वास्तविक मूल्य का ज्ञान हो पाता है, जिसकी करोड़ो हीरो से भी तुलना नही की जा सकती ।[१] उस आत्मा का निर्माता ही उसके निवास-स्थान शरीर का निर्माता भी है ।[२] ब्रह्म ने थोड़ी सी धूल एकत्र की और उसकी पुड़िया बाँध अस्थिर शरीर का निर्माण किया, जो आत्मा के जाने के बाद धूल मे ही मिल जाएगा ।[३] इतना ही नहीं, सूर्य और चन्द्र की ज्योति का ज्ञान कराने के लिए उनके बाद ही शरीर का ब्रह्म ने ही निर्माण किया है। राम' का नाम लेने का भी रहस्य यही है, कि एक-मात्र वही तो समस्त ब्रह्माण्ड और कौतुक का रचनेवाला है, यह दशरथ पुत्र राम नही ।[४] संसार के सभी कार्यो का करनेवाला ब्रह्म ही है, क्योकि वही तो एक-मात्र सृष्टि करता है ।[५] सर्वश्रेष्ठ ईश्वर सत्य है, और वह सृष्टिकर्त्ता स्वय भी तो सृष्टि में ही है, लेकिन केवल साकार (श्याम मूर्ति) के रूप में नहीं ।[६] हरिस्मरण से भी संसार मे वही सुखी रह पाता है, जो उसी स्थान पर रहता है, जहाँ सृष्टि-कर्त्ता उसे रखता है ।[७] अन्त में वह कहता है, कि इस प्रकार सृष्टिकर्त्ता का खेल कोई नही जानता । या तो वह स्वयं ही जानता है अथवा उसका कोई सच्चा सेवक । फिर कबीर जैसा तुच्छ भक्त उसके सृजन के रहस्य को कैसे जान सकता है ? सृष्टिकर्त्ता केवल ब्रह्मा की सृजन शक्ति को नही, वह तो विष्णु की पोषक शक्ति को भी साथ लिए रहने के कारण सर्वकर्त्ता भी है। उसके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता, फिर महेश के संहार से उसे क्या डर ? क्योंकि वह स्वयं ही तो संहारक महेश के साधन यम का भी स्रष्टा है ।[८] यह उसी की सृजन शक्ति तो अपार एवं अनन्त है ।[९] उसकी कर्तृत्व शक्ति पर भी दृष्टि-पात कर कबीर ने सीमित सामर्थ्य होते हुए भी अपने दुस्साहस का परिचय दिया है।

जीव को यह समझाते हुए कबीर कहता है कि तुम्हारा कहा हुआ या चाहा हुआ कुछ नही हो सकता, क्योंकि एक-मात्र कर्त्ता तो वही है और जीव के लिए उसने जो कर्म निर्धारित कर दिए हैं, उन्हें' मेटि न साकै कोई'[१०] इसी भाव को आगे और दृढ़ता से कहा है कि कर्त्ता का किया कार्य ही होता है, अन्य कुछ नही क्योंकि वही सर्वकर्त्ता है ।[११] जीव को सृष्टिकर्त्ता जहाँ जिस रूप में रखता है, वह उसी रूप में वैसे ही रहता है और इसी में उसका सुख है ।[१२] चिन्ता का देनेवाला और निश्चित करनेवाला भी वही एक ब्रह्म है, क्योंकि वही तो सबका साररूप कार्य करता है ।[१३] योनियों में भ्रमण करनेवाली आत्मा को दासी बनाते हुए कबीर

१. १५३ श्लोक । २. १७८ श्लोक ।
३. १७९ श्लोक । ४. १९० श्लोक ।
५. १३३ श्लोक, 'करण कारण प्रभु एक है दूसर नाही कोइ' । (म० ५, सुखमणी, ११)
६. ७२७ क०, १ । ७. २०६ श्लोक ।
८. १७६ श्लोक । ९. १४० श्लोक ।
१०. ३२ श्लोक । ११. १३३ श्लोक ।
१२. २०६ श्लोक । १३. २२० श्लोक ।

कहता है, कि उस बेचारी के हाथ क्या है ? वस्तुतः करने और करानेवाला तो प्रभु ही है अत. आत्मा उसी ओर प्रवृत है, जिस ओर प्रवृत की गई है।[1] 'करम बध तुम जीअ' और कर्म को जीवन प्रदान करनेवाला तो वही है इस प्रकार सब कार्यों का प्रेरक एवं कर्त्ता तो ब्रह्म ही है।[2] जब वह अनुभव करता है, कि जीवन कुछ भी तो नहीं कर पाता, तो वह स्पष्ट ही कह देता है 'न हम कीआ न करहिगे ना करि सकै सरीरू'[3] इतना होने पर भी उसे अपनी महानता में विश्वास है, जिसका श्रेय ब्रह्म को वह इन शब्दों में देता है , कि न जाने हरि ने क्या-क्या कर दिया, जिससे वह महान् हो गया।[4] इतना ही नहीं उसकी कर्तृत्व शक्ति का परिचय देते हुए वह कहता है, कि वह रोते को हँसा देता है और हँसते को रुला देता है। 'उजरु होइ सु बसै' तथा वासस्थ को उजाड़ देता है, थल को कूप और कूप को थल में परिणत कर मेरु बना देता है। भिखारी को राजा और 'राजा को रंकु' मे परिणत कर देता है। दुष्ट और मूर्ख को पंडित तथा पंडित को मूर्ख बना देता है। इतना ही नही पुरुष को नारी और नारी को पुरुष बनाने की शक्ति भी उसमें निहित है । इस प्रकार संसार का प्रत्येक कार्य करने की क्षमता ही नहीं, क्रियात्मक रूप से प्रत्येक कार्य का एक-मात्र कर्त्ता वही है[5] ।

इस एक-मात्र कर्त्ता ब्रह्म को ही उसने सर्वशक्तिमान् एवं सर्वसमर्थ भी कहा है । पण्डित को सम्बोधन करते हुए वह कहता है, कि ब्रह्म के विषय में अब कुछ कहना शेष नही रह जाता । उसने सुर, नर और गंधर्व सभी को मोहित कर अपनी ओर आकर्षित कर लिया है । इस प्रकार तीनों लोकों को एक श्रृंखला में आबद्ध कर दिया है।[6] इससे उसकी सामर्थ्य एवं शक्ति का स्पष्टीकरण हो ही जाता है। कबीर ने उसके नाम को आधार ही इसलिए बनाया है, कि वह सब कुछ कर सकता है—सर्वसमर्थ है, अवसर पड़ने पर वह अग्नि को फूल मे भी परिणत कर देता है।[7] हे निर्लज्ज जीव ! सर्वशक्तिमान् एवं सर्वसमर्थ 'हरि तजि कत काहू कै जाँही' तुम्हे लज्जा नही आती।[8] जिसका स्वामी सबसे महान् है, वह छोटों की ओर जाए, यह गौरव नही, हीनता का द्योतक है । इसलिए एक-मात्र वही भक्त पूर्ण है, जो उसे छोड़ कर इधर-उधर कही नही जाता और उसी में अनन्य हो पूर्ण आत्मसमर्पण कर चुका है। इस प्रकार कबीर के ब्रह्माण्ड का स्वामी सर्वशक्तिमान एवं सर्वसमर्थ भी सिद्ध होता है । वही ब्रह्म सर्वनियंता एवं सर्वनियामक भी है । संसार मे सुखी वही है, जो हरि का स्मरण करता है, क्योंकि वह इधर-उधर डोलने का प्रयत्न नहीं करता 'जिस राखै सिरजनहार' । इस प्रकार संसार का पत्ता तक तो उसके नियंत्रण मे ही है। फिर भी प्रकृति के नियमों के अनुकूल न चलनेवाला ही दुख का भागी होता

१. ६५५ क, ६ । २. ८७० क, ३ ।
३, ४. — श्लोक । ५. १२५२ क, २ ।
६. ९२ क, २ । ७. ३३८ क, ६१ ।
८. ३३० क, ३८ ।

है, यद्यपि वह कुछ कर नहीं पाता। संक्षेप में उसने स्पष्ट ही कहा है कि सम्पूर्ण संसार में उसका अपने रूप का ही प्रसार है।[१] और कुछ भी नही, तो भी—ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु को अलग न गिना कर उसने एक ही वाक्य मे कहा है, कि 'आपै दहदिस आप चलावै' अर्थात् संसार का प्रत्येक कार्य जहाँ कही भी सम्पन्न हो रहा है, उसका संचालक एक-मात्र ब्रह्म ही है, इस प्रकार कबीर का सर्वशक्तिमान् एवं सर्वसमर्थ ब्रह्म सर्वनियंता एवं सर्वनियामक भी है—उसके नियंत्रण के बिना तो ब्रह्माण्ड में कुछ हो ही नहीं सकता।[२] कबीर दानी को ढूँढ़ने के चक्कर में इधर-उधर भटक रहे है, लेकिन ऐसे दानी को ढूँढ़ना चाहते है, जो सभी कुछ प्रदान कर सके, अतः सर्वदानी कहलाने की क्षमता रखता हो। इसीलिए ससार के सभी प्राणियों क्या ; देवी-देवताओं की सामर्थ्य का ध्यान कर वे कहते है, मुझे तो सभी निर्धन दिखाई देते है, क्योंकि ब्रह्मा ! वे स्वतः तुमसे कुछ मांगते रहते है, इसीलिए तो उन सब की ओर ध्यान न देकर कबीर ने जयदेव, नामदेव तथा ब्राह्मण सुदामा के उद्धारक एक-मात्र दानी ब्रह्म का आश्रय लिया है, जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों ही देते हुए देर नही लगाता।[३] कठिनाई तो सर्वदानी को ढूँढ़ने-मात्र की थी, अब उसके मिल जाने पर अन्यान्य स्थलों पर कबीर ने उसके भिन्न-भिन्न रूप पर प्रकाश डाला है। ब्रह्म की शरण में जानेवाले भक्त को उसने पुकार कर बताया है, कि वही एक-मात्र समर्थ दानी है[४]—क्योंकि जो स्वतः मे पूर्ण है, वही कुछ दे सकता है, जो पूर्ण ही नहीं—वह सब कुछ दे ही कैसे सकता है ? अन्यत्र बताया है, जब जीव ने अपने अन्तःकरण में ब्रह्म की अनुभूति की, तत्पश्चात् याचक रूप मे उपस्थित हो उसने ब्रह्म को ही दाता रूप में प्राप्त कर संतोष किया, क्योंकि वह स्वतः अनश्वर है, अतः सदा ही, सब प्रकार की वस्तुओं को अनायास दे सकता है।[५] ऐसे दाता को प्राप्त कर कबीर तो अपने व्यक्तित्त्व को ही उसमें विलीन करने को तत्पर है। वह सर्वदानी तो है, पर भूखे को ग्रास देता है, अतः धन्य है, क्योंकि बड़ों का ध्यान तो सभी रखते हैं, लेकिन निम्नवर्ग की जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं का उसे विशेष ध्यान है।[६] इसलिए जुलाहे कबीर को विश्वास है, कि वह ब्रह्म उसे व उसके बच्चों को अन्न अवश्य देगा और उनके भरणपोषण का वह ध्यान रखेगा ही। अतएव

---

१. रे जीअ निलज लाज तुहि नाही। हरि तजि कत काहू के जांही ॥
जाको ठाकुर ऊंचा होई। सो जनु पर घर जात न सोही ॥१॥
सो साहिबु रहिआ भरपूरि। सदा संगि नाही हरि दूरि ॥२॥
कवला चरन सरन है जाके। कहु जन का नाही घर ताके ॥३॥
सभु कोऊ कहै जासु की बाता। सो संम्रथु निज पति है दाता ॥४॥
कहै कबीरु पूरन जग सोई। जाकै हिरदै अवरु न होई ॥५॥
(३३० क० ३८)

२, ११२३ क० २।
३. ८५६ क० ७।
४, ६५५ क० ६।
५. ६५५ क० ६।
६. ८६३ क० ११।

विकल माँ के रुदन को सुन कर वह उसे भगवत्भजन मे लीन हो उसकी कृपा प्राप्ति का सदेश सुनाता है, क्योंकि वह स्वयं नाम को ही सच्चा लाभ समझ कर उसमें लीन है। इतना ही नही, वह कहता है, कि 'हमरा इनका दाता इकु रघुराइ।'[१]—उस पर तो किसी का अधिकार नही—क्योंकि वह दाता ब्रह्म के महान् राज्य के एक अंश में से ही प्राप्त अन्न है न।[२] केवल अन्न ही नही, वह तो सदैव सुख का दाता है—सुख की प्राप्ति मे लौकिक और अलौकिक सभी सुखों को जीव सदा उसी से प्राप्त कर पाता है।[३] दाता के रूप में उसकी महानता इतनी ही नही—अज्ञानी जीव को समझाता हुआ वह कहता है—हे! जीव तू उसे क्यो नही पहचानता, एक वही तो 'सरब जीआ कउ दानु दाता।[४] हो सकता है, सांसारिक सम्पत्ति व ऐश्वर्य कोई और भी दे सके, लेकिन क्या सभी को जीवन कोई दे सकता है—नही, कभी नहीं इसीलिए तो वह असमदानी है। ऐसा असमदानी केवल इस संसार मे ही नही, वह तो भव-सागर के इस पार और उस पार दोनों ही ओर - सदा स्थिर 'सभ एकै दानी' है।[५] इस प्रकार ब्रह्माण्ड और सम्पूर्ण परलोक के भी सभी अभावों की पूर्ति तो एक-मात्र यही दानी कर सकता है। यह है कबीर के दानी—ब्रह्म के रूप की एक झलक।

इस प्रकार का सर्वदाता ब्रह्म किसी समय अनुपस्थित हो, ऐसी बात भी नही। कबीर ने उसकी शरण ली है, वह विश्वास से कहता है, कि ब्रह्म अस्थिर होता ही नही, इसीलिए उसका पतन सम्भव ही नहीं, क्योंकि ब्रह्म तो सभी समय उपस्थित रहती है, इसलिए वह सर्वसमयी ब्रह्म ही सर्वस्वामी भी है।[६] वेद, कुरान आदि पर विचार न करने के कारण वे झूठे है, अतः हृदय में स्थिरता लाकर विचार किया जाए, तो स्पष्ट ही सर्वस्वामी ब्रह्म सम्मुख आ उपस्थित होता है।[७] उसी सर्व-स्वामी की महत्ता स्वीकर करते हुए कबीर का कथन है कि शरीर तो मिट्टी की प्रतिमा-मात्र है, न वह स्वतः कुछ है और नहीं संसार में उसका कुछ। संसार की सब सम्पत्ति तो क्या - यह शरीर और इसे प्राप्त सम्पूर्ण आनन्द भी एक-मात्र ब्रह्म का ही आनन्द है।[८] इस प्रकार वह सर्व-स्वामी है। ऐसा ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है, उसकी अनुभूति होने पर अन्य विषयों के सम्बन्ध में वाद-विवाद या तर्क-वितर्क व्यर्थ है। क्योंकि सर्वश्रेष्ठ संसार में एक-मात्र सत्य है। अतः उसी में विश्वास रख अपने आप को पूर्ण रूप से समर्पित कर देना चाहिए।[९] सर्वसमर्थ ब्रह्म की चिरंतनता पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योकि वह सत्य—सत्य नही जो नित्य एवं चिरंतन नही। इसीलिए उसने ब्रह्म को सदा समरूप या एकरूप धारण करनेवाला कहा है। अर्ध और ऊर्ध्व में उसे समरूप या एकरूप से पहचानना चाहिए, क्योंकि

१. ४२४ क० २। २. १६८ श्लोक।
३. ९६९ क० ३। ४. ११६८ क० १२।
५. ३३७ क० ६१। ६. ९६९ क० ३।
७. १३५० क० ४। ८. ३३६ क० ६०।
९. ७२७ क० १।

न तो वह नीचा और नही ऊंचा। न मानी और न ही अमानी ? इस प्रकार वह तो सर्वत्र, सदा समरूप में ही स्थित है।[१] इस प्रकार न तो उसमे परिवर्तन ही आता है और न ही वह रूप को अवस्था विशेष मे बदलता है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कबीर कहता है कि पृथ्वी और आकाश मरते हैं—प्रत्येक घट(शरीर) के विनाशस्वरूप आत्मा भी आवरण परिवर्तित कर लेती है। इतना ही नही—योग का ध्यान करते हुए शिव भी स्थिर नहीं रह पाते और उन्हें भी यम का आतिथ्य स्वीकार करना पड़ता है, लेकिन यह तो एक-मात्र कबीर का स्वामी है, जो 'सम समान' सर्वदा समरूप एवं एकरूप रहता है।[२] उसका यही गुण संसार से उसकी सत्ता को पृथक् बनाए रखने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार के समरूपी ब्रह्म का महत्त्व उसकी सदास्थिरता, नित्यता एवं चिरंतनता मे ही निहित है। संसार की सभी वस्तुओं और जीवात्मा तक को नष्ट होते हुए देख कर ही वैराग्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि वास्तविक आनन्द का मूल एक-मात्र ब्रह्म ही सर्वमय और चिरंतन है,[३] अतः हे जीव ! जो न आते हुए दिखाई देता है और न जाते हुए- अर्थात् सदैव स्थिर एवं चिरंतन है, उसमे अपने आपको तल्लीन कर। इस प्रकार ब्रह्म की महत्ता उसके समरूप या एकरूप होकर सदा स्थिर होने में है।[४]

जीव की तुलना मे ब्रह्म के गुणो की व्याख्या करते जब वह थकता-सा प्रतीत होता है, तो उसने नये ही मार्ग को अपनाया। उसने ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन उन गुणो के माध्यम से करना प्रारम्भ किया, जो एक-मात्र ब्रह्म में ही प्राप्त है। तुलनात्मक अध्ययन से उसके प्रति कुछ धारणा बन जाती है, उसी धारणा को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वह उसके एक-मात्र रूप एवं गुणों को हमारे सम्मुख रखता है।

जीव के जागृत 'अहं' को शांत करने के लिए सबसे पहले कबीर उसको यह समझा देना चाहता है, कि ब्रह्माण्ड में एक-मात्र कर्त्ता ब्रह्म है, जीव को केवल भ्रम है, कि वह कुछ कर सकता है या करता है, लेकिन वास्तविकता यह है, कि उस कर्त्ता की इच्छा के विरूद्ध जीव कुछ करने की सोच भी नहीं सकता। वह जीव को स्पष्ट ही कहता है, कि सम्पत्ति देख कर प्रसन्न होने और विपत्ति देख कर रोने की कोई आवश्यकता नही, क्योंकि 'सो होइ', जो 'विधि ने रचिआ' ब्रह्म द्वारा निर्दिष्ट है, उसके विरूद्ध तो कुछ हो ही नही सकता।[५] अतः अपनी सामर्थ्य को जान कर भी दुःखी होना बुद्धिमत्ता का परिचायक नही। सृष्टिकर्त्ता की महानता का परिचय देता हुआ जीव को समझाता है, कि मिट्टी— जिससे देह निर्मित है— उसका और निर्माता कुम्हार का कोई दोष नही— वह तो बनानेवाला जिस प्रकार ढ़ाल कर निर्माण करता है, वही रूप हमारे सम्मुख आता है, क्योंकि 'तिस का किआ सभु कुछ होई।' अतः सत्य को न समझ कर क्रोधित होने का कोई कारण नहीं ?[६]

१. ३४४ क०, १४। ३. ११६३ क०, १।
४. ८७० क०, ३। ५. ३३७ क०, ६२।
५. ३३७ क०, ६३। ६. १३४६ क०, ३।

संसार में अपनी इच्छानुकूल बहुत कुछ करने के प्रयत्न में साधक, सिद्ध एवं सभी मुनि हार गए— वे कुछ भी न कर सके, क्योंकि होता तो वही है जो केवल ब्रह्म करता है, अन्य कुछ भी तो नहीं।[१] सभी कार्यो का एक-मात्र निर्देष्टा ही नहीं, कर्त्ता भी वही है। सिद्धों और साधकों की असफलता बता कर वह जीव को समझाता है कि व्यर्थ ही तुम्हें ग्लानि अनुभव कर झीकने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि 'तुमरो कहियो न होइ' कर्त्ता ने जो कर्म तुम्हारे लिए पहले से ही निर्धारित कर दिए है, वे ही होंगे— उन्हे 'मेटि न साकै कोइ'[२] अपने इसी विचार की पुष्टि वह यह कह कर करता है कि कार्य हुआ भी नही है, 'जो कीनो करतार' अन्य कुछ भी नहीं, क्योंकि वही तो एक-मात्र सृष्टिकर्त्ता है।[३] पुरुष स्वभाव ही ऐसा है, कि वह दूसरों को समझाने के लिए पर्याप्त बुद्धिमान् होता है, लेकिन अपने आप को समझाना उससे कहीं अधिक कठिन होता है। अपनी इच्छाओं को अपूर्ण देख कर वह इन शब्दों में अपने आप को सांत्वना देता है, कि मेरे चाहने से होता ही क्या है? ब्रह्म तो 'अपना चितविआ हरि करै', चाहे वह अपने मन मे हो या न हो।[४] इस प्रकार अपनी सामर्थ्य को अनुभव करता हुआ और अपने आप को पूर्णत: भगवदर्पण जानता हुआ वह दृढ़तापूर्वक स्वीकार करता है, कि न हमने कुछ किया है, न करेंगे और न कर ही सकते है। 'किआ जानउ किछु हरि कीआ' जिससे 'भइओ कबीर कबीरु' कबीर भी महान् हो गया, अर्थात् ब्रह्म से उसका तादात्म्य हो गया।[५] इस प्रकार एक स्वर से जीव-मात्र को उनकी सीमित सामर्थ्य और कार्य-शक्ति का बोध कराता हुआ और अपनी शक्ति की अनुभूति की भी अभिव्यक्ति करता हुआ एक-मात्र ब्रह्म की कर्तृत्व-शक्ति का हमें परिचय देता है।

एक-मात्र कर्त्ता को ही कबीर संसार में एक-मात्र सहायक एवं आश्रय के रूप में पाता है, उसने सम्पूर्ण जगत में खोज की, लेकिन उसे कोई अपना सच्चा सहायक नही मिला तथा उसने 'कहूँ न पाइआ ठौर'[६]। अन्ततोगत्वा एक-मात्र ब्रह्म को ही वह अपने सच्चे सहायक के रूप में तथा आश्रय के रूप में प्राप्त कर सका। हरि के बिना मन का सच्चा सहायक तो कोई भी नही, माँ,बाप, भाई, पुत्र, स्त्री तथा सभी हितचिंतक तो केवल सर्प की भाँति साथ लगे हुए हैं—उनका साथ केवल स्वार्थ का है और स्वार्थ समाप्त होने पर ये सहायक नही रहते।[७] इतना ही नहीं, कबीर को तो पूर्ण विश्वास है, कि संसार के रहस्य को जाननेवाला भी कुछ नही कर सकता जब तक कि एक-मात्र सहायक ब्रह्म की सहायता उसे प्राप्त न हो—बिना उसकी सहायता जिस डाली पर पैर रखोगे, वही मुड़ जाएगी—इससे स्पष्ट है, कि जगत् में एक-मात्र सच्चा सहायक ब्रह्म ही है।[८] उस आश्रयदाता को ही वह एक-मात्र दानी

१. ३३० क०, ३७। २. ३२ श्लोक।
३. १३३ श्लोक। ४. २१६ श्लोक।
५. ६२ श्लोक। ६. ९२ श्लोक।
७. १२५३ क०, १३। ८. ९७ श्लोक।

समझता है, क्योंकि वह स्वतः ही सब कुछ है, सर्वसमर्थ है, अतः वही वाछित वस्तु दे सकता है। जो स्वयं ही निर्धन हो, वह दान देकर दूसरों को कैसे संतुष्ट कर सकता है, इसीलिए वही सहायक एक-मात्र सच्चा सहायक और दानी है।[१] जो सच्चा सहायक एवं आश्रयदाता है, वही सच्चा स्वामी हो सकता है अन्य नही। सांसारिक देवी-देवताओं की सीमित सामर्थ्य देख कर कबीर कहता है, इधर-उधर भटकना व्यर्थ हैं, ब्रह्म ही एक-मात्र सच्चा स्वामी है, उसी का भजन कर उसमें तल्लीन हो जाओ।[२] जो सच्चा स्वामी है, वही पूर्णतया पवित्र हो सकता है, अन्य कोई भी नहीं। इधर-उधर के ग्रंथों को पढ़ कर, हे जीव ! तू व्यर्थ ही प्रसन्न हो रहा है—वे सब तो सत्य एवं पवित्र नही। उन्हें छोड़ एक-मात्र पूर्ण पवित्र ब्रह्म का ही चिंतन एव स्मरण कर।[३] ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य और चन्द्र सभी मलीन है। पवन, अग्नि तथा जल भी मलीन ही हैं। इतना ही नही, शिव, शंकर तथा महेश भी तो मैले ही है। इस प्रकार जीवात्मा सहित देह और सम्पूर्ण संसार ही मैला है। यहाँ तो एक-मात्र ब्रह्म ही पूर्ण पवित्र है।[४] वही पूर्ण पवित्र ब्रह्म ही ससार मे एक-मात्र सत्य है। संसार की अन्यान्य वस्तुओं के प्रति तर्क-वितर्क व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ एक-मात्र सत्य तो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।[५] इतना ही नही कबीर का अनुभूत्याधारित ज्ञान शंकर के अद्वैत दर्शन से साम्य रखता है। लकड़ियों से जलनेवाले शरीर तथा नश्वर एवं परिवर्तनशील ससार की असारता से जीव को सचेत करते हुए ब्रह्म को कहता है 'सति तुम झूठा सभु धन्धा'[६]। नश्वर देहधारी बड़े-बड़े ध्यानी, ज्ञानी एवं वस्त्राडम्बरधारी सम्पर्क में आए, लेकिन वे सब तो माया मे लिपटे हुए है, अतः उनमे सत्य तो कुछ भी नहीं, इसीलिए तो यह सम्पूर्ण जगत ही एक प्रपंच है, यहाँ तो केवल ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कुछ भी नही, अतः उसी के नाम का सहारा लेने मे श्रेय है। इस प्रकार शकर के दर्शन की पूर्णता की ओर भी बढ़ते है, जब वे यह कहते है कि यहाँ तो अस्तित्त्व ही एक-मात्र ब्रह्म का है, क्योंकि वही तो सत्य है। जो सत्य ही नही, उसका अस्तित्त्व ही क्या ? इसीलिए तो इस दृश्य जगत् में अदृश्य ब्रह्म को छोड़ शेष सभी कुछ भ्रम-मात्र है, अपनी सत्ता को बनाए हुए नही।[७] ससार के सभी पदार्थों में ब्रह्म दृष्टिगोचर होता है, लेकिन यदि हम अपने हृदय मे उसे प्रकट कर सके, तो हमे सत्य ज्ञान होता है, कि यहाँ तो उसके सिवाय किसी का अस्तित्त्व ही नही, एक-मात्र ब्रह्म का ही अस्तित्त्व है।[८] पुनः कबीर कहता है, कि अतर्दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है, कि सर्वत्र वही विद्यमान है, क्योंकि एक-मात्र वही सत्य है। उस पर सदेह तो तब किया जाए, यदि वह एक से भिन्न दूसरा कोई हो और दूसरे के अभाव मे संसार मे एक-मात्र उसका ही अस्तित्त्व है, अन्य किसी का नही।[९] गुरू-ज्ञान से भी मुझे प्रतीत हुआ, कि एक-मात्र उस ब्रह्म

१. ८५६ क०, ७। २. ३२४ क०, ३।
३. ७२७ क०। ४. ११५८ क०, ३।
५. ७२७ क०। ६. ३२६ क०, १६।
७. ३३८ क०, ६७। ८. ३४२ क०, ४३। ९. ७२७ क०।

का ही अस्तित्त्व है, अन्य किसी का नहीं।[1] अंत में अपने अनुभव के आधार पर भी कबीर संसार में 'तिसु बिन दूसर को नही' यही अनुभव करते है।[2] इस प्रकार संसार को ब्रह्ममय देख और ब्रह्म में ही संसार-मात्र क्या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देख कर वह एक-मात्र सत्य ब्रह्म का ही अस्तित्त्व स्थापित करता है। यही कबीर के ब्रह्म का महानतम गुण है, कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ही वह आत्मसात् किए है और संसार रूपी भ्रम का प्रसार अपने रूप में किए है।

अब तक ब्रह्म के उन गुणों का विश्लेषण किया गया है जो केवल ब्रह्म में सम्भव है, लेकिन कबीर ने तो उसे निर्गुण और सगुण कह कर ही पुनः गुणातीत कहा है। अत. उसके गुणातीत रूप के ज्ञान से पूर्व उसके सगुण रूप को भी देख लेना आवश्यक प्रतीत होता है। सृष्टि में उसका विस्तार 'अनेक रूपधारी' रूप में हुआ है। सम्पूर्ण संसार के जीव तो 'माटी एक' के बने हुए हैं, लेकिन सभी में वह अन्यान्य रूप धारण किए हुए है, केवल ब्रह्म को पहिचानने की आवश्यकता है।[3] इस प्रकार ब्रह्म तो संसार में अनेक रूपों मे प्रकट हुआ है। सासारिक उसे पहचान ही नही पाते, जब वे उसके वास्तविक रूप को जानते है, तो उन्हें ज्ञान होता है, कि यहाँ तो अस्तित्त्व ही एक-मात्र ब्रह्म का है और केवल वही सभी रूपों के माध्यम से दृष्टिगोचर होता है।[4] प्रार्थी कबीर कहता है—हे ब्रह्म अपने से दूर कर मुझे कैसी मुक्ति दे रहे हो—'एक अनेक होइ रह्यिो सगल महि'[5] अब जीव को भ्रम मे क्यों डालते हो ? अपने सत्य रूप का ज्ञान करवा कर अपनी अनेकरूपता में एकरूपता और एकरूपी होकर भी अनेकरूपी होने की सामर्थ्य का परिचय दीजिए। वह अनेक रूप-धारी ब्रह्म ही त्रिभुवन का एक-मात्र स्वामी है। वेशधारी योगियों को फटकारता हुआ सांसारिकता से ऊपर उठाने का उपदेश देता हुआ कबीर सतर्क करता है कि, याचना एक-मात्र उसी से करनी चाहिए जो तीनों लोकों का स्वामी है।[6] वह त्रिभुवन स्वामी ही जगत् मे ज्योतिस्वरूप है। जिसका अस्तित्त्व ही नही वह क्या ज्योति देगा ?[7] सांसारिक भ्रम समाप्त होने पर दसों दिशाओं मे आनन्द ही छाया हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः वह आनन्द-ज्योतिस्वरूप की ज्योति का ही परिणाम है। जिससे उसका ज्योतिस्वरूप होना स्पष्ट होता है। और जो ज्योतिस्वरूप है, वही ज्योतिप्रकाशक भी हो सकता है।[8] अतः योगी को अंतर्ध्यान का महत्त्व बताता है, कि उससे प्रसारित प्रकाश अथवा ज्योति को अपने अन्तर में अनुभव करो।[9] इस प्रकार ज्योतिप्रकाशक ब्रह्म ही प्रत्येक घट में निवासी है और घट (देह) के नष्ट होने पर भी न तो वह घटता ही है और न नष्ट ही होता है—उसकी ज्योति उसे सदा

---

१. १३४१ क० ३।
२. १३३ श्लोक।
३. ४८० क० १७।
४. ३४२ क० ४२।
५. ११०४ क० ५।
६. ८५६ क० ८।
७. ३२५ क० ६।
८. ३४४ क० ११।
६. ८५७ क० ११।

स्थिर एवं अनश्वर बनाए रखती है ।[1] जीव के हृदव की 'कुटिल गाँठि जब खोलै देव' तब उसे प्रत्येक जीव मे ब्रह्म की स्थिति का ज्ञान हो जाता है । स्वतः प्रत्येक घट मे निवास करता हुआ वही तो माया का भी प्रसारक है ।[2] सासारिक सम्बन्धों की असत्यता एवं अस्थिरता पर प्रकाश डालते हुए कबीर कहता है, कि—यह ब्रह्म ही एक ऐंद्रजालिक है, जिसने माया के प्रसार से जीव-मात्र को भ्रम मे डाल रक्खा है। संसार के निर्माण एवं परिचालन के लिए माया की आवश्यक स्थिति का ज्ञान भी वही कराता है । यही जीवन में संसृति का कारण है अथवा संघर्ष का । पीड़ा और दु:ख, विघ्न और बाधाओ का यही माया ही तो एक-मात्र कारण है ।[3] पुनः भक्त की माया से रक्षा करने के लिए उसी को कृपालु का रूप धारण करना पड़ता है । माया के चक्कर में फँसे हुए जीव ने सारा ससार ढूँढ लिया लेकिन 'राम समान न देखउ आन' जो कृपा करके उसका रक्षक या उद्धारक बन सके । अत में एक-मात्र ब्रह्म को ही उसने कृपालु के रूप में पाया ।[4] और, वह कृपालु ही जिस पर कृपा करे केवल 'उही कौ जानै सोइ' अन्य कोई नही जानता ।[5] माया के चक्कर मे पड़ा हुआ सारा संसार भूल गया, लेकिन अकेला कबीर नहीं भ्रम में रहा, क्योंकि कृपालु ब्रह्म ने कृपा कर उसकी रक्षा कर ली ।[6] जब ब्रह्म के कृपालु रूप का जीव को ज्ञान हो गया तो उसने दर्शन देने की प्रार्थना प्रारम्भ कर दी और प्रमाणस्वरूप जयदेव, नामदेव तथा सुदामा के उदाहरण प्रस्तुत कर उसकी कृपालुता को सार्थक बताया ।[7] पुनः कृपालु ब्रह्म को पुकारता हुआ इस संकट में रक्षा की याचना करता हुआ जीव जीवन-भर 'हरि सेवा करउ तुमारी' की इच्छा प्रकट करता है[8] और अन्त में उसकी कृपा का महत्त्व बताते हुए कहता है, कि वह तो इतना बड़ा कृपालु है कि जिस पर कृपा करता है, उसी को अच्छी तरह भर देता है । क्या संसार मे कभी इससे बड़े कृपालु की सम्भावना भी की जा सकती है ।[9] यही है, ब्रह्म के कृपालु रूप की एक झलक।

इस प्रकार जो कृपालु है, वह रक्षक तो स्वतः ही होगा । उसके भिन्न-भिन्न गुणों का परिचय देते हुए—उसे संसार का चलानेवाला एवं स्वयं ही सब रूपों को धारण करनेवाला बतातें हुए अंत में उसे स्वयं ही रक्षक कहा है ।[10] इतना ही नहीं उसे मेरु पर्वत के समान मान कर उसका आश्रय लिया और कबीर 'ना तुम डोलहु ना हम गिरते' अनुभव करता है ।[11] संशय एवं भ्रम से रहित अनन्य-भक्त ध्रुव और प्रह्लाद पर समयानुकूल कृपा कर उसने उनकी रक्षा की ।[12] पुनः बाह्याडम्बरी साधुओं को सतर्क करते हुए कहता है कि रक्षक ब्रह्म ने ही भक्त प्रह्लाद की प्रतिज्ञा

---

१. ३४० क० ७५, १० ।
२. ८५७ क० १२ ।
३. ३३१ क० ३९ ।
४. ३२९ क० ३४ ।
५. ७२७ क० १ ।
६. ४७९ क० १४ ।
७. ८५६ क० ७ ।
८. ९७० क० ८ ।
९. ३३१ क० ४० ।
१०. ११२३ क० २ ।
११. ९६९ क० ३ ।
१२. ८५६ क० ५ ।

रखी और हिरण्यकशिपु को नख से विदीर्ण किया—इस प्रकार सदा ही भक्तों की पापों और पापियों से रक्षा करता आया है।[१] सांसरिक विपदाओं से रक्षा करके वही तो भव-तारक सिद्ध होता है। जीवन के उद्देश्य पर विचार करते ही वे अपने आपको अज्ञानी समझते हैं, पुन: जीवन में वे क्या फल प्राप्त कर सके—यह भी उनकी समझ से बाहर प्रतीत होता है, ऐसी अवस्था में भव-सागर के तरण-तारण प्रभु की ओर उनका ध्यान जाता है। इस प्रकार जीव को ब्रह्म के तारक गुण का परिचय मिलता है।[२] जीव ब्रह्म को पूछता है, तार कर कहाँ ले जाओगे, जब तक ईश्वर का ज्ञान नहीं, तभी तक तो तुम तरण-तारण हो, क्योंकि तुम्हारी सत्ता अलग है, ज्ञान होने पर जब तुम्हारी सत्ता ही अलग नहीं रहती—वस्तुत: वह अभिन्नत्व ही तो तुम्हारे तारक गुण की सार्थकता का द्योतक है[३] और जब जीव एक स्वर से ब्रह्म को स्वयं तारनेवाला बताता है 'तरन तारन सोई' क्योंकि जो स्वयं ही पार पहुँचने में अक्षम होगा, वह दूसरे किसी को तो क्या पार पहुँचाएगा।[४] अत: तारक के रूप में उसकी समता या तुलना संसार मे किसी से भी नही की जा सकती। अन्यत्र भी उसे ही एक-मात्र निर्भय तरण-तारक स्वामी कह कर, ही कबीर ने उसे पार लगाने की प्रार्थना की है।[५] अज्ञानी जीव जब पुन:-पुन: समझाने पर भी नहीं समझ पाता—तब कबीर को व्यंग्यात्मक शैली का सहारा लेना पड़ता है। देह को मांजने या साफ करने से क्या वह तर जाएगी, जब तक उसके अन्तर में मैल भरा हुआ है। लौकी को सभी तीर्थों मे चाहे स्नान करा लिया जाए, पर क्या कभी उसका कड़वापन गया है।[३] इससे स्पष्ट है, कि तारक तो केवल ब्रह्म ही है, अन्य कोई नहीं। यह तारक ही उद्धारक है, जैसा कि भक्त प्रहलाद आदि के उदाहरण से ऊपर स्पष्ट हो चुका है। उस प्रकार माया के चक्र में भ्रामक ब्रह्म ही एक-मात्र उससे रक्षक पुन: तारक एवं उद्धारक सिद्ध होता है, अन्य कोई नहीं। वह ब्रह्म ही अत्याचार विरोधी है। काजी को डाँटते हुए;उसकी हिंसा एवं पापों का विरोध करते हुए;कबीर घोषणा करता है, कि ब्रह्म—धर्म के स्वामी ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नही दी,[७] अपितु जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है, उसने सदा ही अत्याचारियों का विरोध किया है, उनका विरोध कर भक्त को उसने शरण दी और जीव उसे मेरु के समान स्थिर एवं सदा शरणदाता समझता आया है—संसार के प्रत्येक दु:ख एवं विपत्ति में' अनायास ही उसे उसकी शरण ढूंढ़नी पड़ती है और शरणदाता बन कर वह स्वत: ही भय नाशक बन जाता है।[८] ब्रह्म की शरण मे आनेवाले को भय कहाँ से' क्योंकि वही तो एक-मात्र सर्वनियंता एवं सर्वसंचालक है। भय को दूर कर भक्त के मन को शांत कर संतोष देनेवाला भी तो एक-मात्र ब्रह्म ही है।[९] संसार की सम्पूर्ण सम्पत्ति

१. ८५६ क० ४ । २. ६७० क० ८ ।
३. ११०४ क० ५ । ४. ४८२ क० २६ ।
५. ३३६ क० ७२ । ६. ६५६ क० ८ ।
७. ४८० क० १७ । ८. ६६६ क० ३ ।
९. ६७० क० ८ ।

एवं ऐश्वर्य जीव को आन्तरिक शांति नही दे सकती और आन्तरिक शांति बिना संतोष कहाँ से, जिसका एक-मात्र दाता उत्पादक सर्वगुणसम्पन्न ब्रह्म ही है ।[१]

इस प्रकार कबीर का अनादि एवं अनन्त ब्रह्म जो न केवल अतीन्द्रिय और अज्ञेय ही है, बल्कि वह तो अननुमेय भी है, किस प्रकार उसकी कोई झलक लौकिक जगत् को दी जा सकती है । कबीर का दृढ़ विश्वास तो ब्रह्म की गहनता से भी गहन है, उसकी भक्ति अनायास ही ब्रह्म को भी झुका लेने वाली है, क्योंकि भक्त की भक्ति के सम्मुख ब्रह्म भी तो अपने आप को विवश-सा पाता है । इसीलिए कबीर दृढ़ स्वर मे कहता है, कि ऐसे अननुमेय ब्रह्म को भी पाया जा सकता है, केवल अनुभूति के माध्यम से—अतः उसे केवल स्वतः अनुभव ही किया जा सकता है । जो राम को जानते है वे ही इस बात को अनुभव करते हैं, कि मृत्यु के बाद जीव कहाँ जाता है ? राम को जानने के रूप की तुलना की है, उस प्रसन्नता से जिसकी अनुभूति होती है बोलने में अशक्त शक्कर खाए हुए गूंगे को—बस यही एक-मात्र रूप है, जो लौकिकों को वह भी तब, जब वे अलौकिक हो जाएँ—अनन्य भक्त बन जाएँ—प्राप्त हो सकता है ।[२] हरि पदु द्रिडु करि रहिऐ' तभी आप गुड़ खाए हुए गूंगे की तरह उसका स्वाद बताने में निरुत्तर होंगे—अर्थात् ब्रह्मानुभूति करनेवाला उस अनुभूति के रूप की अभिव्यक्ति में भी तो अपने आपको असमर्थ पाता है ।[३] भगवत्प्रार्थना से वासना-क्षय के बाद अन्तर में स्वतः ही उसकी अनुभूति होगी[४] और वह अनुभूति तभी समझनी चाहिए जब हर्ष, शोक आदि कोई भी सांसारिक भाव अन्तर पर कोई प्रभाव न डाल सके ।[५] इस प्रकार अनन्य हो अपने बलिदान का ढिंढोरा न पीटते हुए ब्रह्मानुभूति करो 'जो किछु होई त होई'[६] इस बात की चिंता करने की आवश्यकता नही । गुरू ने जो गुड़ रूपी ज्ञान दिया, उसकी सहायता से संसार के प्राणि-मात्र में एक-मात्र उसी के दर्शन हुए और तब अन्तर में भी उसकी ही अनुभूत्ति हुई ।[७] राम-नाम मे अनन्य अनुरक्ति होने के कारण ही उसे विचित्र अनुभव के दर्शन हुए, यह अनुभव ही ब्रह्मानुभूति है ।[८] 'अनभउ किनै न देखिया वैरागी अड़े' ।[९] अतः राम-रस पीते हुए ज्ञान का विचार कर जब अखण्ड आनन्द में मतवाला जीव निरंजन की पहचान कर उसे हृदय में लाया तब सच्चे आनन्द की अनुभूति हुई ।[१०] इस प्रकार जब एक बार सच्चे आनन्द की अनुभूति हो जाती है, तो 'अब मेरा मनु कतहू न जाहि ।'[११] क्योंकि एक-मात्र सत्य ही तो नित्य, शाश्वत और चिरन्तन है ।

इस प्रकार कबीर ब्रह्म का स्वरूप हमारे सामने रखे बिना हटता नहीं; अतीन्द्रिय उसे वह दिखा नहीं पाता—तो भी हार नहीं मानता—अज्ञेय उसका ज्ञान

१. ८७३ क०, ११ ।
२. ३२७ क०, १८ ।
३. ३३४ क०, ५१ ।
४. १८६ श्लोक ।
५. १८९ श्लोक ।
६. २३१ श्लोक ।
७. १३४१ क०, ३ ।
८. ३२२ क०, ४४ ।
९. ११०४ क०, ४ ।
१०. ३२८ क०, २७ ।
११. ११०३ क०, २ ।

हमें दे नहीं पाता—तो भी उसे छोड़ता नहीं—अननुमेय उसका अनुमान भी नहीं लगा पाता—फिर भी उसे पाए बिना पीछे नहीं हटता, क्योंकि उसे विश्वास है अपनी भक्ति की शक्ति पर - और उसके सामने झुकनेवाले ब्रह्म पर। वह हमे बता देता है कि असीम और अपार होते हुए भी ब्रह्म अप्राप्य होकर भी अप्राप्य नहीं—क्योंकि उसने उसे प्राप्त किया है, संसार के प्रत्येक भक्त ने उसे प्राप्त किया है। फिर भी लौकिक जीव को विश्वास दिलाने के लिए वह कह देता है, कि वह अनुभव भी अदृश्य ही है, लेकिन अनुभव है अवश्य और वह अनुभवगम्य है। यही उसके ब्रह्म का एक-मात्र अनुभूतिगम्य स्वरूप है।

इस प्रकार ब्रह्म का माहात्म्य—आविर्भाव तथा गुणों पर दृष्टिपात करने के बाद उसकी स्थिति से भी परिचित होना आवश्यक ही प्रतीत होता है।

वेदों की ही भाँति कबीर ब्रह्म के 'नेति' रूप से प्रारम्भ होता है और धीरे-धीरे आगे बढ़ता चलता है अपनी असमर्थता पर हार न मान कर वह ब्रह्म के 'अनुभूति' रूप पर उसे पकड़ जगत को उसका अनुभव करने के लिए प्रेरित करता है। ब्रह्म की स्थिति-निरुपण में भी वह कहता है, कि उसकी ऐसी विचित्र कथा है, जो कही नही जा सकती, क्योंकि जहाँ उसकी स्थिति है वहाँ न वर्षा है न सागर, न धूप है न छाया और न ही उत्पत्ति है न प्रलय। इतना ही नही—न वहाँ जीवन है न मृत्यु, न दुख की अनुभूति और न ही सुख की। न ही वहाँ शून्य की जागृति है और न समाधि की निद्रा। न वह तोली जा सकती है और शून्य की जागृति है और न समाधि की निद्रा। न वह तोली जा सकती है और नही छोड़ी जा सकती है, न वह हलकी है न भारी। उसमें न ऊपर की ही कोई भावना है न नीचे की। इससे भी बढ़ कर 'राति दिवस तह नाहिं'। और तो क्या वहाँ जल, पवन और अग्नि भी नहीं है।[१] अन्यत्र कहा है, कि न वहाँ सूर्य है, न चन्द्र, बल्कि उसका अपना ही प्रकाश है। न वहाँ पाप है न पुण्य ; न वर्ण न अवर्ण और न धूप है न छाया।[२] निराकार ब्रह्म तो वहाँ निवास करता है जहाँ न रात है न दिन और न वेद हैं न शास्त्र।[३] इतने से भी उसकी 'नेति' स्थिति में सदेह रह जाता है तब जिस जगत् को बावन अक्षरों पर भरोसा है उन्हें भी ललकार कर स्पष्ट ही कह देता है। यह ठीक है, कि बावन अक्षर और तीन लोकों में ही सम्पूर्ण सृष्टि है, लेकिन इन बावन अक्षरों के नष्ट होने पर भी वह नष्ट न होगा, क्योंकि एक-मात्र ब्रह्म की स्थिति इनमें नही।[४] जहाँ ध्वनि है, वही अक्षर है, लेकिन जहाँ ध्वनि नही, वहाँ मन की स्थिरता भी नहीं। परन्तु ब्रह्म तो ध्वनि और अध्वनि के मध्य है। इस प्रकार उसके ब्रह्म की स्थिति कही भी नही, क्योंकि बावन अक्षरों और तीन लोकों में बाहर कोई स्थान नहीं—धूप अथवा छायारहित कोई स्थान नहीं, रात और दिन (प्रातः, सायं आदि मिला कर) रहित कोई समय या स्थान नही और सब से आगे ऐसा तो कोई

१, ३३३ क० ४८। २. ११६२ क० १९।
३. ४८४ क० ३७। ४. ३४० क० ७५-१।

स्थान है ही नही, जहाँ पवन, जल और अग्नि का स्थान न हो—क्योंकि सृष्टि-निर्माण के मूल तत्त्वों में इनका अपना विशेष स्थान है। इसीलिए तो निराकार ब्रह्म की कहीं भी स्थिति नहीं।[१]

ब्रह्म सर्वव्यापक, अतः सर्वान्तरयामी होने से ही सर्वव्यापक है। वह तो घट-घट में निवासी है और महानता उसकी यही है, कि घट के फूट कर नष्ट हो जाने पर भी वह अपनी स्थिति एवं सत्ता को नहीं खोता। इतना ही नहीं, सभी प्राणियों में उसका आभास पाने के बाद संसार में एक-मात्र ब्रह्म की ही स्थिति का ज्ञान होता है[२] तो भी सृष्टि अथवा प्रकृति में उसकी स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[३] मूर्तिपूजक को समझाते हुए कहा है, कि जिस निर्जीव पत्थर की पूजा के लिए तू पत्ती तोड़ता है उसमें ब्रह्मा है, डाल में पोषक विष्णु और अर्चना के लिए लिए गए फूल में महेश। इस प्रकार ब्रह्म के विभिन्न रूपों की स्थिति को प्रकृति में न समझ कर निर्जीव की पूजा अनुपयुक्त है।[४] पुनः उसके रूप को और स्पष्ट करते हुए उसने कहा है, कि सृष्टिकर्त्ता सम्पूर्ण सृष्टि में है, लेकिन श्याम-मूर्ति के रूप में नही और अन्ततोगत्वा स्पष्ट घोषणा की है, कि 'सृष्टि सृष्टिकर्त्ता में है और सृष्टिकर्त्ता ही सृष्टि में जो सब कही व्याप्त है। इस प्रकार प्रकृति में भी ब्रह्म की ही सर्वव्यापकता सिद्ध है।

अद्वैत-स्थापन करते हुए उसने माया में 'रचनहारु तह नाही' कहा है। माया वहाँ है, जहाँ न तो ब्रह्माण्ड है, न ही पिंड है। और न निर्माणकर्त्ता ही।[५] इस प्रकार वस्तुतः कबीर ने माया की सत्ता को ही नहीं माना और ब्रह्म का अभाव कह कर उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसी अद्वैत को और स्पष्ट करते हुए उसमें आत्मा और ब्रह्म की स्थिति में भी अभेद स्थापित किया है। कहता है—जब हम थे, तब तुम नहीं और 'अब तुम हहु हम नाही' ऐसा अभेद हो गया है, कि दोनों की स्थिति अलग-अलग ही नही।[६] हृदय की कुटिलता की गाँठ खुलने पर सभी जीवों में ब्रह्म के दर्शन होते है।[७] अथवा मन की सब शंकाएँ नष्ट होने पर भी सब प्राणियों-में एक-मात्र ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता है।[८] समस्त शरीरों में एक ही जीवात्मा है और उसी में कबीर भी है।[९] इसीलिए प्रत्येक घट (शरीर) मे निवासी वह ब्रह्म है, जो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी अपना वैसा ही अस्तित्त्व एवं स्थिति बनाए रखता है।[१०] योगियों को ब्रह्म की स्थिति का ज्ञान कराते हुए कबीर कहता है, कि उसने अपने निवास के लिए 'अगम द्रुगम रचिओ' अर्थात् सहस्रदल कमल की रचना की है, वहाँ निरन्तर ज्योति का प्रकाश और आनन्द होता है, वहीं भगवान आराम करते

१. ३३३ क० ४८।
२. ३४३ क० ५।
३. १३३ श्लोक।
४. ४७६ क० १४।
५. ७२७ क०।
६. १३४६ क० २।
७, ३३४ क० ५२।
८. ३३१ क० ७२।
९. ५५७ क० १३।
१०. १३४६ क० २।

है। वहाँ अनाहत शब्द होता है, अनेक खंड धारण करनेवाले विभिन्न मंडलों में तीन स्थान हैं, प्रत्येक स्थान के तीन खंड हैं, उनमें ब्रह्म निवास करता है, जिसके गूढ रहस्य को शेषनाग भी नही जान सकता। आगे उसकी सूक्ष्मता का द्योतन करते हुए कहा है द्वादश दल में कमल के पराग में प्रकाश की भाँति सूक्ष्म उसका निवास-स्थान है। इसी सूक्ष्म ज्योति में अनन्य एकाग्रता से मन स्थिर कर भव-सागर पार किया जा सकता है,।[१] वस्तुतः अन्तर में 'मेरे बाजे अनहद बाजा'[२] ही ब्रह्म है, उसे सुन कर अनुभव करने का प्रयत्न करो—यह शब्द उसी का है। बुध को बुद्धि में यही प्रकाश लाना चाहिए, कि अन्तःकरण के विशुद्ध चक्र मे ही हरि का निवास है, इसे योगियों ने लोक को समझाने के लिए 'स्थिर कमल' भी कहा है।[३] योगियों को ब्रह्म की स्थिति स्पष्ट करते हुए कबीर ने कहा है, कि इस शरीर रूपी सरोवर में एक सहस्रदल कमल है, उसी परम ज्योति पुरुषोत्तम अथवा ब्रह्म का निवास है, जिसके न कोई रूप है न रेखा।[४] इसी भाव को आगे चल कर और स्पष्ट करते हुए उसने कहा है, कि इस शरीर रूपी कोठे में एक सहस्रदल कमल की कोठी है और उसमें भी ब्रह्मरंध्र नामी एक अति सूक्ष्म स्थल है, वही ब्रह्म का निवास-स्थान है। वही स्थिर हो ब्रह्मानन्द रस का पान किया जा सकता है। इस प्रकार लौकिकों के 'नेति' स्थिति ब्रह्म को सर्वव्यापक एवं सर्वान्तिरयामी बना कर पुनः योगियों को उनकी शरीर रचना के अनुकूल उसके सूक्ष्मतम अन्तर्विन्दु ब्रह्म-रंध्र में ही ब्रह्म के निवास का परिचय दे—उस दिशा में एकाग्रचित होने का संदेश दिया है। लेकिन सम्पूर्ण जग तो योगी नही, अतः उन्हें सामान्य शरीर में ब्रह्म की स्थिति के द्योतन का प्रयत्न करना है।[५] अष्टधातु से बना हुआ यह जो शरीर है, इसी में परम ऐश्वर्यवान निरंजन ब्रह्म निवास करता है।[६] शरीर में ब्रह्म की स्थिति वहाँ ही हो सकती है, जहाँ भय न हो, क्योंकि इसी बात को स्पष्ट करते हुए उसने कहा है, कि जहाँ निर्भयता है, वहाँ भय नही और जहाँ भय नहीं—वहीं ब्रह्म है। स्पष्ट ही है, कि ब्रह्मानुभूति होने पर भय की स्थिति रह ही नहीं सकती—इसीलिए देह में ब्रह्म की स्थिति बताने से पूर्व ही उसका भयरहित होना स्पष्ट कर दिया है। अतः अन्तर्मुख हो, इसी में उसे ढूँढो। सृष्टिनिर्माता के रहस्य को जानता हुआ जुलाहा कहता है, कि अब अपने वास्तविक घर को जाना चाहिए, जिसमें ब्रह्म निवास करता है, वह तो अपना ही शरीर है।[७] मुल्ला को समझाया 'अलहु गैबु सगल घट भीतरि' इसीलिए 'हिरदै लेहु बिचारी'।[८] अतः अनेक इच्छाओं और वासनाओं से बच कर इस शरीर में ही जो ब्रह्म रूपी आनन्द है, उसको खोज कर उसका उपभोग करो—अन्य किसी का आश्रय ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं।[९] शरीर में ही ब्रह्म-

१. ११६२ क९ १९।
२. ८५६ क० ६।
३, ३४, क० ७७।
४. ८५७ क० ९।
५. ९६९ क० ४।
६. ३४४ क० ७६।
७. ४८४ क० ३६।
८, ४८३ क० २९।
९. ११९६ क० ४।

रस का 'सरवरु भरा' है, उसे कोई पहचानता ही नही। हे जीव ! तू उसे पहचान और 'पीन सबै कोई नीरु' उसी में रम कर उस रस का पान कर।[१] उसी में तेरा जीवन सार्थक है। जब जीव किसी भी प्रकार संतुष्ट नहीं हो पाता, तब कबीर कहता है, कि जीव तो कर्मबद्ध है, लेकिन कर्म को गति या जीवन किसने प्रदान किया—'तन महि हरि' है और देह उस हरि में रमा हुआ है, वही हरि निरन्तर एवं सर्वमय है। अतः उसे बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं - इस देह में ही उसे ढूंढ़ कर ऐक्य स्थापित करो।[२] इस प्रकार कबीर सामान्य जीव को विश्वास दिला देता है, कि ब्रह्म बाहर की नहीं, देह के भीतर की ही वस्तु है, अत. उसके प्रति जिज्ञासु होते हुए हमें अन्तर्मुख होने की आवश्यकता है, बहिर्मुख नही। शरीर में ही क्या ? अंग-अंग में ही ब्रह्म का निवास है। बाह्य रूप से—बिना ध्यान, वेद और गायत्री का जाप करनेवाले पण्डित को पुकार कर कहता है, कि मेरी तो जिह्वा ही विष्णु है, नेत्र ही नारायण है तथा 'गोविंदुरिदै हमारे है। अतः हे ब्राह्मण ! तू काशी के इस जुलाहे के ज्ञान को समझ, कि ब्रह्म बाह्य ज्ञान से लभ्य नहीं, वह तो अन्तर में है और अन्तर में ही अनुभवगम्य है।[३] ब्रह्मा वेद पढ़ कर भी जिसकी स्थिति को नही जान सके, उसी के ज्ञान की विधि कबीर ने जान ली—वह कहता है—मंथन करो—शरीर की मटकी बना कर मन का मंथन करो—सात्त्विक विचारों द्वारा मन के मंथन से ही अमृतधारा प्राप्त होगी और वही तो ब्रह्म-रस है—संसार में एक-मात्र प्राप्य।[४] शरीर के भी किसी अंग विशेष में न होकर वह अन्तर में है, इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है, कि जिसे तू ढूंढता है, वह तेरे अति निकट शरीर में ही है, इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं[५]—नहीं तो ढूँढ़ते-ढूँढते तेरे प्राण नष्ट हो जाएँगे, लेकिन तू उसे न पा सकेगा, अतः जिसने इस तेरे शरीर रूपी गढ़ का निर्माण किया है, वह इसी मे है।[६] सो इसे यहीं प्राप्य जान। हृदय में विश्वास कर, जो बाहर था, वही अन्तर में है, इस रहस्य को जान कर ही उसे जाना जा सकता है।[७] हे जीव ! अंधकार में तुझे ऐसे दीपक की आवश्यकता है, जो इन्द्रियों से अगोचर एवं अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करा दे। वस्तुतः वह दीपक एव ज्योति तेरे अन्तर में ही है, केवल अनुभव करने की आवश्यकता है।[८] भटकते मुल्ला को मार्ग दिखाया 'रिदै इखलासु निरखु ले मीरा'।[९] वस्तुतः वह बाहर कही नहीं, अन्तर में ही है, तुम उसे दूर क्यों बतलाते हो।[१०] गुरू से मिल कर तुम्हें इस बात का ज्ञान हो गया है कि वह चौरासी लाख योनियों के मार्ग से आनेवाला नहीं, विचार कर उसे तो अपने अन्दर ही अनुभव करो। अन्तर में भी उसकी स्थिति हृदय

---

१. १७० श्लोक।
२. ८७० क०, ३।
३. ४८२ क०, २६।
४, ४९८ क०, १०।
५. ३४१ क०, ७५।
६. ३४१ क०, ७५।
७. ३४२ क०, ७५।
८. ६५५ क०, ७।
९. ११५८ क०, ७।
१०. ११५९ क०, ११ :

मे न हो, ऐसी बात नही ।[1] जब देह से मोह, हर्ष और शोक की जलन मिट जाए, तब हृदय मे 'हरि आपहि आप' ।[2] थोड़ी देर के लिए हृदय में स्थिरता लानी चाहिए, तब आपको व्यर्थ की अशान्ति न होगी और उसे अपने हृदय में खोजने के प्रयत्न में आप सफल होंगे ।[3] भक्त हिन्दू दक्षिण में हरि का निवास बताते है और मुल्ला 'पछिमि अलह मुकामा' लेकिन कबीर का अनुभव पुकारता है, कि 'दिल महि खोजि दिलै दिलि खोजहु एही उह मुकामा' ।[4] अतः प्रत्येक हृदय में उसे अनुभव करो । वह तुझे वही मिलेगा । मुंडेरपर चढ कर बांग देनेवाले मुल्ला को सम्बोधन कर कहता है, कि 'साई न बहरा होइ' बल्कि 'जा कारनि तू बाग देहि दिलहि भीतरि होइ'[5] केवल उसे अनुभव करने की आवश्यकता है । हज के लिए काबे जाते हुए शेख को समझाता है कि हृदय को विशुद्ध करने की आवश्यकता है, क्योंकि 'जाकी दिल सरवति नही तकउ कहाँ खुदाय ।'[6] जिसके स्मरण-मात्र से सम्पूर्ण दुख नष्ट हो जाते है, वह तो हृदय मे प्रकट होता है, केवल विश्वास और अनन्य भक्ति की आवश्यकता है ।[7] इसलिए उसने कहा है, कि वही असली सेवक है और उसी की सेवा वास्तविक है, 'जिह घट बसै मुरारि' और उसने उस हृदय मे अनुभव कर लिया ।[8] अत. वस्तुतः ब्रह्म संतों के हृदय मे निवास करता है, क्योकि वे ही उसे अनुभव कर पाते है , अन्य नही । इसीलिए गले मे यज्ञोपवीत पहन वेद और गायत्री का पाठ करनेवालों को ललकारा है, कि ब्रह्म तो हमारे हृदय मे निवास करता है, और उसी में सदा हमारा ध्यान रहता है, ब्रह्म चिन्तन व्यर्थ है ।[9] कबीर को अपनी नीच जाति की कोई परवाह नही, वह स्पष्ट ही घोषणा करता है, कि 'जाति जुलाहा किआ करै' क्योंकि 'हिरदे बसे गुपाल।'[10] ब्रह्म तो हृदय मे ही निवास करता है, वह पवित्र होने पर उसे प्राप्त करने मे कोई बाधा नही । इतना ही नही, उसे तो प्राणी-मात्र पर विश्वास है, लोदी द्वारा छोड़ा हुआ हाथी भी उसे मारने के स्थान पर 'नमसकारै' ।[11] क्योकि उसके हृदय में भी ब्रह्म है और दोनों हृदयो के ब्रह्म मे ऐक्य जो है । इस प्रकार जब वह जीव को भिन्न-भिन्न स्थलो पर—अन्यान्य प्रकार से समझा कर संतुष्ट हो जाता है, कि ब्रह्म तो हृदय मे ही है बाहर नही । तब उसे सुरक्षित रखने का उपाय बताता हुआ कहता है, कि नेत्र नीचे की ओर ही झुकाए रहो, ऊपर करने पर वे और किसी दिशा मे होंगे तो इस बीच तुम ब्रह्म से क्रीडा नही कर पाओगे ।[12] जो संसार का एक-मात्र सत्य है और इस क्रीड़ा के प्रचार की भी आवश्यकता नही—सुलभ-ईर्ष्या अपना स्थान बना सकती है और तब कबीर ने ब्रह्म से

१. ११५९ क०, ६ ।
२. १८९ श्लोक
३. ७२७ क० ।
४. १३४९ क०, २ ।
५. १८४ श्लोक ।
६. १८५ श्लोक ।
७. १८६ श्लोक ।
८. ३३७ क०, ६३ ।
९. ४८२ क०, २५ ।
१०. ८२ श्लोक ।
११. ८७० क०, ४ ।
१२. २३४ श्लोक ।

ऐसा ऐक्य स्थापित कर लिया है, कि उसे संदेह हो गया है, कि 'पीउ महि जीव बसै' अथवा 'जीउ महि बसै कि पीउ' ।[१] वस्तुतः उसे प्रियतम और हृदय की ही अलग-अलग पहचान नहीं हो पाती और वह इतना उलझ जाता है, कि वह पूछने लगता है, कि उसके शरीर में भी हृदय है या प्रियतम । उसकी ऐक्यानुभूति का यह चरम है, और वस्तुतः यही स्थिति है, जहाँ पहुँच कर साधक या भक्त ब्रह्म को पहचान पाता है । इस प्रकार हृदय-निवासी ब्रह्म से ही कबीर ऐक्य स्थापित कर लेता है । इसीलिए उसने अन्तर्यामी और सर्वान्तिर्यामी विशेषण बहुत से स्थलों पर प्रयुक्त किए हैं । अन्ततोगत्वा मूर्ति-पूजकों को धिक्कारते हुए उसने स्पष्ट ही कहा है, कि अपनी अन्तरात्मा में बसे हुए ब्रह्म को पहचानने का प्रयत्न करो । अंतर में ही—हृदय में ही—उससे भी सूक्ष्म स्थिति में ब्रह्म की स्थिति बताने का प्रयत्न किया है ।[२]

चन्द्र और सूर्य की ज्योति को स्वरूप-मात्र कह कर उसने कहा है, वस्तुतः 'जोती अंतरि ब्रह्मु अनूप' ।[३] ज्ञानी को विचार कर अनुभव कराने के लिए स्पष्ट किया है, कि सम्पूर्ण ज्योति में एक-मात्र उसी का विस्तार है । इस प्रकार संसार का सम्पूर्ण ज्योतिपुंज (बाह्य और आन्तरिक) उसी की स्थिति को लिए है । वस्तुतः अन्तर में कहीं भी ज्योति को अनुभव करना ही उसकी अनुभूति है, ऐसी अवस्था-सम्पूर्ण ज्योति; उसी की स्थिति को लिए है। इसी बात को ज्योति मे ब्रह्म की स्थिति कह कर कबीर ने स्पष्ट किया है ।

इस प्रकार ऐक्यानुभूति स्थापित कर और एक-मात्र ज्योति में ही उसकी स्थिति बताने के बाद भी कबीर 'राम' के उच्चारण में भी विवेक की आवश्यकता बताता है, क्योंकि अनेकव्यापी या सर्वव्यापी होकर भी ब्रह्म अपने ही एक रूप मे लीन है, उसकी स्थिति अपने आप मे ही पूर्ण है ।[४]

इस सबसे स्पष्ट है, कि 'नेति' स्थिति से ब्रह्म की सत्ता स्थापित करनी प्रारम्भ कर उसे सर्वव्यापक एवं सर्वान्तिर्यामी सिद्ध करके भी, सृष्टि के अंग-अंग में उसकी स्थिति का अनुभव करा कर, योगी को देह की यौगिक स्थिति में और भोगी को सामान्य देह के अन्तर में—हृदय में उसकी स्थिति का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया है और स्वतः उससे ऐक्यानुभूति स्थापित कर उसकी स्थिति में अपना अटल एवं अडिग विश्वास प्रकट किया है ।

इस प्रकार अनंत गुणयुक्त अथवा गुणातीत ब्रह्म की सूक्ष्मतम से स्थूलतम स्थिति पर विचार करने के बाद कबीर के अनुकूल उसके रूप की एक झलक प्राप्त करना भी आवश्यक ही प्रतीत होता है, क्योंकि रूप-ज्ञान के बिना वास्तविक ज्ञान सम्भव ही नहीं ।

उसके विराट रूप का वर्णन करते हुए बताता है, कि जिसके करोडो

१. २३६ श्लोक । २. ११६० क०, १२ ।
३. ६७२ क०, ११ । ४. १६१ श्लोक ।

सेनापति और लाखों सन्देशवाहक हैं, उसके अपने रूप की महानता का तो केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है, दर्शन सम्भव नहीं ।[१] अन्यत्र कहा है, करोड़ों धर्मराज जिसके प्रहरी है तथा सभी समुद्र जिसके घर पानी भरते है । लक्ष्मी जिसका शृंगार करती है और इन्द्र जिसकी सेवा करते है; १८ करोड़ पर्वत तो उस ब्रह्म की रोमावली-मात्र है । सम्पूर्ण विद्याएँ गुण-गान कर भी जिसका पार नही पातीं, उस ब्रह्म के रूप के दर्शन कहाँ ![२] वस्तुतः कबीर ने उसे निराकार माना है, लेकिन अन्य साधनो के माध्यम से उसके विराट रूप की एक झलक देने का प्रयत्न किया है। उसने स्पष्ट ही सहस्रदल कमल में उसकी स्थिति बताते हुए कहा है, कि वह केवल ज्योति मे है 'जाके रेख न रूप' ।[३] इतना ही नही जीव के भ्रम को दूर करने के लिए कहता है, जिस शून्य मण्डल मे वह है, न वहाँ धूप और छाया है और न ही वह वर्ण-युक्त है और न ही अवर्ण । जिस प्रकार उसके गुणों की व्याख्या में उसे सगुण-निर्गुण से परे गुणातीत कहा है, उसी प्रकार वर्ण-अवर्ण से परे वर्णातीत भी ।[४] इतना ही नही, काजी को समझाते हुए कहता है, कि कुरान मे स्पष्ट ही सत्य लिखा है, कि अल्लाह न पुरुष और न स्त्री । इस प्रकार उसका कोई रूप नही ।[५] इधर वैष्णव भक्तों के सामने उसकी सर्वव्यापकता को मानता हुआ स्पष्ट ही कहता है, कि सृष्टिकर्त्ता सृष्टि में ही है केवल 'सिआम मूरति नाहि' ।[६] साकार रूप एवं अवतारवाद का स्पष्ट शब्दों में विरोध है ।

प्रभु का विचार करने पर निराकार प्रभु की क्रीडा—ऐ जीव ! तुम्हें अपने शरीर में अनुभव होगी ।[७] पुनः बनारस में मर कर मोक्ष प्राप्त करनेवालों को फटकारता है, कि प्रभु तो निराकार है और वह तो वहाँ निवास करता है जहाँ न रात है और न दिन; जहाँ तुम्हारे इस ज्ञान को बतानेवाले न वेद है न शास्त्र ।[८] अंत मे कहता है, कि जो जीव उसे ब्रह्म को सीमा या आकार में जानता है, उसके लिए तो 'बातन ही बैकुंठ समाना' ।[९] जब तक 'अहं' त्याग निराकार-असीम ब्रह्म के विराट रूप का उसे ज्ञान नही, तब तक वह भव-पार नहीं हो सकता । इस प्रकार ब्रह्म के निराकार रूप की दृढ धारणा हमारे सम्मुख रखता हुआ भी उसका अनेक रूपधारी होना बताता है । वह ब्रह्म इस संसार में अनेक रूपों मे प्रकट होता है, लेकिन उसे कोई जान नहीं पाता, जब हम उसके अन्यान्य रूपों को जान पाते है, तब हमें संतोष होता है ।[१०] क्योंकि 'माटी एक भेख धरि नाना' केवल भिन्न-भिन्न रूपो में पहचानने की आवश्यकता है ।[११] प्रकृति में उसके रूप के दर्शन करते हुए कबीर

---

१ ११६१ क०, १५ ।
२. ११६२ क०, २० ।
३. ८५७ क०, १० ।
४. ११६२ क०, १६ ।
५. ४८३ क०, २१ ।
६. ७२१ क०, १ ।
७. ३४३ क०, ७६, २ ।
८. ४८४ क०, ३७ ।
९. ३२५ क०, १० ।
१० ३१२ क०, ४२ ।
११. ४८० क०, ६७ ।

कहता है, कि ब्रह्म ही तो स्वयं अग्नि है और वही स्वयं पवन। अगर वही जलानेवाला बन जाए तो रक्षक कौन होगा। इसीलिए तू उसके नाम को अपने अन्दर ले आ, फिर जलाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।[१] चन्द्र और सूर्य ये दोनों ही ज्योति के स्वरूप है और वस्तुतः इनमें स्थित ज्योति ही ब्रह्म का असली स्वरूप है। उसे पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए।[२] भवसागर का यात्री कबीर ब्रह्म को सम्बोधन कर कहता है, 'तूँ ही दरिआ' है और उससे पार ले जानेवाली नौका का कर्णधार भी तू ही; अत. 'तुझै ते निस्तार'।[३] यह सब विचार कर वह पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है। केवल प्रार्थना में ही अपना अधिकार जतलाता है। इसी भाव को अन्य स्थल पर अन्य शब्दों में प्रकट किया है, कि ब्रह्म ही स्वतः रत्न, जवाहर व माणिक है और स्वत ही इनका रक्षक। यदि हम उसे पाना चाहते है, तो एक-मात्र उसके कृपा-पात्र बनने की आवश्यकता है; अन्य कोई साधन नही। इतना ही नही वह स्वयं ही दसों दिशाओं का रूप है और स्वयं ही उनका चलानेवाला।[४] केवल उसके इस रूप को पहचानने की आवश्यकता है। तभी हमारा उद्धार या कल्याण हो सकता है। हे भगवन्! तुम धन हो और तुम्हीं धनी हो; शेष तो संसार में सभी निर्धन है, ऐसी अवस्था मे किसके सामने हाथ पसारा जाए। अतः एक मात्र तुम्ही सर्वसमर्थ दाता हो।[५] प्रकृति के बाद जीव या प्राणी में उसके रूप के दर्शन करते हुए कबीर कहता है, ब्रह्म स्वत. न तो स्त्री और न पुरुष; लेकिन 'हिन्दू तुरक दुहूँ महि ऐकै'। उनमे भेद-भाव समझना या उसके रूप को न देखना अज्ञान है, और कुछ नही।[६] अपने अन्य रूपक में कबीर ने उसे जुलाहा बताया है। पृथ्वी और आकाश का करघा बना कर तथा सूर्य और चन्द्र की ढरकी बना कर जुलाहे ब्रह्म ने ही 'सभु जगु आनि बनाइओ ताना'।[७] वस्तुतः यह कबीर के 'आत्म' का ही विकास है और आगे चल कर वह उससे ऐक्य सम्बन्ध स्थापित भी कर लेता है। ससार के सम्बन्धों की असारता बताते हुए सब प्राणियों को भ्रम में रख, ठगने का आरोप लगाते हुए कबीर ने ब्रह्म को ठग कहा है और ठग रूपधारी ब्रह्म की माया रूपी ठगविद्या का ज्ञान हो जाता है, तो जीव उससे बच कर जीवन में आगे बढ़ पाता है।[८] पुनः सारे संसार को ठग कर खानेवाला ठग ब्रह्म को वश में करने का या उससे बच कर चलने का एक-मात्र साधन है, ठग में ही मन को स्थिर करना। इस प्रकार ठग ब्रह्म से बचने का साधन है, उसी में रमण।[९] ब्रह्म के ठग रूप को पीछे छोड वह ब्रह्म वेशधारी योगी को धिक्कारता हुआ कहता है, कि सत्य योगी का रूप धारण करनेवाला तो एक-मात्र ब्रह्म है, उसे पहिचानो और इस बाह्य रूप को छोड़ अपने आपको उसके अनुकूल

---

१. ३२६ क०, ३३।
२. ६७२ क०, ११।
३. ३३८ क०, ७०।
४. ११२३ क०, २।
५ ८७६ क०, ७।
६. ४८३ क०, २६।
७. ४८४ क०, ३६।
८. ३३१ क०, ३६।
९. ३४० क०, ७५, १८।

बनाने का प्रयत्न करो, इसी मे जीवन की सफलता निहित है।[1] इस प्रकार अनेक रूपधारी ब्रह्म के अन्यान्य रूप होते हुए भी कबीर कहता है कि अनेक रूपों में व्याप्त होकर भी वह अपने एक ही रूप मे लीन है और वही उसका वास्तविक ब्रह्म रूप है।[2] इस एक रूप में होकर भी वह अनेक रूपों के माध्यम से सर्वत्र व्यापक है इससे कबीर को अब कोई भेद नही पड़ता, क्योकि इन अनेक माध्यमो से पहुँचनेवाले एक बिन्दु पर स्थिर, उसके रूप का उसे ज्ञान हो गया है।[3]

इस सम्पूर्ण रूप-विश्लेषण से यद्यपि स्पष्ट हो गया, कि कबीर का ब्रह्म निराकार है, लेकिन जहाँ कही भी उनके पदों में साकार राम या कृष्ण का सम्बोधन प्राप्त है अथवा अवतारों का वर्णन है, वह केवल दृष्टांतों के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है, केवल उन उद्धरणों के आधार पर हम कबीर मे 'ब्रह्म का साकार' रूप या अवतारवाद का आरोप नही कर सकते। आचार्य हजारी प्रसाद जी ने भी 'कबीर का राम' लिखते हुए उनके निर्गुण राम मे सगुण की झलक अवश्य पाई है, लेकिन उन्हें भी असली रूप तो गुणातीत ही मान्य है।[4]

डा० त्रिगुणायत ने 'कबीर की विचारधारा' नामक अपने प्रबध में इस बात को अस्वीकार किया है, कि कबीर में कही भी 'साकार राम' या अवतारवाद की झलक मिलती है, जिसकी पुष्टि मे इन्होने इन उद्धरणो से बच कर चलना ही श्रेयस्कर समझा है।[5]

ब्रह्म के अन्यान्य सम्बोधनों के साथ कभी-कभी भवसागर को पार करने में असमर्थ कबीर ने 'बिट्ठल' से रक्षा की प्रार्थना की है, और अपने आपको उसकी शरण में डाल दिया है। यहाँ स्पष्ट ही 'बिट्ठल' नामदेव (पहले जीवन के) के साकार बिट्ठल के लिए न प्रयुक्त हो; निराकार ब्रह्म के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है।[6]

अपना पवित्र स्थान गोमती के किनारे बताते हैं, जहाँ 'पीताम्बर' गुरू निवास करता है। यहाँ भी 'पीताम्बर' साकार कृष्ण के लिए न प्रयुक्त होकर 'निराकार ब्रह्म' का ही पर्याय है, क्योंकि उसी पद में आगे चल कर स्पष्ट ही कहा है, कि नारद और शारदा उसकी सेवा करते है तथा उसकी स्त्री कमला दासी बन कर सदा उसके पास बैठी रहती है। अंत में कहता है, मैं ऐसे उस राम के गुण गाता हूँ और 'हिन्दू तुरक दोऊ समझावउ', कि वही एक-मात्र 'राम' दोनों का राम है।[7] अतः यहाँ भी उसकी साकारता एवं अवतारवाद का परिहार हो जाता है।

रागु गउड़ी में कबीर का यह कथन कि 'ऐ सुन्दर साँवले राम ! मेरा मन तुझ में अनुरक्त हो गया है।[8] राम का 'साँवला' विशेषण उसकी साकारता में भ्रम

---

१. ८५६ क०, ८। २. १६१ श्लोक।
३. ११०४ क०, ५। ४. कबीर : आ० द्वि० पृ० १२२।
५. कबीर की विचारधारा : डा० गो० त्रिगुणायत पृ० २१८।
६. ८८५ क०, ३। ७. ४७८ क०, १३।
८. ३३५ क०, ५५।

पैदा कर सकता है, लेकिन इसी पद में हरि-गुण-गान द्वारा इसी राम से उसका एकीकरण हो जाता है। साकार से एकीकरण कैसा ? और दूसरी बात अन्यत्र उसने स्पष्ट ही कहा है, कि मेरा 'राम' दाशरथि (दशरथ पुत्र) राम नही, यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्रष्टा राम है जहाँ उसके निराकार राम का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

चौरासी लाख योनियो में भ्रमण करते हुए नद बहुत थक गए थे, अत: भक्त के उद्धार के लिए कृष्ण ने अवतार ग्रहण किया—लोगों के इस कथन पर कबीर प्रश्न करते है, अगर कृष्ण नंद का पुत्र था तो नंद किस का पुत्र था—जब दसो दिशाएँ ही न थीं, तो नंद कहाँ था ?[1] वस्तुत: माँ-बापरहित कबीर का सत्य गुरू यही तो निराकार ब्रह्म है, जिसका नाम निरजन है। इस प्रकार यहाँ भी स्वत: ही कबीर ने अवतारवाद का खंडन कर दिया है।

हिरण्यकशिपु की उद्दण्डता का वर्णन करते हुए कबीर ने लिखा है, कि भक्त प्रह्लाद का उद्धार करने के लिए तथा उच्छृंखल एवं अत्याचारी हिरण्यकशिपु का नाश करने के लिए नृसिह रूप धारण कर भगवान खम्भे मे से प्रकट हुए और पापी को नखो से विदीर्ण कर तथा भक्त की रक्षा कर अन्तर्ध्यान हो गए।[2] इस प्रकार उन्होंने प्रह्लाद जैसे भक्तों की अनेक बार रक्षा की है। इसमे गीता के 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।' की ध्वनि ध्वनित होती है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नही कि कबीर ब्रह्म का अवतार धारण कर भूमितल पर आना स्वीकार करते हैं। उनके सारे पदों का एक स्वर ही यह है कि अवतार और मूर्ति रूप मे उसका विरोध कर उसे अपने अन्तर मे देखने का प्रयत्न करो और वही उसकी ज्योति मे अपनी ज्योति मिला कर उसे अनुभव करो। भगवान मे भक्ति की दृढ़ता के लिए यहाँ उदाहरणार्थ इस दृष्टात का उपयोग किया है, न कि सिद्धात-प्रतिपादन की दृष्टि से। दूसरी बात यह भी है कि नानक आदि सिख गुरू भी निराकार ब्रह्म के ही उपासक है, और 'ग्रथं' में उन्होंने केवल उन्हीं पदों को स्थान दिया है जिनके विचार उनके विचारो से मेल खाते थे, इस प्रकार अवतार-वर्णन द्वारा भी कबीर को अवतारवाद मे विश्वासी रहने की त्रुटि करने का साहस हम मे नही है। अवतारवाद एवं ब्रह्म की साकारता का विरोध करने के पश्चात् कबीर के निराकार ब्रह्म की धारणा और भी स्पष्ट होती है, जब उसने 'तत अनूप' को केवल 'जोति सरूपी' कहा है, न उसकी उपमा ही दी जा सकती है, और न ही ज्ञान पाया जा सकता है, केवल अनुभव किया जा सकता है।[3] ब्रह्म का एकमात्र स्वरूप ज्योति है और उस ज्योति की अनुभूति भी केवल अपने अन्दर वैसी ही ज्योति पैदा करने से हो सकती है—अन्य किसी साधन से नही।[4]

इस प्रकार कबीर के निराकार ब्रह्म का स्वरूप केवल निराकार ही है, अन्य

---

१. ३३८ क०, ७० । २. ११६४ क०, ४ ।
३. ३४४ क०, ११ । ४. ३२५ क०, ६ ।

कुछ भी नही, वह भी इन्द्रियातीत होकर केवल अनुभवगम्य ही है, अन्य किसी प्रकार ज्ञेय या प्राप्य नही ।

ब्रह्म का आत्मा से सम्बन्ध

कबीर के ब्रह्म का स्वरूप देख लेने के बाद उसका आत्मा, जीव, गुरू, संत, भक्त एव स्वतः कबीर से क्या सम्बन्ध है, इस पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है । सर्वप्रथम आत्मा से ब्रह्म का क्या सम्बन्ध है, हम इस विषय में कबीर के विचार जानने का प्रयत्न करेगे ।

ब्रह्म को अमूल्य आत्मा का उत्पादक माना है जो उत्पादक होने के कारण ही उसका एक-मात्र स्वामी ब्रह्म को बताता है ।[1] लौकिकों को भ्रम है, कि इसे प्रयत्नत. भी वे अपने पास रख सकेंगे, परन्तु ऐसी बात नही, ब्रह्म की वस्तु होने के कारण वह जब इच्छा हो, इसे ले जा सकता है ।[2] इस प्रकार अपनी जाया एवं वस्तु होने के कारण आत्मा रूपी मछली का मृत्यु रूपी धीवर से वह स्वयं समुद्र का रूप धारण कर रक्षक बनता है, क्योंकि उसकी अपनी वस्तु है, अतः उसकी रक्षा आवश्यक है।[3] आत्मा को उसने 'राम का अंसु' कहा है और उससे इसकी भिन्न सत्ता स्थापित करते हुए एक उदाहरण से स्पष्ट किया है, कि वह ऐसी है 'जस कागद पर मिटै न मंसु' ।[4] उसका अपना अस्तित्त्व है और सदा रहेगा । इसी बात को एक अन्य स्थल पर भिन्न शब्दों में कहने का प्रयत्न किया है । रात्रि समाप्त होने पर चकवा और चकवी तो मिल जाते हैं, लेकिन 'जो नर बिछुरे राम सिउ ना दिन मिलै न रात' ।[5] इसलिए ब्रह्म और आत्मा का वह परस्पर पति और पत्नी सम्बन्ध स्थापित करता है तथा अनन्य भक्ति अथवा नाम द्वारा ही दोनों का मिलन सम्भव बताता है । आत्मा से कहता है, कि यदि तू ब्रह्म की अहीरिन (मथनेवाली) बन जा, तो तेरे तक्र को कौन नष्ट कर सकता है, अतः सारे जगत् के जीवन और प्राणों के एक मात्र आधार ब्रह्म को ही पति रूप में क्यों नहीं स्वीकार कर लेती ?[6] गले और पैरों में क्या सारे शरीर पर ही यह जो माया का बन्धन है, उसे पति बना लेने पर अपने आप ही समाप्त हो जाएगा। अतः ब्रह्म को पति रूप में स्वीकार कर पुनः नव वधू का रूप धारण कर आनेवाली आत्मा को सचेत करता है, कि तुझे घूंघट करने की आवश्यकता नही, ब्रह्म रूपी पति से लज्जा करते हुए यह सांसारिक असत् व्यक्ति तुझे पथभ्रष्ट न कर दे और घूंघट का गौरव तो शरीर ही है, कि बहू अच्छी है, लेकिन महानता तो इसी मे है, कि उसका गुण-गान करते हुए पति रूप मे उसे स्वीकार कर सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर दे ।[7] इस प्रकार क्षणिक सांसारिक सुखों का मोह त्याग कर ब्रह्म मे अपने को लीन करने पर ही आत्मा रूपी स्त्री का ब्रह्म स्वामी या पति बनता है ।[8] और तब

---

१. १५३ श्लोक ।
२. १९ श्लोक ।
३. ४९ श्लोक ।
४. ८७१ क०, ५ ।
५. १२५ श्लोक ।
६. ६५५ क०, ५ ।
७. ४८४ क०, ३४ ।
८. ३४२ क०, ७३ ।

परमात्मा को पति रूप मे स्वीकार कर लेने पर आत्मा भय से काँपती है, कि 'न जानउ किआ करसी पीउ,'[१] क्योंकि जीवन का यौवन तो व्यतीत हो गया, जबकि वस्तुत: संयोग का समय था। लेकिन उसे अपने पति पर विश्वास है, कि उसने उसे पूर्णतया अपना लिया है। और 'हरि मेरो पिउ हउ हरि की बहुरिया'।[२] वे कुछ बड़े है और मै छोटी। लेकिन ब्रह्म-पत्नी बन कर भी अभी उसे उससे ऐक्य का विश्वास नही हो पाया। अतः कहती है, कि एक ही सेज पर रह कर भी हममे ऐक्य नही। क्योंकि उत्कृष्टतम रूप तो वही है, जबकि इसी जन्म में उसका पति के साथ ऐक्य हो जाए और पुनः उसे जन्म ही न लेना पड़े। इस प्रकार संदेहात्मक प्रवृत्ति से चल कर कबीर की आत्मा धीरे-धीरे ब्रह्म से पत्नी-पति सम्बन्ध स्थापित तो कर लेती है, लेकिन अभी इतनी घनिष्टता नही, कि उसी में अपने स्वत्त्व को अथवा अस्तित्त्व को लीन कर सदा के लिए एकाकार हो जाए। आगे इसी सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न है। हल्दी और चूने के सम्मिश्रण की भाँति ही उसने आत्मा और परमात्मा के मिलन को बताया है। जिस प्रकार पीली हल्दी और सफेद चूना मिल कर अरुण हो जाते है और दोनों ही अपना रग छोड कर एक नया ही रूप धारण कर लेते है उसी प्रकार आत्मा-परमात्मा मिल कर नया रूप धारण कर लेते हैं। रूप ही नही दोनो के गुणो मे भी परिवर्तन आ जाता है। घाव की पीड़ा को दूर करनेवाली हल्दी तथा चिह्न को मिटानेवाला चूना दोनों ही मिल कर अपनेपन को छोड़ नया ही रूप, रग और गुण धारण कर लेते है। उसी प्रकार आत्मा-परमात्मा मिल कर नया रूप, रंग तथा गुण आदि धारण कर लेते है।[३] इस प्रकार दोनों मे ऐक्य स्थापित होता है। अपलक देखने के अभ्यास-मात्र से ही दृश्य और दर्शक दोनों का ऐक्य हो जाता है।[४] इस प्रकार ऐक्य हो जाने के बाद फिर आत्मा को पुनः देह धारण करने अथवा जन्म लेने की आवश्यकता नही; यही उनके ऐक्य की सफलता है।[५] इस प्रकार का ऐक्य होते हुए जगत् तो क्या जिसका ऐक्य होगा वह भी जान ही न सकेगा।[६] अत. उसे अलग करने का प्रश्न ही नही उठता। और यह मिलन ऐसा है, 'जैसे निरमल बूँद अकास की लीनी भूमि मिलाइ'[७] और तब संसार केचतुरतम व्यक्ति अपने उत्कृष्टतम प्रयत्न एवं परिश्रम से भी उसे अलग नहीं कर सकते। यह मिलन विलीन होना ही नही अपितु ऐसा पूर्ण ऐक्य है, जैसे बिंदु महाबिंदु से मिल जाए और तब उनमे वियोग कभी भी किसी प्रकार हो ही नही सकता, उसी प्रकार आत्मा-परमात्मा का मिलन होता है।[८] समस्त त्रिभुवन को ही जब हम अपने मन मे समा लेने का प्रयत्न करे, तब आत्मा रूपी तत्त्व का ब्रह्म तत्त्व से एकीकरण होता है, जो अनन्त सुख और आनन्द को देता है।[९] इतना ही नही, ब्रह्म-ज्ञान व

१. ७९२ क०, २। २. ६९१ क०, १।
३. ५६, ५७ श्लोक। ४. ३७, २० श्लोक।
५. ६९१ क०, १। ६. ३४२ क०।
७. १९६ श्लोक। ८. ३४२ क०, ३८। ९. २ श्लोक।

अनुभूति होने पर आत्मा रूपी तेज इस महातेज में मिल कर एकाकार हो जाता है, ऐसी अवस्था में दोनों की भिन्न स्थिति का ज्ञान ही कैसा ?[१] इतना ही नहीं कबीर दोनों के मिलन को इतना प्रगाढ़; अत ऐसा ऐक्य-विधायक समझता है, कि आत्मा रूप ज्योति उस परम ज्योति मे मिल कर एकाकार हो गई।[२] तेज अथवा ज्योति कोई ऐसी स्थूल वस्तु नही, जो विभाज्य हो, अथवा जिसमे कही विभाजक रेखा खीच दोनो की स्थिति अलग-अलग प्रदर्शित की जा सके। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का अन्तिम रूप उनका अज्ञेय एव अविभाज्य एकीकरण है।

आत्मा ही देहधारी होने पर जीव का रूप ग्रहण कर लेती है। जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए कबीर ने उसे ब्रह्म के पुत्र की संज्ञा दी है।[३] इस प्रकार स्पष्ट ही उसकी उत्पत्ति पिता-परमात्मा से मानी है। लेकिन साथ ही उसका यह कथन है, कि पुत्र के बिना पिता की कोई स्थिति नही, क्योंकि पुत्र ही अनुभूति द्वारा पिता ब्रह्म को अपने अन्दर उद्भासित करता है। इस प्रकार जीव का उत्पादक ब्रह्म को बताते हुए भी दोनो मे वह अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित करता है, क्योंकि यदि जीव ही ब्रह्म को अनुभव कर उसकी सत्ता ही न स्थापित करे, तो उत्पादक ब्रह्म का क्या महत्त्व ? पुनः देहधारी होने के कारण जीव की देह में ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया है, यह तो हम ऊपर उसके सर्वव्यापक एवं सर्वान्तिर्यामी होने में ही देख आए है, जहाँ उसने ब्रह्म को 'घट घट निवासी' कह कर पुकारा है तथा अष्टधातु से बने हुए जीव के शरीर मे उसकी स्थिति मानी है।[४] उत्पादक होने के कारण ही ब्रह्म को जीव का स्वामी कहा है तथा जब जीव स्वामी को पहिचान लेता है, तभी वह मुक्त और स्वतंत्र होकर उसे प्राप्त कर लेता है।[५] क्योंकि 'God known is no god and god realised is no more a god.'

इस प्रकार जीव तो सब प्रकार से अपने स्वामी के ही आधीन है और एक-मात्र स्वामी ही उसको भव-पार लगा सकता है, अन्य कोई नहीं, यह भी स्पष्ट है। इसीलिए जीव दीन होकर उसके सामने भिन्न-भिन्न रूपों मे उपस्थित होता है। यह ठीक है, कि संसार में सब प्राणी अपने ही कर्मो का फल प्राप्त करते हैं, फिर भी जीव तो ब्रह्म के सामने भिखारी रूप में ही उपस्थित है, और वह है सर्वसमर्थ दानी।[६] इस प्रकार दोनों में भिखारी और दाता का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। अपने जन्म आदि के लक्ष्य पर कभी ध्यान न देने के कारण उसका स्मरण होने पर जीव अपने दुर्गुणों को स्वीकार करता हुआ अपने आपको अपराधी मानता है। असंतों का साथ देने के कारण तथा काम, क्रोध, माया, मद तथा मत्सर आदि दुर्गुणों से पूर्ण होने के कारण जीव ब्रह्म के सामने दीन हो जाता है तथा उससे प्रार्थना करता है, हे दीन दयालु, कृपालु, भक्तवत्सल तथा भयनाशक भगवन् मेरे

१. ८५७ क०, ११।
२. ३३५ क०, ५५।
३. ६५५ क०, ६।
४. ३४४ क०, ७।
५. ३४० क०, ८।
६. ११६१ क०, १५।

रक्षक बन कर मुझे सेवक बना लीजिए। इस प्रकार प्रभु से सेव्य-सेवक सम्बन्ध स्थापित करता है।[१] अपनी इन्द्रियो को बस मे करने पर जीव माया और ब्रह्म के साथ समान रूप से रमण करेगा। ऐसी अवस्था मे वह ब्रह्म से समरूप होकर रहेगा, न कभी घटेगा और नही बढेगा—इस प्रकार अपने आपको बस में करनेवाले जीव की ब्रह्म से समता स्थापित की है।[२] इतना ही नहीं, जब इन्द्रिय-सयमी जीव उत्कृष्ट भक्त मे परिणत होता है, तो कबीर पूछता है, कि भक्त का मन बडा है या वह ब्रह्म जिसमे मन अनुरक्त है ? 'रामु बड़ा कै रामहि जानिआ' उत्पादक ब्रह्मा बड़ा है या ब्रह्मानुभूत जीव ? इस प्रकार कबीर उत्कृष्ट कोटि के भक्त को ब्रह्मा से छोटा नही समझता—इसीलिए तो भक्त और ब्रह्म का झगडा होने पर उसे हार माननी पड़ती है। भक्त की रक्षा के लिए उसकी पुकार सुन उस साकार रूप धारण कर जाना पडता है, यही हे भक्त की ब्रह्म पर विजय और उसका बडप्पन।[३] इस प्रकार महान् ब्रह्म के सम्मुख भी कबीर जीव की महानता दिखाने मे नही चूकता। समरूप देह-धारी जीव ब्रह्मानुभूति का प्रयत्न करता है। शरीर के माध्यम से और ब्रह्म-परिचय से उसकी अनुभूति प्राप्त की जा सकती है और एक बार ब्रह्मानुभूति होने पर तल्लीनता की आवश्यकता है तथा तल्लीनता के बाद ससार मे दूसरी बार जन्म नहीं होता। इस प्रकार जीव अपनी सत्ता ही ब्रह्म मे विलीन कर देता है।[४] संसार और उसी की भाँति जीव की असारता एवं अस्थिरता बताते हुए कहता है कि वह उत्पन्न होता है, विकसित होता है और पुन: उसी में लीन हो जाता है। इस प्रकार आँखों देखते ही यह संसार समाप्त होता जाता है।[५] प्रभु का विचार करने वाले को मृत्यु की कल्पना भी नहीं खा सकती और वह 'आदि पुरुख मँहि रहै समाइ।'[६] जीवन की बत्ती सूख गई और तेल समाप्त हो गया। प्राणों का बाजा बजना भी बन्द हो गया। जीवात्मा सो गई। देह में उसकी ज्योतिरूपी अग्नि बुझ गई तथा धुँआ भी नहीं निकला। तब देह के नाश होने पर जीवात्मा परमात्मा मे मिल गया, अब कोई दूसरी वस्तु नहीं रही। इस प्रकार तार के टूटने पर दबाव नही बजता अर्थात् साँस के समाप्त होने पर शरीर का भी नाश हो ही जाता है। इसीलिए जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है।[७] सभी सांसारिक सम्बन्धों को असत्य बताते हुए कबीर कहता है कि न तो इस जगत मे हमारा ही कोई है और न हम ही किसी के। अत: इस सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता में ही हम जा मिलेंगे।[८] जब मन में उत्पन्न होने तथा नष्ट होने का विचार ही न आएगा। इस प्रकार मन अपनी स्वाभाविक मनोवृत्तियों मे लीन होगा। ऐसी अवस्था मे भगवत्कृपा से जीवात्मा परमात्मा मे मिल जाएगा और जलपूर्ण यह घडारूपी देह नष्ट हो जाएगा—तभी मन का 'शून्य' मे

---

१. ९७० क०, ८।
२. ३४३ क०, ७६।
३. ३३१ क०, ४२।
४. ३५२ क०।
५. ३२५ क०, ११।
६. ३४३ क०, ७६।
७. ४७८ क०, ११।
८. २१४ श्लोक।

लीन होना समझ जाएगा और यह तल्लीनता ही दोनों मे ऐक्य स्थापित कर देगी ।[१] दोनो के इस ऐक्य सम्बन्ध को कबीर अन्याय उदाहरणों द्वारा एक दम स्पष्ट कर देता है। समुद्र के जल मे जल की भाँति तथा 'नदी तरग' की भाँति ब्रह्म जीव का ऐक्य हो जाएगा ।[२] इतना ही नही, जीवात्मा रूपी शून्या परमात्मा (शून्य) में मिल कर पवन के सदृश सूक्ष्म और अदृश्य हो जाएगा तब इस ससार में पुनरागमन न होगा, क्योकि उसी के आदेश से तो पुनर्जन्म होता है, जब उसी मे मिल कर अभेद्य, अज्ञेय एवं अदृश्य ऐक्य हो जाएगा—फिर पुनरागमन किसका और कैसा ? इधर इस प्रकार के ऐक्य से कबीर ने जीव की सत्ता ही (मृत्यु के बाद) समाप्त कर दी। दूसरी ओर वह कहता है कि अनाहत नाद के निरन्तर रात-दिन बजने पर अर्थात् अत्यधिक एव सतत् अन्तः अनुभूति होने पर—तीनों लोकों का अदृश्य स्वामी दृष्टि-गोचर होता है—और तब 'अचरजु भइया' 'क्या जीव ते सीउ' कि जीव स्वयमेव ब्रह्म मे परिणत हो गया ।[३] प्रारम्भ में एक स्थान पर कबीर ने स्पष्ट ही कहा है, कि पुत्र रूपी आत्मा पिता रूपी परमात्मा को अनुभूति के द्वारा उद्भासित करता है, वहाँ आत्मा को ब्रह्म का उत्पादक मान लिया है, क्योकि एक की अनुभूति के बिना दूसरे की सत्ता का कोई महत्त्व नही, लेकिन यहाँ अनुभूति का चरम होने पर जीव स्वतः ही ब्रह्म में परिणत हो जाता है और तब ससार मे अनेक रूपो में प्रकट होकर भी एक ही रूप मे रहनेवाले एक-मात्र ब्रह्म का ही अस्तित्त्व रह जाता है, और जीव की न कोई स्थिति ही रहती है और न ही सत्ता, और 'तब ओही ओहु एहु न होई ।'[४]

इस प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हो, उसे स्वामी अतः कृपालु एव दयालु रूप मे स्वीकार कर—उसकी अनुभूति कर जीव उसकी समता और बड़प्पन का दावा करता है—इतना ही नही, पुनः देह के नष्ट हो जाने पर उसी मे विलीन हो जाता है तथा अभेद्य ऐक्य स्थापित कर लेता है और कभी स्वतः ही ब्रह्म मे परिणत हो जाता है, कुछ भी हो, अन्त में जीव की पृथक् कोई सत्ता नहीं रहती और एक-मात्र ब्रह्म की ही सत्ता सर्वत्र व्यापक होती है ।

ब्रह्म-कबीर-सम्बन्ध

यह ठीक है कि कबीर स्वतः भी आत्मा का ही रूप है, अथवा जीव रूप में हमारे सम्मुख है, लेकिन सामान्य जीव से ब्रह्म का जो सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, व्यक्तिगत रूप से अनुभूति के आधिक्य के कारण भक्त अपना सम्बन्ध अधिक निकट का स्थापित कर पाता है। अतः ब्रह्म से जीव का सामान्य सम्बन्ध रखने के बाद भी हमे कबीर अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध से परिचित कराना आवश्यक ही समझता है। लौकिक माँ के अभाव में सुखदायक शैय्या तथा अमृतमय भोजन देने-वाले पिता ब्रह्म को कैसे भुला सकता है, जिसके आश्वासन से ही उसे जीवन मे

---

१. ४७५ क०, १ । २. ११०३ क०, ४ ।
३. ३४४ क०, १३ । ४. ३४३ क०, ४२ ।

सफलता-प्राप्ति का विश्वास है। इसी उत्पादक पिता (ब्रह्म) की बलिहारी जाता है, जिसने न केवल मां के अभाव को ही दूर किया है, बल्कि बिना अंगरखी के सर्दी भी नही लगने देता तथा पॉच इन्द्रियों से भी जिसने रक्षा कर रखी है। महान् पिता की इन महानताओं का ज्ञान होने पर ही वह उसे मिलना चाहता है अतः उसी से प्रार्थना करता है, 'हे पिता! मै तुम्हारा पुत्र हूँ और तुम मेरे अच्छे पिता हो'—अपने से मिलने के लिए मुझे सत्गुरू मिला दो, जो आप से मिलने का मार्ग दिखा दे। इस प्रकार ब्रह्म को उत्पादक एव पालनहारा स्वीकार करता हुआ उसकी महानता का आभार प्रदर्शन करता है।[1] अन्यत्र ब्रह्म को कहता है, कि माँ अपने पुत्र के अपराधो को क्षमा कर देती है। 'रामईआ हउ बालकु तेरा',[2] तुम शीघ्र ही मेरे अपराधों को क्षमा कर; मेरे अवगुणों को नाश कर; मुझे सत् मति क्यों नही देते ? इस प्रकार बालक कबीर पोषक ब्रह्म से अपने को सत्पथ पर ले जाने के उसके कर्त्तव्य का स्मरण कराता हुआ तथा अपनी अबोधता का परिचय देकर उस पर अपनी पूर्ण निर्भरता जतलाता है। उस पर पूर्ण निर्भर होकर भी जब वह देखता है, कि माया से बच कर नही जा पा रहा है, तो दीनता से पुकारता है, हे सर्वव्यापी ब्रह्म! तुम जैसा दयालु कोई नही और मुझ जैसा पापी। अत. उद्धारक ब्रह्म मुझ महापापी का उद्धार करो; क्योंकि मै हूँ तो तुम्हारा ही।[3] पुनः भगवान को अपनी पहचान कराता हुआ कहता है, कि तुम जिसके स्वामी हो, वह दास कबीर मैं ही हूँ, अतः कृपा-दृष्टि डाल उद्धार कर दो।[4] इस प्रकार ब्रह्म के नाम को ही आधार बना कर कबीर कहता है, यदि अब भी माया से मेरा बधन नही छुडाते हो तथा भवसागर से पार नही लगाते हो, तो मुझे कोई चिन्ता नही, क्योंकि मै तो तुम्हारा और तुम्हारे घर का ही दास हूँ; चाहे मारो चाहे जिलाओ, तुम्हारी इच्छा पर ही निर्भर है।[5] लोदी ने कबीर को अनेक कष्ट दिए थे, कबीर ने अपने पदों में भी इसका वर्णन किया। शृंखलाबद्ध कबीर को कुचलने के लिए मत्त हाथी छोड़ दिया गया, महावत उसे कबीर की ओर दौडाता है, लेकिन कबीर को स्वामी की शक्ति पर विश्वास है और फिर वह तो हाथी मे भी स्वामी ब्रह्म को ही देखता है, अतएव कुचलने के स्थान पर हाथी आकर उसे नमस्कार करता है। तब कबीर पुकार उठता है कि हमारा स्वामी तो ब्रह्म है, वही रक्षक है। इसीलिए भक्त को संसार मे भय रहता ही नही, सदा उसी में अपने आपको लीन रखता है। इस प्रकार दास कबीर को अपने रक्षक स्वामी पर अनन्य विश्वास है।[6] घटना मे ऐतिहासिक सत्य कितना है, हमारा उससे सम्बन्ध कम और उसके साहित्यिक सत्य तथा उसके परिणाम से ही अधिक सम्बन्ध है। वह भक्त—दास कबीर के रक्षक ब्रह्म में अनन्य विश्वास को स्पष्ट करता है। मत्त हाथी जब कबीर का कुछ न बिगाड़ सका. तो कहते है, उसे जंजीर से बॉध कर गंगा में डुबाने

---

१. ४७६ क०, ३। २. ४७८ क०, १२।
३. ८५५ क०, ३। ४. ३३८ क०, ६६।
५. ३३८ क०, ६१। ६. ८७० क०, ४।

का असफल प्रयत्न किया गया था। उसी का उल्लेख करते हुए कबीर ने कहा है, कि जंजीर को तो पवित्र गंगा की लहर ने तोड दिया, वह मृगछाया पर बैठा हुआ दिखाई दिया। वे कहते है, उनका संसार में तो कोई साथी नही, केवल एक-मात्र ब्रह्म (प्रभु) ही उनका स्वामी है, 'जो जल, थल राखत है' और उसी पर उनको अनन्य विश्वास है।[1] इस प्रकार दास कबीर तो स्वामी में तल्लीनता रूपी मद से मतवाला है, उसे लोक की कोई परवाह ही नही और तब अपने आप को शरणागत और ब्रह्म को शरणदाता रूप में उपस्थित करता है। ब्रह्म तो मेरु के समान महान् स्थिर शरण-दाता है, न वही अस्थिर होता है और इस कारण न हमारा ही पतन सम्भव है, क्योंकि उसकी शरण में रहते हुए तो किसी के पतन की आशका ही नही।[2] उसी ने सदा सर्वत्र कबीर की रक्षा की है तथा उसी की कृपा से वह सब प्रकार से सुखी है। इस प्रकार सेवक के रूप मे वह अपने आपको कुत्ते की भाँति कृतज्ञ दर्शाते हुए कहता है, कि 'मुतिआ मेरो नाउ' है और 'गले हमारे जेवरी जहँ' खिचै तह जाउ।[3] इस प्रकार दास और सेवक रूप मे भी कबीर भगवान का ही अनन्य बन जाता है, इसी-लिए तो उसे भी अपने उत्पादक, पोषक एवं रक्षक ब्रह्म मे पूर्ण विश्वास है और इसी विश्वास के कारण ही उसने पूर्ण निर्भरता के साथ-साथ पूर्ण आत्मसमर्पण भी कर दिया है। पूर्ण आत्मसमर्पण के बाद भी कहता है कि उसने ससार में अनेक शिष्य एवं सम्प्रदाय बनाए, लेकिन ब्रह्म को उसने अपना मित्र भी न बनाया, इस प्रकार हरि मिलन के लिए चलते हुए मार्ग में—ससार मे ही अटक गए। पहले के दास एवं सेवक कबीर को ब्रह्म से मैत्री सम्बन्ध स्थापित न कर सकने का दुख है।[4] अन्य लौकिक उदाहरणों से अपने सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए कहता है, ब्रह्म यदि 'तूं जलनिधि' है, तो मै 'जल का मीन' होते हुए भी जलरहित अर्थात् संसार मे रह कर भी संसार से निर्लिप्त जीव। ब्रह्म तू पिजडा है तो मै पिजड़े मे रहनेवाला पक्षी। फिर यम रूपी बिलाव मेरा बिगाड ही क्या सकता है?[5] और यदि तू वृक्ष है तो मै वृक्ष पर रहनेवाला पक्षी। इतना निकट सम्बन्ध होते हुए भी मुझे दुःख है कि मै तेरे दर्शन नही कर पाता। इसीलिए तो ब्रह्म यदि तू सत्गुरू है, तो मै तेरा नित्य सच्चा शिष्य। तब ब्रह्म से प्रार्थना करता है, कि इतने घनिष्ट होने के बाद तो हे ब्रह्म! कम से कम मुझे दर्शन दे दो? इन सब निकट सम्बन्धो के होते हुए भी न मिलने-वाले ब्रह्म से कबीर और निकट का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।[6] वह स्त्री रूप धारण कर ब्रह्म की पत्नी बनने को तत्पर है, इसीलिए कबीर कहता है, कि अपने तन और मन को सुगधित पराग-कणो मे परिणत कर; शरीर के अंश पाँचों तत्त्वों को बराती बना लूँगी और तब राजा राम के साथ भाँवर लेकर विवाह कर लूँगी; क्योंकि उसी में ही मेरी आत्मा रगी हुई है। राम-'दाशरथि' नही है, यह वही राम है,

१, ११६२ क०, १८। २. ६६६ क०, २।
३. ७४ श्लोक। ४. ६६ श्लोक।
५, ६. ३२३ क०, २।

जिसने वेदों के निर्माता ब्रह्मा का भी निर्माण किया है। इस अवसर पर सब मुनिजन और देवता आए, वह अपना कितना अहोभाग्य समझती है, कि इतने बड़े राम को उसने पति रूप में पाया है और वे एकेश्वर ब्रह्म विवाह करके उसे साथ ले चले।[१] अब तो कबीर 'हरि मेरो पिउ हउ हरि की बहुरिया' बन चुका है। तो पत्नी विश्वास के साथ कहती है, कि हरि ही मेरे प्रियतम हैं और मैं ही उनकी पत्नी। वे कुछ बड़े है और मैं कुछ छोटी। एक ही शैय्या पर सोकर भी, एक साथ रह कर भी, अभी उन्हें पूर्णतया प्राप्त नही कर सकी, इस बात का उसे दुःख है, लेकिन उसे विश्वास है, (क्योंकि एक-मात्र वही भगवान को प्रिय है) कि अवश्य धीरे-धीरे वह ब्रह्म में ही लीन हो जाएगी और ऐसी अवस्था में उसे संसार में पुनरागमन की आवश्यकता नही रहेगी[२]। इसी विश्वास की पूर्णता के लिए वह पति से प्रार्थना करती है, कि हे प्रियतम ! मेरी बात सुनो। आरे से अपने को कटवा लेना अच्छा है लेकिन मेरी ओर से इस प्रकार मुँह फेर लेना अच्छा नही। स्त्री-सुलभ प्रेम-प्रदर्शन करती हुई कहती है, कि मै तेरे गले लगती हूँ, तू इस प्रकार मेरे से मुख फेर कर उदासीन न हो। पुनः अपने पतिव्रत का विश्वास दिलाती हुई कहती है कि यदि तू मेरा शरीर भी चीर दे, तो भी मै अपना अंग न मोड़ूँगी तथा यदि मैं 'सगभाँ' अर्थात् 'सहज' ज्ञान को भी प्राप्त कर लूँ तो भी हे प्रियतम ! तुमसे प्रेम न तोड़ूँगी। इस प्रकार हमारे तुम्हारे बीच कोई नहीं आ सकता। क्योंकि 'तुमहि सुकंत नारि हम सोई'।[३] इसलिए इस प्रकार मुझसे उदासीन होकर मुँह मोड़ने का कोई कारण नही। ब्रह्म मे अपने विश्वास को दृढ करने के लिए कबीर अपनी लौकिक पत्नी लोई मे अविश्वास प्रकट करता है, क्योंकि वह स्वयं ही पत्नी बन गया है, फिर उसे पत्नी की आवश्यकता ? इस प्रकार कबीर ने दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित कर उसके निकटतम आ उसमें ही लीन होने अथवा रम जाने की तैय्यारी कर ली। इसी विचारधारा मे भारतीय रहस्य-वाद की झलक दिखाई देती है, जिसमें आत्मा पत्नी रूप धारण कर ब्रह्म को पति रूप में स्वीकार कर उसकी ओर बढती जाती है और धीरे-धीरे ऐक्य स्थापित कर उसी में विलीन हो जाती है।

जहाँ कबीर ने उत्पादक ब्रह्म को पिता रूप मे स्वीकार किया, पुनः उसी का सेवक बन गया और तब कहता है, कि मै तो अपने पिता के साथ एक ही स्थान पर निवास करता हूँ और वस्तुतः सत्गुरू-कृपा से वह कहता है कि मैंने तो अपने और पिता को एक ही समझ रक्खा है। इसी प्रकार अपना ब्रह्म से निवास-ऐक्य स्थापित करता है।[४] आत्मा के सार और शब्द तत्त्व को अनुभव करने के कारण कबीर कहता है, मैं गोविन्द के चरण-कमलों के रग में रंग गया हूँ।[५] इतना ही नहीं आगे स्पष्ट ही कहता है, कि गुरू ने कृपा कर मेरा तम-मन सभी हर लिया है।[६] इस प्रकार मुझे

१. ४८२ क०, २४। २. ४८३ क०, ३०।
३. ४८४ क०, ३५। ४. ४७६ क०, ३।
५. ३८३ क०, ७६। ६. ६५५ क०, ४।

संसार में वास्तविक जीवन-प्रदाता मिल गया है, और उसी के रंग में मैं पूर्णतया रंग गया हूँ। सत्गुरू कृपा से राम के गुण-गान के कारण उसी मे रंग मै पागल हो गया हूँ।[१] कबीर कहता है, हे भगवन्! 'देहि विमल मति सदा सरीरा' जिससे मैं स्वाभाविक रूप से ही तुम में रमण करूँ।[२] इतना ही नही वह स्पष्ट ही कहता है, कि मेरे प्राण तो उसी ब्रह्म में निवास करते हैं, जिसके गुण गाते-गाते शिव और सनक आदि थक जाते है।[३] इस प्रकार संसार में कौन किसका स्वामी रह जाता है और कौन किसका सेवक? मेरी तो ब्रह्म मे ही निरंतर लव लग गई है और मैं तो दिन-रात वहीं निवास करता हूँ।[४] अतः संसार को बताता है, कि झूठी माया ने तो सारे संसार को बाँध रखा है, एकाकी मै ही राम में रमण करने के कारण अनंत सुख को प्राप्त कर रहा हूँ।[५]

कबीर कहता है, जोगी 'गोरख' को पुकारता है, हिन्दू 'राम-नाम' का उच्चारण करता है और मुल्ला 'खुदा' को बांग देता है, लेकिन कबीर का स्वामी तो उसी में लीन है, इसीलिए कबीर अपने स्वामी अथवा ब्रह्म मे ही लीन है, उसे संसार से कोई मतलब नही।[६] इतना ही नहीं, आगे वह स्पष्ट कहता है, कि दाता एवं दयालु! तुम्हारी शरण में कबीर पूर्णतया लीन हो गया है[७] और आगे बढ़ कर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को समझा कर कहता है, कि मैं तो उस एक स्वामी पर दीवाना हो गया हूँ और इसीलिए मेरा मन चोरी-चोरी उसी में लीन हो गया है—इस प्रकार कबीर अपना पृथक् अस्तित्त्व रख ही नही पाता—क्योंकि आनन्द तो तल्लीनता में ही है—वही सत्य है, और है चिरंतन एव शाश्वत।[८] इस प्रकार काशी के बाह्याडम्बरी ब्राह्मणों को काशी व मगहर मे मृत्यु के महत्त्व के अभेद को बताता हुआ कहता है कि जीवन में उसमे रमण करके सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है, लेकिन उसे अपनी भक्ति पर विश्वास है, कि वह इतनी ओछी नही कि काशी मे ही मृत्यु होने पर वह ब्रह्म को प्राप्त कर सके, लेकिन वह तो मगहर में भी मर कर ब्रह्म में रमण करता है।[९] इस प्रकार कबीर उसके साथ निवास करता है—जीवित उसके रंग में रंगने का प्रयत्न करता है, पुनः उसमे ही रमण कर सुख और आनन्द की प्राप्ति करता है तथा मृत्यु के बाद तो वह पूर्णतया उसी मे रम जाता है, इस प्रकार उसका अपना अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाता है और वह उसी में एकाकार हो जाता है, इसी ऐक्य का विस्तार में वर्णन कबीर ने अन्यान्य स्थानों पर किया है। कबीर ब्रह्म को कहता है कि मुझ मे मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं, जो कुछ है वह तेरा ही है, अतः 'तेरा तुझ कउ सउपते किआ लागै मेरा'।[१०] इस प्रकार अपने 'स्वत्त्व' का

---

१. ८५५ क०, २।
२. ४७८ क०, १२।
३. ३३६ क०, ७४।
४. ३३४ क०, ५२।
५. ४८२ क०, २५।
६. ११५६ क०, ११।
७. ११६१ क०, १५।
८. ११५८ क०, ४।
९. ३२६ क०, १५।
१०. २०३ श्लोक।

अभाव अनुभव कर वह अपने आपको ब्रह्म को सौपने को तत्पर है। भारतीय सती की भाँति जब हाथ में सिंधौरा (सती होने समय पति से सदा मिले रहने का चिह्न) ही ले लिया फिर भय का क्या काम ? अर्थात् जब ब्रह्म पर पूर्ण विश्वास लाकर कबीर ने पूर्ण आत्मसमर्पण कर ही दिया, तब संसार की क्या चिन्ता ।[१] शरीर में ही राम को पहचान लेने पर कबीर ने अपना शरीर रूपी करघा तोड़ दिया और जुलाहे ब्रह्म के सूत में अपना प्राण रूपी सूत मिला लिया है—इस प्रकार दोनों में कोई भेद नहीं रहा ।[२] इतना ही नहीं, सत्य का ज्ञान होने पर कबीर को हरि रूपी धन मिल गया है, जिसके मिलने पर 'हरि भेटत आपु मिटाइआ'[३] इस प्रकार कबीर बताता है, किस प्रकार सत्य ब्रह्म का ज्ञान होने पर उसे पूर्ण आत्मसमर्पण कर अपनी सत्ता मिटा दी तथा पूर्ण ऐक्य के बाद केवल उसी की सत्ता को अनुभव करने को तत्पर है । प्रभु से मिल कर एक होने मे 'नाम' को महत्व देते हुए कबीर कहता है, कि गुरू से दीक्षित होकर अपने को और प्रभु को एक ही करना है ।[४] पुनः एक ही साथ निवास होने के कारण वह कहता है, मैने तो अपने को तथा प्रभु को एक ही समझ रक्खा है ।[५] स्वामी पूर्णतया उसके प्राणों में निवास करते है अतः उसी के प्रभाव से उसने शैव एवं शाक्त दोनों के सिद्धान्तों का खण्डन करके अपनी आत्मा में 'सहज' भाव प्रकाशित कर लिया है और तब पूर्णतया एक ही ब्रह्म मे लीन हो गया है ।[६] इसीलिए तो कबीर को अब उस मृत्यु का डर नही 'जिस मरनै ते जगु डरै' बल्कि उसे तो मृत्यु से आनन्द ही मिलता है, क्योकि 'मरने ही ते पाइये पूरनु परमानन्दु' ।[७] इस प्रकार जिस ब्रह्म की खोज में वह एक युग से था, उसी को उसने प्राप्त कर लिया—अब उसे किसी बात की चिन्ता नही ।[८] अब तो ब्रह्म और कबीर मिल कर इस प्रकार एक हो गए है, कि उनकी भिन्नता को कोई पहचान ही नही सकता ।[९] जिस प्रकार ओला गल कर पानी मे परिणत हो—पानी मे ही मिल जाता है, उसी प्रकार कबीर का ब्रह्म से ऐक्य हो गया है ।[१०] इसी बात की पुष्टि करते हुए कहता है कि जो सेवक थोड़ा-सा भी भक्ति-भाव को जानता है, उसे मृत्यु से क्या डर ? 'जिउ जलु जल महि' मिल कर अलग नही हो सकता, उसी प्रकार कबीर ब्रह्म मे ढुलक कर—एकरूप हो गया है ।[११] इतना ही नही, ब्रह्म को जान लेने के बाद ही मुझे संतोष नही हुआ—जानने के बाद मेरी आत्मा का तेज परमात्मा रूपी महातेज में मिल गया---तभी मुझे संतोष हुआ । इस प्रकार कबीर और उसकी आत्मा इस रूप में ब्रह्म से ऐक्य सम्बन्ध स्थापित कर चुकी है, कि न तो उनके भेद को जाना ही जा सकता है और नही

१. ७१ श्लोक ।
२. ९७१ ब० १० ।
३. ६५५ क० ६ ।
४. ८७२ क० १ ।
५. ४७६ क० ३ ।
६. ३३१ क० ७४ ।
७. २२ श्लोक ।
८. ८७ श्लोक ।
९. ९६९ क० ३ ।
१०. १७७ श्लोक ।
११. ८७० क० ३ ।

उनकी पृथक् सत्ता ही अनुभव की जा सकती है।[1] यह ऐक्य ही सम्भवतः उसके जीवन का चरम लक्ष्य है। लेकिन कबीर का ब्रह्म रूप तो इतना ही नही, इससे भी आगे है। ब्रह्म से इस प्रकार के ऐक्य के बाद उसे अपने हृदय और प्रियतम में ही भेद का ज्ञान नही रहता और वह पूछता है, कि मेरे हृदय में प्रियतम है अथवा हृदय ही प्रियतम में निवास करता है, क्योंकि मुझे तो दोनों की अलग-अलग पहचान ही नहीं होती और उसका संदेह यहाँ तक बढ़ जाता है, कि वह अपने से ही पूछता है, कि 'घट महि जीउ कि पीउ'।[2] वस्तुतः ऐक्यानुभूति की तीव्रतम अवस्था जो वेद, पुराण तथा ज्ञान से दूर और बहुत दूर केवल कबीर जैसे अनन्य भक्त या संत को अनुभव हो सकती है, कबीर के इस दोहे में स्पष्ट है। अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कबीर कहता है, न मैंने कुछ किया है और नही कर सकता हूँ, लेकिन न जाने उस ब्रह्म ने क्या किया जिससे मै (कबीर) कबीर (महान्=ब्रह्म) हो गया हूँ।[3] कबीर अनजाने मे ही उसकी कृपा से ब्रह्म में परिणत हो जाता है। जिसका उसे स्वयं आश्चर्य है। कबीर ब्रह्म को कहता है, कि तेरे ध्यान में 'तूँ तूँ करता तूँ हुआ' और न जाने कब मेरा अपना अस्तित्व लुप्त हो गया तथा मैं केवल 'तूँ' मे ही परिणत हो गया हूँ। इस प्रकार 'अपना' और 'पराया' मिटने पर मुझे केवल 'तूँ' ही 'तूँ' दृष्टिगोचर होता है।[4] इस अवस्था पर पहुँच कर वस्तुत कबीर इतना अनुभूति-प्रधान हो जाता है, कि उसे केवल-मात्र ब्रह्म की ही सत्ता अनुभव होती है—अपनी भी नही। जिस प्रकार अन्य नदी-नद गगा के साथ मिल कर गगा बन कर उस जैसे ही पवित्र हो जाते है, उसी प्रकार बिगड़े हुए कबीर 'रामै होइ निबरिओ'[5] और अब कबीर को पूर्ण विश्वास हो गया कि ऐ कबीर, तू ही ब्रह्म है और तेरा नाम ही कबीर अथवा ब्रह्म है।[6] इसी मे वेदो के 'तत्त्वमसि सिद्धान्त का दर्शन होता है—वस्तुतः यही सिद्धान्त मतों में 'सोऽहम् के रूप मे अधिक प्रचलित हुआ—ब्रह्म से ऐक्यानुभूति करने के लिए सत परम्परा मे चले आनेवाले बहुत से सम्प्रदायों का आज तक भी यही गुरु-मन्त्र है। ऐसे ही एक सम्प्रदाय का क्रिया-कलाप देखने का हमें अवसर प्राप्त हुआ (श्री आनन्दपुर साहब, जि० गुना, ग्वालियर के पास) उनका भी यही गुरु-मन्त्र है. तथा मान्यताओं को भी विकृत सत मत कहा जा सकता है—क्योंकि आधार अनुभूति न रहने के कारण तथा ज्ञान का अभाव होने के कारण न तो उच्चवर्गीय समाज को प्रभावित कर पाते है और न ही सन्तुष्ट। इतना होते हुए भी भिन्न वर्ग के अशिक्षित समाज तथा श्रद्धापूर्ण नारी-जगत् में उनका पर्याप्त मान व प्रचार है।

इस प्रकार ब्रह्म से निरन्तर निकटतम सम्बन्ध स्थापित करनेवाला कबीर स्वतः ही ब्रह्म में परिणत हो—एक-मात्र ब्रह्म बन कर—शंकर के केवलाद्वैत मत की

१. ८५७ क० ११। २. २३६ श्लोक।
३. ६२ श्लोक। ४. २०४ श्लोक।
५. ११५८ क० ५। ६. ३१ श्लोक।

ही—तर्काधारित दार्शनिक बन कर नहीं, अपितु अनुभूत्याधारित भक्त बन कर—पुष्टि करता है।

इस प्रकार आत्मा, जीव व कबीर के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध दिखाने पर सभी सांसारिकों से उसके सम्बन्ध स्पष्ट हो जाते है, फिर भी गुरू तथा भक्त और संत को उसने कही-कहीं आत्मावान् होते हुए भी—तथा जीव कोटि में स्थान रखते हुए भी विशिष्ट कोटि में माना है, क्योंकि आत्मा या जीव तथा ब्रह्म के ये संयोजक है—प्रयत्नशील को साध्य की ओर ले जाने में ये साधक की कड़ी का काम करते है, अतः उनकी अपनी पृथक् सत्ता है, इसीलिए ब्रह्म से आत्मावाले सम्बन्ध होकर भी उनसे कुछ पृथक् सम्बन्ध भी है और तब जीव की दृष्टि में साधन और साध्य का परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि यह विषय विस्तृत नही, पर इसका महत्त्व आत्मा एवं जीव खण्ड से कहीं अधिक है।

प्रयत्नपूर्वक नश्वर शरीर के असफल रक्षक जीव को कबीर कहता है कि यह प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि भगवत्प्राप्ति के बिना इसकी रक्षा का कोई महत्त्व नही—और भगवत्प्राप्ति सत्गुरू बिना सम्भव नहीं—तथा सत्गुरू की प्राप्ति की इच्छा जब तक जीव में न हो, तब तक तुम्हें सत्गुरू के दर्शन भी नहीं हो सकते।[1] इसी विचार को अन्यत्र पुष्ट करते हुए कहता है कि जब ब्रह्म की कृपा होती है तब ही सत्गुरू मिलते हैं, अर्थात् कृपालु ब्रह्म ही उन्हें मिलानेवाले सत्गुरू को मिलाते है।[2] इस प्रकार यह सम्बन्ध अन्योन्याश्रय बन जाता है, क्योकि जब तक हरि की कृपा नही, तब तक गुरू की प्राप्ति नहीं और जब तक गुरू की प्राप्ति नहीं तो हरि की प्राप्ति नहीं, क्योंकि 'गुरू परसादी धनु पाइआ।[3] अतः दोनों ही की कृपा आवश्यक है। इसीलिए उसने एक स्थान पर स्पष्ट ही कहा है, कि हृदय के विशुद्ध चक्र में हरि का निवास है, उसी मे गुरू को मिला कर दोनों को सम भाव से जानना चाहिए।[4] लेकिन इन्हीं संतों की अनुभूति जब तर्क में परिणत हुई तो 'ग्रंथ' के बाहर कबीर का यह पद—

गुरू गोविंद दोनो खड़े, काके लागूँ पाँव।
बलिहारी तिन गुरू की, जिन गोविन्द दियो दिखाय॥

हमें उनकी विवेचनात्मक बुद्धि का परिचय देता है, जहाँ गुरू को गोविन्द से भी महान् बताया है क्योंकि साध्य तो अपने आप में महान् है ही—लेकिन अगर हम उस तक न पहुँच सके तो हमारे लिए उसकी महानता का क्या उपयोग? इसीलिए तो वह साधन साध्य से भी महान् हो जाता है, जो साध्य की प्राप्ति कराता है। इसीलिए कबीर का गुरू गोविन्द से भी महान् है और गुरू को अत्यधिक महत्त्व सम्पूर्ण संत परम्परा में दिया गया है और आज भी दिया जाता है। यद्यपि राधास्वामी आदि कुछ सम्प्रदायों में गुरू की पीक को पीना तक इसी गुरू के महत्त्व के लौकिक

१. ११२४ क० ४। २. ८७२ क० ७।
३. ८७१ क० ६। ४. ३४५ क० ७।

विकार का चरम है, तो भी सद्गुरू का महत्त्व हम कम नहीं कर सकते ।

भक्त और संत से ब्रह्म का सम्बन्ध निर्धारित करते हुए उन्हें उत्कृष्ट जीव कोटि में रखा गया है । इसीलिए ब्रह्म को भक्त का एक-मात्र रक्षक एवं उद्धारक बताया है, सांसारिक सम्बन्धी तो सर्प की भाँति जीव एवं भक्त के साथ लगे हुए है उनका एक-मात्र रक्षक तो ब्रह्म ही है ।[1] इस प्रकार वह हिरण्यकशिपु से भक्त प्रह्लाद की रक्षा एवं उद्धार करता है, इसका विस्तृत वर्णन पहले दिया जा चुका है, इसी प्रकार वह समय-समय पर भक्तों की पुकार सुन सदा ही उन्हें संकट से तार कर—उनका उद्धार करता आया है ।[2] यम को सर्वग्राही बताते हुए उसने कहा है, कि भक्त तो यम से भी मुक्त है क्योंकि वह तो ब्रह्म का साथी है, इस प्रकार उसने भक्त को ब्रह्म के तुल्य माना है और कहा है, कि ब्रह्म की तरह न वे कभी आते हैं, न जाते है, वे तो सदा ब्रह्म के साथ ही रहते हैं ।[3]

गोविंद की कृपा से ही संतों की संगति प्राप्त होती है, और वे संत ब्रह्म के समान सदा स्थिर रहते हैं, मृत्यु आदि का उन पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।[4] भगवान तो मुक्तिदाता ही है लेकिन संत तो और भी महान् है, क्योंकि वह ऐसे नाम का जप देता है, जो नाम-जप स्वत ब्रह्म को ही प्राप्त करा देता है ।[5] इतना ही नही आगे चल कर उसने कहा, कि कोई संतों की निन्दा न करे क्योंकि संत और ब्रह्म तो एक ही है, उनमें कोई भेद नही ।[6] इसीलिए सत की मृत्यु पर रोने की आवश्यकता नही, क्योंकि वह तो अपने आदि स्थान को जा रहा है—ब्रह्म से मिलने ।[7] शाक्त की तरह तो उसे अन्यान्य योनियों में भ्रमण नही करना है । इस प्रकार संत और राम में मृत्यु के बाद ऐक्य सम्बन्ध को स्थापित कर देता है ।

ब्रह्म-माया सम्बन्ध

सर्वप्रथम ब्रह्म को ही उस माया का उत्पादक कहा है, जो उत्पन्न होने के बाद जीव-जन्तुओं को जन्म देती है और उनको भवबंधन मे डाल देती है ।[8] संसार को मुझमें डालनेवाली माया ब्रह्म को ही अपना स्वामी बना लेती है तथा अन्यान्य देवताओं की उत्पत्ति का कारण बन बैठती है ।[9] माया का रूप स्पष्ट करते हुए कबीर ने कहा है, कि इस में तो ब्रह्माण्ड है न पिण्ड ही तथा न ही निर्माणकर्त्ता ब्रह्म स्वयं ।[10] इस प्रकार माया ब्रह्म निरपेक्ष है और दूसरी ओर माया तथा निरजन में समान रूप से रमण करनेवाला भक्त माया रहित ब्रह्म में समरूप हो जाएगा ।[11] इस प्रकार जहाँ एक ओर माया को ब्रह्म निरपेक्ष कहा है, वहाँ दूसरी ओर ब्रह्म को माया निरपेक्ष ।

१. १२५३ क० ३ । २. ११६४ क० ८ ।
३. ८५५ क० १ । ४. १२५२ क० २ ।
५. १६४ श्लोक । ६. ७६३ क० ५ ।
७. १६ श्लोक । ८. १० श्लोक ।
९. ११६४ क० ३ । १०. ३३४ क० ५२ ।
११. ३४३ क० ७६ ।

वस्तुतः माया इतनी ठगनी और भ्रमात्मक है, (जिसके रूप एवं कार्य का वर्णन अन्यत्र है) कि सम्पूर्ण जगत् को उसने पथभ्रष्ट कर दिया है, देवी-देवताओं को भी नहीं छोडा—कही ब्रह्म पर भी अपना जादू न डाल दे, अतः कबीर ने अपने ब्रह्म से उसका सब प्रकार का सम्बन्ध ही तोड़ दिया ।

ब्रह्म-सृष्टि सम्बन्ध

सृष्टि के विराट रूप का वर्णन अन्यत्र है । उस विराट रूप का स्रष्टा ब्रह्म ही है । सर्वप्रथम ब्रह्म ने प्रकाश की सृष्टि की—'अवलि अलह नूर उपाइआ' तब सम्पूर्ण प्रकृति और मानव-मात्र का निर्माण किया ।[1] भ्रम में पड़े जीवों को कहता है, जब एक ही प्रकाश से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति हुई, तो इसमें कौन अच्छा और कौन बुरा है ? और वस्तुतः सृष्टिकर्त्ता में ही सम्पूर्ण सृष्टि की स्थिति है तथा सम्पूर्ण सृष्टि मे वह सृष्टिकर्त्ता है, इस प्रकार दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध इतना दृढ़ कर दिया, कि एक दूसरे के बिना दोनों की कोई स्थिति ही नहीं । सृष्टि के निर्माता के रूप में—जिसका रहस्य किसी ने नहीं जाना उस प्रभु ने जुलाहे का रूप धारण कर सारे संसार में अपना ताना फैला दिया है । आकाश और पृथ्वी को उसने अपना करघा बनाया तथा सूर्य और चन्द्र को ढरकी—इस प्रकार कपड़ा बुनने के साधन बना लिए । यही उसके संसार के निर्माण की कहानी है तथा करघे और जुलाहे का सम्बन्ध ही—उसका सृष्टि से सम्बन्ध है ।[2] बावन अक्षरों और तीन लोकों में ही सम्पूर्ण सृष्टि का प्रसार है लेकिन धीरे-धीरे ये नष्ट हो जाएँगे केवल ब्रह्म जो इन अक्षरों में नहीं—कभी नष्ट न होगा । इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में उसे मान कर भी—इससे उसे निर्लिप्त ही माना गया है—तभी तो नश्वर जगत् से अनश्वर—अतः चिरंतन एवं शाश्वत ब्रह्म का भेद है ।[3] इसीलिए जीव को सचेत करता हुआ वह स्पष्ट ही कहता है, कि केवल राम ही सत्य है तथा यह समस्त जगत एक प्रपंच-मात्र—केवल भ्रम और धोखा है, इसकी कोई सत्ता नहीं ।[4]

वस्तुतः कबीर का ज्ञान अनुभूत्याधारित है । संसार में सभी की स्थिति को यथास्थान वह अनुभव करता है, लेकिन ज्यों-ज्यों उसमें ब्रह्मानुभूति बढ़ती जाती है, वह भ्रम रूप संसार को अधिक स्पष्ट रूप में देखता है और इसकी असारता एवं नश्वरता का संसार को भी बोध कराता है और स्वतः उस ब्रह्म में तल्लीन हो—उससे एक रूप हो जाता है, अथवा उसी में परिणत हो जाता है । इस प्रकार संसार में सत्य स्थिति एक-मात्र ब्रह्म की ही है—चाहे वह कबीर का ही परिणत हो कर बना हुआ है या अपनी अनादि स्थिति से वर्तमान । यह कबीर के जड और चेतन का उसके ब्रह्म से सम्बन्ध है ।

सृष्टि

ओइ जु दीसहि अंबरि नारे । किनि ओइ चीते चीतन हारे ॥[5]

---

१. १३४१ क० ३ ।
२. ४८४ क० ३६ ।
३. ३४० क० ७५ ।
४. ३२६ क० १६ ।
५. ३२१ क० २६ ।

कबीर ने स्वतः ही प्रश्न किया है, कि आकाश के इन तारों का चितेरा कौन है ? अन्तःकरण को टटोलने पर पता लगा, कि 'सारी सिरजनहार की जानै नाही' कोई' ।[1]

ऐसी अवस्था में यह समस्या उलझ गई । ब्रह्मोत्पन्न जीव की जिज्ञासा और तीव्र हो गई । उसे आभास मिला कि—'उआ का मरमु ओही परु जाने ।'[2] वह तो अपनी रचना के रहस्य को जानता है । कबीर तो उसी का रूप है अतः सृष्टि के विशाल प्रांगण मे नेत्र फैलाए, और भक्त को पता लगा, कि रचना को 'कै जानै आपन धनी' अथवा 'कै दासु दीवानी होइ ।' भक्त का आत्मविश्वास बढ़ा और उसे अनुभव हुआ— 'सभ महि पसरिया ब्रहम पसारा' ।[3] यह सृष्टि और कुछ नहीं उसका अपना ही प्रसार-मात्र है । इतना ज्ञान होने पर भक्त को उसके रचना-क्रम का बोध इस रूप में हुआ—

अवलि अलह नूर उपाइआ

और तब 'एक नूर ते सभु जगु उपजिया' ।[4] इसलिए संसार मे 'कउन भले को मंदे' क्योंकि उस एक प्रकाश से ही 'कुदरति के सभ बंदे' उत्पन्न हुए है इसे और स्पष्ट करते हुए उसने कहा है—

सूरज चाँद के उदै भई सभ देह ।[5]

जीवों की उत्पत्ति भी सूर्य और चन्द्रमा के साथ हो गई थी । इसी रचना-क्रम का वर्णन लगभग साँख्य के अनुकूल ही अन्य संत-साहित्य में प्राप्त है । ब्रह्म की स्थिति तो सम्पूर्ण सृष्टि में है । इसका विस्तार से वर्णन 'ब्रह्म की स्थिति' में आ चुका है—

खालिकु खलक खलक महि खालकु पूरि रहिओ सब ठाईं ।[6]

इसकी रचना-प्रक्रिया का वर्णन करते हुए लिखा है, कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ही मिट्टी का बना हुआ है और उसका बनानेवाला भी एक-मात्र सत्य ब्रह्म ही है । इसलिए 'सभ महि साचा एको सोई ।' इतना ही नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियंत्रण भी अकेला वही करता है और 'तिस का कीआ सभु कछु होई ।' लेकिन कर्त्ता की कर्तृत्व शक्ति का परिचय किसी को नहीं लगता, यदि किसी को परिचय मिल जाए तो 'बंदा कहिऐ सोई' । वही तो सच्चा भक्त है, जो ब्रह्म की कृति के माध्यम से उसे पहचान जाए ।[7] कबीर ने बहुत ही साहित्यिक ढंग से बोध करवाया है,— 'बावन अछर लोक त्रैसभु कछु इनही माहि ।' सम्पूर्ण सृष्टि तो बावन अक्षरों में सीमित है तथा 'ए अखर खिरि जाहिगे' लेकिन वे अक्षर जिनसे ब्रह्म का निर्माण हुआ है 'इन महि नाहि ।'[8] इस प्रकार सृष्टि न तो स्रष्टा की तरह अनंत है और न

१. १७३ श्लोक । २. ३३४ क० ५२ ।
३. ३२६ क० २६ । ४. १३४६ क० ३ ।
५. १७६ श्लोक । ६. १३४६ क० ३ ।
७. १३४६ क० ३ । ८. ३४० क० १ ।

ही अनश्वर[१]। दार्शनिक शताब्दियों तक सिर पटक कर रह गए, लेकिन उनकी सृष्टि का निर्माण संख्यातीत तत्त्वों से न हो सका ; इधर जिस 'कोरी को काहू मरम न जाना' उसी ने 'सभु जगु आनि तनाइओ ताना।' इसी बीच पंडित बेचारा उसके रहस्य को जानने के लिए वेद-पुराण सुनता रहा और कबीर ने भी थोड़ा सा ताना बुन लिया। परिणामस्वरूप धरती तथा आकाश का करघा बना कर सूर्य तथा चन्द्र की ढरकी से चलानेवाले जगत् कोरी से व्यावसायिक कोरी ने 'सूतै सूत मिलाए' तथा इस प्रकार 'जोलाहे घरु अपना चीन्हा' और 'घट ही रामु पछानाँ।'[२] यही है स्रष्टा की सृष्टि, जिसे जुलाहे ने जुलाहा और अपना करघा बनाए बिना भी न छोड़ा।

इस विशाल ब्रह्माण्ड में से जीव तो अपने संसार से ही अधिक सम्बद्ध है। यह संसार तो बाजीगर का ढाला हुआ पासा है।[३] अतः ऐन्द्रजालिक के इन्द्रजाल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। 'चित्र बिचित्र इहै अवरेझा' यह तो उलझन में डालने-वाला चित्र है।[४] इतना ही नहीं, इसकी तो स्थिति भी स्थिर नहीं क्योंकि—

उपजै निपजै निपजि समाई नैनन देखत इहु जगु जाई।[५]

सांसारिक सम्पत्ति से मोह करनेवाली लोई को समझाया—'जह उपजै बिनसै तहि जैसे पुरिवन पात'।[६] इस प्रकार के नश्वर संसार में माँ-बाप से लेकर 'अगनि भी जूठी पानी जूठा' कुछ भी तो स्वच्छ नहीं[७], अपितु ब्रह्मा, इन्द्र तथा 'मैले सिव संकरा महेस' और 'मैला मलता इहु ससारु' यहाँ कुछ भी तो पवित्र नहीं है।[८] तथा यह ससार है भी तो 'काजल की कोठरि' और 'अंध परे तिस माहि।' फिर निकलने का तो मार्ग ही कोई नहीं।[९] वस्तुत नाम के बिना माया के कारण अधा यह सम्पूर्ण ससार एक धधा ही है, जिसमें भरमाया जीव भटक रहा है।[१०] इसलिए जीव को सतर्क किया है, कि 'जगु बांधिओ जिह जेवरी तिह मति बंधहु कबीर।' जिसने सम्पूर्ण संसार को अपने नियंत्रण मे किया हुआ है, जीव को उसी मे मन लगाना चाहिए और जीव के लिए तो ससुरालवत् यह ससार केवल चार दिन का ही निवास-स्थान है, अतः उसे अपने जीवन का सदुपयोग करना ही चाहिए।[११] संसार के स्वरूप का तो परिचय मिल गया, उसकी सम्पत्ति पर भी एक दृष्टि डालने पर उसका उचित मूल्याकन हो सकेगा।

संसार 'पंचे तत बिसथार' होने के कारण ही 'कनक कामिनी जुग बिउहार' है।[१२] अत यहाँ सासारिक सम्पत्ति की स्थिरता की बात सोचनी ही नहीं चाहिए,

१. ३४० क० १। २. ४८४ क० ३६।
३. ४८१ क० २३। ४. ३४० क० १२।
५. ३२५ क० ११। ६. ८५७ क० १०।
७. ११९५ क० ७। ८. ११५८ क० ३।
९. २६ श्लोक। १०. ३३८ क० ६७।
११. ३३३ क० ५०। १२. ३४३ क० ६।

क्योंकि—जिसके 'इकु लखु पूत सवा लख जाती' तथा न केवल 'चदु सूरजु जाकै तपत रसोई' अपितु 'बैसंतरु जाके कपरे धोई ।' आज 'तिह रावन घर दिया न बाती ।'[१] जिसके पास रक्षा के लिए 'लंका सा कोटु समुद सी खाईं' थी, यम के आने की तो 'तिह रावन घर खबरि न पाइ ।' अतः न केवल सांसारिक सम्पत्ति का[२] अपितु 'धन जोबन का गरबु न कीजै' क्योंकि यह तो 'कागद जिउ गलि जाहिगा ।'[३] संसार मे राज्य, छत्र, सिंहासन, स्त्री, पुत्र, घर, सम्पत्ति सभी कुछ नश्वर है ।[४] अतः धन और सम्बन्धियों से मोह नहीं बढ़ाना चाहिए, क्योकि इनका कोई भरोसा नही कि कब चल बसें ।[५] 'झूठा जगु डहकै घना दिन दुइ बरतन की आस' फिर इस संसार में ठगी क्यों करनी ? जब रहना ही केवल दो दिन है ।[६] इसीलिए सांसारिक सम्पत्ति के लिए तृष्णा पैदा करके, उसके पीछे अमूल्य जीवन को व्यर्थ न गँवाओ ।[७] क्योंकि—'नांगे आवनु नागे जाना कोइ न रहि है राजा राना ।' इतना ही नही, दुष्कर्मों द्वारा धन संचित करनेवाले 'चले जुआरी दुइ हथ हारी' यहाँ तो कोई नही साथ आता और न ही साथ जाता है ।[८] भक्तों को इस बात का ज्ञान हो चुका है, अत. वे सासारिक सम्पत्ति नहीं संचित करते ।[९] वे तो—'तुम घरि लाख कोटि अस्व हसती हम घरि एकु मुरारी' का राग अलापते हुए सांसारिक मायावी जीव को भी 'राम नाम धनु करि संचउनी सो धनु कतही न जावै ।', नष्ट न होनेवाले एक-मात्र 'नाम-धन' के संचय का संदेश देते हैं ।[१०] इस प्रकार क्षणिक संसार के जंजाल से जीव को बचाने के लिए सदा ही सतर्क करते रहते है ।

जीवात्मा

आत्मा परमात्मा का अंश है । अतः परमात्मा के गुण उसमे बहुतायत से मिलते हैं । यह आत्मा ही उन्नत होकर अपनी पवित्रतम अवस्था में पहुँच ब्रह्म को प्राप्त कर लेती है और धीरे-धीरे यह मिलन पूर्ण ऐक्य में परिणत हो जाता है । इस प्रकार आत्मा परमात्मा के गुणों को रखते हुए भी परमात्मा नही, अपितु परमात्मा का अंश ही है । देह धारण करने पर यही आत्मा जीव का रूप धारण कर लेती है । देह उसका आच्छादन-मात्र (वस्त्र) है । आवश्यकतानुसार उसे बदलती रहती है और अनादि काल से चला आनेवाला यह क्रम अनंत युगों तक चलता रहेगा, जब तक कि जीव पूर्ण निर्लिप्त एवं पवित्र हो, उससे ऐक्य स्थापित कर उसी में विलीन न हो जाए ।

'उपजी पेड़ ते' यह आत्मा उस परमात्मा का ही अंश है ।[११] इसका महत्त्व

---

१. ४८१ क० २१ । २. ११५१ क० १ ।
३. ११०६ क० ११ । ४. ६९२ क० ५ ।
५. १२५३ क० ३ । ६. ११०३ क० ३ ।
७. ४८१ क० २३ । ८. ११५७ क० २ ।
९. ३३८ क० ६८ । १०. ३३६ क० ५८ ।
११. १५३ श्लोक ।

इस बात में है, कि प्राणी-जगत् को प्राणी बनाए रखने की मूलशक्ति इसी मे है। जब कभी 'पारब्रह्म परमेसुर माधो मरम हंसु ले सिधाना'[१] तो जीव ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा 'बजावन हारो कहा गइओ।' इस देह मे कान आदि अग और वे सब भी वैसी ही इन्द्रियाँ हैं लेकिन अब 'मुखहु न निकसै बाता।' इसी का उत्तर दिया है, कि—

इह तउ बसतु गुपाल की जब भावै लेइ खसि।[२]

यह ब्रह्म से उत्पन्न आत्मा उसकी ही वस्तु है, जब चाहे, ले जाए। 'इआ मदिर महि कौन बसाई।'[३] आखिर यह वस्तु है क्या ? दार्शनिकों के ब्रह्म का 'नेति' स्वरूप प्रसिद्ध है। कबीर ने आत्मा के विषय मे उसी शैली का अनुसरण करते हुए लिखा है, कि 'ना इहु मानसु ना इहु देउ' न राजा, न भिखारी, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय तथा 'ना इसु भाई न काहू पूता।' क्योकि 'ना इहु जीवै न मरता देखा।' इस प्रकार 'ता का अंतु न कोऊ पाई।'[४] जिस आत्मा के जन्म-मरण, तथा रूप-गुण का किसी को ज्ञान नही, उसी का 'गुर प्रसादि मे डगरो पाइआ' वह कौन सी डगर है ? **कहु कबीर इहु राम का अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु॥**[५]

यही है आत्मा के उद्भव, रूप, स्थिति तथा सत्ता की कहानी। यह पवित्र आत्मा ही है, जो 'लोग सबाइआ चलि गइओ' देख कर भी मृत्यु से डरती नहीं।[६] षट नेम करनेवाले योगी ने 'वसतु अनूपु बीच पाई और 'कहतु कबीर नवै घर मूसे दसवै ततु समाइ।'[७] कबीर ने दसम द्वार मे उसकी स्थिति को अनुभव किया है। इस 'राम का अंसु' का ब्रह्म से सम्बन्ध पीछे दिखाया जा चुका है, कि 'कागद का मंसु' होते हुए उस दिशा मे प्रयत्नशील यह तेज महा तेज में अपना तेज विलीन कर देता है अथवा देह के इस चिथड़े को फाड़ कर अन्दर के चमकीले तेज को महातेज यहाँ से ले जाता है।[८] अतः देहधारी जीव मे महत्त्व इस तेज का है, क्योकि—

'बुझि गई अगनि न निकसिउ धूआँ। रवि रहिआ एकु अवरू नहीं दूआ॥[९]

आन्तरिक प्रकाश के निकल जाने पर न देह रहा न देहधारी जीव। सम्भवतः इसीलिए जीव पूछ बैठा 'कवन काजि जगु उपजै विनसै कहहु मोहि समुझाइआ॥'[१०] कबीर की कसौटी तर्क नही अनुभव है, उन्होंने जो अनुभव किया, वही इन शब्दों मे अभिव्यक्त किया है—

'जिउ प्रतिबिंबु बिंब कउ मिली है उदक कुंभु बिगराना।
कहु कबीर ऐसा गुण भ्रमु भागा तउ मनु सुनि समाना॥'[११]

---

१. ४८० क० १८ । २. ७६ श्लोक ।
३. ८७१ क० ५ । ४. ८७१ क० ५ ।
५. ८७१ क० ५ । ६. ८५ श्लोक ।
७. ३३६ क० ५३ । ८. ८७६ क० १६ ।
९. ४७८ क० ११ । १०. ४७५ क० १ ।
११. ४७५ क० १ ।

घट (देह) के नष्ट होने पर जलवत् जल में मिलन अथवा 'शून्य' मे समा जाना ही मानव जीवन का उद्देश्य है। इसीलिए जीव को यह अमूल्य देह प्राप्त हुई, जिसके लिए स्वर्ग के देवता भी तरसते पाए गए है।[१] इस ससार मे 'जीउ एक अरु सगल सरीरा' वह एकाकी आत्मा ही तो सम्पूर्ण शरीरो मे व्याप्त होने के कारण अनत जीवों की स्थिति बनाए हुए है[२] और मानव रूप मे आने मे पूर्व इस जीव ने 'अस्थावर जगम कीट पतगा, अनिक जन्म किए बहु रगा।' अन्यान्य रूप धारण किए थे।[३] मानव जीवन के विकास की यह प्रक्रिया बहुत स्वाभाविक ही है। यह ससार, इसी स्थूल से सूक्ष्म के विकास के इतिहास की कहानी है। इसीलिए तो अब जो संसार मे-'एते अउरत मरदा साजे ए सभ रूप तुमारे।'[४]

यह सब स्त्री पुरुष उसी के रूप है। वेदानुयायियो ने ब्रह्म को जानने का प्रथम सोपान बताया था, 'आत्मानं विद्धि।' उनकी भाषा अधिक दार्शनिक थी और कबीर की उक्तियाँ अनुभूत्याधारित। मार्ग भिन्न-भिन्न होते हुए भी परिणाम एक से ही हो सकते है। कबीर ने कहा था 'आपु पछानै त एकै जानै।'[५] उस एक (ब्रह्म) को पहचानने का साधन ही अपने आपको पहचानना है। नगे घूमना या मूंड मुंडाना बेकार है, जब तक 'नही चीनसी आतम राम'[६] और जब अपने को ही पह-चान लिया, तो 'रोगु न बिआपै तीनै ताप।'[७] त्रिविध भय नाश होने पर ही जीव अंतःकरण में उसे अनुभव कर पाता है तथा योगी निरंतर अनहद नाद श्रवण करके ही उससे घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर पाता है।[८]

'पिंडि मुऐ जीउ किह घरि जाता॥'[९]

देह-नाश पर जीव तो अपने अनंत उद्गम-स्थल की ओर बढ़ निकलता है और 'हंसु इकेला जाई।'[१०] सांसारिक सम्बन्धी तो संसार मे ही रह जाते हैं। हर्ष और शोक नाश कर समरस होने पर ही यह अवस्था आती है।[११] ससार से उदास होने पर ही जीवात्मा प्रसन्न हो सकती है,[१२] क्योंकि--

'माता झूठी पिता भी जूठा जूठे ही फल लागे।
आवहि जूठे जावहि जूठे जूठे मरहि अभागे'॥[१३]

संसार में कुछ भी तो पवित्र नही। यमराज का शिकार[१४] यह दुर्गुणी जीव[१५] तो बेचारा कर्मबद्ध है।[१६] इसीलिए जगत में 'जीव' के कहने पर तो कुछ नही होता, बल्कि 'अपना चितविआ हरि करै' इस प्रकार जीव तो कर्म करने में भी स्ववश नही।[१७] अतः पापों को छोड़ कर[१८] अपना भार स्वत. सम्भालते हुए,[१९] कालि करता अबहि करु

---

१. ११५६ क०, ६। २. ३३० क०, ३६। ३. ३२५ क०, १३।
४. १३४६ क०, २। ५. ८५५ क०, २। ६. ३२४ क०, ४।
७. ३२६ क०, १७। ८. ९७१ क०, १०। ९. ३२७ क०, १८।
१०. ११२४ क०, ६। ११. १८६ श्लोक। १२. ११०३ क०, ३।
१३. ११६५ क०, ७। १४. ११०४ क०, ७। १५. ९७० क०, ८।
१६. ८७० क०, ३। १७. २१६ श्लोक। १८. १०५ श्लोक। १९. ८६ श्लोक।

अब करंता सु इताल" (कल के कार्य को अब करते हुए) 'जाहि के संग बीछुरा ताहि के संग लागु'।[२] क्योकि मनुष्य की कसौटी राम है,[३] और मिट्टी के पुतले[४] मनुष्य का अधिकार केवल वन्दना मे है।[५] इसलिए 'रणि रूतउ भाजै नही सूरउ थारउ नाउ।'[६] जो जीवन सग्राम से भागे नही वही 'सूर' है। संसार निवृत्ति नही, प्रवृत्ति-मार्गी बन कर भी निष्काम कर्मण्य जीवन के माध्यम से संसार के प्रति उदासीन होकर आत्मा को सुखी बनाना चाहिए।[७]

बन मे जली हुई लकड़ी के समान यह पापी जीव[८] 'गुलामु घर का'[९] है। यह उसी का सेवक है,[१०] जाका ठाकरु तुही सारिगधर'[११] है। इस प्रकार यह जीव तो इस संसार-समुद्र की मछली है।[१२] जो परमात्मा से उत्पन्न हो, माया के कारण ससार मे लिप्त होकर गुरू की कृपा से पुन: निर्लिप्त हो अपने उद्गम मे ही जा मिलती है।

जीव के स्वरूप निरूपण के बाद, आत्मा के आवरण—देह का रूप देखना भी आवश्यक है। जिस प्रकार आत्मा के बिना देह व्यर्थ है, उसी प्रकार लौकिक दृष्टि से देह का महत्त्व तो इसी से स्पष्ट है, कि इस देह की प्राप्ति के लिए ही 'सुमिरहि मुनि जन सेव, क्योंकि उसके बिना मोक्ष प्राप्त नही।[१३] यह देह क्या है ?—

पानी मैला माटी गोरी इस माटी की पुतरी जोरि।[१४]

यह कार्य भगवान ने किया है। उसने गड्ढे से थोड़ी मिट्टी उठाई[१५] और सृष्टि के साथ-साथ इस देह का भी निर्माण कर दिया। इसीलिए इस देह को कही तो 'धूरि सकँलि कै पुरिआ बाँधी'[१६] कहा है, तो कही 'काइआ काची कारवी'[१७] अथवा 'जल भरी गागरी' बताया है।[१८] यह जर्जर बेड़ा[१९] वस्त्रों की तरह नष्ट हो जाएगा[२०], क्योकि 'सो तनु जलै काठ के संगा।'[२१] यह ऐसे जलेगा 'हाड जरे जिउ लाकरी केस जरे जउ घास।'[२२] इस प्रकार प्रातःकालीन तारों के समान नश्वर देह[२३] साँप की केंचुली के समान है।[२४] इसलिए शरीर रूपी बर्तन का कोई विश्वास नही।[२५] अत: शरीर मे भगवान का अनुभव करनेवाला ही सौभाग्यशाली है।[२६] इतना ही नही अहंकार के कारण 'टेढे टेढे टेढे' चलते मनुष्यों को उसने समझाया, कि तुम तो 'असति चरम बिसटा के मूंदे दुरगंध ही के बेढे'[२७] अस्थि और चर्म के साथ-साथ विष्ठा और मल से भरे हुए दुर्गंध के आवरण-मात्र हो। तब भी यह अहंकार। यह देह रूपी यंत्र टूटेगा, तो

---

१. १३८ श्लोक। २. १२१ श्लोक। ३. ३३ श्लोक।
४. ६४ श्लोक। ५. ३३८ क०, ६१। ६. ३४२ क०, ३४।
७. ११०३ क०, ३। ८. ९० श्लोक। ९. ३३८ क०, ६१।
१०. ४८० क०, १७। ११. ३३८ क० ६६। १२. ४९ श्लोक।
१३. ११५९ क०, ६। १४. ३३६ क०, ६०। १५. २२७ श्लोक।
१६. १७८ श्लोक। १७. २२२ श्लोक। १८. ७३ श्लोक।
१९. ३५ श्लोक। २०. ४१ श्लोक। २१. ३२५ क०, ११।
२२. ३६ श्लोक। २३. १७१ श्लोक। २४. ४० श्लोक।
२५. ११५३ क०, ३। २६. १७० श्लोक। २७. ११२४ क०, ४।

संगीत और सुर का क्या संधान ? क्योंकि जब बजानेवाला ही चला गया तो, यत्र का ही क्या भरोसा ?[१] अतः जो 'मानसु जनमु दुर्लभ है' और बार-बार नहीं मिलता, उसका सदुपयोग आवश्यक है[२] और सफलता का साधन है 'राम नाम है लूटि ।'[३] वह नाम जो अमूल्य है । इसलिए इस देह का घमड किए बिना ही 'नाम' को अपना-कर अपने जीवन को सफल बनाओ ।[४] यह है, कबीर के देह वर्णन का परिचय ।

जीवन

इस देही कउ सिमरहि देव ।

देह के माध्यम से इस मानव-जीवन के लिप्सु मनुष्य ही नही, देव भी है । इतने से ही जीवन का महत्त्व स्पष्ट है । इसकी प्राप्ति कौन-सा आसान है, पहले 'गुर सेवा ते भगति कमाई ।' तब 'इह मानस देही पाई ।'[५]

गुरू द्वारा प्राप्त भक्ति से ही यह अमूल्य मानव-जीवन प्राप्त हो सकता है । अतः इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ गँवाना बुद्धिमता नही ।[६] जीवन का स्वरूप समझाते हुए कबीर ने कहा है 'जगि जीवनु ऐसा सुपने जैसा जीवनु सुपन समान ।'[७] स्वप्न के समान होता हुआ भी यह जीवन खो देने लायक नही । स्वप्न के समान केवल इसलिए कहा गया है, कि मानव इसके गहन सत्य को न समझ कर 'कनिक कामिनि लागि' इसे नष्ट कर देता है । लेकिन उसे भूलना नही चाहिए, कि 'जगु जीवनु ऐसा दुतीय नही कोई ।' यह अनुपम जीवन है, परन्तु है क्षणिक । इसीलिए जीव जीवन-भर भटकता न रह जाए, उसने उसका जीवनोद्देश्य बता दिया—

भजहु गोबिन्द भूली मत जाहु । मानस जनम का एही लाहु ॥[८]

अतः दस दिन के इस क्षणिक जीवन को सफल बना लो ।[९] माया के वश में पडा हुआ जीव उसके महत्त्व को समझ नही पाता । पुनः उसे सतर्क किया कि इस चार दिन के जीवन को सांसारिक मोह में व्यर्थ ही समाप्त न करो ।[१०] चार दिन का भी कहाँ—यम की याद आते ही कहा कि रात भर का जीवन है । प्रातःकाल तो यमराज द्वार पर आए खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे ।[११] इतना समझाते-समझाते ही 'रैन गई' (युवावस्था व्यतीत हो गई) अब 'मत दिनु भी जाइ' जबकि 'भवर गए बग बैठे आइ' ।[१२] बाल पक गए, वृद्धावस्था आ ही गई, अब भी यदि भगवान का नाम नहीं लिया तो बेड़ा कैसे पार होगा । हे जीव ! इस बात को समझ लो, कि हर पहर आयु कम होती जा रही है ।[१३] ज्यों-ज्यों आयु बीती यमराज निकट ही निकट आ

---

१. २०३ श्लोक ।
२. ३० श्लोक ।
३. ४१ श्लोक ।
४. ३७ श्लोक ।
५. ११५९ क०, ९ ।
६. ११७ श्लोक ।
७. ४८२ क०, २७ ।
८. ११५९ क०, ९ ।
९. ८० श्लोक ।
१०. ११२४ क०, ६ ।
११. ७९२ क०, ३ ।
१२. ७९२ क०, २ ।
१३. ६९१ क०, २, ११२४ क०, ४ ।

पहुँचा ।[१] इसलिए ऐसे अमूल्य जीवन को मत गँवाओ, जिसमें बिना काम किए ही मृत्यु आ पहुँचे ।[२] क्योंकि—'हीरा लालु अमोलु जनमु है' इसे 'कउडी बदलै हारिओ रे'[३] साधन भी उसने बता दिया क्यों 'गुर का सबदु न धारिओ रे' इस अमूल्य हीरा-जन्म को कौडी के मोल खोनेवाला जीव मौन है ।[४] तब कबीर ने फिर समझाया । अब तो बुढ़ापा आ गया, अन्त समय है, अब तो जाप कर ले, परन्तु मोह-माया के चक्कर में पड़ा हुआ जीव सम्भवतः इसके महत्त्व को नही समझ सका ।[५] इतना सब होते हुए भी कबीर आध्यात्मिक कल्पनाओं की ऊँची उड़ानें नही भरता, अपितु वह तो धरती के ठोस धरातल पर खड़ा होकर ही यह सब बातें कह रहा है, उसे इस बात का ज्ञान है, इसीलिए तो भगवान से भी कह उठता है—'भूखे भगति न कीजै । यह माला अपनी लीजै' ।[६] कबीर को दर्शन और जन-सामान्य के जीवन मे ऐक्य स्थापित करना था । उसका धर्म केवल सुखी, समृद्ध और उच्चवर्गीय समाज के लिए न होकर मानवता की आधारभूमि पर विकसित हो रहा था । सम्भवत· इसीलिए तत्कालीन संत शिरोमणि भी यह प्रार्थना करते हुए झिझके नही—

दुइ सेर माँगउ चूना । पाउ घीउ संगि लूना ।।[७]

इस प्रकार सांसारिक जीवन की आवश्यकताओं का मनुष्य के पास अभाव नहीं होना चाहिए परन्तु उसे इनके होते हुए भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसः' जीवन व्यतीत करते हुए नाम-स्मरण द्वारा अमूल्य मानव-जीवन को सफल बनाना चाहिए ।

सांसारिक सम्बन्ध

'हंसु इकेला जाइ' और **'संगि न कछु लै जाइ'** ।[८]

जीव को जीवनगत सत्य से संक्षेप मे परिचित करवा दिया कि यह हस (आत्मा) तो उसी की ज्योति है, जिसे यम ले जाएगा[९] और संसार में—'कउनु को पूतु पिता को का को । कौन मरै को देइ सतापो ।।' तथा 'कउन पुरखु कउन की नारी, इआ तत लेहु सरीर बिचारी ।'[१०]

यह तो केवल कहने-मात्र के सम्बन्धी है । इनसे सुख की आशा करना व्यर्थ है ।[११] 'इआ धन जोबन अरु सुत दारा' यह सब के सब अवसर आने पर साथ देनेवाले नहीं ।[१२] जीव ने ऐसे ही परिवार के पोषण में जन्म गँवा दिया और यम का बुलावा आ गया ।[१३] अतः सासारिक धंधों में नाम भुलाना बुद्धिमत्ता का परिचायक नही ।[१४] इसीलिए संसार में पुत्रादि सम्बन्धियों का मोह छोड़ देना चाहिए ।[१५] ये सब

---

१. ११२४ क० ५ ।　　　　२. ८५७ क० ९ ।
३. ३३५ क०-५६ ।　　　　४. ८५५ क० ३ ।
५. ६५६ क० ९ ।　　　　६. ६५६ क० ११ ।
७. ६५६ क० ११ ।　　　　८. ११२४ क० ६ ।
९. ६९१ क० २ ।　　　　१०. ३३१ क० ३९ ।
११. ६९२ क० ४ ।　　　　१२. ३३६ क० ५९ ।
१३, २१६, ७९२ क० १४ ।　　　　१४, १०६ श्लोक ।
१५. ८५५ क० १ ।

सम्बन्धी मन, वचन और कर्म किसी प्रकार से भी सहायक सिद्ध नहीं होते। अतः इन अस्थिर सम्बन्धों के होते हुए स्त्री (अपनी कही जानेवाली) के सौन्दर्य का घमण्ड करना उचित नहीं।[१] यह सब सम्बन्धी 'मात पिता भाई सुत बनिता' तो 'हितु लागो सभ फन का'[२] साँप की तरह के ही साथी है। समझाने से तो जीव को संतोष नहीं होता। जिस रावण के 'इकु लखु पूत सवा लख नाती' उपस्थित थे, आज 'तिह रावन घर दिया न बाती'[३] अब भी यदि जीव को विश्वास नहीं, तो देख ले, कि 'देहुरी लउ बरी नारि संग' तथा 'मरघट लउ सभु लोगु कटुम्बु भइओ आगै हंसु अकेला'[४] इतना ही नहीं 'घट फूटै कोउ बात न पूछै काढहु काढहु होई'[५] माँ बेचारी दहलीज पर रोती रह गई और भाइ खाट को उठा कर ले गए। सांसारिक सम्बन्धियों का सम्बन्ध इससे आगे नहीं। तेरे शरीर को तो साढ़े तीन हाथ जगह की आवश्यकता है,[६] फिर भी हे जीव ! तू अस्थिर और स्त्री के मोह-बस कपट से कमाई करता है।[७] धिक्कार है ऐसे जीव को। कबीर की अनुभवी आत्मा पुकार उठती है—'कोई काहू को नही सभ देखी ठोक बजाई'[८] उसने संसार को ठोक-बजा कर परखा है, तभी यह कहने का साहस किया है। अन्त में जीव को यह भी स्मरण करा दिया है, कि सांसारिक सम्बन्धों में फँसे हुए को परमात्मा भी प्रेम नहीं करता।[९] अतः जीव को सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन करते हुए जीवनगत एक-मात्र सत्य भगवत्प्रेम को भी भूल नहीं जाना चाहिए।

योनि-भ्रमण

सांसारिक सम्बन्धों के मोह में फँसा रहने के कारण जीव इस आवागमन के चक्कर से छूट नही पाता। गत योनि मे भगवान के नाम का स्मरण न करने के कारण ही उसे इस योनि में आना पड़ा।[१०] इस प्रकार अन्यान्य योनियों में घूमता हुआ जीव थक जाता है।[११] उसे विश्राम में न रहने देनेवाली है माया। माया के बस में जीव जब तक पड़ा रहता है, तब तक वह इस योनि-भ्रमण से बच नही पाता।[१०] इससे रक्षा का साधन है, नाम। वह भी गुरू-कृपा से ही प्राप्त हो सकता है।[११] तभी जीव ८४ लाख योनियों के चक्कर से छुट्टी पा सकता है। जीव तो 'अपना किआ पावै सोई।[१३]' इसलिए योनियों के चक्कर से बच निकलना उसके अपने हाथ में हैं। उसके सत्कर्म, उसका नाम-स्मरण आदि अवश्य ही उसे अनेक योनियों के चक्कर से बचा देगे और वह भी निरंजन की तरह अयोनि हो जाएगा।[१५]

---

१. ११२४ क० ५।
२. १२५३ क० ३।
३. ४८१ क० २१।
४. ६५४ क० २।
५. ४७७ क० ६।
६. २१८ श्लोक।
७. ६५६ क० ६।
८. ११३ श्लोक।
९. ३१७ श्लोक।
१०. ३३६ क० ५६।
११. ३३५ क० ५६।
१२. ६५५ क० ५।
१३. ११५६ क० ६।
१४. ११६१ क० १५।
१५. ३३८ क० ७०।

गुरू

जीवात्मा को परमात्मा की उत्कृष्टतम देन है, सत्गुरू। वह गुरू जो उस तक पहुँचाने में सहायक है। गुण और कार्य की दृष्टि से कबीर ही नही, सभी मध्यकालीन संतों का गुरू सगुण-भक्तों के अवतारों से कम महत्त्वपूर्ण नही। इतना होते हुए भी वह है जीव ही, केवल उत्कृष्ट कोटि का जीव। अतः यहाँ उसके स्वरूप, गुण एवं कार्य पर विचार करना अनुपयुक्त न होगा। 'कहु कबीर मैं सो गुरू पाइआ जा का नाउ बिबेकु।'[१]

कबीर ने विवेक को ही गुरू बताया है और विवेकशील वह व्यक्ति ही सत्गुरू है, जिसने पाँचों इन्द्रियों और मन को बस में कर लिया है, तथा उसने भगवान को पहचान लिया है।[२] पहचान ही नही लिया, अपितु ब्रह्म को अपने अंतःकरण में अनुभव करनेवाला ही सच्चा गुरू है।[३] क्योकि एक-मात्र सच्चे गुरू के अतिरिक्त ब्रह्म को कोई नही पहचान सकता।[४] और 'बिनु सतिगुर बाट न पाई'[५] तथा भव-पार पहुँचने के लिए जीव का पथ-प्रदर्शन केवल वही कर सकता है। अतः उसकी प्राप्ति का भी एक ही साधन है—'जब हुए क्रिपाल मिले गुरदेउ।'[६] भगवान की कृपा से ही उनको मिलानेवाले सत्गुरु की प्राप्ति सम्भव है। यह तभी हो सकती है जब भगवान में भक्त का उद्धार करने की इच्छा जागृत हो।[७] उसके लिए आवश्यक है सत्कर्म।[८] क्योंकि सत्कर्मो से ही भगवत्कृपा होगी, उसी से शब्द देनेवाले सत्गुरू मिलेंगे। जिससे ससार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होगा और यह वैराग्य ही सहज की प्राप्ति करवा सकेगा।[९]

इस प्रकार गुरु-दीक्षा से शिष्य जागता है।[१०] जाग कर 'गुर परसादी हरि धनु पाइओ'[११] इस हरि-धन के द्वारा ही गुरू जीव का उद्धार करता है।[१२] उद्धार करने का भी एक क्रम विशेष है। सबसे पहले गुरू सांसारिक भ्रम को मिटाता है।[१३] उसका साधन है, वासनाओं का नाश।[१४] गुरू शब्द देता है, जिससे जीव इन्द्रियों को बस में करता है[१५] और इन इन्द्रियों के साथ चंचल मन को भी बस में कर लेता है, क्योंकि विकृत मन ही तो देहगढ का राजा है।[१६] उसे बस मे करने से ही तो 'गुर प्रसादी जैदेउ नामा', भगति के प्रेमि इनही है जाना।[१७] इन भक्तों ने भी भक्ति के महत्त्व को समझा। वह भक्ति जो हृदय में गुरू का शब्द स्थिर करने

---

१. ७९३ क० ५।
२. ८७२ क० १०।
३. ६६६ क० २।
४. ११६२ क० १३।
५. ११६४ क० ३।
६. ८७१ क० ७।
७. ११२४ क० ४।
८. ११०३ क० ४।
९. ११०४ क० ८।
१०. ११६३ क० २।
११. ४७६ क० १५।
१२. ७९३ क० ५।
१३. ८५५ क० २।
१४. ६७१ क० १०।
१५. ११६० क० १४।
१६. ११६१ क० १७।
१७. ३३० क०, ३६।

से उत्पन्न हुई थी।[1] और अब उसी से मन संतुष्ट हुआ है तथा यम से रक्षा करते हुए[2] अति कृपापूर्वक गुरू ने भवबंधन काट कर भव-पार पहुँचा दिया है।[3] इस नाम और भक्ति को देनेवाली गुरू कृपा को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है, कि गुरू की सेवा की जाए।[4] इसीलिए सम्पूर्ण संत साहित्य में गुरु-सेवा चरण-सेवा से प्रारम्भ हो कर गुरू की 'पीक पीने' तक पहुँच गई। सम्भवतः अपनी चरमावस्था पर पहुँच कर प्रत्येक वस्तु विकृत हो जाती है। फल भी अधिक पकने के बाद गल जाता है। प्रकृति के नियय अटल और महान् है। जो हो, इस गुरु-सेवा से ही वह पावनी भक्ति मिलती है, जो हृदय के कपाट खोल कर ज्ञान का प्रकाश करवा देती है। इतना पता लगते ही कि ऐसा गुरू ही एक-मात्र सत्यमार्ग का दर्शन करानेवाला है।[5] कबीर स्वतः प्रार्थना करता हुआ[6] जीव को उसकी शरण में जाने का संदेश देता है।[7] सत्गुरू ऐसा अपनाना चाहिए, जिसे पुनः कोई दूसरा गुरू बनाने की आवश्यकता अनुभव न हो।[8] तब सत्गुरू ही अपनी विशेष कृपा का पात्र होने पर जीव को भगवान का दास बनाता है।[9] भाले के समान तेज[10] गुरू के शब्द से हृदय के भ्रम का नाश होता है।[11] प्रभु के लिए तड़पन उत्पन्न होती है[12] तथा इस प्रकार राम मे लव लग जाती है।[13] ऐसे महत्त्वपूर्ण गुरू-शब्द का महत्त्व न देखना भी भूल होगी, सत्-गुरू की वाणी से निकला हुआ जो शब्द—

'कबीरा गूंगा हुआ बावरा बहरा हुआ कान।
पावहु ते पिंगल भइआ मारिआ सतिगुरू बान॥'[14]

गूँगे को भी पागल बना देता है, क्योंकि उसके रस को वह चख ही पाता है। अभिव्यक्ति का साधन वाणी उसके पास नहीं, और उच्छलित भावों का अवरुद्ध-उद्वेग जीव को अवश्य ही पागल बना देता है। इतना ही नहीं, उस शब्द की तल्लीनता में जीव अब और कुछ नहीं सुन पाता—तल्लीनता ही जो ठहरी। अब वह पैरों से भी नहीं, मन, बुद्धि और हृदय से भी लंगड़ा हो गया अर्थात् सभी को शब्द ने ऐसा बाँधा, कि वे कहीं नहीं जा सकते। यह है छोटे से शब्द की महान् शक्ति। इसीलिए उसकी महत्ता और कार्य तो इससे भी कही बढ कर है। इस शब्द के माध्यम से ही गुरू से हरि का रहस्य पाया जा सकता है।[15] इसलिए शब्द को पाकर उस पर विचार करनेवाले को ही सौभाग्यशाली कहा गया है।[16] क्योंकि केवल-मात्र गुरू शब्द से ही ब्रह्म की पहचान हो सकती है।[17] इसके लिए 'कलालनि' ने 'गुरु शबदु गुडु कीनु रे।' और उससे 'त्रिसना कामु क्रोधु मद मत्सर काटि काटि कसु दीनु रे॥'[18] सभी दुर्गुणों का नाश किया। मन को वश मे करके उससे अमृत की धार बहा दी[19] तथा उस अमृत

१. ४८१ क० २१। २. ६५५ क० ५। ३. ९७१ क० ९।
४. ११५९ क० ९। ५. ३२६ क० १४। ६. ११५८ क० ६।
७. ३३६ क० ५९। ८. ३२७ क० १८। ९. ३३१ क० ४०।
१०. १८३ श्लोक। ११. ३३२ क०, ४६। १२. १५७ श्लोक।
१३. ६१ क० १। १४. १६३ श्लोक। १५. ७४४ क० १।
१६. ३३३ क० ५०। १७. ३४० क० ९। १८. ९६८ क० १।
१९. ४३८ क० १०।

धार ने ही जीव को मृत्यु से भी अमर बना दिया।[१] इतना महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही कबीर ने गुरू को भी सतर्क कर दिया, कि वह केवल उसका महत्त्व और गुण पहचाननेवाले को ही देना चाहिए।[२] नहीं तो कुपात्र में दी हुई वस्तु उसी प्रकार दुष्फलवती सिद्ध होती है, यथा रावण में विद्या।

गुरू का ही यह शब्द है, जिसने उसका ज्ञान कराया तथा भक्ति-धन देकर सत्यबुद्धि से जीव के मन को भगवान में लगाया।[३] इस प्रकार गुरू-कृपा से जब तन, मन भगवान में लगा दिया[४], तब अन्तःकरण में उसके प्रति स्नेह उत्पन्न हो गया।[५] ब्रह्म-स्नेही बनते ही गुरू ने सब निराशाओं को आशाओं में परिणत कर दिया,[६] क्योंकि जीव एक बार सत्गुरू से दीक्षित हुआ, तो सांसारिक दुःख तो क्या, वह पारलौकिक दुखों से भी बच कर अमर हो जाता है।[७] पुनः माया शिष्य-जीव का कुछ नहीं बिगाड़ सकती, क्योंकि वह तो स्वयं गुरू की मार से डरती है[८] और अवसर पाते ही गुरू ने तो 'तीनि लोक की पिआरी' के—

नाकहु काटि कानहु काटि काटि कूटि कै डारी ॥[९]

नाक कान काट डाले, फिर बेचारी डरे भी क्यों न? 'तब गुरू ने न केवल त्रिभुवण डसिनि' से रक्षा की,[१०] अपितु अपने आशीर्वाद से उसके दर्शन भी करवा दिए।[११] इस प्रकार गुरू के उपदेश से ही यमराज से भी लड़ाई करने की शक्ति आ गई।[१२]

इसका कारण यह था, कि गुरू ने ही ब्रह्म का ज्ञान करा कर सत्संग के द्वारा हृदय को शांत एवं सुखी बनाया था।[१३] हृदय को शांत करने के लिए उसने मन का अन्तर्मुखी बनाने का संदेश दिया था।[१४] जिसके लिए मन और उससे भी बढ़ कर इन्द्रियों को बस में करानेवाला गुरू धन्य है।[१५] इन साधनों से गुरू ने उचित पथ-प्रदर्शन किया।[१६] तभी तो मन बस मे हो सका और उसने ब्रह्म को पहचानना प्रारभ किया।[१७] इस प्रकार सत्गुरू ने ही पिता 'सतिगुरू' की पहचान करवा दी[१८] और गुरू की शक्ति से ही उस ज्योति को अन्तःकरण में ज्योतित पाया।[१९] इस अंतः ज्योति को उद्‌भासित करके ही गुरू ने 'अंतरगति हरि भेटिया' इसलिए 'अब मेरा मनु कतहू न जाइ।[२०] इस प्रकार गुरू की कृपा से भगवान की प्राप्ति हो गई।[२१]

कबीर कहता है 'गुरू मिलत' और उसने ऐसी 'महारसु प्रेम-भगति' दी, जिसने संसार से 'निसतारिओ रे'।[२२] भव-पार करानेवाले गुरू ने ही भव-पार करा

१. ३२७ क० २०। २. २२५ श्लोक। ३. ३३६ क० ५८।
४. ६५५ क० ४। ५. ६६२ क० ५। ६. ११०३ क० ३।
७. ८-२ क० ६। ८. ८७१ क० ७। ९. ४७६ क० ४।
१०. ८७२ क० ८। ११. ४८० क० १९। १२. ११५१ क० ११।
१३. ३३९ क० ७४। १४. ३४३ क० ९। १५. ८७२ क० १०।
१६. ६५६ क० १०। १७. ३३७ क० ४७। १८ ४७६ क० ३।
१९. ४८३ क० ३१। २०. ११०३ क० २। २१. ३३३ क० ४८।
२२. ३५५ क० ५६।

के ऐसी मुक्ति दी,[1] जिससे योनि-भ्रमण अथवा यह आवागमन का चक्कर सदा के लिए मिट गया।[2] इसीलिए सतगुरू की शरण में अवश्य जाना चाहिए, क्योंकि यह 'धूरि कै पुरिआ' 'गुरू गोविन्द के बिनु मिले पलटि भई खेह'।[3] और कबीर ने भी तो गुरू बनाए थे रामानन्द। संतों की वाणी में कथनी और करनी की एकता का यह ज्वलन्त प्रमाण है। यही है कबीर का गुरू और सतगुरू। सम्भवतः इस गुरू की महानता के कारण ही भगवान ने भी इन संतों के पास आकर अपना नाम सतिगुरू रख लिया था। महान् है दोनों सतगुरू और सतिगुरू।

संत

'गुरू गोविन्द रूप'[4] होने के कारण जीव-कोटि में गुरू का स्थान तो है ही सबसे ऊपर, लेकिन 'संत रामु है एकु'[5] अतः संत का स्थान भी उससे कम नहीं माना जा सकता। गुरू जहाँ केवल शिष्यों का ही उद्धार करता है, वहाँ संत जन-सामान्य को भी सतर्क करता चलता है। जहाँ गुरू नम्र और शरणागतों का उद्धारक होता है, वहाँ संत प्रचण्ड तथा मानव-मात्र का कल्याणकारी। जो हो, दोनों एक ही कोटि के उत्कृष्ट जीव है।

कबीर सेवा का कउ दुइ भले एकु संतु इकु रामु।
रामु जु दाता मुकति को संतु जपावै नामु॥[6]

यदि राम मुक्ति देने के कारण महान् अतः सेव्य है, तो संत तो वह नाम देता है जो मुक्तिदाता राम का दाता है। अतः यह पहले सेव्य है और इसका महत्त्व उससे कम नहीं। इस प्रकार माहात्म्य की दृष्टि से जो संत राम से भी कम नहीं, उसके स्वरूप का परिचय भी आवश्यक है।

संतहु बनजिआ नामु गोबिंद का ऐसी खेप हमारी।

वह तो 'हरि के नाम के बिआपारी।'[7] हरि के नाम का व्यापारी होना संत का पहला लक्षण है। यह व्यापारी सार निकालनेवाला तथा सार-ग्राही होना चाहिए।[8] कर्म क्षेत्र में पलायनवादी न होकर—'पुरजा पुरजा कटि मरै कबहु न छाड़ै खेतु'[9] जीवन से जूझने की शक्ति उसमें होनी चाहिए। लेकिन योद्धा होते हुए भी पाप और पुण्य से निर्लिप्त।[10] गीता में श्री कृष्ण का अर्जुन को 'निष्काम कर्मण्य जीवन' का सन्देश इससे कुछ भी तो भिन्न नहीं। ऐसा संत तो 'चन्दन का बिरवा' है[11] जो साँप से अप्रभावित रह कर सुगन्धि का प्रसार करता रहता है।[12] 'हरि हरि नामु जपात' वह तो 'सदा थिर' रहता है।[13] इसलिए उसे न बुढ़ापा आता है न मृत्यु[14] और वह 'रामामृत' पीकर अमर हो जाता है।[15] ऐसे ही 'संतन रिदै मझारि,

१. ५९ श्लोक। २. ४७५ क० २। ३. १७९ श्लोक।
४. ११९२ म० ५. ४। ५. ७९३ क० ५। ६. १६४ श्लोक।
७. ११२३ क० २। ८. १८. श्लोक। ९. ११०५ क० १।
१०. ३२५ क० ६। ११. ११ श्लोक। १२. १७४ श्लोक।
१३. १२५१ क० १। १४. ११५९ क० ११। १५. ३२५ क०-१३।

ब्रह्म निवास करता है।[१] क्योंकि उसी संत ने तो सच्ची भक्ति को पहचाना है। इसीलिए तो 'संतन की झुंगिया भली'[२] और संसार के विशालतम प्रासाद उनके सामने व्यर्थ है। फिर माया से उसे कोई भय नहीं, लेकिन उसे उसने छोड़ा भी नही। तभी तो 'जगत पिआरी' 'सगले जीअ जंत की नारी' वह 'संत की ठिठकी फिरै बिचारी।[३] जिससे सब संसार भागा फिरता है। वह बिचारी संत के डर से भागती फिर रही है। अद्भुत है विधि की विडम्बना और संत की महिमा। ऐसा संत यम से भी नही डरता, और उसकी मृत्यु पर रोने की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि—

संत मुए कीआ रोईऐ जो अपुने ग्रिहि जाइ ।।[४]

वह तो अपने घर भगवान से मिलने चला है। इस प्रकार यह सत माया और यम सभी से जीवों की रक्षा करता है।[५] जीव को यह भी नहीं भूल जाना चाहिए, कि संत के बिना ब्रह्म तक भीं पहुँचा जा सकता।[६] अतः संतों के बताए हुए मार्ग पर चलो,[७] तभी भव-भय काट भव-पार पहुँच सकोगे, क्योंकि संतु रामु है एकु।[८]

भक्त

संत तो संसार को भव-पार पहुँचाने का प्रयत्न करते है और भक्त अपनी भक्ति में तल्लीन। भक्तों की अनवरत एवं अनन्य भक्ति ही उनका साधन तथा साध्य भी है। पापियों से भरी हुई यह पृथ्वी ऐसे ही भक्तों के कारण संसार के भार को सम्भाले हुए है।[९] भगवान की आज्ञा का पालन करता हुआ निरंतर अनन्य भक्ति करनेवाला ही सच्चा भक्त, है।[१०] सच्चे भक्त का न केवल ससार मे आदर होता है, अपितु भक्त-आत्मा को तो शृंगार करनेवाली रानी से भी अच्छा बताता है, क्योंकि—'ओहु मांग सवारै बिरवै कउ ओहु सिमरै हरि नामु।[११]

आध्यात्मिक वस्तुओं का मूल्य सदा से भौतिक पदार्थों से अधिक रहा है और रहेगा। इसीलिए तो 'छत्रपती की नारि' से 'हरिजन की पनिहारि' ही भली है।[१२] इस प्रकार भक्त का संसार में बहुत ऊँचा स्थान है। जो माया ब्रह्मा आदि सभी को विचलित कर देती है, भक्त के सम्मुख वही अपने को अवश पाती है।[१३] इसीलिए भक्त की इन्द्रियाँ और मन उसके बस में होता है[१४], तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के खेल को समझता हुआ[१५] वह संसार में सुख पाने के लिए कहीं घूमता-फिरता नही,[१६] अपितु जहाँ कहीं भी रहता है, वहीं सदा प्रसन्न रहता है।[१७] क्योंकि भक्त ने जान लिया है, कि वह भक्ति से प्राप्य है, अतः वह तो निरंतर भक्ति में ही लगा रहता है और कभी

---

१. ३३७ क० ६३। २. ६६६ क० ४। ३. ८७१ क० ७।
४. १६ श्लोक। ५. ११०६क० ११,११६०क०३। ६. ८७७ क० ६।
७. १६५ श्लोक। ८. ७६३ क० ५। ९. २२० श्लोक।
१०. ४७६ क० १६। ११. १६० श्लोक। १२. १५६ श्लोक।
१३. ८७२ क० ८। १४. ११६३ क० २। १५. १७६ श्लोक।
१६. २०६ श्लोक। १७. ८५७ क० १२।

हार नही मानता ।[1] वस्तुत सच्चा भक्त तो उस मुक्तावस्था को पहुँच जाता है, जहाँ से वह 'आवहि न जाहि ।'[2] उसने तो एक बार 'राम उदकु पीआ' अब उसे 'बहुरि न भई पिआस'[3] वह तो अनन्य भक्ति में ही तल्लीन है, फिर और किसी वस्तु की आवश्यकता ही कैसे अनुभव हो सकती है ?

इसीलिए भक्त को सौभाग्यशाली कहा है,[4] क्योंकि उसकी भक्ति की शक्ति के कारण जो भगवान युग-युगान्तर से भक्तों का उद्धार करने के लिए आते रहे और नामदेव के सम्मुख जिस भगवान ने—'मेरी बांधी भगतु छड़ावै बांधै भगतु न छूटै मोहि ।'[5] कह कर अपनी असमर्थता का परिचय दिया था, वही भगवान 'राम भगति बैठे घरि आइया ।'[6] कबीर के पास—भक्त के घर ही आ गया । यही है भक्त और उसकी भक्ति की शक्ति, जो अनायास ही भगवान को भी अपने पास आने पर विवश कर देती है ।

कबीर का साध्य

जीवन का मर्मज्ञ कबीर, अद्वैतवादी शंकर की भाँति ज्ञान का वह उपदेश नहीं देता, जिसे सामान्य व्यक्ति न तो अपना ही सके और न ही उससे कुछ समझ सके, तभी तो शंकर का अद्वैत विद्वानों में सम्मानित होकर जनता का धर्म कभी न बन सका । आज तक बौद्धिकों को अपने मस्तिष्क के व्यायाम की पर्याप्त सामग्री उसमें मिलती रही है और सदा मिलती रहेगी । शिष्य-परम्परा में आनेवाले ही उसमें सुधार करते रहे है, क्योंकि इसका आधार शंकर की बौद्धिक प्रतिभा थी । उसके विरूद्ध कबीर के सिद्धान्त अनुभूत्याधारित होने के कारण क्रियात्मक जीवन के माध्यम से ही अपना प्रादुर्भाव पाने के कारण सामान्य जन-गण को प्रभावित करनेवाले सिद्ध हुए । इसी का प्रभाव है, कि जो आज तक कबीर मत के संकुचित सम्प्रदाय के बाहर भी सभी संत मत उन्ही सिद्धान्तों के आधार पर विकसित एवं प्रसरित हुए है । यही वह पुरातन मानव धर्म है, जिसका स्थान ससार के सभी धर्मों में अक्षुण्ण है । दृष्टि-भेद सिद्धान्त-ज्ञान में परिवर्तन नही लाता । कबीर साध्य शंकर की भाँति ऐक्य (ब्रह्म-अश नही, 'अह ब्रह्म') से प्रारम्भ न होकर भी उसकी समाप्ति अवश्य जीव-ब्रह्म ऐक्य में है । इस प्रक्रिया मे उनके साध्य तक पहुँचने के बहुत से साधन भी अपने आप मे साध्य प्रतीत होते है, यही कारण है, कि उनका स्वभाविक विकासक्रम हमे अपनी ओर आकर्षित ही नही करता, अपितु विशेष रूप से प्रभावित भी करता है । कबीर की वाणी मे; विचारधारा में किसी ने सम्बद्धता स्थापित करने का प्रयत्न नही किया—इसीलिए उसे अपढ़, अक्खड आदि कह कर अपने मनोनुकूल विचारधारा का प्रतिपादन उसमे होता रहा है—यहाँ उसके साध्य और क्रमश उनके साधनों का सम्बद्ध अथवा वैज्ञानिक विश्लेषण देने का

१. ७९३ क० ४ । २. ८५५ क० १ ।
३. ११०३ क० ३ । ४. ३२७ क० २१ ।
५. १२५२ नाम० ३ । ६. ३२७ क० १६ ।

प्रयत्न किया जा रहा है।

उसका कथन है, कि सर्वप्रथम जीव को अपने जीवन का उद्देश्य केवल-मात्र 'माया से रक्षा' ही समझना चाहिए, उसके लिए विभिन्न साधनों का निर्देश किया है, जिनका विवेचन आगे है। इन साधनों से जब जीव अपने को माया से रक्षित पाता है, तो 'यम से रक्षा' की दिशा में उसे प्रगतिशील होना चाहिए—उसकी 'माया से रक्षा' स्वतः ही 'यम से रक्षा' में परिणत हो जाती है। वस्तुतः 'यम से रक्षा' ही इस 'भवबन्धन का नाश' अथवा 'भवसागर-पार' पहुँचाती है। और यही 'आवागमनरहित' होना अथवा 'मोक्ष-पद की प्राप्ति' है तथा यह मोक्ष-प्राप्ति ही 'भगवत्प्राप्ति' की ओर ले जाती है—'भगवत्प्राप्ति' का स्वरूप उसने 'ब्रह्म-ज्ञान' —पुनः 'ब्रह्मरसायन' एवं 'ब्रह्मानुभूति' कह कर स्पष्ट किया है और अन्त मे यही 'ब्रह्मानुभूति' है, जो 'तल्लीनता' एवं पूर्ण ऐक्य मे परिणत हो जाती है। यही साध्य का भी साध्य और मानव-जीवन का एक-मात्र सार-भूत सत्य है। इस साध्य की विशेषता इतनी ही है, कि इसके साधन का प्रत्येक स्तर भी अपने आप में साध्य है और उसके साधन—दैनिक जीवन के वह आचरण है, जिन्हें अपनाना शुष्क ज्ञान नही, मानव-जीवन का एक अंग-मात्र बनाना ही है। क्रमशः इनके साधनो का विवेचन कबीर के साध्य-साधन को समझने मे सहायक सिद्ध होगा।

माया से रक्षा के कबीर ने तीन साधन बताए है। सर्वप्रथम तो जीव स्वतः प्रयत्न करता है उन प्रयत्नों में उसने मानव को अपने विकार भुलाने के लिए कहा है, और विकार भुलाने के बाद ही अपनी इन्द्रियों पर विजय पानेवाला मनुष्य ही माया से बच सकता है।[१] पुनः इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए उसने अभ्यास का महत्त्व बताया है और स्पष्ट कहा है, कि अभ्यास से वैराग्य की ओर बढ़ा जा सकता है, तब वह वैराग्य ही माया से रक्षक सिद्ध हो सकता है। योग तथा ध्यान में तो चित्त लगाया ही नहीं, ऐसी अवस्था में बिना वैराग्य के माया से रक्षा कैसे सम्भव है।[२] शारीरिक प्रयत्नों एवं साधनो का महत्त्व बताने के बाद वह अन्तर्मुखी होता हुआ स्मरण की शक्ति से हमारा परिचय कराता हुआ कहता है, कि 'सिमरि सिमरि हरि हरि मनि गाइए' तभी तेरी सब आपत्तियाँ नष्ट होंगी तथा उसी स्मरण के कारण माया तुम्हारा कुछ नही बिगाड सकती। अतः तू उसे ही स्मरण कर। लेकिन जब कबीर देखता है, कि विकारों का त्याग, इन्द्रिय-दमन, योग, अभ्यास, वैराग्य एवं स्मरण से ही जीव इतना विश्वास नही पैदा कर सका, कि वह माया से अपनी रक्षा कर सके तब जीव को वह गुरु की कृपा प्राप्त करने का मार्ग बताता है, क्योंकि 'गुरू बिना गत नहीं', इन साधनों का पथप्रदर्शक जब तक गुरु न होगा तब तक सफलता असम्भव है। इसीलिए उसने कहा है, कि 'इहु सिमरनु सतिगुर ते पाइऐ।'[३] तभी इस स्मरण की तल्लीनता माया से तुम्हारी रक्षा कर सकेगी। पुनः

१. ५ श्लोक। २. ३२६ क०, ३४।
३. ६७१ क० १०।

वैरागी को सम्बोधन करते हुए सतर्क किया है, कि बाह्याडम्बरी होकर वैराग्य प्रदर्शित करना और बात है, यदि वह वैराग्य प्राप्त करना चाहते हो, जो माया से तुम्हारी रक्षा कर सके, तो बिना विचारे सत्गुरू की शरण लो, वही तुम्हारे अन्दर वह वैराग्य पैदा कर सकेगा, जिसकी सब अभिलाषा करते है, और जो वस्तुतः माया से रक्षा कर सकता है।[1] माया के स्वरूप, गुण, कार्य एव प्रभाव के विस्तार में न जाकर (जिसका वर्णन आगे है) कबीर ने स्पष्ट ही कहा है, कि जड़-चेतन, सुर-असुर, तथा संसार के सभी चराचर प्राणियो को अपने पाश में आबद्ध करनेवाली माया से यदि छुटकारा पाना है, तो सच्चे सत की प्राप्ति एवं सगति करो—एक-मात्र वही माया से रक्षा कर सकता है।[2] ससार के सम्पूर्ण विवेकियों को अपने बस मे करनेवाली माया को मेरे गुरू ने वरण कर अपनी स्त्री बना लिया है। सभी को तग करनेवाली माया मेरे गुरू की दासी बन गई है।[3] ऐसे गुरू की कृपा से ही हमारी भी माया से रक्षा हो सकी है।

जिस सर्पिणी माया ने चराचर जगत् तो क्या ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक को न छोड़ा और सम्पूर्ण जगत को ग्रस लिया, उसी माया को गुरू के आशीर्वाद से मैंने देख लिया। यही 'सत्य' की परख है, जिसने सत्गुरू-कृपा से सत्य को जान लिया, माया स्वतः ही उससे दूर भाग जाती है। इस प्रकार उसकी माया से रक्षा हो जाती है।[4] सन्त के भी पीछे पड़नेवाली यह माया केवल 'गुरू परसादी मारहि डरै' और सत्गुरू को सामने देख यह भाग खड़ी होती है। अतः कृपालु गुरूदेव के मिलते ही उससे रक्षा हो पाती है।[5] नारद के संयम को भी समाप्त कर देनेवाली इस माया से कबीर की रक्षा सत्गुरू ने ही की है।[6] इतनी शक्तिशाली माया, जो सारे संसार को अपने मोह के पाश में आबद्ध किए है; अनेकानेक रूप धारण कर कबीर के पास आई, लेकिन जब सत्गुरू ने उससे कबीर की रक्षा कर ली तो उसी माया ने कबीर को झुक कर प्रणाम कर दिया।[7]

इस प्रकार सांसारिक जीव का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है माया से रक्षा। जब तक वह माया से रक्षित नहीं हो सकता सुख, शांति तथा आनन्दपूर्ण जीवन की ओर नहीं बढ़ सकता। जिसके लिए उसे स्वतः प्रयत्नशील होना आवश्यक है, उसके स्वतः प्रयत्न का महत्त्व भी बिना गुरू की कृपा एवं पथ-प्रदर्शन के सम्भव नहीं। अतः सतगुरू की पहिचान एवं उसकी शरण लेकर साधन में तत्पर रहना ही माया से रक्षा का एक-मात्र उपाय है। इस प्रकार माया से रक्षित होने के बाद जीव संसार के मोह-माया के चक्कर से तो बच कर चल सकता है, पर प्रश्न होता है, वह जाएगा कहाँ ? अविरल गति से प्रवहणशील नश्वर ससार की गति को देख

१. ११०४ क० ८। २. ११६० क० १४।
३. ४७६ क० ४। ४. ४८० क० १९।
५. ८७१ क० ७। ६. ८७२ क० ६।
७. ८ श्लोक।

अनायास ही वाणी पुकार उठती है—यम के घर ! इस यम के भय ने ही तो मनुष्य में सदा जीवित रहने की अभिलाषा उत्पन्न की थी। लेकिन उसे असम्भव जान कर ही अपने पुत्र (पुंनाम्ना नरकात् त्रायते इति पुत्रः) को देखने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई और संसार का विकास-क्रम अक्षुण्ण बना चला आ रहा है और बना रहेगा। अतः मायारक्षित जीव पुनः यमरक्षित होने की दिशा मे अग्रसर हुआ। यही मानव-मनोविज्ञान का संदेश है और कबीर के साध्य की ओर प्रगति की दूसरी सीढ़ी।

सम्पूर्ण विश्व को छलनेवाली सर्पिणी माया को ही यदि पहचान कर जीत लिया जाए, तो माया के प्रसार का ही नाशक यम जीव का क्या कर सकता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है, कि माया-विजेता स्वतः ही यम से रक्षित हो जाता है। योग के महत्त्व को कबीर ने स्वीकार न किया हो, ऐसी बात नही। अतः कहा है, जब उन्मन मुद्रा में रह कर विशुद्ध हुआ तब प्राणायाम पर आधिपत्य जमा लिया और इस प्रकार वृद्धावस्था ही क्या जन्म तथा मृत्यु से भी रहित हो गया। इन यौगिक क्रियाओं द्वारा भी जीव किसी न किसी अंश तक मृत्यु से बच जाता है।[2] इतना ही नही, माया से प्रभावित हुए बिना जीव जब शोकरहित हो जाता है, तब भी यम से उसकी रक्षा हो जाती है।[3]

मन को कूटना ही वास्तविक कूटना है और जो व्यक्ति मन को वश में कर ले, उसका यम कुछ नहीं बिगाड़ पाता।[4] इतना ही नही, ब्रह्म के ज्ञान से भी यम से छुटकारा होता है, कबीर कहता है, कि जब उसने ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो वह यम ही उसके लिए राम बन गया। इस प्रकार यम का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया।[5] तथा जिह्वा से रामामृत पान करनेवाले संत से यम स्वतः ही दूर भाग जाता है और इस प्रकार वह सदा जीवित रहता है अर्थात् अमर हो जाता है।[6] संसार के प्रत्येक योगी, यती एवं तपस्वी को यम का आतिथ्य स्वीकार करना ही पड़ता है, लेकिन जो राम की सेवा करता है, वह अवश्यमेव यम से बच जाता है। यह सब जीव के व्यक्तिगत प्रयत्न हैं, जिनसे वह मृत्यु से बचने का प्रयत्न करता है।[7] लेकिन अपने को पूर्णतया सफल न पाकर वह ब्रह्म से विनती करता है, कि शील, धर्म, जय और भक्ति वह संसार में कुछ भी नही कर सका, तो भी भगवान मेरी प्रार्थना सुन कर ही मुझे यम की यातना से बचाओ।[8] ब्रह्म से विनती करने के लिए भी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है और संत मत मे होनेवाले संत एवं सद्गुरू के महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। अतैव अनायास ही वह याद हो आता है। संसार सागर मे डूबते हुए मुझे—गुरू के गुणों की लहर का झोंका लगा और उसी

१. ४८० क० १६। २. ६७१ क० १०।
३. ३३४ क० ५३। ४, ८७२ क० १०।
५. ३२६ क० १७। ६. ३२५ क० १३।
७. ४७६ क० ५। ८. ८५६ क० ५।

से मेरा जर्जर बेड़ा (देह) इससे पार हो गया ।[1]

जो मन से लड़ता है तथा 'गुर उपदेसि काल सिउ जुरै'[2] काल से भी युद्ध करता है, वह अपने अन्दर ब्रह्म को उद्भासित कर लेता है। ऐसी अवस्था मे न तो उसे वृद्धावस्था ही सताती है और न ही मृत्यु आती है। अतः गुरू उपदेश ही यम से रक्षक सिद्ध होता है। यम के असह्य डंडे से अनायास ही मिल जानेवाले साधू ने आवरण देकर रक्षा की। इस प्रकार स्वत: रक्षित संत एवं सत्गुरू ही किसी भी जीव की यम से रक्षा करने में समर्थ है।[3] गुरू द्वारा प्राप्त राम नाम में जिसका प्रेम है—यम उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता[4] और जिनका राम नाम में प्रेम नही, उन्हें धर्मराज के यहाँ जाने से कोई रोक नहीं सकता।[5] अतैव ईश्वर के डर तथा स्मरणशक्ति से ही मृत्यु के भय की फाँसी कटती है, अन्यथा कभी नहीं।[6] अतः ब्रह्म रूप से शुद्ध एवं पवित्र होने का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि केवल-मात्र उस हरि के नाम के बिना संसार के सभी प्राणी बंध कर यमपुरी चले जाते है उनकी रक्षा कोई नहीं कर सकता।[7] अत में कबीर गर्वोक्ति करता है कि वह यम भी मेरा 'न करै तिरसकार' क्योंकि मैने प्रभु का—उस प्रभु का जाप किया है, 'जिनि उह जमूआ सिरजिआ।' जिसने उसका निर्माण किया है।

इस प्रकार जीव का साध्य यम से रक्षित हो, उस पर विजय प्राप्त कर, मृत्यु के भय को अपने से दूर भगाना है। मृत्यु से निःशंक होने पर ही मनुष्य भव-बाधाओं का नाश करने में तल्लीन हो आत्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकेगा। अतः उसके साध्य का विकास भवबंधन से मुक्ति पानेवाले जीव के साधनों के पर्यवेक्षण में ही स्पष्ट होगा।[8]

भवबंधन का नाश कर भवसागर के पार जाने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है, कि मानसिक विकारों को दूर किया जाए अथवा दूसरे शब्दों में इन्द्रियों के क्रिया-कलापों में संतुलन एवं निग्रह की आवश्यकता है। माहित्र ॠचा के जाप द्वारा 'पंच चोर की जाणै रीति' पाँच इन्द्रिय-रूपी चोरों को बाँधने की रीति समझनी चाहिए, क्योंकि इन्द्रियों को बस में कर लेने पर ही मानव भवबाधाओं के पार पहुँच सकेगा।[9] यह ठीक है, कि ब्रह्म का पार नही पाया जा सकता, लेकिन पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने पर पाप तथा पुण्य दोनो से छुटकारा पाकर जीव भवबाधाओं से अतीत हो जाता है।[10] इतना ही नही, अस्थिर शरीर के महत्त्व को समझ कर जो अपनी पाँचों इन्द्रियों को चूर कर देते हैं, भवबंधन तोड़ वे भव-पार तो पहुँच ही जाते हैं, ऐसी अवस्था में परमपद भी उनसे दूर नही रह जाता।[11] और राम-कसौटी पर केवल जीवन्मृत ही कसा जा सकता है, अर्थात् जीते जी जिसने संसार की और से

---

१. ६७ श्लोक। २. ११५६ क० ११। ३. ७८ श्लोक।
४. ४७६ क० ५। ५. ३२४ क० ५। ६. ११६१ क० १७।
७. ३४ श्लोक। ८. १४० श्लोक। ९. ३४४ क० ३।
१०. ३४१ क० २३। ११. ४७८ क० ११।

अपनी इन्द्रियों को मृत बना लिया है, वही राम के पास पहुँच सकता है।[१] इसीलिए उसने आगे कहा है, कि यह देह रूपी बेड़े तो अत्यंत जर्जर है, जो पाप के भार से दबे हुए हैं, वे भारी होने के कारण भवसागर के पार नहीं पहुँच पाते तथा जो पुण्यात्मा हल्के होते है, वे ही संसारसागर से तर पाते है।[२] इस प्रकार सत्कर्म करनेवाला ही भव-पार पहुँच सकता है, अप्रत्यक्ष रूप से जीव को सर्तक करते हुए कहा है कि मन के विकारों को छोड़ कर विषय-वासनाओं के प्रति उदासीन होकर—मन को पूर्णतया जीतने पर ही संसार को जीता जा सकता है। कबीर का 'मनु जीते जगु जीतिआ'[३] गुरू नानक में 'मनि जीते जगु जीतु'[४] बन कर उतर आया है।

माया से रक्षा हो जाने पर भी—यदि मन का त्याग न किया तो भी जीव भव-पार नहीं पहुँच सकता, क्योंकि, अभिमान के कारण बड़े-बड़े मुनि भी भव-बन्धन से छुटकारा नहीं पा सके।[५] वस्तुत: अभिमान ही 'अहकार को जागृत कर देता है और जब तक इस 'अह' की भावना का विलीनीकरण नहीं होता तब तक भयबन्धन को तोड़ा नहीं जा सकता। अत: भव-पार पहुँचने के लिए 'अहं' भाव का त्याग आवश्यक है।[६] उसके भी त्याग का ढग बताते हुए कहा है, कि जीव तू मार्ग का रोड़ा बन जा अर्थात् नम्रता अपना, लेकिन रोड़ा भी पथिक को चुभ सकता है, अत. मार्ग की धूलि बन, परन्तु वह भी उड कर वस्त्रो को मलिन कर सकती है, अत: स्वभाव न बदलनेवाले जल का रूप धारण कर तभी भव-पार होकर उस हरि से मिल सकेगा।[७]

कबीर की विचारधारा में प्रयत्न का भी विशेष स्थान है, इस तथ्य की पुष्टि में उसने कहा है, कि ब्रह्म को समझाते हुए जो पूर्णत: उसकी खोज मे लग जाता है, वह अवश्य ही भवसागर के पार पहुँच जाता है। उसका अनुभव है, कि पूर्ण विश्वास से किया हुआ प्रयत्न कभी असफल नहीं होता।[८] इसी विचार का समर्थन करते हुए उसने कहा है, हे जीव ! तू ससार मे व्यर्थ ही सो मत, अपितु हरि का स्मरण किए जा। कभी तो अवश्य ही संसारसागर के पार पहुँच सकेगा, क्योंकि वह तेरी पुकार सुनेगा ही।[९]

कर्म तथा योग का महत्त्व स्थापित करते हुए उसने बताया है, कि यौगिक क्रियाओं से जब अनाहत शब्द को सुन लिया और उसे अनवरत अपने मन में बसा लिया, तो अनायास ही भव-पार पहुँच कर उससे ऐक्य स्थापित करने मे प्रयत्नशील हो गया। अत: हे प्राणी। तू निरन्तर कर्मण्य बन कर कर्म करता चल। ऐसी अवस्था में स्वत: ही संसारसागर के पार पहुँच जाओगे।[१०]

भौतिक ऐश्वर्य के साधन जुटाते हुए तथा शारीरिक उपभोग की सामग्री

---

१. ३३ श्लोक। २. ३५ श्लोक।
३. ११०३ क०, २। ४. ६ म० १, २८।
५. १५६ श्लोक। ६. ११६० क०, १४।
७. १४६, १४७ श्लोक। ८. ३४२ क०, ३१।
९. २२३ श्लोक। १०. ९७१ क०, १०।

एकत्रित करते हुए जिसने ब्रह्म का ज्ञान नही प्राप्त किया है, वह लौकिक दृष्टि से चतुर होते हुए भी भव-पार नही पहुँच पाता और यही डूब जाता है, अतः शारीरिक-तुष्टि मे ही लिप्त न रहो।[१] अत ब्रह्म को अथवा आन्तरिक 'शून्य' को जान कर ही उसमें जो व्यक्ति अपने मन को स्थिर कर पाता है, वही भवसागर से तर जाता है, अन्य प्राणी नही।[२] जो 'अविगत' को जान कर उसका भजन करता है वह भक्त कभी भवबन्धन में नही फँसता और अनायास ही पार पहुँच जाता है।[३] इस प्रकार इन्द्रियाँ, शरीर एवं बन्धु-बांधव किसी के सहायक नही बन पाते, क्योंकि मृत्यु के समय सभी उसे छोड़ जाते हैं, अत. इन सबका त्याग 'जो हरि धिआवै' वह 'जीवत बन्धन तोरै'[४] और भव-पार पहुँच जाता है।

इस प्रकार 'ब्रह्म' का ज्ञान प्राप्त कर उसमें रमने से ही भवबन्धनो को तोड़ कर तुम संसार के जंजाल से छूटोगे, अन्यथा निश्चय ही इसमे डूब जाओगे।[५]

जीव के बाह्य प्रयत्नों के बाद ब्रह्म के 'नाम' एवं जप का महत्त्व बताया गया है तथा भव-पार करने के लिए आवश्यक साधन के रूप मे उसे अपनाने का आग्रह किया गया है। 'राम' नाम से हृदय लगते ही सारा सांसारिक भ्रम एवं भय दूर हो गया तथा कबीर कहता है, कि वह उसी के रग मे रंगा गया।[६] बाह्याडम्बर का बिरोध करते हुए उसने योगी को कहा है, कि नग्न मृग मोक्ष नहीं पा सकते, क्योंकि 'नाम' के बिना किसी ने भी मुक्ति नहीं प्राप्त की, अतः 'सरब तिआगी जपु केवल रामु।'[७] महत्त्व काशी में मरने का नहीं, बल्कि उस समय के विचारों का है, अतः हे जीव ! हरि के नाम मे चित्त लगा, क्योंकि उससे ही परम गति की प्राप्ति होती है, इसमें कोई सदेह नही।[८] यदि हृदय मे राम निवास करते है, तो जुलाहे की जाति होने से भी कोई हानि नहीं, क्योंकि 'रमईआ कंठ मिलु' तो इतने मात्र से ही 'चूकहि सरब जजाल।'[९] इस प्रकार भव-पार करने मे जाति-विशेष का कोई स्थान नही, महत्त्व तो केवल तारक 'राम' नाम का है। अंधकारमयी माया से बच नही सकते, यदि अपनी जिह्वा से राम-नाम का उच्चारण न करोगे—इतना ही नही, उत्पत्ति से विनाश तक सदा रोते ही रहोगे—अतः भवबधाओं से पार पाने के लिए उसका नाम लेना ही उपयुक्त साधन है।[१०] इस प्रकार जो धार्मिक व्यक्ति मन का मंथन करता है, वह 'नाम' के सहारे अवश्य ही भव-पार पहुँच जाता है।[११] सांसारिक भ्रम को समझने के बाद कबीर ने राम-नाम का रस चख लिया और उसका नाम लेने से ही हरि ने भव-पार पहुँचा दिया।[१२] पुनः जीव को सतर्क करता हुआ कहता है, कि हे मूर्ख जीव ! ससार में सम्पूर्ण बुरे काम करते हुए यदि तू ने राम

१. ११२४ क०, ४। २. ११६२ क०, २०।
३. ७१३ क०, ४। ४. ४८० क०, १८।
५. ११०३ क०, २। ६. ६५५ क०, ४।
७. ३२४ क०, ३। ८. ३३५ क०, ५५।
९. ८२ श्लोक। १०. ३२५ क०, ८।
११. ४७८ क०, १०। १२. ११०३ क० ४।

का नाम नहीं जाना तो भवसागर के पार कैसे उतर सकेगा ? अतः भव-पार पहुँचने के लिए नाम लेना आवश्यक है ।[१] ब्रह्म के महत्त्व को जाननेवाले ही देवी-देवताओं के पीछे भागे फिरते है और नाम की गति नही जानते ।[२] अतः स्पष्ट ही कहा है, कि जिस घट (देह) में राम-नाम की उत्पत्ति नहीं होती, वह अवश्य ही फूट कर नष्ट हो जाता है ।[३] जिस प्रकार परोपकारी व्यक्ति बिना दूसरे की भलाई किए रह नहीं सकता, उसी प्रकार प्रभु के नाम के बिना कोई प्राणी संसारसागर के पार कैसे उतर सकता है ?[४] नश्वर संसार की अस्थिरता प्रतिपादित करते हुए कबीर ने कहा है, कि अपनी देह की ओर देख कर यह समझ लो, कि 'राम-नाम बिनु सभै बिगूते' सभी ठगे गए क्योंकि उसके बिना किसी ने गति नहीं पाई ।[५] इसीलिए हरि का बालक बन कर कबीर प्रार्थना करता है, कि मेरे अवगुणों का नाश कर मुझे सन्मति दीजिए तथा मेरा मन अपने में लगाइए, क्योंकि आपके नाम के बिना मैं कैसे संसारसागर के पार उतर सकता हूँ ? यही तो भव-पार करने का एक-मात्र साधन है ।[६] जिस 'जिह पावक सुरि नर हैं जारे' उस अग्नि से नाम रूपी जल ने ही भक्तों की रक्षा की है ।[७] इस प्रकार नाम का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है । नाम के महत्त्व का ज्ञान होने के बाद कबीर स्पष्ट ही कहता है, कि चाहे नाम लेते-लेते मेरा शरीर भस्म ही क्यों न हो जाए, किन्तु मैं नाम लेना नहीं छोड़ सकूँगा, क्योंकि वह मेरे हृदय में समा चुका है । संसार में किसी की परवाह करने की आवश्यकता नही, 'रा' और 'म' दो अक्षरों का नाम ही ले लो । यदि कहीं स्वामी होगा, तो वह स्वतः ही रक्षा कर लेगा ।[८] योग तथा ध्यान में चित्त नहीं लगाया, और वैराग्य के बिना माया से छुटकारा नही—सारा ब्रह्माण्ड खोज लिया, किन्तु राम के समान कृपालु कोई नहीं पाया । अतः उसके नाम के सहारे के बिना जीवन कैसे पार लग सकता है । इतना ही नहीं, नश्वर देह की असारता जान कर भी राम-नाम में दृढ़ क्यों नहीं हो जाते, एक-मात्र वही तो इस भवसागर से पार पहुँचा सकता है । जीवन के बाह्याडम्बरों को छोड़ कर हे जीव ! तुम केवल 'राम' नाम का जाप करो । इतने-मात्र से ही तुम्हारा भवसागर से तर जाना निश्चित है ।[९] इस प्रकार 'राम' नाम से ही भव-पार पहुँचा जा सकता है, इसमें संदेह नहीं, लेकिन नाम के रहस्य को जाने बिना नहीं । क्योंकि अर्थ जाने बिना वेदों, पुराणों का पठन भी 'खर चन्दन जस भारा' से अधिक कोई मूल्य नहीं रखता । इस प्रकार 'नाम' के रहस्य को जाने बिना वह भव-पार नहीं पहुँचा सकता ।[१०] यह तार्किक एवं बौद्धिक कबीर का मत है, लेकिन भक्त कबीर ने नाम के महत्त्व को समझाते

---

१. ११०५ क०, १० । २. ३२२ क०, ४५ ।
३. ३३५ क०, ५५ । ४. ८७२ क० २ ।
५. ७१३ क०, ५ । ६. ४७८ क०, १२ ।
७. ३३३ क०, ५० । ८. ३२६ क०, ३१ ।
९. १३४६ क०, ३ । १०. ११०२ क०, १ ।

हुए कहा है, कि स्वप्न में बर्राते हुए भी यदि किसी के मुख से 'राम' का नाम निकल गया तो वह भी इतना पवित्र हो गया, कि 'ताके पगकी पानही मेरे तन को चाम।'[1] इतना ही नहीं, अपनी इसी विचारधारा की पुष्टि मे नाम-स्मरण का महत्त्व बता उसका आग्रह करते हुए उसने कहा है, कि उसके बिना तुम डूबते ही जाओगे, क्योंकि स्त्री, पुत्र, शरीर, घर तथा सुख देनेवाली सम्पत्ति आदि में से कुछ भी तो काल की गति से बच नहीं सकता। दूसरी ओर अजामिल, गज तथा गणिका, जिन्होंने निकृष्ट कर्म किए थे, वे भी राम का नाम लेने-मात्र से भव-पार उतर गए।[2] अतः भिन्न-भिन्न योनियों में भ्रमण करनेवाले जीव—तू नाम से दूर क्यों भागता है ? गुरू-कृपा से 'राम' को स्नेही बना उसी में तल्लीन हो जा। एक-मात्र वह नाम ही भव-बाधाओं से तेरी रक्षा कर भवबन्धनों से छुटकारा दिलवाने मे सहायक सिद्ध हो सकेगा।

अब तो कबीर के लिए नाम का महत्त्व इतना बढ़ चुका है, कि वह स्पष्ट ही कहता है, कि साधक, सिद्ध एवं मुनि सभी अपने सम्पूर्ण प्रयत्न करके हार गए, किन्तु एक नाम रूपी कल्पतरु ही उन्हें भवसागर से तारने मे सहायक हो सका—और कबीर को इस बात की प्रसन्नता है, कि उसने नाम को पहचान लिया है।[3] इसी नाम ने माया के जलते अंगारे को बुझा कर कबीर के मन को संतोष दिया तथा जिह्वा से 'अमृत नाम जपउ' कबीर प्रभु का बिना मोल का दास बन गया।[4]

इस प्रकार न केवल कबीर की विचारधारा के अनुकूल, अपितु सम्पूर्ण सत मत एवं आज तक चली आनेवाली उसकी परम्परा में 'नाम' का महत्त्व अक्षुण्ण रूप से बना हुआ है। 'नाम के बाद उसके जप तथा भजन का महत्त्व बताया है, जिसकी परिणति भगवद्भक्ति मे है और भक्ति स्वतः ही भव-तारक तरणी. सिद्ध होती है।

हे जीव ! माया से मोहित तुझे सत्य का बोध कैसे हो ? अतः विषय-रस का त्याग कर—अनन्त जीवन पर्यन्त ईश्वर का जाप कर। यही वाणी तुझे भव-सागर के पार पहुँचाने में सफल सिद्ध होगी।[5] ८४ लाख योनियों का भ्रमण कर आनेवाले जीव ! इस योनियों के चक्कर से बचने के लिए तू स्थिर एवं चिरंतन (जो न आते हुए दीखता है न जाते हुए) राम का भजन कर। वही इससे बचा सकेगा।[6] बेद, पुराण और स्मृतियाँ खोज डालीं, लेकिन किसी से भी उद्धार न हो सका। अतः केवल इसी 'राम' का जाप करो, जो जन्म-मरण के बंधन को काट देगा।[7] क्षणिक देह द्वारा प्राप्त अमूल्य समय का अपव्यय न कर 'भजहु गोविन्द भूलि मति जाहू ॥[8] क्योंकि वृद्धावस्था में वाणी एवं देह के अन्य अग कार्य न करेंगे, अब तक वे कार्य करते हैं, तभी जाप नहीं करते, तो उस समय कैसे करोगे ?

---

१. ६३ श्लोक। २. ६१२ क० ५।
३. ३३० क०, ३७। ४. ३३१ क०, ४०।
५. ९१ क०, १। ६. ३३७ क० ६२।
७. ४७७ क० ६। ८, ११५१ क० १।

अन्यथा बाद मे पछताना पड़ेगा, अतः इसी समय भजन एवं जाप कर लो, यही संसारसागर से पार ले जाने मे सहायक सिद्ध होगा। नाम एव जप ही नही, जो व्यक्ति 'गुरमति रसि रसि हरि गुन गावै' वे भी भव-पार पहुँच जाते है।[१] जीव में यदि प्रेम करने की साध है, तो देवी-देवताओं से प्रेम न करके, कबीर उन्हें एम-मात्र सत्य 'ब्रह्म' से ही प्रेम करने के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि वही तो परिपक्व एव पूर्ण है और ब्रह्म के प्रति किया गया प्रेम ही तो भक्ति है।[२] अतः गुरू द्वारा प्रदर्शित जो भक्ति-मार्ग है, वही भव सागर से पार लगा सकेगा।[३]

नाम एवं जप का महत्त्व स्थापित करते हुए भी कबीर ने गुरू के महत्त्व को भुलाया नही। इसीलिए कहा है, कि क्षणिक देह का कोई भरोसा नही, अतः संसार-सागर को पार करने के लिए गुरू की शरण ली है।[४] क्योंकि 'जल-भरी-गागरी' यह देह तो क्षणिक ही है। अतः उसकी रक्षा के लिए गुरू की शरण लेनी आवश्यक है।[५] वह गुरू केवल रक्षक ही नहीं, अपितु संसारसागर मे डूबा हुआ देख कर भी गुण-विधान गुरू ने वहाँ से भी उसके जर्जर बेड़े (देह)-का उद्धार किया तथा पुनः भव-सागर से पार पहुँचा दिया।[६] इसीलिए कबीर ऐसे गुरू को ढूँढता है, जो उससे संतुष्ट होकर उसे अपनी कृपा का पात्र बनाए। तभी वह गुरू उसे भव-पार उतार कर उसके लिए मुक्ति का का द्वार खोल देगा।[७] स्मरण का महत्त्व बताते हुए भी कहा है, कि निरंतर स्मरण करते हुए भी जब गुरू की कृपा होगी, तभी जीव आसानी से भव-पार पहुँच सकेगा।[८] सभी यौगिक क्रियाओं को करने के बाद तथा 'अहं' भाव का भी लोप करने के बाद जब सत्गुरू की शरण मे जाओगे, तभी वह सम्पूर्ण भव-बंधनों को तोड कर भवसागर के पार उतारेगा।[९] इस प्रकार नाम एवं जप का अपना महत्त्व होते हुए भी गुरू-कृपा बिना भव-पार नही पहुँचा जा सकता। इतना ही उसने स्पष्ट कहा है, कि 'सतगुरू बिनु वैरागु न होअइ' तथा सत्कर्म बिना सत्गुरू नही। उन्हीं से 'सहज' प्राप्त किया जा सकता है, तथा वही भव-पार लगा सकते हैं।[१०] अतः उनकी शरण मे जाना तथा कृपा प्राप्त करना आवश्यक है। यमराज की अविरोध गति का प्रदर्शन करते हुए कबीर कहता है, कि सत्संगति करो अथवा साधुओं की संगति का सहारा लो, वह भी भव-पार कराने मे सहायक सिद्ध होगी।[११] साधु-संगति का महत्त्व स्थापित करते हुए वह उसे श्रम-साध्य से अधिक भाग्य (कृत कर्मों का फल) में लिखी हुई बनाता है, यदि भाग्य में सत्संगति होगी, तभी भव-पार पहुँच कर मुक्ति प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा नहीं।[१२] इसीलिए कबीर दीन होकर ब्रह्म से प्रार्थना करता है, कि हे भगवन् ! मुझे सन्मार्ग पर लगाइए, जिससे भव-भय-बधन टूट जाएं तथा मैं जन्म-मरण से छुटकारा पा जाऊँ।[१३] सन्मार्ग क्या है ? इस ज्योति

---

१. ३२६ क० १६ । २. २४० श्लोक । ३. ३३५ क०, ५६ ।
४. ३३६ क०, ५६ । ५. ७३ श्लोक । ६. ६७ श्लोक ।
७. ५६ श्लोक । ८. ९७१ क०, ६ । ९. ११६० क०, १४ ।
१०. ११०४ क०, ८ । ११. ११०६ क०, ११ । १२. २३१ श्लोक ।
१३. ४७५ क० १ ।

के रहस्य को जानने की अभिलाषा से उसमें तल्लीनता। इसीलिए कहता है कि जो व्यक्ति उस 'जोति महि मनि असथिरू करै, कहि कबीर सो. प्रानी तरै।'[१] इस प्रकार जिसके हृदय में गोपाल निवास करता है, वह स्वतः ही भव-पार पहुँच जाता है।[२] वहाँ भगवत्प्राप्ति साध्य के लिए भव-पार पहुँचना आवश्यक साधन या उपयुक्त मार्ग माना है, वहाँ भवबंधन-नाश को साध्य मानने पर भगवत्प्राप्ति एवं हृदय में ब्रह्म को उद्-भासित करना भी साधन माना है। इस प्रकार साध्य-साधन में परस्पर अन्योन्याश्रय -सम्बन्ध स्थापित करके ही भवबंधन-नाश एवं भगवत्प्राप्ति की ओर जीव को अग्रसर किया है।

भवबंधन को नष्ट कर भव-पार पहुँच कर आवागमन से रहित होकर जीव मोक्ष प्राप्ति का इच्छुक हो जाता है। कबीर के साध्य की ओर प्रगति में यह मोक्ष प्राप्ति ही साधन-श्रृंखला की अगली कडी है।

चंचल मनोवृत्तियों को बंधन में रख मनोविकारों को भुलाना ही मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का भी सर्वप्रथम साधन है। नवमी को नव द्वारों की साधना कर जब 'लोभ मोह सरब बिरसि जाहु' तभी जीव युग-युगान्तर तक 'अमर फल खावहु।'[३] क्षणिक जीवन का तार टूट जाता है, लेकिन जो प्राणी अपनी पाँचों इन्द्रियों को चूर कर लेते है, उनसे परम पद (अभय पद) दूर नहीं रहता अर्थात् वे शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते है।[४] इन वासनाओं की अग्नि को बुझाना भी जीव के बस में नही, गुरू-कृपा से ही ऐसा होता है। स्पष्ट ही कहा है, जब गुरू ने कृपा से वासनाओं की 'अनलु बुझाइआ' तो उसके वन्धन में पड़ते ही मुक्ति की प्राप्ति हो गई।[५] इस प्रकार यदि जीते जी ही जीव जीवन्मृत हो जाए अर्थात् इन्द्रियों को मार ले, तो वास्तविक मरण होने पर भी वह जीवित ही रहता है, अर्थात् मोक्ष-पद को प्राप्त कर अमर हो जाता है।[६] यही जीव जीवन्मृत होकर भी मरजीवा कहलाता है।[७]

सूफी मत की साधना की अन्तिम अवस्था में इसे ही 'मारिफत' कहा गया हैं, जहाँ आत्मा में ही, परमात्मा की अनुभूति होने लगे तथा 'अनलहक' सार्थक होता है। प्रेम मे चूर हो आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा समाप्त होती है तथा शराब-पानी के मिलन की तरह उसका परमात्मा से ऐक्य होता है।

इन्द्रियों को बस में करने के साथ ही साथ साँसारिक रस का त्याग कर माया से बचना पड़ता है। कबीर का कथन है, कि यौगिक क्रियाओं से 'अनहद किंगुरी बाजी' उसे सुन कर मैं ने माया को भी विफल कर दिया और माया के अस्थिर होते ही मन आनन्द से परिपूर्ण हो गया। तब आनन्द से परिपूरित यही जीव आवागमन के बंधन से छूट कर अभयपद को प्राप्त हुआ।[८] इस प्रकार सांसारिक रस का त्याग कर उससे अपनी रक्षा करनी पडती है और तब दुर्गुणों का त्याग कर 'अहं'[९] का

१. ११६२ क०, २० । २. ८२ श्लोक । ३. ३३४ क०, ५२ ।
४. ४७८ क0, ११ । ५. ९७१ क0; १० । ६. ११०३ क०, ४ ।
७. कबीर का रहस्यवाद—डा0 रामकुमार वर्मा पृ0 २२ ।
८. ३३४ क0 ५३ ।

विनाश करना पड़ता है। 'अहं' विनाश के बाद ही सत्कर्मों के माध्यम से जीव सन्मार्ग की ओर बढ़ता है और यह सन्मार्ग ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन बनता है। इसीलिए कबीर भगवान से यही प्रार्थना करता है कि भगवान ! मुझे सन्मार्ग पर लगाइए, क्योंकि यह सन्मार्ग स्वत: ही भव-पार कर, जन्म-मरण का बंधन तोड कर, अभयपद को देनेवाला है।[१] कर्मण्य होकर सतत् प्रयत्नशील होने का उपदेश देते हुए कबीर योग का महत्त्व भी बताता है। अत: ज्ञान प्राप्त कर योग के माध्यम से जिसने नव द्वारों को रोक कर दशम द्वार (ब्रह्म-रंध्र) को खोल लिया है तथा उसके द्वारा निरन्तर स्रवित अमृत का पान किया है, यह अनायास ही अभय पद को प्राप्त करता है।[२]

स्वत: किए गए प्रयत्नों में हरि-सेवा का भी विशेष स्थान है। सेवा के उप-युक्त केवल दो ही है, एक सन्त और दूसरा राम ! सेवा से प्रसन्न होकर 'सन्तु जपावै नाम' तथा 'राम जु दाता मुकति को'।[३] अत: मोक्ष-प्राप्ति के लिए राम की सेवा भी आवश्यक तत्त्व है। हरि-सेवा का महत्त्व स्थापित करने के बाद, तीर्थ-स्थान एवं देवी-देवताओं की पूजा की निस्सारता बताते हुए कबीर कहता है, कि सांसारिक बन्धन इनसे नहीं टूट सकते। अत: मन को हरि-सेवा में लगा, क्योंकि एक-मात्र हरि-सेवा से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। अमावस में अपनी आशा का निवारण कर अंतर्यामी राम की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वह 'जीवत पावहु मोख दुआर'।[४] इसलिए अपने मन को उसमें लगा कर एक-मात्र उसी की सेवा करनी चाहिए। काल का महत्त्व स्थापित करते हुए कहा है, कि वह राजा-प्रजा, धनी-निर्धन सभी को एक समान ग्रस लेता है, लेकिन हरि-सेवकों का वह भी कुछ नही बिगाड़ पाता, क्योंकि वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो चुके होते है।[५] अत: हरि सेवा में तल्लीन हो जाओ।

व्यक्तिगत बाह्य प्रयत्नों के बाद नाम, जप, स्मरण, भक्ति आदि अत: प्रयत्नों का महत्त्व बताने का प्रयत्न किया है, क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति के ये भी अवश्य ही उपयुक्त साधन हैं।

पशुओं की भाँति हे प्राणी ! तू केवल उदर पूर्ति करता रहा है, संसार में न तो कोई सत्कर्म ही किया। अब भी यदि 'राम नाम जानिओ नहीं कैसे उतरसि पारि।[६] काशी में मर कर मोक्ष नहीं प्राप्त होता, अपितु मोक्ष-प्राप्ति के लिए तो हरि के नाम में ही अपने चित्त को लगाना पड़ेगा, क्योंकि स्थान नहीं, नाम ही मोक्ष को दे सकता है।[७] सांसारिक धन, सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य तो एक ओर—वेद, पुराण और सभी स्मृतियाँ भी खोज डालीं, लेकिन उद्धार किसी से न हो पाया, अत: केवल राम नाम का जाप करो, क्योंकि एक-मात्र नाम का जाप ही मोक्ष को देनेवाला है।[८]

---

१. ४७५ क० १। २. ११२३ क०, ३। ३. १६४ श्लोक।
४. ३४३ क०, ७६। ५. ८५५ क०, १। ६. ११०५ क०, १०।
७ ३३५ क०, ५६। ८. ४७७ क० ६।

रावण आदि के उदाहरणों से संसार की अस्थिरता स्थापित करते हुए[1] एवं केवल नाम की स्थिरता बताते हुए कबीर ने कहा है, कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए राम-नाम लो, क्योंकि 'राम नाम बिनु मुकति न होई।'[2] यमराज ने महाबली रावण को भी केशों से खींच कर अपना अतिथि बना लिया, क्योंकि वह किसी को छोड़नेवाला नही। अतः यदि यम से रक्षित होकर मुक्ति चाहते हो, तो हरि के नाम का जाप करो। क्योंकि वह नाम ही तुम्हें मुक्त करा सकता है। जिसके हृदय में नाम-रसायन है वह स्वतः ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, इसमें संदेह को कोई स्थान नही।[3]

'स्मरण' के महत्त्व को स्थापित करते हुए कहा है, कि निरन्तर उस 'ब्रह्म' का स्मरण कर। क्योंकि उसके स्मरण के बिना मोक्ष नही प्राप्त हो सकता, अतः मुक्ति का यह भी एक साधन है।[4]

मोक्ष-प्राप्ति के लिए ब्रह्म में ध्यान लगाना भी आवश्यक है। संसार की असारता एवं मृत्यु को देख कर निरंजन ब्रह्म का ध्यान करो, तभी आवागमन से छुटकारा हो मोक्ष प्राप्ति होगी।[5] गोविन्द से लौ लगने पर ही जन्म-मरण का भ्रम समाप्त हो गया। यह गुरू की कृपा से हुआ है।[6] योगियों के प्रभु की स्थिति अतः शरीर में ही है, उन्हें वहाँ जागृत किया जा सकता है। यदि कहीं 'गोविंद लिव लागी' तो 'जनम मरन का भरम् गइआ।'[7] सांसारिक मित्र बनानेवालों को सुख कहाँ ? अपना चित्त एक-मात्र ब्रह्म में लगानेवाले ही नित्य सुखी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।[8] वस्तुतः ब्रह्म में ध्यान की अधिकता ही भक्ति है और अनन्य भक्ति ही जीव को मोक्ष प्रदान करनेवाली है। सांसारिक व्यापार को त्याग कर संत तो 'हरि के नाम के विआपारी' हैं। इस नाम-व्यापार में ही सब कुछ देकर भक्ति-भाव रूपी अमूल्य हीरा हाथ लगा है, जो जन्म-मरण के बंधन को काट कर मोक्ष देनेवाला है।[9] माया का त्याग कर नाम का आधार बना कर हरि भजन करो, तभी मोक्ष की प्राप्ति होगी अन्यथा नहीं।[10] सिकंदर के अत्याचारों का वर्णन करते हुए तथा उसकी विफलता का द्योतन करते हुए कबीर कहता है, कि हाथी ने मेरा कुछ न बिगाड़ कर मुझे प्रणाम भी किया, क्योंकि मेरा स्वामी गोविंद है तथा उसकी भक्ति में तल्लीन भक्त चौथे पद पर रहता है, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।[11] अतः गंगा के किनारे घर बना कर नित्य 'पीवहि निरमल नीरू', लेकिन मोक्ष-प्राप्ति के लिए तो एक-मात्र हरि की ही भक्ति करनी पड़ेगी, क्योंकि 'बिनु हरि भगति न मुकति होइ।'[12] यह कह कर स्वतः कबीर भी उसकी भक्ति में ही तल्लीन हो गया। स्वर्ग की अभिलाषा तथा नर्क का डर किए बिना जो जीव ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करता है, वह अनायास ही मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है।[13] योगी को षटचक्रों का ही अनुभव

१. ४८१ क०, २१। २. ११०४ क० ६। ३, ६७१ क० ६।
४, ६७१ क०, ६। ५. ३२७ क०, १६। ६. ८५७ क०, ११।
७. ११६२ क०, १९। ८, २१ श्लोक। ९, ११२३ क०, २।
१०, ३३८ क०, ६६। ११, ८७१ क०, ५। १२, ५४ श्लोक।
१३, ३३७ क०, ६३।

प्राप्त करना चाहिए, उनको छोड़ दसों दिशाओं में भागने की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार जिसने अन्तर में ही स्वामी (ब्रह्म) की पहचान कर ली, वह मुक्त एवं स्वतंत्र होकर अभय पद को प्राप्त करता है।[1] लौकिक व्यवहार में स्थिरता ला—जो माया के रूप सत्त्व, रज, तम आदि गुणों से अलग हो जाता है और इस प्रकार मोक्ष-पद को पहचानता है, वह उससे भी आगे बढ कर परम-पद को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर उसकी खोज में तल्लीन जीव अवश्य ही जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[2]

इतना ही नही, जीव जब पूर्ण विश्वास के साथ पूर्ण आत्मसमपर्ण कर देता है, तब ब्रह्म स्वतः ही लौकिकता के बन्धन तोड़ कर उसे मोक्ष पद प्रदान करता है।[3]

गुरू चरणों में प्रणाम कर जीव ब्रह्म से प्रार्थना करता है, कि भगवान्! मुझे सत्बुद्धि देकर सन्मार्ग पर चलाइए। जो मार्ग भव-भय-बन्धन काट कर जन्म-मरण से रहित कर मोक्ष-पद को देनेवाला है।[4] ब्रह्म के अनन्त गुणों का गान करने के बाद, उसकी शक्ति एवं असीम सामर्थ्य का परिचय देने के बाद कबीर[5] उससे प्रार्थना करता है, हे भगवन्! 'देहि अभै पदु मांगउ दान।' उसका दृढ़ विश्वास है, कि ब्रह्म में विश्वास लाकर पूर्ण आत्मसमर्पण कर यदि प्रार्थना की जाए, तो कभी विफल नही जा सकती, यह विश्वास ही उसे प्रार्थना करने की प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करता है। यह सब प्रयत्न मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव ने स्वतः किए है, लेकिन सत परम्परा एवं कबीर के सिद्धान्तों के अनुकूल इनका कोई महत्त्व नही, जब तक सत समागम नही हुआ या सत्गुरू ने पथ-प्रदर्शन नहीं किया। अतः 'सत्सगति कथय कि न करोति पुंसाम्' का प्रसार यहाँ मोक्ष-पद प्राप्ति मे ही किया गया है।

हृदय में चेतना और उससे ज्ञान उत्पन्न होगा। तब गुरू-कृपा से सत्संगति प्राप्त होगी, जो जन्म-मरण के बंधन काट कर मोक्ष-पद प्रदान करेगी।[6] सांसारिक सम्पत्ति पर गर्व करनेवाले जीव को समझाते हुए कहा है, कि एक-मात्र हरि के सत ही सदैव स्थिर रह पाते है, गोविद की कृपा मे सत्संगति प्राप्त होती है, और यह सत्संगति ही भक्ति प्रदान करती है।[7] अन्यत्र भी स्पष्ट ही कहा है, कि सौभाग्य से ही यह मोक्षदायिनी सत्संगति प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं।[8] सत्संगति से भी अधिक महत्त्व है सत्गुरू और उसकी कृपा का। गुरू की कृपा से कबीर मे ऐसी बुद्धि जागृत हो गई है, कि आवागमन के बधन से बच कर मोक्ष पद को प्राप्त हो गया है।[9] आडम्बरी साधुओ का विरोध करते हुए उन्होने बताया है, कि वास्तविक सद्गुरू ही भेंट होने पर मोक्ष-दाता सिद्ध होता है।[10] ब्रह्मा, विष्णु, महेश को छलने-वाली शक्तिशाली माया से एक-मात्र 'गुर प्रसादि सहजि तरे कबीरा।'[11] आत्मा की

१, ३४० क० ७५ ।　२, ३४२ क० ३१ ।　३, ३२८ क०, २२ ।
४, ४७५ क०, १ ।　५, ११६३ क०, १ ।　६, ६१ क०, १ ।
७, ११५२ क०, २ ।　८, २३१ श्लोक ।　९, ३३७ क०, ६१ ।
१०, ४७६ क०, ३ ।　११, ४८० क० १९ ।

स्थिति पर प्रकाश डालते हुए देह-नाश पर रोनेवालों को सतर्क करता है, कि गुरू-कृपा प्राप्त करो, उसी से मैंने मोक्ष-पद प्राप्त कर लिया है, जो दुःख का कारण नहीं रहने देता।[१] सांसारिक क्रियाओं से अलग गुरू की कृपा प्राप्त कर दीक्षित होने के बाद कबीर को विश्वास है, कि पुनः उसे नहीं मरना पड़ेगा अर्थात् वह अमर हो जाएगा।[२] इसीलिए सतगुरू को प्राप्त कर उसे प्रसन्न करने की आवश्यकता है। जब गुरू जीव से सतुष्ट हो जाता है, तभी वह कृपा करता है। ऐसी कृपा जो जन्म-मरण का बधन काट मोक्षदायिनी सिद्ध होती है।[३]

यह ठीक है, कि जीव के प्रयत्नों से अथवा गुरू की कृपा से मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है, लेकिन इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण भगवत्कृपा है। वस्तुतः मोक्ष-प्राप्ति का एक-मात्र साधन उसकी कृपा को प्राप्त करना है।

आवागमन के कारणों का विश्लेषण करते हुए कबीर कहते है, कि भगवान के आदेश से ही जीव का आवागमन होता है अतः इससे बचने के लिए ब्रह्म की सहायता प्राप्त करना आवश्यक है।[४] ज्योही उसकी सहायता मिली, तो आवागमन समाप्त हो मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[५] उसकी सहायता प्राप्ति के लिए सेवा आवश्यक है, क्योंकि सेवा से प्रसन्न भगवान ही कृपा करता है, जो कृपा मोक्ष को देनेवाली है।[६] इस प्रकार 'जिन कउ क्रिया करत है गोबिंदु ते सतसंगि मिलात।'[७] और भगवान की कृपा भी किसी सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होती है, जिस जीव को यह कृपा प्राप्त होती है, वही आवागमन से बच मोक्ष-पद को प्राप्त होता है।[८]

मोक्ष-प्राप्ति अपने आप मे साध्य होते हुए भी भगवत्प्राप्ति का साधन-मात्र ही है, इस प्रकार साध्य-साधन-साध्य परपरा मे अगला पद-चिह्न है। अतः अब भगवत्प्राप्ति के साधनों की ओर दृष्टिपात आवश्यक प्रतीत होता है। संसार मे उसी का नाश करना चाहिए, 'जिह मुऐ सुख होई' आनन्द अथवा ब्रह्म की प्राप्ति हो। तभी सारा ससार अच्छा कहता है और कोई बुरा नहीं कहता।[९] मानसिक विकार ही ऐसे है, जिन्हें नष्ट करने से जीव ब्रह्म-प्राप्ति की ओर बढ़ सकता है। यदि जीते जी हम युवावस्था मे ही इन्द्रियो को जला दें, इस प्रकार सुलग-सुलग कर जब जीव की कुवासनाएँ ही भस्म हो जाएँगी, तब वह उज्जवल ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करेगा।[१०] मुल्ला को सतर्क करते हुए कहा है, कि तामसिक-वृत्ति, सांसारिक भ्रम तथा आन्तरिक मलिनता को दूर कर, यदि दसो द्वारो एव पाँचों इन्द्रियो से उसका स्मरण करोगे, तभी वह तुम्हें प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं।[११] विकारों को भूल कर, चंचल मनोवृत्तियों को बंधन मे रख जब सासारिक भ्रमो से दूर होओगे, तभी उपमा-रहित, ज्योतिस्वरूप गोविद से मेल होगा और दसों दिशाओ मे आनन्द छा जाएगा।

१. ८७१ क०, ५। २. ८७२ क०, ६। ३. ५६ श्लोक।
४. ११०३ क०, ४। ५. ३५५ क०, ५७। ६. १६४ श्लोक।
७. १२५२ क०, २। ८. ४८३ क०, ३१। ९. ९ श्लोक।
१०. ३४० क०, ८। ११. ११५८ क०, ४।

न केवल आन्तरिक अवगुणों को दूर करने से ही, अपितु ब्रह्म मोह-माया एवं ममता के सम्बन्धों को ढीला कर उनकी असारता का ज्ञान होने पर भी भगवत्प्राप्ति सम्भव है।[१] असार एवं अस्थिर जगत् में पुत्र, स्त्री, लक्ष्मी तथा माया का वास्तविक रूप जान कर इनका त्याग कर दो, तब ही ब्रह्म तुम्हें मिल सकेंगे।[२] इस प्रकार संसार के प्रति मृतक होने के बाद ही 'भइया आनन्दु।', जबकि उसके अन्य साथी ब्रह्म का नाम लेने में ही लीन रह जाते हैं।[३] शारीरिक विकारों से मुक्त होने पर ही कबीर को राम-रत्न प्राप्त होगा, जो स्वतः सर्वोपरि ब्रह्म है।[४] शारीरिक सुख का त्याग कर विष्णु की सेवा में तल्लीन होने पर ही ब्रह्म की प्राप्ति होगी एवं सम्पूर्ण सुखों का प्रसार होगा।[५] माया, सम्पूर्ण जगत् को चुरा लेनेवाली ऐसी मटकी है उसे 'जिनि विलाइया तिनि पाइआ' ब्रह्म रूपी-सार को ही उसमें से उन्होंने ही ग्रहण किया।[६] इस प्रकार व्यक्तिगत ऐन्द्रिक एवं शारीरिक प्रयत्नों से किस प्रकार सांसारिक मोह-माया से बच कर ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है। हाथी धूल में से बिखरी हुई शक्कर को एकत्रित नहीं कर सकता, इस उदाहरण से कबीर मूर्ख जीव को जगाता है, कि कुल एवं जाति का अभिमान एवं अहंकार त्याग कर, 'चीटी होइ चुनि खाई'। नम्र, विनीत एवं छोटे बन कर ब्रह्म को प्राप्त करो।[७] यौगिक क्रियाओं का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है, कि निरन्तर अपलक दृष्टि से ब्रह्म की ओर देखते-देखते नेत्र लाल हो गए, पुनः इसी अभ्यास से ब्रह्म की प्राप्ति हो गई। तब दृश्य और दर्शक एकाकार हो गए। यही है कबीर के साध्य चरम।[८] जब ब्रह्मा वेदपाठ करके भी ब्रह्म को खोजने में असफल रहे, तब कबीर ब्रह्म की स्थिति में अन्तर बताता हुआ कहता है कि शरीर रूपी मटकी का मन द्वारा मंथन करना चाहिए, तब अन्तर मे ही ब्रह्मानुभूति हो, उसकी प्राप्ति होगी।[९] अन्तर में ध्वनित अनाहत नाद की जो वीणा बजेगी, उसका स्वर कभी नहीं टूटेगा और इस प्रकार सुननेवाले का मन आनन्द से परिपूर्ण हो जाएगा, यही ब्रह्म-प्राप्ति की अवस्था है।[१०] योग द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति से भी अधिक महत्त्व जन-सेवा द्वारा उसे प्राप्त करने का है, क्योंकि ब्रह्म की सेवा से अधिक महत्त्व उसके द्वारा निर्मित समाज की सेवा का है इसीलिए जीव को युवावस्था में ही सेवा करने की प्रेरणा देता है, (क्योंकि वृद्ध होने पर देह उसका साथ न दे सकेगी) ऐसा सेवक ही 'पाए निरंजन देव'।[११] कबीर की भक्ति पर व्यंग करती हुई लोई कहती है, कि सपरिवार मुझे तो चबेना भी नहीं मिलता और यह जो पोथी बाँध-बाँध कर यहाँ चले आते हैं केवल इसी बात के कारण दोनों समय यहाँ रोटी पाते हैं। ये मुँडिया ही मेरे पति कबीर के साथ एक हो गए।[१२] यह सब सुन कर नम्र हो, कबीर कहता है 'सुनि अंधली लोई बे पीर। इन्ह मुण्डीअनि भजि सरनि कबीर।'[१३]

१. ३४४ क०,१२। २. ८५५ क०, १। ३. ६ श्लोक।
४. ३१ श्लोक। ५. ३४२ क०, ३७। ६. १६ श्लोक।
७. ९७२ क०, १२। ८ ३४२ क०, २६। ९. ४७८ क०, १०
१०. ३३४ क०, ५३। ११. ११५९ क०, ९। १२. ८७१ क०, ६।
१३. ८७१ क०, ६।

अतः इनकी सेवा करने पर तुझे दुःखी नहीं होना चाहिए। बाह्य प्रयत्नों के बाद भगवत्प्राप्ति के लिए कबीर की दृष्टि में आन्तरिक प्रयत्नों का भी अपना विशेष महत्त्व है। इसीलिए काशी में मरने का महत्त्व नहीं, अपितु भगवान के नाम में चित्त लगाने का महत्त्व है। जो जीव ऐसा कर पाता है, वही परम पद को अथवा ब्रह्म को प्राप्त करता है।[1] मन में अन्य किसी भी वस्तु के प्रति आकर्षित न होकर केवल एक उसी के प्रति चाह लानी चाहिए, अनन्य रूप से उसकी चाह होने पर अखण्ड आनन्द एवं अल्लाह की प्राप्ति होती है।[2] भूखों को ग्रास देनेवाले भगवान धन्य हैं, ऐसे भगवान को पहचान कर 'जपीए नामु अन कै सादि।'[3] ऐसे प्राणी को ही ब्रह्म-प्राप्ति होती है। 'सहज' शक्ति के अपने वास्तविक रूप में प्रकट होने पर ही ज्योति के प्रकाश से अंधकार तिरोहित हो जाता है और जीव अखण्ड आनन्द में विचरण करता हुआ राम-रत्न को प्राप्त कर लेता है।[4] ब्रह्म में ध्यान लगाने से जीव उसके समीप पहुँच सकता है, लेकिन उससे सरल साधन जो उसे प्राप्त करने का है, वह है, उसकी भक्ति। उसने स्पष्ट ही कहा है, कि इस संसार में 'कोउ बूझहि हरि रसु पीवै भाई।'[5] बिना मन के मारे भक्ति नहीं हो सकती तथा यह राम की भक्ति ही है जो उससे मिलाने मे सहायक सिद्ध होती हैं।[6] शरीर रूपी मन्दिर को संकल्प के स्तम्भ का आश्रय दे 'आदित करै भगति आरम्भ' तो वह भक्ति अवश्य ही ब्रह्म को प्राप्त करवाएगी।[7] पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण कबीर कहता है, कि उसने अपनी भक्ति को दृढ़ता प्रदान की है और यह उसी की कृपा का फल है कि ऐसी दृढ़ भक्ति ही ब्रह्म को देनेवाली सिद्ध होती है।[8] भक्ति के सिंहासन पर चढ़ कर (गुरू-कृपा से) 'राम कबीरा एक भए है कोई न सकै पछानी।[9] जहाँ अन्य सभी सेवक भ्रमर की भाँति केवल उपदेशक-मात्र ही बने, वहाँ कबीर अपने को कस्तूरी की भाँति वास्तविक ब्रह्म की सुगन्धि से युक्त बताता है। ब्रह्म-भाव उदित होने पर ज्यों-ज्यों उसने अपने में भक्ति को बढ़ाया, वैसे ही उसमें ब्रह्म आकर निवास करने लगा अर्थात् उसकी अनुभूति होती गई।[10] जप, तप एवं पूजा का कोई महत्त्व नहीं। काम, क्रोध तथा अहंकार का त्याग कर—केवल सच्ची भक्ति को अपनाना चाहिए। तभी उसे 'भोले भाइ मिले रघुराइआ।'[11] इस प्रकार जिस राम का वर्णन करते-करते ब्रह्मा भी थक गया लेकिन उसका अन्त न पा सका—उसी ब्रह्म को कबीर ने अपना मन देकर मोल ले लिया है।[12] (यद्यपि वह अमूल्य है) अर्थात् वही राम कबीर की भक्ति के बस होकर स्वतः उसके पास चला आया है। इस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त कर कबीर जीव-मात्र को उपदेश देता है, कि चंचल बुद्धि छोड़ कर निश्चय रूप से राम-भक्त बन जाइए, क्योंकि ऐसी भक्ति से राम को प्राप्त करनेवाले ही

---

१. ३३५ क० ५५। २. ३ '२ क०, ४३। ३. ८७३ क०, ११।
४. १३४१ क०, १। ५. ११२३ क०, ३। ६. ३२९ क०, २८।
७. ३४४ क०, १। ८. ३३१ क०, ४०। ९. ९६९ क०, ३।
१०. १४१ श्लोक। ११. ३२४ क०, ६। १२. ३२७ क०, १९।

भाग्यवान है। इस प्रकार अन्यान्य प्रयत्नों से अप्राप्य ब्रह्म सच्ची भक्ति से सुलभ है।

जो साधु है, वही सच्ची भक्ति को पहचान सकता है, तथा उसके माध्यम से ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।[१] इसीलिए भक्त नामदेव को सम्बोधन कर कबीर कहते है, कि बिना सच्चे संत को पहचाने अन्धे की तरह इधर-उधर घूमना बेकार है, क्योंकि भक्त को पाए बिना भगवान को नही पाया जा सकता।[२] सत एवं भक्त की संगति से भगवान को पाया जा सकता है, लेकिन वस्तुतः मार्ग-दर्शक तो गुरू है वही कृपा कर साधन बताता है, तभी भगवान को प्राप्त किया जा सकता है।[३] 'सतिगुरू बिनु वैराग न होई' तथा वैराग्य बिना भगवत्प्राप्ति नही, और सत्कर्म के बिना सत्गुरू की प्राप्ति नही। अतः हे जीव! भगवत्प्राप्ति के लिए सत्कर्म करो तभी सत्गुरू के माध्यम से ब्रह्म-प्राप्ति होगी।[४] अमृतमय नाम का जाप करने पर सत्गुरू ने विशेष कृपा की तभी मेरा हृदय प्रतिदिन गोविन्द का निवास-स्थान बनता जा रहा है।[५] 'सहज' की अकथ कथा का वर्णन करते हुए कहा है, कि वहाँ तो एक-मात्र सत्गुरू का ही राज्य है, ऐसे अगम को प्राप्त करने का एक-मात्र साधन गुरू की कृपा प्राप्त करना है अतः मै गुरू की बलिहारी जाता हूँ तथा उसी की सगति मे रहता हूँ।[६] प्रतिदिन हरि का गुण-गान करो तथा गुरू से प्राप्त किए गए रहस्य से ब्रह्म को प्राप्त करो।[७] गुरू की कृपा बिना 'हरि' मे लौ नही लगती। मैने तो सत्गुरू की कृपा से ही 'हरि धनु पाइओ'।[८] योगी जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अन्तर्मुखी होता है, उसका मार्ग सत्गुरू ने ही कबीर को सिखाया है। अब कबीर संसार को वहाँ तक पहुँचने का मार्ग बता रहा है। वही सौभाग्यशाली है, जो उसे प्राप्त करता है।[९] 'अबरन बरन' ब्रह्म की प्राप्ति का एक-मात्र साधन गुरू के स्नेह एवं कृपा को बताता है। गुरू की कृपा होने पर मन उसमें स्थिर होकर अवश्य ही उसे प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार स्वत. किए गए साधनों से जो ब्रह्म दुर्लभ है, वही सत्संगति से एवं उससे भी बढ कर गुरू-कृपा से सुलभ हो गया है।[१०] गुरू-कृपा हो जाने पर कबीर मरने से भी नही डरता, बल्कि उसमें मरने की उमंग पैदा हो जाती है और मर कर वह भगवान के द्वार पर पहुँचने में विश्वासी है।[११] यह वही मरण है, जिससे संसार डरता है, लेकिन कबीर को इसमें आनन्द अनुभव होता है, क्योंकि उसे पता है, कि इस 'मरने ही ते पाइए पूरनु परमानन्द।'[१२] इन सब से ऊपर भगवान को प्राप्त करने का साधन उसमें पूर्ण विश्वास लाकर पूर्णतया आत्मसमर्पण है, कबीर कहता है, जिसे हरि जैसा स्वामी मिल गया है, उसे अनन्त मुक्ति स्वतः पुकारने जाती है।[१३] उदाहरण से अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहता है, कि यदि कोई माँ अपने पुत्र को विष दे दे, तो इसमें

१. ६६९ क०, ४। २. २४१ श्लाक। ३. २३८ श्लोक।
४. ११०४ क०, ८। ५. ३३१ क०, ४०। ६. ३३३ क० ४८।
७. ३४४ क०, ३। ८. ४७९ क०, १५। ९. ६६९ क०, ४।
१०. १९६२ क०, २०। ११. ६१ श्लोक। १२. २२ श्लोक।
१३. ३२८ क०, २२, २३।

पुत्र का क्या दोष ? इसी प्रकार जब कबीर अपना सम्पूर्ण विश्वास ब्रह्म मे लाकर अपने आपको उसको समर्पण कर चुका, तब वह और किसी से प्रार्थना करने की आवश्यकता नही समझता, क्योकि जो ब्रह्म तीनों लोकों का भार अपने ऊपर उठाए हुए है, वह अवश्य ही उसकी रक्षा करेगा । इस प्रकार जिसने तन, मन, धन एवं गृह सभी कुछ स्वामी को सौप दिया । स्वामी अवश्य ही उसे अपना लेता है और यही उसके लिए ब्रह्म-प्राप्ति है, लेकिन संसार के यह सभी साधन केवल तब तक सार्थक है, जब तक भगवान की कृपा हो । क्योकि भगवान की कृपा के बिना किसी भी प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति नही हो सकती । वस्तुत एक-मात्र उनकी कृपा ही ब्रह्म-प्राप्ति का साधन है ।[१] वह भी किसी सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होती है ।[२] क्योंकि संसार मे अनेक सत, भक्त एव महात्मा विचरते है, लेकिन जिसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है वह कोई सौभाग्यशाली ही होता हे । इस प्रकार ससार के सम्पूर्ण प्रयत्नों के बाद भी ब्रह्म-प्राप्ति के लिए सौभाग्यशाली होना आवश्यक है ।[३]

भगवत्प्राप्ति के बाद ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्मानुभूति एवं ब्रह्म-रसपान ही एक-मात्र सोपान रह गया, जो जीव को ब्रह्म से ऐक्य स्थापित कर तल्लीन होने में सहायता देता है । अतः इस महत्त्वपूर्ण सोपान के साधनों पर भी दृष्टिपात आवश्यक है ।

वेद, कुरान आदि सब झूठे है, क्योकि इससे 'दिल का फिकरू न जाइ ।' यदि क्षण-भर के लिए हृदय मे स्थिरता लाई जाए, तो भगवान स्वतः ही तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाता है और तुम भलीप्रकार उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हो ।[४] संसार रस को नीरस जान कर वीतरागी हो, जिसने वास्तविक रस को पहचाना है, वही ब्रह्म-रस का पान कर सका है, क्योकि ब्रह्म-रस का पान करनेवाला संसार-रस को कभी पसन्द नहीं कर सकता ।[५] यह ठीक है, कि भूखे रह कर भक्ति नहीं हो सकती । अतः शरीरगत आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही हरि के नाम में लौ लग सकती है । उस भक्ति से मन सन्तुष्ट होता है और मन सन्तुष्ट होने पर कबीर कहता है, कि वह ब्रह्म को जान पाता है ।[६] बिना विद्या पढे ही हरि गुण-गान श्रवण से कबीर पागल हो रहा है, लेकिन उसकी दृष्टि मे असली पागल तो वह है जो अपने को नहीं पहचानता, क्योंकि जो 'आपु पछानै त एकै जानै ।'[७] जो ऐसे समय ब्रह्मानुभूति में मस्त नहीं हुआ, वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसी समय तो जीव राम रंग में रंगा हुआ होता है । गुरु उपदेश की जागृति से मुझमे ऐसी बुद्धि का संचार कर, कि मैं शरीर मे भी त्यागी हो जाऊँ । तब अपने आप में ही ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लूँगा, तभी मुझे सन्तोष होगा और ऐसे पूर्ण सन्तोष के बाद ही मेरी आत्मा का तेज 'तेजु समाना' उस महा तेज में मिल कर एक हो जाएगा ।[८]

कबीर योनियों से प्रभावित थे, इड़ा, पिंगला एवं सुषम्ना नाड़ियों के महत्त्व

१. ८७३ क०, ११ । २. ३३८ क०, ६६ । ३. ३२७ क०, २१ ।
४. २२७ क०, १ । ५. ३४२ क०, ३५ । ६. ६५६ क०, ११ ।
७. ८५५ क०, २ । ८. ८५७ क०, ११ ।

का भी उन्हें ज्ञान था। ब्रह्म-रंध्र एवं सहस्रार से स्रवित अमृत से भी परिचित थे। यही कारण है कि भगवत्प्राप्ति के बिना ही अन्तर्जगत् को अभ्यास द्वारा उद्बुद्ध करने पर भी वे वही ब्रह्म-रस का पान कर सकते थे। शारीरिक असारता बताते हुए कहते है, कि देह-नाश के बाद मेरी तो ब्रह्म से लौ लग गई, अतः मैं तो दित-रात वही निवास करता हूँ। उसका रहस्य तो केवल एक वही जान पाता है, जो स्वतः अविनाशी है।[१] इस प्रकार कबीर उसके रहस्य को जाननेवाला बन जाता है। अपलक दृष्टि से देखने का अभ्यास करने पर दोनों नेत्रों से हरि के बिना और कुछ दृष्टिगत होता ही नही तथा मेरे नेत्र भी उसी के अनुराग से लाल हो गए हैं।[२] साधक यौगिक प्रयत्नों से अन्तर में स्थित षट् चक्र के खण्डों को देख लेता है, तो उसके दर्शन होते ही सांसारिक भ्रम में वह नही पड़ता।[३] ऐसा कोई बिरला ही है, जो अपनी इन्द्रियों को जीत, निर्भय हो प्रभु का गुण-गान करता है, वह सर्वत्र ब्रह्म का रूप देखता है, अन्य कुछ नही।[४] जब मन ने षट् नेम कर अपनी देह को भलीभाँति व्यवस्थित कर लिया तब उसके अन्दर एक अनुपम वस्तु दृष्टिगत हुई। यही ब्रह्म का दर्शन है।[५] नश्वर संसार में न देख अनश्वर ब्रह्म का ही विचार करना चाहिए। यौगिक प्रयत्नों से जब दशम द्वार (ब्रह्म-रंध्र) में (कुण्डलिनी की) कुंजी लगाई जाएगी, तब ब्रह्म का दर्शन पा सकेंगे, अन्यथा नहीं।[६] द्वादशी को शून्य में बारह सूर्य उदित होते है तथा रात-दिन अनाहत नाद का तूर्य बजता रहता है, ऐसे आन्तरिक नाद होने के समय ही तीनों लोकों का स्वामी दृष्टिगत होता है।[७] इस प्रकार भिन्न-भिन्न यौगिक-क्रियाओं से ब्रह्म-दर्शन होते हैं। दर्शन कर उसका ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। इसीलिए कहा है, जो अपने हृदय को स्थिर कर शरीर में ज्योति के दीपाधार को प्रज्वलित करता है, उससे 'बाहरि भीतरि भइआ प्रगासु' तथा वही ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करता है। तभी उसके अंग निर्मल होते है, और वह राम में रमण करता हुआ उसके रंग में रंग जाता हैं।[८] षट् चक्र की अनुभूति होने पर दसों दिशाओं में दौड़ने की आवश्यकता नहीं, तब जीव स्वामी को पहचानने लगता है और वह मुक्त तथा स्वतन्त्र होकर अक्षय पद को प्राप्त करता है।[९] जो ब्रह्म को पहचान पाता है, वही साधु उसकी 'भगति पछानै, और तभी हरि रूपी निधि को प्राप्त करता है।[१०] ब्रह्म-ज्ञान के बाद जीव ब्रह्म-रसपान में लीन होना चाहता है। इस देह में इन्द्रियों के तो भयानक घाट है, अत. हे जीव! तू ब्रह्म-रंध्र का दरवाजा खोल सहस्रार में प्रवेश क्यों नहीं करता? वही तो वांछित ब्रह्म-रस का पान कर सकेगा। सम्पूर्ण विश्व को बस मे करनेवाले राम के अनाहत की यंत्रिका बज रही है, आत्मा उसी के नाद में लीन हो जाती है। शब्द की सिंगी एवं चुंगी से जागृत

---

१. ३४४ क०, ५२ २. ६५५ क०, ४। ३. ३४१ क०, २८।
४. ५ श्लोक। ५. ३३६ क० ७३। ६. ३४१ क०, २४।
७. ३४४ क०, १३। ८. ३४५ क०, ७। ९. ३४८ क०. ८।
१०. ६६६ क०, ४।

अन्तर का आकाश ही एक भट्ठी है और पृथ्वी ही स्वर्ण-कलश। 'तिसु महि धार चुए अति निरमल'। जो शनैः शनैः रस को बढ़ाती जा रही है। इस रस का पान करनेवाले भी संसार में बिरले ही है और कबीर का मन तो इसी राम-रस-रसायन मे मतवाला है।[1]

आत्मा को सम्बोधन कर कहा है कि हे मूर्ख कलवारिन ! तू प्राणायाम द्वारा मेरुदण्ड की भट्ठी से अमृत की धार चूने दे। संत होकर इस रस का पान करके अपनी प्यास बुझाई जा सकती। लेकिन कोई बिरला ही है जो भक्ति-भाव को समझ कर इस अमृत-रस का पान कर सके, जो प्रत्येक देह में है। शरीर के नौ द्वार बंद कर जो दसम द्वार (ब्रह्म-रंध्र) को खोल कर ब्रह्म-रस का पान करता है, वही उस मद में मस्त हो सपूर्ण तापों से छुटकारा पा अभय पद को प्राप्त होता है।[2] ससार की सभी वस्तुओ को उसके बदले में निछावर कर आत्मा रूपी प्याले मे यह जो अमृत का मीठा रस है, महारस है, इसी का पान करो, तथा इस रस के सामने संसार के सब रस सारहीन है। यही महारस एक-मात्र सच्चा है।[3] इस महारस का पान करने का साधन भी बताया है, 'गुडु करि गिआनु धिआनु करि महुआ' संसार को भट्ठी बना कर मन में धारणा करो, तब 'सहज'[*] भाव में लीन सुषुम्ना नाड़ी को नली बना कर इस महारस का पान करो, इस ब्रह्म-रस की मस्ती से तीनों लोकों में प्रकाश दिखाई देता है। कबीर को पता है, कि इसकी मस्ती कभी उतर नहीं सकती।[4] सहस्त्रदल कमल में कुंडलिनी-किरण का प्रवेश हुआ, उससे जिस रस की प्राप्ति हुई उसके पान के आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता।[5] यही ब्रह्म-रस की रसानुभूति का महत्त्व है, कि तल्लीन जीव उसके आनन्द को अकथनीय समझ तल्लीन ही रह जाता है, क्योंकि अनुभव अनुभूति योग्य है, कथ्य नही और इस ब्रह्मरसानुभूति में यह तल्लीनता ही ब्रह्म से भेंट है। अनश्वर ब्रह्म को पाने के छह भेद हैं, जिन्हे ब्रह्मरसानुभूति के बाद ही जाना जा सकता है और तभी उसे पाया भी जा सकता है।[6] योग का महत्त्व स्थापित करते हुए कबीर कहता है, कि जब शक्ति के सहारे अपनी प्रवृत्तियों को पलट कर मैंने अन्तर्मुखी कर ब्रह्म-रंध्र में प्रवेश कर लिया तथा कुंडलिनी से षट् चक्र भेद किए, तभी एकाकी स्वामी ब्रह्म से भेंट हो गई। इस भेंट के परिणामस्वरूप ही मैंने अनाहत वीणा का नाद भी सुना एवं अनायास ही भवसागर के पार भी उतर गया।[7] इस प्रकार ब्रह्म-रस पान में भी असतोषी जीव ब्रह्म से भेंट कर के ही अपना-आप खो सकता है।

माया-बद्ध संसार से बच कर कबीर ने ब्रह्म में रमण करते हुए ही सच्चे सुख को प्राप्त किया है।[8] ब्रह्म-रस का पान करते हुए जब निरंजन को

१. ६२ क०, २। २. ११२३ क०, ३।
३. ६६८ क०, १। ४. ६६६ क०, २।
५. ३४० क०, ८। ६. ३४० क०, ७५।
७. ६७१ क०, १०। ८. ४८२ क०, २५।

पहचान कर अपने हृदय मे लाया, तभी उसे पवित्र कर आत्म ब्रह्म को ही प्रमाण जानो, तभी संसार के समस्त दुःख नष्ट हो जाएँगे और जीव (ब्रह्म-रध्र) के शून्य सरोवर (ब्रह्मानंद) का सुख पाएगा।[१] गुरू द्वारा अनुभूत ज्ञान का प्रकाश फैल गया, और 'दासु कबीरु तासु मदमाता' जिसकी मस्ती उतरती ही नही।[२] चौपाल के सामने शरीर मे ही हरि रूपी सरोवर भरा पड़ा है, किंतु कोई उसे पी नही पाता। कबीर बहुत सौभाग्यशाली है, जिसने इस सरोवर को पा लिया है। अतः हे जीव! तू मर-मर कर इस ब्रह्म-रस का पान कर।[३] अर्थात् कुछ एक कबीर जैसे सौभाग्य-शाली जीव ही ब्रह्म-रस का पान कर उसमे लीन हो पाते है।

लोगों के भ्रम को दूर करता हुआ तथा नाम के महत्त्व को बताता हुआ कबीर कहता है, कि इस जुलाहे के सामान्य कार्य मे कौन अपना अमूल्य जीवन खोए। इसी-लिए तो मैंने अपना ध्यान वास्तविक पद पर लगाया हुआ है तथा राम का नाम ही मेरा सम्पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान है।[४] आकाश, तारे एव सूर्य तथा चद्र के प्रकाश को देख कर यह जो जीव जिज्ञासु है, उससे कबीर कहता है, कि इन सबमे ब्रह्म परिव्याप्त है, लेकिन इस व्याप्ति को केवल वही जान सकता है, जिसके 'हिरदै रामु मुखि रामै होइ'।[५] इस प्रकार राम-नाम मे अनुरक्ति होने के कारण ही कबीर कहता है, कि मैंने एक विचित्र अनुभव के दर्शन किए। सत मत मे नाम का इतना अधिक महत्त्व है, कि वह अपने आप ब्रह्म-दर्शन एव ब्रह्मानुभूति करा सकता है।[६] राम का नाम ले जो सत भक्ति-भाव को पहचान पाता है, वही ब्रह्म-रस प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार राम-नाम एवं भक्ति का ज्ञान भी ब्रह्म-रस पान कराने का साधन है।[७] सत मत मे सत्सगति का इतना महत्त्व है, इस बात का प्रमाण कबीर ने यह कह कर दिया है, कि जिस राम का रहस्य सनक, सनदन, महेश और शेष भी न जान सके; केवल-मात्र 'संत संगति रामु रिदै बसाई।'[८] यह ठीक है, हीरा ही हीरे को बेध सकता है तभी तो ब्रह्म को जीव नही गुरू ही जान पाता है, और उसी के मार्ग दिखाने पर ब्रह्म का रहस्य प्रकट होता है।[९] संसार के सभी चक्करों मे पड़ा हुआ जीव जब किसी प्रकार भी छुटकारा नहीं पाता, तब सत्गुरू ही मिल कर उसे महारस (ब्रह्मानद) का पान कराता है तथा वह भक्ति द्वारा संसारसागर को पार कर पाता है।[१०] सत्गुरू ने ही विशेष कृपा कर जब उसे संसारसागर से निकाला, तब गुरू चरणों से उसकी प्रीति हो गई, जिसके परिणामस्वरूप 'गोबिद बसै नितानित चीत।'[११] सर्वगुणसम्पन्न ब्रह्म के गुण-गान करते हुए तथा उसे जीव के लिए अगम बताते हुए भी कबीर गुरू का महत्त्व बताता है, कि गुरू का गुड़ (उपदेश) प्राप्त कर सभी प्राणियों मे वही निरंजन ब्रह्म दृष्टिगत होता है, जो अदृश्य है और जीव द्वारा देखा नही जा सकता।[१२]

---

१. २४४ क०, ८। २. ६६६ क०, २। ३. १७० श्लोक।
४. ११५६ क०, १०। ५. ३२६ क०, २६। ६. ३३२ क०, ४६।
७. ११२३ क०, ३। ८. ६६१ क०, १। ९. ४८३ क०, ३१।
१०. ३३५ क०, ५६। ११. ३३१ क०, ४०। १२. १३४६ क०, ३।

इस प्रकार ब्रह्मानुभूति का माध्यम गुरू आवश्यक है, यह कबीर का दृढ़ विश्वास है। इन सब साधनों के होते हुए भी ब्रह्म की सहायता एव कृपा आवश्यक है। नहीं तो उसके बिना यह प्रयत्न व्यर्थ ही जाएँग। उसने स्पष्ट ही कहा है, कि ब्रह्म के रहस्य को जाननेवाला भी क्या करे ? 'जउ रामु न करै सहाइ' क्योकि 'जिहु जिहु डाली पगु धरउ सोई मुरि मुरि जाइ।'[1] अत. सफलता के लिए उसकी सहायता एवं कृपा आवश्यक है। ब्रह्म के स्वरूप एव स्थिति के रहस्य का उद्घाटन करने के प्रयत्न मे हारा हुआ कबीर कहता है, कि जिस पर ब्रह्म कृपा करे, केवल-मात्र वही उसे जान सकता है, अन्य कोई नही।[2] इस प्रकार ब्रह्मानद-रस को वही पा सकता है, 'जिसु मसतकि भागु', क्योंकि एक-मात्र ब्रह्म की कृपा का भाजन ही इस रस को प्राप्त कर पाता है, अतः 'अम्रित रसु जिनि पाइआ थिरु ता का सोहागु।'[3] इस प्रकार स्पष्ट ही है, कि भगवत्कृपा के बिना न तो कोई ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्म-दर्शन, ब्रह्म-रसपान एव ब्रह्मानुभूति कर सकता है और न ही उससे ऐक्य की ओर बढ़ सकता है। जीव के स्वकीय एव उससे भी बढ कर सत्गुरू के भी सभी प्रयत्नों एव कृपा के बाद भी भगवत्कृपा की प्राप्ति आवश्यक है। तभी जीव भगवान को प्राप्त कर उसमें तल्लीन हो सकता है और वस्तुतः ससार मे एक-मात्र ऐसा ही जीव सौभाग्यशाली होता है।

कबीर के साध्य की अतिम सीढ़ी है, भगवान में तल्लीनता एव उससे ऐक्य। यह अभिन्नत्त्व ही जीव की सत्ता को समाप्त कर अद्वैत स्थापित करता है। संसार मे सोनेवाले जीव को कहा है, कि जाग उठो और 'जाके सग ते बीछुरा ताही के संगु लागु।'[4] जीते ही जी इन्द्रियों को जला दो तथा संसार से पूर्णतया निर्लिप्त हो जाने पर ही जीव उज्जवल ज्योति को प्राप्त करता है। यह उज्जवल ज्योति ही तो साध्य ब्रह्म है।[5] सासारिक भ्रम छूटने पर ही गोविन्द से मिलाप होता है और इस मिलाप से दसों दिशाओं में आनन्द छा जाता है, क्योंकि एक-मात्र गोविन्द ही तो ज्योतिस्वरूप है।[6] संसार से उत्पन्न भय को कबीर अच्छा बताता है। इसी के कारण वह सांसारिक दिशाओं का ज्ञान भूल गया है, ऐसी अवस्था होने पर ही वह ओले की तरह घुल कर जल रूपी ब्रह्म में मिल गया तथा इस प्रकार अपना रूप खो दिया।[7] योग का महत्त्व बताते हुए कबीर ने कहा है, कि जब अपनी प्रवृत्तियों को उलट कर अंतर्मुखी कर लिया तथा ब्रह्म-रध्र में प्रवेश किया। इस प्रकार जब कुंडलिनी से षटचक्र का भेद कर लिया, तभी एकाकी स्वामी ब्रह्म से भेंट हुई।[8] इतना ही नहीं निरन्तर अपलक निरखते रहने से नेत्र लाल हो गए तथा जब देखने के इस अभ्यास से ब्रह्म की प्राप्ति हुई तो दृश्य एवं दर्शक दोनों एकाकार हो गए; यही आत्मा तथा परमात्मा का महामिलन है।[9] शरीर को जला कर कोयला कर लेने के बाद

---

१. ९७ श्लोक। २. ७२७ क०, १।
३. ९६९ क०, ४। ४. १२९ श्लोक।
५. ३४० क०, ८। ६. ३४४ क०, ११।
७. १७७ श्लोक। ८. ९७१ क०, १०। ९. ३४१ क०, २६।

योगी का खप्पर भी फूट गया (ब्रह्म-रंध्र से प्राण निकलने पर ब्रह्ममिलन होता है) और वह ब्रह्म के साथ 'खेल गया'। योगी के जीवन का उद्देश्य पूर्ण हुआ। वह ब्रह्म से एकाकार हो गया, उसकी भस्म-मात्र ससार मे अवशिष्ट रह गई।' सांसारिक विषय वासनाओं के प्रति उदासीनता प्रकट कर, मन को जीत कर, ज्ञानार्जन प्राप्त करने पर कबीर कहता है, कि 'अन्तरगति हरि भेटिआ।[२] यही उससे ऐक्य है। इस प्रकार एक बार ऐक्य होने के बाद वियोग का प्रश्न ही नहीं। योग से ही नहीं, अपितु निरंतर प्रभु का विचार करने से भी घट (देह) में ही निराकार प्रभु क्रीड़ा करने लगता है, तब काल (यम) की कल्पना से दूर होकर वह 'आदि पुरख महि रहै समाइ।'[३] अपने आप मे खोज कर उस ब्रह्म को जान लिया और तब 'तेज तेजु समानिआ।'[४] तेज (आत्मा) महातेज (परमात्मा) मे लीन हो गई। ब्रह्म-ध्यान मे लीन हो 'तूं' 'तूं' का उच्चारण करते हुए कबीर स्वतः ही 'तूं' मे परिणत हो गया। इस प्रकार अपने और पराये का भद मिटाने पर 'अहम्' का नाश हो गया तथा 'जत देखउ तत तू' एक-मात्र ब्रह्म ही रह गया।[५] जब हृदय में नैसर्गिक चेतना जागृत हो, तथा गुरू कृपा से ब्रह्म में लौ लग जाए, तब सांसारिक मृत्यु न होकर भी, ऐसी मृत्यु होगी, जो उससे मिला कर ही एकाकार कर देगी।[६] 'नाम' का इतना महत्त्व है, कि नाम में लगा हुआ प्राणी संसार की ओर से मर जाएगा और उससे मिल कर एकाकार हो जाएगा, अन्यथा संसार में रहता हुआ कहीं नाम का वियोगी हो गया, तो पागल हो जाएगा,[७] नव वधू रूपी आत्मा ब्रह्म का गुण-गान करते हुए यदि जीवन को व्यतीत करेगी तभी ब्रह्म-पति से मिल कर एकाकार हो सकेगी। अब क्योंकि 'हरि गुण गावत जनमु बीतै' अतः गुण-गान द्वारा भी भगवान से एकीकरण किया जा सकता है।[८] इस प्रकार नाम-जप, स्मरण अथवा भक्ति से ऐक्य अवश्य सम्भव है, लेकिन केवल तभी, जब गुरू द्वारा दीक्षित हो। कबीर को इस बात का पूरा-पूरा ध्यान है। क्योंकि गुरू से दीक्षित होकर उसे मरना नहीं, तब तो एकाकार ही हो जाना है।[९] गुरू की कृपा के बिना वह अनन्य लौ नहीं लग सकती, जो ब्रह्म से ऐक्य स्थापित करा दे।[१०] गुरू के उपदेश से जागृत हो कर तो जीते जी ही जीव शून्य में लीन हो गया।[११] गुरू पथ-प्रदर्शन से भी बढ़ कर महत्त्व है—तल्लीन हो अनन्य तड़पनमयी प्रार्थना का। सम्पूर्ण जगत् में बाधापूर्ण जीवन व्यतीत करने के बाद कबीर प्रार्थना करता है, हे भगवान्! अंत समय तो मिलिए।[१२] वस्तुतः भक्त की भक्ति एवं सच्ची प्रार्थना की ही शक्ति है, कि कबीर के प्रभु भी नृसिंह का रूप धारण कर प्रह्लाद की रक्षा करने आ पहुँचे। लेकिन यह सब होता है, केवल सौभाग्यशाली ही के लिए, अन्य किसी के लिए नहीं।

---

१. ४८ श्लोक। २. ११०३ क०, २। ३. ३४३ क० ७६।
४. ८७५ क०, ११। ५. २०४ श्लोक। ६. ९१ क०, १।
७. ७६ श्लोक। ८. ४८४ क०, ३४। ९ ८७२ क०, ६।
१०. ९१ क०, १। ११. ८५७ क०, १०। १२. ३२३ क०, २।

इस प्रकार कबीर के जीवनोद्देश्य की साधन-साध्य प्रक्रिया का विकास हमने देखा। सांसारिक भय से आतुर सांसारिकता का ज्ञान पाते ही सर्वप्रथम माया से अपनी रक्षा की इच्छा करता हुआ, उस दिशा मे प्रयत्नशील होता है। अपने स्थूल ज्ञान के अनुकूल सर्वप्रथम वह शारीरिक पुन. साधनात्मक तत्पश्चात् मानसिक एव आत्मिक प्रयत्न करता है, लेकिन शीघ्र ही उसे ज्ञान हो जाता है, कि पथ-प्रदर्शक गुरू के बिना सब साधन व्यर्थ है। तब वह गुरू का आश्रय लेता है, और अंत में अनुभव करता, कि स्वत- भगवत्कृपा बिना इतना सौभाग्यशाली नहीं बना जा सकता, कि त्रिलोक वशकारिणी माया से रक्षा हो जाए। माया से रक्षित जीव सांसारिक प्रलोभनों से अवश्य बच निकलता है, लेकिन अपने क्षेत्र के एकाधिपति यम का भय उसे निरंतर चिंतित किए रखता है। इस प्रकार उसे यम से रक्षा का प्रयत्न करना पड़ता है। यम से रक्षित होकर वह सम्पूर्ण भवबधनों का नाश कर उसके पार पहुँचने का प्रयत्न करता है और यही प्रयत्न उसे मोक्ष एवं अभयपद का इच्छुक बना देता है। इन सब साध्य के साधनों की ओर भी उसकी प्रगति का आधार वे स्वकीय प्रयत्न कर्मण्यता, ब्रह्म-ज्ञान, तथा भक्ति है, जिनका निर्देशक सत्गुरू है और बिना भगवत्कृपा के जो. लभ्य नहीं।

मोक्ष पद प्राप्ति के बाद जीव भगवत्प्राप्ति करता है, पुनः ब्रह्म-दर्शन कर उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, ज्ञान प्राप्त कर उसकी अनुभूति करना चाहता है तथा अनुभूति के माध्यम से ही अपने आपको ब्रह्म-रस मे लीन कर लेता है। ब्रह्म-रस में लीन होकर जीव उससे एकाकार हो जाए, ऐसा ऐक्य सम्बंध स्थापित करना चाहता है, जहाँ वह अपना अस्तित्त्व ही खो दे, तथा उसी में परिणत हो जाए। कबीर के साध्य का आरम्भ अवश्य ही शंकर के अद्वैत से नहीं, लेकिन साध्य का चरम भी उस अद्वैत से भिन्न नहीं। जहाँ दोनों का एक ही रूप रह जाता है, या हो जाता है। शंकर का जीव प्रारम्भ से ही 'अहं ब्रह्म' की पुकार लगाता चलता है, लेकिन कबीर का जीव अन्त में अवश्य कहता है, कि 'तू' 'तू' का उच्चारण करते करते 'अहं' का विनाश हो 'मैं' अवश्य ही 'तू' में परिणत हो गया। एक नहीं, कई स्थलों पर इस भाव की पुष्टि की गई है। इससे स्पष्ट ही है, कि कबीर की दृष्टि में जीवनगत सत्य केवल एक ही है, वह है अपने और उसमें सब भेद मिटा कर अपने को ही उसमें परिणत कर देना अथवा उसमें मिल कर ऐसा ऐक्य स्थापित करना, कि जीव स्वतः भी उसी का स्वरूप धारण कर ले अर्थात् वही बन जाए।

यही है, कबीर का साध्य और उसके साधनों का विश्लेषणात्मक अध्ययन।

सहायक शक्तियाँ—

मानव-जीवन का साध्य ब्रह्म से पूर्ण ऐक्य है। जीव का अपने साध्य से परिचय हो जाने पर उस दिशा में प्रगतिशील होना स्वाभाविक ही है। यद्यपि साध्य-साधन प्रक्रिया में इसका सविस्तार वर्णन हो चुका है, तथापि साधन का स्वरूप जहाँ कहीं भी स्पष्ट नहीं हो सका, उस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा

है । वहाँ साध्य प्रधान था और साधना उसके अनुकूल । यहाँ साधन का अपना ही विकास-क्रम है । वस्तुत: साधन से अधिक इन्हें सहायक-शक्तियाँ समझना ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि भगवत्प्राप्ति के मार्ग दुर्गम है । अन्यान्य मार्ग होने के कारण जीव किसी भी मार्ग का आश्रय ले सकता है । ऐसी अवस्था मे सम्भव है, कि उसे अन्य सहायक शक्तियों का आश्रय लेने की आवश्यकता ही न हो । उदाहरणार्थ जिसे अनायास ही भगवत्कृपा से ब्रह्मानुभूति हो गई, उसे न ज्ञान की आवश्यकता, न जन सेवा की । अनन्य तल्लीनता ही उसके लिए साधन है और साध्य भी । जबकि सामान्य जीव को भगवत्कृपा प्राप्त करने के लिए सत्कर्म, सत्सग और गुरू-कृपा आदि न जाने किन-किन चौराहो से होकर आना पड़ता है । अतः ये सभी शक्तियाँ किसी न किसी रूप मे मानव को ब्रह्म-प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सकती है, अत: इन्हें सहायक शक्तियाँ नाम देना ही अधिक उपयुक्त होगा ।

भगवत्कृपा—

भगवत्प्राप्ति का एक-मात्र साधन है, भगवत्कृपा । मानव के सब सत्कर्म, योग, जप, तप, ज्ञान और सम्पूर्ण भक्ति भी यदि जीव को भगवत्कृपा का अधिकारी नही बना देती, तो बेकार है । भगवत्कृपा के लिए आवश्यक है, कि जीव मे ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा के अनतर मृत्यु आदि किसी भी कारण से उस अनत शक्ति के प्रति हृदय मे भय उत्पन्न हो । भय उत्पन्न होने से उस शक्ति मे श्रद्धा उत्पन्न हो सकेगी तथा वह श्रद्धा ही जीव में अपने ऊपर भरोसा और भगवान मे विश्वास पैदा कर सकेगी । एक बार अनत की अनंत-शक्ति पर विश्वास होना चाहिए, फिर तो जीव स्वत: ही पुकार उठता है—

'अब कहु राम भरोसा तेरा ।'[1]

जीव को उस पर भरोसा हो गया और यह भी ज्ञान हो गया है, कि वह सबके कार्य करता है, तब वह भी अपना विश्वास प्रकट करता है—'साहिब होइ दइआलु क्रिया करै अपुना कारजु सवारे ।'[2] भगवान दयालु हुआ और भक्त का कार्य बन गया, क्योंकि कबीर ने बताया है, कि भ्रम एवं संशयरहित होकर उसी ने ध्रुव तथा प्रह्लाद पर कृपा की थी ।[3] यह कृपा तभी हो पाती है, जब भगवत्विश्वास से भगवान के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है । यह प्रेम की तड़पन अनायास ही भगवान को कृपा करने पर लाचार कर देती है । जिस पर यह भगवत्कृपा हुई, उसका अपने आप ही तीनो लोकों में आदर होता है ।[4] इतना ही नहीं, इस हरि-कृपा से ही सत्संगति प्राप्त होती है, तथा मन भक्ति में स्थिर होता है ।[5] उसी से मन को शांति प्राप्त होती है । शांति ही क्या ? वस्तुत: यह उसकी कृपा ही है, जिससे सब कुछ होता है ।[6] इस भगवत्कृपा के बिना जीव का प्रत्येक प्रयत्न विफल होता है । यहाँ तक कहा है, कि जब तक राम नहीं सहायक होता, तब तक—

१. ३२८ क० २२ । २. ३३३ क० ५० । ३. ८५६ क० ५ ।
४. ८५६ क० ५ । ५. १२५१ क० १ । ६. ७२७ क० १ ।

'जिह जिह डाली पगु धरउ सोई मुरि मुरि जाइ ।'[1]

जीव का कोई भी कार्य बन ही नही पाता । और 'जब हूए क्रिपाल मिले गुरदेउ'[2] भगवान की कृपा-दृष्टि होने पर ही गुरू की प्राप्ति होती है । यह गुरू वही सत्गुरू है, जो भगवान को मिला देता है, इसीलिए इसका महत्त्व ब्रह्म से कम नहीं रहता । साधन साध्य से भी अधिक उपयोगी प्रतीत होता है और जिन पर भगवान की कृपादृष्टि हो गई, वे फिर उस जगत् में—'आवहि न जावहि न कबहू मरते'[3] न आते है, न जाते है । इस प्रकार सदा के लिए भवसागर से पार पहुँच मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेते है । अतः मानव-जीवन का उद्देश्य होना चाहिए, भगवत्कृपा प्राप्त करना । वह कृपा जो संसार की सबसे प्रबल शक्ति है । एक-मात्र जो कृपा ही सब कुछ देकर जीव का उद्धार कर सकती है ।

सत्गुरू--

इस भगवत्कृपा से ही सत्गुरू मिले । वह सत्गुरू जो अनायास ही जीव को भगवत्प्राप्ति करवा देते है । उनके स्वरूप, गुण, एवं कार्यो का वर्णन जीव-प्रकरण में आ चुका है और साधन रूप में उनके कार्यो का सविस्तार वर्णन साध्य-साधन प्रकरण में उल्लिखित है । अतः पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही । सत्गुरू का महत्त्व इसी में है, कि वह जीव का निरंतर पथ-प्रदर्शन करता रहता है तथा उसे भवतारक 'नाम' देता है । गुरू से नाम पाकर कबीर झट मे बोल उठा—

नाम—

'नाम पदारथु पाइकै कबीरा गाँठि न खोल्ह ।
नही पहणु नही पारखू नही गाइकु नही मोलु ।।'[4]

वह 'नाम' तो इतनी अमूल्य वस्तु है, कि इस संसार के बाजार में उसके पहचाननेवाले तथा ग्राहक बहुत ही थोड़े हैं । अत. वह संभाल कर रखनी चाहिए । संसार में उस नाम के बिना सभी धोखे मे रहे है, और—

'हरि के नाम बिनु किनि गति पाई ।'[5]

मोक्ष का साधन यह नाम है ।[6] इस नाम के माध्यम से ही आत्मा को परमात्मा का सहवास प्राप्त हो सका है ।[7] इस प्रकार इस नाम मे इतनी शक्ति है, कि यह यम से जीव की रक्षा करता है ।[8] इसके विपरीत 'जिन हरि का नामु न चेतिओ बादहि जनमं आइ ।'[9] हरि का नाम न लेनेवालों का न केवल जीवन ही व्यर्थ गया, अपितु 'नरकि परहि ते मानई जो हरि नाम उदास ।'[10] अतः जिन्होंने नाम नहीं अपनाया, उनकी मुक्ति का तो प्रश्न नही उठता, क्योंकि 'राम नाम बिनु मुकति न होई ।'[11] अतः नाम-रस को चखना आवश्यक है, उसे चख कर ही जीव 'कंचनु

१. ६७ श्लोक । २. ८७१ क० ७ ।
३. ८६५ क० १ । ४. २३ श्लोक । ५. ६५४ क० १ ।
६. ३३७ क० ६३ । ७. ४८२ क० २५ । ८. १४० श्लोक ।
९. ९४ श्लोक । १०. ९५ श्लोक । ११. ६५४ क० १ ।

भइआ' और उसका 'प्रभु गइआ समुद्रै पारि ।'[१] इसीलिए कबीर ने उसे 'सरब सूख को नाइको' कहा है, और जीव को सदेश दिया है, कि ऐसे 'राम नाम रसु पीउ ।'[२] इतना ही नहीं, 'नाउ' बिना जीव के कान उसे 'दीसहि दाचे ।'[३] कितना माहात्म्य है नाम का, जिसके बिना जीव के कान ही बेकार है। इसीलिए कबीर के पास संसार की सम्पूर्ण सम्पत्ति है, और वह 'इहु धनु मेरे हरि के नाउ'[४] के रूप में ही है। उसने स्पष्ट ही कहा है, कि यह नाम ही मेरे लिए नौ निधियों के तुल्य है।[५] अतः संसार में निर्धन की परिभाषा कबीर ने इस प्रकार की है—

'कहि कबीर निरधनु है सोई । जा कै हिरदै नामु न होई ।।'[६]

अतः इस नाम के स्वरूप का ज्ञान होना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि 'राम नाम की गति नही जानी कैसे उतरसि पारा '[७] वह गति क्या है ?—

'राम कहन महि भेदु है ता महि एकु विचारु ।'[८]

क्योंकि बिना उसका अर्थ और महत्त्व जाने तो वह, 'तोता-रटंत' हो जाएगा, जिसका कबीर ने विरोध किया है। हृदय में कपट होते हुए मुख में नाम होने को तो उसने बेकार ही नही,[९] अपितु हानिकारक भी बताया है। इसीलिए उसने कहा है, कि इस अमूल्य रत्न के पारखी बहुत ही थोड़े है,[१०] जो इस बात को पहचान पाते है, कि प्रभातकालीन नक्षत्रों की भाँति अन्य सभी अक्षर तो लुप्त हो जाते है, लेकिन 'ए दुइ अखर ना खिसहि ।[११] अत. इन्हें सम्भाल कर रखना चाहिए। इसका माहात्म्य तो इतना है, कि न केवल नाम लेनेवाला मुख ही धन्य होता है, अपितु 'देहि किस की बापुरी पवित्रु होइगो ग्रामु ।'[१२] वह देह और ग्राम भी पवित्र हो जाता है और वही कुल सार्थक होता है, जिसमे भगवान का नाम लेनेवाला 'हरि को दासु' उत्पन्न हुआ है।[१३] इसीलिए नाम-हीरे का व्यापारी भी सुलभ नहीं, कोई ही सच्चा साधु इसका व्यापारी होता है।[१४] मनुष्य की देह कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, लेकिन 'नाम बिना जैसे कुबज कुरूप'[१५] और नाम बिना यह कुरूप देह अधिक देर स्थिर भी नही रह सकती।[१६] क्योंकि—'जितु घटि रामु न उपजै फूटि मरै जनु सोई ।'[१७] उस घट (देह) ने तो यथाशीघ्र नष्ट हो ही जाना है। इसीलिए उसने भी प्रह्लाद के हठ को दुहराया है—

'मोकउ कहा पढ़ावसि आल जाल । मेरी पटीआ लिखि देहु स्रिगोपाल ।।
नहीं छोड़उ से बाबा राम नामु । मेरा अउर पढ़न सिउ नहीं कामु ।।'[१८]

क्योंकि एम-मात्र सत्य तो भगवान् का नाम हीं है, इसीलिए कबीर ने भी

---

१. ११०३ क०, ३। २ ३ श्लोक। ३ ४ श्लोक।
४. ११५७ क०, १। ५. ११५७ क०, २। ६. ११५६ क०, ८।
७. ११०२ क०, १। ८. १६० श्लोक। ९. ६५६ क०, ८।
१०. २३ श्लोक। ११ १७१ श्लोक। १२. ११० श्लोक।
१३. ११० श्लोक। १४. १६२ श्लोक। १५. ३२८ क०, २५।
१६. ३३० क०, ३५। १७. ३३३ क० ५५। १८. ११९४ क०, ४।

सन्देश दिया है, कि सांसारिक भ्रम को छोड़ कर एक-मात्र नाम को ही अतःकरण में अपना लो।[1] यह है नाम का महत्त्व और स्वरूप। भगवत्प्राप्ति में सहायक-साधन-स्वरूप नाम के गुण व कार्यों का विस्तृत वर्णन साध्य-साधन प्रकरण में आ चुका है, अतः यहाँ पुनरावृति व्यर्थ है। इससे स्पष्ट है, कि भगवान के गुणों का ध्यान ही नाम है और भव-पार जाने का एक यही सर्वोत्तम मार्ग है। इसीलिए सन्त-मत के साधन-मार्ग को 'नाम-मार्ग' भी कहा जाता है। ऐसे ही नाम का अनवरत ध्यान जप कहलाता है।

'कबीर सूता किआ करहि उठि कि न जपहि मुरारि।'[2] कबीर ने सोते हुए जीव को आ जगाया और जप का सन्देश दिया, क्योंकि वह दिन दूर नहीं जब जीव ने सदा के लिए 'लाँबे गोड़ पसारि' सो जाना है। लेकिन सांसारिक मोह माया में उलझा हुआ जीव अभी चिंतित ही था, कि कबीर ने पुनः समझाया—

'हरि का नामु न जपसि गवारा। किआ सोचहि बारम्बारा॥'[3]

यह जप ही है, जिससे जीव 'भव सागरू तरना।' संसारसागर के पार पहुँच सकता है।[4] भगवान पर विश्वास रखो, कि—'राति दिवस के कूकने कबहू के सुनै पुकार।'[5] निरन्तर जप से भगवान तुम्हारी पुकार सुनने को विवश हो जाएगा, अतः जप करो। माला फेरना ही जप नहीं है,[6] अपितु 'हरि जपि हिरदै माहि'[7]। कह कर उसने भक्त का जप के वास्तविक रूप से परिचय भी करवा दिया। इसलिए उसे कहा है—'रमईआ जपहु प्रानी अनत जीवन।'[8]

अनंत जीवनों तक—जब तक कि भगवान मिल नही जाता, तब तक उसका ही जप करना चाहिए। जप में उच्चारण रहता है, पर मुख मे नहीं, लेकिन भक्त को उससे भी अगले स्तर पर ले जाना है, वह है 'सिमरन'। सिमरन में नाम के आन्तरिक उच्चारण की आवश्यकता न रह कर, केवल स्मरण की भावना रहती है। अतः जप करते हुए भक्त को कबीर ने कहा—'नाम सिमरू पछुताहिगा मन'।[9] क्योंकि सिमरन के बिना धन, यौवन की तो बात ही छोडो, 'यह देह भी कागद जिउ गलि जाहिगा' और परिणामस्वरूप यम आकर शीघ्र ही केशों से खींच कर ले जाएगा और इन सम्पूर्ण सांसारिक सुखों से श्रेष्ठ—'इआ सुख ते भिख्या भली जउ हरि सिमरत दिन जाइ'।[10] तो वह भीख ही है, जो हरि का सिमरन करते हुए प्राप्त हो। अतः 'दुःख भंजना' 'हरि की न सिमरहु'।[11] जीव मौन है। कबीर ने पुनः चेताया—'राम नाम छाड़ि अंम्रित काहे बिखु खाई।[12] सांसारिक विष को छोड़ अमृत-नाम का ही आस्वादन करो। इसका परिणाम भी उसने बता दिया—

---

१. ६६१ क०, २। २. १२८ श्लोक। ३. ६५५ क०, ७।
४. ६१ क०, १। ५. २२३ श्लोक। ६. ७५ श्लोक।
७. १०६ श्लोक। ८. ६१ क०, १।
९. ११०६ क०, ११। १०. ११२ श्लोक।
११. ११६० क०, १४। १२. ६६२ क०, ५।

'राम सिमरि राम सिमरि राम सिमरि भाई ।
राम नाम सिमरन बिनु बूडते अधिकाई ॥'[1]

कि इसके बिना तो भवसागर में अधिक से अधिक डूबते ही जाओगे और कभी भव-पार नहीं पहुँच सकोगे । तब माया-लिप्त जीव को कबीर ने अपनी पूरी शक्ति से समझाने का प्रयत्न किया, सम्पूर्ण शब्द ही उल्लेखनीय है, परन्तु पुनरावृत्ति तथा विस्तार भय से उसके इतने पद ही दिए जाते हैं---'जिह सिमरनि होइ मुकति दुआरू । जाहि बैकुंठि नही संसारि ॥' 'ऐसा सिमरनु करि मन माहि । बिनु सिमरन मुकति कत नाहि ॥' ऐसे सिमरन को 'नमसकारू करि हिरदै माहि । फिरि फिरि तेरा आवनु नाहि ॥' यह सिमरन ही तो ऐसा बिना तेल का दीआ है, जो काम, क्रोध, विषय आदि सम्पूर्ण अंधकार को जड से ही उखाड फेंकता है । अतः 'जिह सिमरनि तेरी गति होइ । सो सिमरनु रखु कंठि परोइ ॥' इसलिए—'जिह सिमरन तेरी जाइ बलाइ ।' हे जीव ! 'सो सिमरनु तू अनदिनु पिउ ।' यह सिमरन प्राप्त करने का स्थान भी बता दिया—'इह सिमरन सतिगुर ते पाइये ।' इस सिमरन के सम्मुख मंत्र-तंत्र बेकार है, क्योंकि इसका आधार तो राम-नाम है इसलिए—

'सदा सदा सिमरि दिनु राति । उठत बैठत सासि गिरासि ॥

और परिणामस्वरूप—'हरि सिमरनु पाइऐ संजोग ।'[2]

मानव-जीवन का उद्देश्य ही भगवत्मिलन है, और अनवरत सिमरन उसका साधन । लेकिन कबीर यह भी नही भूला, कि इस सिमरन की भी चरमावस्था पर जीव को अन्य स्थिति में प्रवेश कर लेना चाहिए, वह है—'गुर प्रसादि अंतरि लिव लागै'[3] यह भगवान में ऐसी तल्लीनता है, जिसमें न किसी नाम की आवश्यकता है, न सिमरन की । जीव अपने आपको ही उसमें भुला देता है । इसीलिए सांसारिक वस्तुओं की चाह करनेवालों को उसने कहा है, यह चाह व्यर्थ है, यदि चाह लगानी ही है, तो—'लखिमी बर सिउ जउ लिउ लावै ।' तो उसका 'सोगु मिटै' और वह 'सभ ही सुख पाव ।'[4] अतः उस अविनाशी को जानने के लिए—'कहु कबीर लिव लागि रही है जहा बसे दिन राती ।'[5] सर्वत्र सदा उसी में तल्लीनता की आवश्यकता है, अतः 'राम राम राम रमे रमि रहीऐ ।'[6] क्योंकि 'मै राम रमत सुख पाइआ ।'[7] कबीर ने अपने अनुभव से जीव को विश्वास दिलवाया । परिणामस्वरूप 'मेरी मेरी' छोड कर—'केवल राम रहहु लिव लाइ ।'[8]

इस प्रकार नाम, उसका जप, सिमरन, तथा उसमें ध्यान एवं लौ लगाने (तल्लीनता) का महत्त्व बताया है । वस्तुतः यह तल्लीनता ही भगवद्भक्ति है, अतः उसका स्वरूप देखना भी आवश्यक है ।

---

१. ६९२ क०, ५ ।
२. ९७१ क०, ९ ।
३. ९१ क०, १ ।
४. ३४२ क०, ४३ ।
५. ३३४ क०, ५२ ।
६. ४८० क०, २० ।
७. ४८२ क०, २५ ।
८. ११६० क०, १८ ।

भक्ति

'कहु कबीर भगति करि पाइआ । भोले भाइ मिलै रघुराइआ ।।'[1]

भोलेपन से भरी हुई भक्ति से ही भगवान मिल सकते हैं । इसलिए 'चरन कमल जाकै रिदै बसहि सो जनु किउ डोलै देव ।' अपितु 'जह उह जाइ तहि सुखु पावै ।'[2] इतना ही नहीं, भक्ति इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि—

'बिनु हरि भगति न मुकति होइ'[3] और यह भक्ति ही है, जो मृग में कस्तूरीवत् जीव में अन्तर्हित ब्रह्म को उद्भासित करती है ।[4] इसी कारण तो उस नगर से वह निर्जन स्थान ही भला है, 'राम भगति जिह ठाइ' ।[5] क्योंकि भक्तिरहित स्थान तो यम का नगर है । यही कारण है, कि कबीर को उसे कोसना पड़ा—

'जिह नर राम भगति नही साधी । जनमत कत न मुओ अपराधी ।।'[6]

कि भक्ति न करनेवाला अपराधी जन्म पाते ही मर क्यों न गया ? भक्ति के बिना प्रत्येक घर बेकार है, अतः उस घर को आग लग जानी चाहिए 'जिह नाही हरि नाउ ।'[7] घर का ही क्या कहना ? भक्ति के बिना तो मानव का जीवन ही व्यर्थ है ।[8] इसीलिए कबीर ने पढ़ने से योग को भला समझा था, लेकिन भक्ति पाकर कह उठा, कि वह उसे छोड़ने को तैयार नहीं 'भावै निंदउ लोगु ।'[9] अतः भक्ति की युक्ति जाननी आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना मुक्ति नही, और जीव सांसारिक मोह-माया में ही फँसा रह जाता है ।[10] उसने आडम्बरी साधु ज्ञानगर्वित पण्डित को भवतारक नही जाना, अपितु कोई जीव भव-पार नही हो सकता, जब तक—'भगति नारदी रिदै न आई ।'[11]

कबीर की यह नारदी भक्ति शास्त्रीय नारदी भक्ति न होकर अनुभूति नारदी भक्ति है । उन्होंने नारदी भक्ति का विधिवत् शिक्षण न पाया था, अपितु नारदी भक्ति का नाम सुना होगा कि वह भवतारक है ? सम्भवतः इसीलिए उसका नाम लिया है । लेकिन कबीर की अनुभूत भक्ति के सभी तत्त्व इस शास्त्रीय भक्ति से बहुत भिन्न नहीं ।

उनकी भक्ति के कौन से आवश्यक तत्त्व हैं, इसी से उसका स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा । 'मन मारे बिनु भगति न होइ' ।[12] सम्भवतः इसीलिए इस भक्ति-रस को समझने नहीं—पीनेवाला कोई बिरला ही व्यक्ति होता है ।[13] इस प्राप्ति का स्थान है, सत्गुरू और उसके लिए भी आवश्यक है, उसकी कृपा ! जयदेव और नामदेव इसके प्रमाण हैं—

गुर प्रसादी जैदेउ नामा । भगति कै प्रेमि इनहि है जाना ।।[14]

---

१. ३२४ क० ६ । २. ८५७ क० १२ । ३. ५४ श्लोक ।
४. १४१ श्लोक । ५. १५१ श्लोक । ६. ३२८ क० २५ ।
७ १५ श्लोक । ८. ३३६ क० ४१ । ९. ४५ श्लोक ।
१०. ३३७ क० ६३ । ११. ६५४ क० ३ । १२. ३२९ क० २८ ।
१३. ११२३ क० ३ । १४. ३३० क० ३६ ।

इस भक्ति में आवश्यक है, कि 'असथिरू रहै न कतहूँ जाई ।'[१] लगन सदा भगवान में ही बनी रहनी चाहिए । उसका उपाय भी उसने बता दिया, कि 'काइआ मन्दर मनसा थंभ'[२] बना लेना चाहिए, तब ही यह स्थिरता आ सकेगी । इस भक्ति के जागृत हो जाने पर सबसे पहली शर्त है, अनन्यता की । अन्यान्य देवी-देवताओं की भक्ति कबीर को मान्य नहीं, वह तो स्पष्ट कहता है, कि 'सरब तिआगि भजु केवल रामु'[३] क्योंकि जिस प्रकार कच्ची सरसों से न तेल निकलता है, और न खल ही; उसी प्रकार अन्य देवी-देवताओं का आश्रय लेना व्यर्थ है ,[४] अतः एक-मात्र दाता ब्रह्म को ही भजना चाहिए ।[५] तथा अन्य किसी का आश्रय लेने की आवश्यकता नही ।[६] अतः 'जउ जाचउ तउ केवल राम । आन देव सिउ नाही काम' ।[७] एक-मात्र पूर्ण ब्रह्म का आश्रय लेना अथवा उसी से मांगना भला है । इसीलिए उसने कहा है, 'कबीर समुदु न छोडीए जउ अति खारो होइ । पोखरि पोखरि ढूढते भलो न कहि है कोइ ।'[८] इसीलिए एक ब्रह्म से अपनी लगन लगा लेनी चाहिए तथा 'दूसर मनहि न आना ना'[९] दूसरे में मन न लगाने का विचार करनेवाले को उसने धिक्कारा है—

रे जीअ निलज लाज तुहि नाही । हरि तजि कत काहू के जांही ॥
जाको ठाकुर ऊँचा हाई । सो जनु पर घर जात न सोही ॥[१०]

सर्वशक्तिमान् भगवान का भक्त अन्य देवी-देवताओं के घर जाता हुआ शोभा नहीं देता, इसलिए कबीर ने तो स्पष्ट ही कहा है, कि—

'कहत कबीर अवर नहीं कामा । हमरे मन धन राम को नामा ॥[११]

इस प्रकार एक ही भगवान को अनन्य रूप से भजनेवाला भक्त धन्य है, 'धनि जनम ताहि को गनै' । संसार में एक-मात्र उसी का जीवन सफल हुआ है । इस अनन्यता के बाद चाहिए, पूर्ण आत्मसमर्पण । वह भक्त, भक्त ही नहीं, जो भगवान से कुछ बचाए रखता है कुछ छिपाए रखता है, वहाँ तो हृदय के अन्तरतम से अपना स्पष्टतम रूप उसके सन्मुख प्रकट कर अर्पण करने की आवश्यकता है और उसमें भी प्रचार नही होना चाहिए । इसीलिए कबीर ने कहा है—

'कबीर जउ तुहि साध पिरमं की सीसु काटि करि गोई' ।[१२]

सिर को उसे अर्पित अवश्य कर देना चाहिए, पर 'गोई' छिपा कर, शान्तिपूर्वक और वह आत्मसमर्पण कैसा होना चाहिए ? उस पिसी हुई मेंहदी जैसा, जो पैर में लगने पर उसे रंग तो दे परन्तु पैर में उसके छोटे से छोटे कण भी चुभ कर उसकी उपस्थिति की सूचना न दे ।[१३] यह आत्मसमर्पण सर्वांगपूर्ण होना चाहिए, उसके लिए ही तो,—

---

१. ४८१ क० २१ । २. ३४४ क० १ । ३. ३२४ क० ३ ।
४ २४० श्लोक । ५. ३३७ क० ६१ । ६. ११९६ क० ८ ।
७ ११९२ क० २० । ८. ५० श्लोक । ९. ३३९ क० ७४ ।
१०. ३३० क० ३८ । ११. ६९२ क० ४ । १२. २३९ श्लोक ।
१३. ६५ श्लोक ।

कबीर नैन निहारउ तुझ कउ स्रवन सुनउ तुम्र नाउ ।

बैन उचरउ तुम्र नाम जी चरन कमल रिद ठाउ ॥[1]

नेत्र, कान, वाणी तथा हृदय सभी इन्द्रियों से जीव को अपने आपको उसी में लगा देना चाहिए। इसीलिए कबीर ने सब सांसारिक सम्बन्धों को त्याग कर कहा है, कि—

'तुमहि छोड़ि जानउ नही दूजी ।' और[2]

हम तुम बीचु भइस्रो नहीं कोई । तुमहि सुकंत नारि हम सोई ॥[3]

भगवान की पत्नी बनते हुए वह लोई का पति भी तो नहीं रहा। यह है, आत्मसमर्पण का चरम, जो कबीर की भक्ति का प्राण है। इसीलिए तो 'सोई सुहागिन कहै कबीरु'[4] और इस पूर्ण आत्मसमर्पण का ही परिणाम है, कि कबीर को यह भी नहीं पता लगता, कि 'पीउ महि जीउ बसै जीअ महि बसै कि पीउ'।[5] इस अनन्यता और पूर्ण आत्मसमर्पण से भी भक्ति महान् नही बन पाती, जबकि अन्तर में भगवान के लिए निरंतर तड़फन न लगी रहै। वह तड़पन ऐसी होनी चाहिए, जैसे मेह के लिए 'चात्रिक जिउ तरसत रहै'[6] तथा उड़नेवाले पक्षी को घोंसले से दूर होते हुए भी बच्चों का ध्यान रहता है।[7] इस तड़पन से ही भगवान में अनवरत ध्यान लगा रहना चाहिए। उसने कहा है, कि 'सो दरु कैसे छोड़िए' जहाँ जीव का सदा आना-जाना लगा रहता है।[8] इसलिए 'असथिरू रहै न कतहूँ जाई।'[9] एक भगवान में ही चित को स्थिर कर लेना आवश्यक है, अन्यत्र कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। अतः 'कहि कबीर राम नामु न छोड़उ सहजे होइ सु होइ रे।'[10] जो होना हो होता रहे, लेकिन वह भक्ति छोड़ने को तैयार नहीं, क्योंकि वही तो 'सगल ऊच ते ऊचा'[11] है। इसलिए 'कबीर राम न छोड़ीए तनु धनु जाइ त जाउ। चरन कमल चितु बोधिआ रामहि नामि समाउ।'[12] वह तो इस नाम को, जो उसकी भक्ति का आधार है, किसी भी शर्त पर छोड़ने को तैयार नहीं। इसीलिए उसने सबको सदेश दिया है, कि—

आठ जाम चउसठ घरी तुम्र निरखत रहै जीउ ।

नीचे लोइन किउ करउ सभ बट देखउ पीउ ॥[13]

दिन के आठों याम और चौंसठ घड़ी तो कबीर को संसार के सभी प्राणियों में भगवान दीखता रहता है, अतः उसे नीचे आँखें झुकाने की क्या आवश्यकता? इस प्रकार कबीर की भक्ति के आवश्यक तत्त्व हैं, अनन्यता, पूर्ण आत्मसमर्पण, भगवान के लिए अनवरत तड़पन और उसमें ही एकाग्रता। ऐसी प्रेम भक्ति के सहारे ही

---

१. ११६ श्लोक। २. ११५७ क०, २। ३. ४८५ क०. ३५।
४. ३२८ क०, २३। ५. २३६ श्लोक। ६, १२४ श्लोक।
७. १२३ श्लोक। ८, ६६ श्लोक। ६. ४८१ क०, २१।
१०. ८७० क०, ३। ११, ३३८ क०, ६८। १२. १०२ श्लोक।
१३. २३५ श्लोक।

संसार से पार पहुँचा जा सकता है।[१] तथा भक्ति को छोड़ अन्य लौकिक कार्यों मे लिप्त होने पर जीव का नाश हो जाता है।[२]

प्रह्लाद ने भी इसी भक्ति के कारण भगवान के नाम को न छोडा था।[३] जयदेव तथा नामदेव ने भी इस भक्ति को पहचाना था, तब ही भव-पार पहुँचे थे।[४] कबीर कहता है, ऐसे ही भक्त है, जो संसार में न आते हैं न जाते हैं।[५] इसीलिए कबीर ने भी पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण ही दृढ़ता से अपने आपको भक्ति में लगा लिया है।[६] संसार की निन्दा के भय को त्याग कर 'राम कबीरा रवि रहे अवर तजे सभ काम।'[७] यही है, कबीर की अनुभूत भक्ति और उसकी रूप-रेखा।

निष्काम कर्मण्य-जीवन

'तिह बड़भाग बसिओ मनि जाकै करम प्रधान मथानां नां।[८] मन मे कर्म की प्रधानता पर विचार करनेवाला व्यक्ति ही धन्य है। क्योंकि 'करि करता उतरसि पार'[९], काम करनेवाला ही भवसागर के पार उतर सकेगा। इसलिए कर्मक्षेत्र से पराङ्मुख नहीं होना चाहिए—'पुरजा-पुरजा कटि मरै कबहूँ न छाड़ै खेतु।'[१०] जीवन संघर्ष है। संत पलायन के विरोधी थे, अतः उन्होंने दृढ़ विश्वास से सांसारिक समस्याओं का मुकाबला करने का क्रियात्मक संदेश अपने जीवन के माध्यम से दिया है, उनका व्यक्तित्त्व इस बात का प्रमाण है। इसीलिए उन्होंने, 'रणि रूतउ भाजै नही सूरउ थारउ नाउ।'[११] संसार समर से न भागनेवाले को ही सूर बताया है। इस प्रकार दृढ़ता से निष्कर्मण्यता का विरोध करते हुए जीव को चेताया है—'कबीर सूता किआ करहि बैठा रहु अरु जागु।' साथ ही उसने जीव को कार्य भी बता दिया है, कि 'जाके संग ते बीछुरा ताहि के संग लागु।'[१२] कबीर नामदेव और त्रिलोचन की बातचीत को प्रस्तुत करते हुए भी यह भाव बताया है। त्रिलोचन के यह कहने पर, कि इस 'छीपहु छाइले' में ही नामदेव तू क्यों जीवन गँवा रहा है,[१३] नामदेव ने उत्तर दिया था—

> **नामा कहै त्रिलोचना मुख ते रामु संभालि।**
> **हाथ पाउ करि कामु सभु चीतु निरंजन नालि॥**[१४]

चित को भगवान में लगाते हुए भी उसने हाथों से कार्य नहीं रोका था। कबीर ने भी बताया था, कि 'हम घरि सूत तनहि नित'[१५] लेकिन 'गोबिन्दु रिदै हमारे'। इस प्रकार निष्कर्मण्यता का उन्होंने क्रियात्मक विरोधकर उसे भगवत्प्राप्ति में सहायक बताया है। इससे तो यह स्पष्ट है, कि जीव को कर्म करने चाहिए। कौन से कर्म करने चाहिए, यह बताते हुए कहा है, कि जीव के दिनों को इधर-उधर

---

१. ३३५ क०, ५६। २. ११२४ क०, ५। ३. ११९४ क०, ४।
४. ३३९ क०, ३६। ५. ८५५ क०, १। ६. ३३१ क०, ४०।
७. २३६ श्लोक। ८, ३३९ क०, ७४। ९. ६७१ क०, १०।
१०. ११०५ क०, ९। ११. ३४२ क०, ३४। १२. १२९ श्लोक।
१३. २१२ श्लोक। १४. २१३ श्लोक। १५. ४८२ क०, २६।

घूम-फिर कर बिताने के कारण ही जीवन तो नष्ट हो जाएगा। साथ ही कर्म-भोग का ब्याज बढ़ता जाएगा, यदि जीव सत्कर्म न करेगा।[1] अतः सांसारिक रस को त्याग कर मन को सचेत किया है, कि 'सुकृत करि करि लीजै रे मन।'[2] अमूल्य जीवन व्यतीत हो रहा है। यम निकट आता जा रहा है। ऐसे समय 'बाजीगरी संसारु' से बच कर सत्कर्म कर लेने चाहिएँ।[3] सत्कर्मों की पहचान कैसे हो? यह कठिन नहीं, 'कबीर सत की गैल न छोड़ीऐ मारगि लागा जाउ।'[4] संतों ने सत्कर्मों के मार्ग का निर्माण कर दिया है, जीव को तो केवल उस पर चलने की आवश्यकता है।[5] इसीलिए तो 'जिह मारगि पंडित गए पाछै परी बहीर।'[6] उनके मार्ग पर ही भीड़ चल पड़ी। अतः जीव को चाहिए, कि तन मन रमन रहै महि खेतै'[7] सत्कर्म करता हुआ जीवन-संघर्ष मे जूझता चले।

सत्कर्मों के साथ-साथ सद्गुणों का भी महत्त्व बताया। जहाँ दुष्कर्म और दुर्गुण अवरोधक शक्ति के रूप में जीव को उसके उद्देश्य पर पहुँचाने में रुकावट डालते हैं, उसी प्रकार सत्कर्म और सद्गुण मानव को ब्रह्म की ओर बढ़ने में सहायक सिद्ध होते है। फल देनेवाले वृक्षों की तरह परोपकारी एवं दाता होना, जहाँ जीव को नम्र और उदार बनाता है, वहाँ उन्नत भी कर देता है।[8] इतना ही नहीं, जहाँ ज्ञान में धर्म है, वहाँ झूठ में पाप है तथा 'जहाँ लोभु तह कालु है जहाँ खिमा तह आपि।'[9] क्षमा को तो इतना महान् सद्गुण बताया है, कि उसे धारण करने पर जीव स्वतः ही भगवत् तुल्य हो जाता है। इस प्रकार भक्ति के साथ निष्काम कर्मण्य-जीवन भी जीव को उसके साध्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है।

ज्ञान

'जहा गिआनु तह धरमु है'[10] अपढ़ कबीर ने ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार न किया हो, ऐसी बात नहीं। कबीर ने ज्ञान के आडम्बर में पड़े पण्डितों, बाह्मन—ब्राह्मणों, तथा मुल्ला—मौलवियों का विरोध किया है। विवेक एवं विचार के बिना पुस्तकी ज्ञान का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने विवेक को अपना गुरू कहा है।[11] उन्होंने आडम्बरी ज्ञान को त्याग कर अंतःकरण में उद्भासित ज्ञान को महत्त्व दिया है, क्योंकि वही ज्ञान वास्तविक ज्ञान है जो ब्रह्म की पहचान करवा दे।[12] भक्तिमार्गी कबीर का 'नाम' ब्रह्म-प्राप्ति का विशेष साधन है। लेकिन नाम लेने में भी एक विचार है तथा एक रहस्य अन्तर्हित है,[13] जो उस रहस्य और विचार को नहीं जानता, उसका 'नाम' लेना 'तोता-रटंत' की तरह अथवा 'खर चंदन भारा' की तरह व्यर्थ है।[14] इसीलिए तो उसने कहा है कि—

---

१. २०८ श्लोक। २. ४७६ क०, १६। ३. ४८१ क०, २३।
४. १३० श्लोक। ५. 'महाजनो येन गता स पंथा। (पंचतन्त्र)
६. १६५ श्लोक। ७. ८७२ क०, ६। ८. २३० श्लोक।
९. १५५ श्लोक। १०. १५५ श्लोक। ११. ७६३ क०, ५।
१२. ३४० क०, ८। १३. ११० श्लोक। १४. ११०३ क०, १।

मारगि मोती बीथरे अंधा निकसिओ आइ ।
जोति बिना जगदीस की जगतु उलंघे जाइ ॥[१]

बेचारा अन्धा तो मोतियों की राह से निकल जाता है, लेकिन उसे इस तथ्य का ज्ञान ? अंतःकरण में उस ब्रह्म की ज्योति के बिना मानव भव-पार कभी नहीं पहुँच सकता और इसी में भटकता रहेगा । इस अंतर्ज्ञान के जागृत हो जाने पर 'मनि भइआ आनंदा' तथा 'गइआ भरमु रहिआ परमानंदा ।'[२] इस प्रकार धीरे-धीरे अंतर्ज्ञान होने से वह ब्रह्म भी दृश्य हो जाता है[३] तथा उसकी पहचान होने पर जीव मुक्त होकर अक्षय पद को प्राप्त करता है ।[४] अन्तर्ज्ञान ही वह अमूल्य धन है, जिसे पाकर जीव वास्तव मे धनी बन जाता है ।[५] इस धन के प्राप्त होने पर ही सांसारिक माया और तृष्णा का अज्ञानाधंकार नष्ट होता है, तथा भगवान के दर्शन होते हैं ।[६] न केवल दर्शन, अपितु अन्तर्ज्ञान की आँधी से जीव का अन्तर भीग जाता है ।[७] परिणामस्वरूप उसकी हरि से भेंट हो जाती है और फिर उसका मन और कहीं नहीं जाता।[८]

इस प्रकार 'चीनत चितु निरंजन लाइआ । 'कहु कबीर तौ अनभउ पाइआ ।'[९] जब जीव भगवान के अर्न्तज्ञान मे तल्लीन हो गया, तब उसे भगवान का अनुभव भी हो जाता है। न केवल ब्रह्मज्ञान से मन शांत होता है[१०], अपितु देसहि उगवंत सूर' सूर्य रूपी अन्तर्ज्ञान के उदित होने पर जीव अपने देश—परम पद को पहचान कर परब्रह्म के पास चला जाता है ।[११] अत: 'कहि कबीर चित चेतिआ राम सिमरि बैराग' कबीर चित्त को चेतावनी दे देता है कि ऐसे नाम का ज्ञान होने के बाद ही स्मरण करना चाहिए, जिससे दिखावटी नहीं, अपितु सच्चा वैराग जागृत हो[१२] तथा वह ज्ञान गुरू की कृपा से ही उत्पन्न होगा ।[१३] इस प्रकार 'पीवंत राम रसु गिआन बीचारा ।' ज्ञान का विचार करते हुए जीव राम-रस को पान कर सहज ही मतवाला हो जाता है ।[१४] परिणामस्वरूप इसी से आत्मा का सार अनुभव होता है ।[१५]

इस प्रकार कबीर का ज्ञान पुस्तकी ज्ञान न होकर स्वत: उद्भासित अंतःकरण का ज्ञान है । ज्ञान के आश्रय के बिना कबीर की भक्ति सशक्त नहीं, यह उसने प्रचलित आडम्बरपूर्ण भक्ति से अनुभव किया था । इसलिए जहाँ उसने अपनी भक्ति को निष्काम कर्मण्य-जीवन से प्रवहमान एवं संचरणशील दैनिक जीवन का अंग बनाया था, वहाँ ज्ञान के सम्बल से सशक्त एवं सबल भी किया था । भक्ति की प्रधानता होते हुए भी ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समुचित समन्वय कर वह त्रिवेणी प्रवाहित की, जो युग-युगान्तर तक जीवन का अजस्र स्रोत बहाए हुए है । अतः कबीर के साध्य

---

१. ११४ श्लोक । २. ३२७ क०, २० । ३. २८ क०, २४ ।
४. ३४० क०, ८ । ५. ६६६ क०. ३ । ६. ११२३ क०, १ ।
७. ३३१ क०, ४३ । ८. ११०३ क०, २ । ९. ३२८ क०, २७ ।
१०. १७५ श्लोक । ११. १२६ श्लोक । १२. ३३७ क०, ६४ ।
१३. ६१ क०, १ । १४. ३२८ क०, २७ । १५. ३४३ क०, १ ।

की प्राप्ति में सहायक ज्ञान का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञान ही वह सूर्य है जो भक्ति के पथ को आलोकित करता है।

योग

> **तरबर एकु अनंत डार साखा पुहप पत्र रस भरीआ।**
> **इह अंम्रित की बाड़ी है रे तिनि हरि पूरै करीआ॥**
> **जानी जानी रे राजा राम की कहानी।**
> **अंतरि जोति राम परगासा गुरमुखि बिरलै जानी॥**[१]

सम्भवतः कबीर अपने प्रारम्भिक जीवन में योगी रहे थे अथवा उनका योगियों से इतना अधिक निकट सम्बन्ध रहा था, कि वे न केवल यौगिक शब्दावली अपितु यौगिक क्रियाओं से भी परिचित थे। उनकी वाणी इस बात का प्रमाण है। युज् (जोड़ना) से योग शब्द का अर्थ ही जोडना है, आत्मा को परमात्मा से। इसके अन्यान्य साधन हैं। यहाँ हम कबीर के हठयोग से अधिक सम्बन्धित हैं। शारीरिक क्रियाओं द्वारा बलात् इन्द्रियों एवं मन को बस में करना ही हठयोग का उद्देश्य होता है क्योंकि 'मनु जीते जगु जीतिआ'[२] मन को जीतनेवाला तो स्वतः विश्वविजयी हो जाता है। इतना ही नहीं उसी पवित्र मन के पीछे भगवान भी घूमने लगते हैं[३] और इससे भी अधिक यह पवित्र मनवाला जीव अपने आप ही ब्रह्म में परिणत हो जाता है।[४]

यहाँ कबीर के योग का विस्तार में वर्णन आवश्यक नहीं, अपितु कबीर ने योग को भी किस प्रकार ब्रह्म-मिलन (साध्य) में सहायक अनुभव किया है, यही देखना है। वृक्ष शरीर को उसने समझ लिया है तभी उसे 'राजा राम की कहानी'[५] का पता लग गया है और यह भी ज्ञात हो गया है, कि यह शरीर ऐसा है, 'जा महि जोति करे परगास।'[६] तब 'त्राटक' से उसने संसार का ज्ञान प्राप्त कर लिया।[७] ब्रह्म-रंध्र में कुण्डलिनी की चाबी द्वारा उसने ब्रह्म-दर्शन करने का प्रयत्न किया है।[८] नव-द्वारों की वृत्तियों को रोकने से ही यह सम्भव है।[९] अन्तःकरण मे उसके दर्शन होते ही जीव उसकी अनुभूति में तल्लीन हो जाता है[१०] और यह अनुभूति ही ब्रह्म-रसपान है।[११] ऐसा कोई बिरला ही सच्चा भक्त कर सकता है, जो नव द्वारों को रोक कर दशम द्वार तक पहुँच जाए।[१२] इस प्रकार जीव अन्त.करण में अनाहत नाद श्रवण कर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करता हुआ उसे अनुभव कर[१३] उसी में आनन्द प्राप्त करता है।[१४] षट् चक्र में अनुभूत ब्रह्म के कारण[१५] उसकी द्विविधा का नाश हो जाता है।[१६] इस

१. ९७० क०, ६।
२. ११०३ क०, २।
३. ५५ श्लोक।
४. ३४४ क०, १३।
५. ९७० क०, ६।
६. ११६२ क०, १९।
७. ३४४ क०, ५३।
८. ३४१ क०, २४।
९. ३४३ क०, ११।
१०. ३३९ क०, ७३।
११. ९६९ क०, ४।
१२. ११२३ क०, ३।
१३, ८५७ क०, ११।
१४, ३३४ क०, ५३।
१५. ३४० क०, ८।
१६. ३४३ क० ७।

प्रकार जब 'उगवै सूर' तथा लगातार 'अहिनिसि बाजे अनहद तूर' तब जीव ने न केवल 'देखिआ तिहूँ लोक का पीउ' अपितु 'अचरजु भइआ जीव ते सीउ।'[1] जीव स्वतः ही ब्रह्म बन बैठा। जिस योग का आडम्बर समाज को विचलित कर सकता है, उसका कबीर ने विरोध किया है, लेकिन वास्तविक योग ब्रह्म-प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सकता है, इस बात को उसने स्वीकार किया है। मन बस में हुए बिना, इन्द्रियों को नियन्त्रित किए बिना, अनन्य और अनवरत भक्ति हो भी कैसे सकती है ? अतः कबीर को साध्य प्राप्ति में योग का भी विशेष सहयोग स्वीकार्य है। हाँ ! यह स्मरण रहे, कि कबीर ने कष्टदायिनी दुरूह शारीरिक साधनाओं का विरोध कर सहज योग को महत्त्व दिया था। 'सहज' से तात्पर्य ही उस योग का है, जो योग अपने आप मे ही साध्य न बन कर दैनिक जीवन का क्रियात्मक अंग बना रह सके। जिसके लिए निवृत्तिमार्गी एवं निष्कर्मण्य जीवन व्यतीत करना आवश्यक नहीं, अपितु प्रवृत्तिमार्गी होते हुए भी जो सहज ही जीव को उसके साध्य की ओर अग्रसर करे। इस सहज में लीन होने पर ही व्यक्ति का भ्रम नष्ट होता है तथा कार्य पूर्ण होता है[2] सहज के माध्यम से ही उसकी मरण-जीवन की शंका नष्ट होती है।[3] परिणामस्वरूप उसका मन चोरी-चोरी सहज मे ही लीन हो जाता है।[4] साध्य-साधन प्रकरण में साध्य तक पहुँचने में इसका विशेष सहयोग दिखाया गया है।

पवित्र मन

मनु जीते जगु जीतिआ।[5]

मन का महत्त्व तो इस सूत्र से ही स्पष्ट है। अतः साध्य तक पहुँचने में पवित्र मन का विशेष सहयोग है। मन को पवित्र करने के लिए उसे नियन्त्रण मे लाना आवश्यक है। अतः—

'कूटन सोइ जु मन कउ कूटै। मन कूटै तउ जम से छूटै।'[6]

मन को पवित्र करने से न केवल जीव यम को बच जाता है, अपितु उस पवित्र मन को ही स्थिर करने से उसे भगवान की प्राप्ति होती है।[7] तथा 'जउ दिल सूची होइ' हृदय पवित्र हो गया, तो भगवान के दरबार मे भी उसे कोई रुकावट नहीं।[8] इतना ही क्या ? इससे भी बढ़ कर 'मनु निरमलु भइआ।' तो 'पाछै लागो हरि फिरै कहत कबीर कबीर।'[9] पवित्र मन के पीछे तो स्वतः भगवान ही चक्कर काटता फिरता है। इस प्रकार पवित्र मन भगवत्प्राप्ति में विशेष रूप से सहायक है।

सत्सगति

मन को पवित्र करने के लिए सत्संगति आवश्यक है। यदि विश्व की महान् विभूतियाँ ही परिस्थिति प्रसूत होती है, जैसा कि बर्कले का मत है, तो संगति का प्रभाव भी जीव को महान् और तुच्छ बना कर भगवान को मिलाने अथवा उससे

---

१. ३४४ क०, १३। २. ११६४ क०, ६। ३. १३४६ क०, १।
४. ११५८ क०, ४। ५. ११०३ क०, २। ६. ८७२ क०, १०।
७. ७२७ क०, १। ८. २०१ श्लोक। ९. ५५ श्लोक।

दूर ले जाने में अवश्य सहायक होता है। इसीलिए सत्संगति भी भगवत्प्राप्ति का आवश्यक सहायक साधन है।

संत संगति रामु रिदै बसाई ।[1]

राम हृदय मे बस गया, तो इस सत्संगति से ही 'मुकति पदारथु पाइऐ'[2] और जब मुक्ति मिल गई, तो आवागमन के चक्र से जीव का छुटकारा हो गया।[3] इस प्रकार साधु-संगति में लीन होने पर ही जीवन सफल हो सकता है।[4] 'साध सगति बैकुंठे आहि' यह साधु-संगति ही तो बैकुण्ठ है।[5] क्योकि संत के हृदय में ब्रह्म निवास करता है।[6] इससे भी बढ़ कर संत और राम को एक ही बताया है।[7] जो हो, इस सत्संगति से भगवत्प्राप्ति का भी एक साधन विशेष है। सर्वप्रथम यह सत्संगति माया का त्याग करवा देती है।[8] तब इससे ही विवेक-बुद्धि जागृत होती है।[9] विवेक-बुद्धि जागृत करने के बाद यह सत्संगति ही जीव में भगवत्प्रेम उत्पन्न करती है।[10] सत्संगति के बिना यह ससार जलती हुई भट्ठी है।[11] इसकी ज्वालाओं में झुलसता हुआ जीव प्रपच करते हुए भवसागर से कैसे पार पहुँच सकता है?[12] अतः जिस प्रकार घड़े के बिना जल नही रह सकता, उसी प्रकार सत्संगति के बिना प्रभु भी नहीं प्राप्त हो सकते।[13] संक्षेप में सत्संगति का परिणाम बताया है, कि जैसे पारस से लोहा तथा चन्दन से काठ उत्तम बन जाते है, उसी प्रकार सत्संगति से सामान्य जीवन का भी उद्धार हो जाता है।[14] कोई भी नदी-नाला गंगा से मिल जाए, तो 'सो सलिता गंगा होइ निबरी' तथा कबीर ने व्यक्तिगत अनुभव की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

संतन संगि कबीरा बिगरिओ। सो कबीरु रामै होइ निबरिओ ।[15]

कबीर तो संत-समागम से ही राम हो गया। भर्तृहरि ने भी कहा था—

सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम् ।

जीव का कौन सा कार्य है; जो सत्संगति से सिद्ध नहीं होता। अर्थात् सत्संगति से जीव का सभी प्रकार से उद्धार हो जाता है। रविदास ने तो इतना भी कहा था, कि गंगा में पड़ी हुई शराब भी गंगा ही बन कर पवित्र हो जाती है।[16] इसीलिए कबीर ने कहा है—'कबीर एक घड़ी आधी घरी आधी हूँ ते आध। भगतन सेति गोसटे जो कीने सो लाभ'[17] कि क्षण भर की सत्संगति ही लाभदायक है, क्योंकि वह भव-पार पहुँचा कर भगवत्मिलन में सहायक है।

---

१. ६६१ क०, १ । २. २३१ श्लोक । ३. ११०४ क०, ७ ।
४. ३३१ क०, ४० । ५. ११६१ क०, १६; ३२५ क०, १० ।
६. ३३७ क०, ६३ । ७. ७६३ क०, ५ । ८. ११६० क०, १३ ।
९. ४८० क०, २० । १०. १०० श्लोक । ११. १९५ श्लोक ।
१२. ११०५ क०. १० । १३. ८७२ क०, ९ । १४. ७७, ११५८ क०, ५ ।
१५. ११५८ क०, ५ । १६. १२९३ रवि०, १ । १७. २३२ श्लोक ।

हरि-सेवा

भगवत्मिलन के लिए हरि-सेवा भी आवश्यक है, क्योंकि हरि की सेवा करने से ही यम जीव का कुछ नही बिगाड़ता,[१] अपितु जीव 'छुटनु हरि की सेव'[२] हरि-सेवा से ही सेवक भवसागर से बच मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। 'जो सुखु प्रभ गोबिन्द की सेवा सी सुखु राजि न लहीऐ।'[३] भगवान की सेवा मे प्राप्त सुख तो राज्य के सुख मे भी नही, अत सासारिक आशाओं को त्याग कर[४] हरि की सेवा ही करनी चाहिए।[५] इस हरि की सेवा मे भी कबीर ने भाव को ही प्रधानता दी है, आडम्बरपूर्ण बाह्य आचारों को नही, जिसका सविस्तार वर्णन अवरोधक शक्तियों में मिलेगा। हरि-सेवा के लिए आत्मा का देहधारी होना आवश्यक है। जब तक आत्मा देह धारण कर जीव रूप में आकर संसार मे अपने विगत कर्मो का फल नहीं भोग लेती तथा निष्काम कर्मण्य जीवन द्वारा सब कार्य पूर्णतः भगवदर्पण नही कर देती, वह भगवान को नही प्राप्त कर सकती। सम्भवतः इसीलिए 'इस देही कउ सिमरहि देव, सो देही भजु हरि की सेव।'[६] देवता भी इस देह-प्राप्ति के लिए ही भगवान का स्मरण करते है ताकि वे 'हरि की सेवा' कर सकें; क्योकि 'मानस जनम का एही लाहु।'[७] मानव-जीवन का यही तो उद्देश्य है। इस प्रकार मानव-देह, यह जीवन तथा हरि की सेवा भी भगवत्प्राप्ति मे विशेष सहायक है।

जीव का आत्मविश्वास, अपने अन्तःकरण में ब्रह्मानुभूति तथा उसके अनुकूल आचरण ऐसी प्रबल आन्तरिक शक्ति है जो अनायास ही जीव को ब्रह्म की ओर खींचे ले जाती है। अपनी आत्मा की पुकार का अनुकरण और कुछ नहीं, ब्रह्म की इच्छा एवं आज्ञा का ही पालन-मात्र है। ब्रह्म की कर्तृत्व-शक्ति के वर्णन में यह बताया जा चुका है, कि 'आपन कीआ कछु न होवै'[८] अतः अपनी आत्मा की पुकार के विरुद्ध कुछ भी करना परमात्मा से दूर जाना है। परिणामस्वरूप अपनी आत्मा की पुकार का जीवन में क्रियात्मक अनुकरण भगवत्प्राप्ति में मानव का सहायक बनता है।

इस सब के लिए भगवत्कृपा की आवश्यकता है। क्योंकि भगवत्प्राप्ति के सम्पूर्ण साधनों में प्रथम और अन्तिम साधन है, भगवत्कृपा। लेकिन वह किसी सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होती है। इसीलिए अन्यान्य स्थलों पर कहा है—

सारिंगधर सो मिलै जो बड़ भागो रे।[९]

भगवान केवल सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होते हैं; अतः भगवत्प्राप्ति के लिए सौभाग्यशाली होना भी आवश्यक है।

इस प्रकार भगवत्प्राप्ति के अन्यान्य साधनों का यहाँ स्वरूप दर्शाया गया है। उनकी सहायता से जीव किस प्रकार साध्य की ओर बढ़ता है, यह साध्य-प्रकरण में पहले ही दर्शाया जा चुका है। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि ब्रह्म-प्राप्ति

---

१. ४७६ क०, ५। २. ३३५ क०, ५७। ३. ३३६ क०, ४८।
४. ३४३ क०, १। ५. १३४ श्लोक। ६, ७. ११५१ क०, ११।
८. ११२४ क०. ५। ९. ३३८ क० ६६।

के अनेक मार्ग है, पर सभी दुर्गम है। जीव भगवान में विश्वास लाकर उसकी कृपा का पात्र बनता है, जिससे उसे सत्गुरू मिलता है। सत्गुरू ही 'नाम' देकर भगवान की अनन्य एवं अनवरत भक्ति में लगाता है तथा जीवन भर पथ-प्रदर्शन करता है वही 'नाम' का उचित ज्ञान भी करवाता है। जीव निष्काम हो, कर्मण्य-जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार जब सत्संगति से मन को पवित्र कर उससे आत्मा की पुकार सुन, उसके अनुकूल' सत्कार्य करता हुआ जीव भगवत्कृपा को प्राप्त कर लेता है, तब ही उसे भगवान मिलते हैं और तेज महातेज में विलीन हो जाता है। यही है भक्त के जीवन-मग के विशिष्ट पग-चिह्न।

अवरोधक शक्तियाँ

मानव-जीवन संघर्ष है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही जिस ब्रह्म की लीला है, उसी का अंश होने के कारण जीव स्वभावतः अपने ही उद्गम की ओर सदा से प्रगतिशील रहा है, और रहेगा। साध्य का ज्ञान होने पर साधक साधनों की सहायता से चल पड़ता है, लेकिन कंटकाकीर्ण मार्ग के दुर्लंघ्य प्रदेशों को भूल कर, भवसागर की उत्ताल तरगों के थपेड़ों का अनुमान न कर। सम्भवतः इसीलिए मानव सुख, प्रसन्नता और उन्नति चाहता। अतः उसकी कल्पनाएँ सुखद आशाओं के सुन्दर प्रासादों का ही निर्माण कर पाती है, अलंघ्य दुर्गम बन-खण्डों का नहीं। यह कल्पना है और यथार्थ इसके ठीक विपरीत। समुद्राभिमुखी प्रत्येक पहाड़ी झरने को न जाने कितनी चट्टानों को बहा देना पड़ता है, न जाने कितनी पर्वत श्रृंखलाओं से टक्कर लेनी पड़ती है, तब कही हजारों मोड़ मुड़ कर वह मैदान में पहुँचता है और निर्बल होने पर न जाने किस प्रवहमान सबल सरिता के सहारे साध्य-समुद्र तक पहुँच पाता है और संसार के रेगिस्तानों मे न जाने कितने झरने, कितनी नदियाँ सूख जाती है, जिनका किसी को ज्ञान भी नहीं।

मानव-जीवन भी एक ऐसा ही जीवन-मग है, जिसके पग-पग पर काँटे हैं, और योजन भर पहुँचने से पहले न जाने कितने दुर्लंघ्य वनों को, अतर सरिताओं को और अगम पर्वत-श्रृंखलाओं को पार करना होगा। सहायक शक्तियाँ और समस्त साधन साध्य हैं, पर अवरोधक शक्तियाँ भी कम प्रभावशाली नही। भगवान ने लीला रचाई है, उसने खेलना जो है। इसीलिए अपने और जीव में एक खाई पाट दी है। जीव के सब प्रयत्न उसे भर कर, उससे मिल कर पुनः एक होने के प्रयत्न हैं और वह ऐसा होने नही देना चाहता, क्योंकि खेल समाप्त हो जाएगा। इसीलिए उसने संसार की प्रबलतम शक्ति 'माया' को भेजा। उस माया ने जीव और प्राणी-मात्र की तो बिसात ही क्या ?—

'जोइ खसमु है जाइआ।' और 'पूति बापु खेलाइआ।'[1]

इतना ही नही, जो अपने पति को उद्भासित करती। बेटे ही क्या ? बाप को भी खिलाती है। उसने यदि, 'ब्रह्मा बिसनु महादेउ छलिया'[2] तो कौन सी बड़ी बात की;

१. ११६४ क०, ३। २. ४८० क०, १६।

उसका प्रभाव देखना है, तो बेचारे जीव और देवताओं को छोड़ो, उनके भी अधिपति इन्द्र को गौतम-पत्नी (अहिल्या) पर मोहित होते देखो और इससे भी बढ़ कर स्वत: ब्रह्मा को ही अपनी पुत्री के पीछे भागते देखो। जो हो, यह नहीं भूल जाना चाहिए कि-'इह स्रपनी ता की कीती होई।'[१] उसी ने इसे उत्पन्न किया है और ससार में यह उसी की ठगविद्या का प्रसार-मात्र है,[२] और कुछ नहीं।

यह नकटी सारे शरीर की अधिकारिणी रानी बन कर बैठी है।[३] वह तो ऐसी नारी है, जो 'खसमु मरै तउ नारि न रोवैं। क्योंकि 'उस रखवारा अउरो होवै।' वह तो ऐसी, एक सुहागनि जगत पिआरी' है जो 'सगले जीअ जत की नारी' है।[४] उसे कोई परवाह नहीं, 'एक नहीं हजार पति मर जाएँ', सम्पूर्ण धरित्री के प्राणी समाप्त हो जाएँ वह देवताओं को उत्पन्न कर लेगी।[५] वे भी अमर नहीं, तो उत्पादक ब्रह्म को ही पति बना लेगी। इसीलिए तो वह 'अमर सुहागिन' है। योग-वर्णन करते हुए उसे वह भैंस बताया है, जो बिना 'मुँह के बछड़े' अर्थात् अज्ञान को जन्म देती है।[६] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मोहित करनेवाली यह 'नलनी सुअटा गहिओ' सेमर की उस नलनी की तरह आकर्षक है, जिसके बीच मे तो रूई है, पर बाह्य सौन्दर्य से तोते को मोहित कर लेती है और 'रंगु कसुभ' की तरह 'तिउ पसारिओ पसारू' संसार भर मे उसी के तो रूप का प्रसार है।[७] उसके सर्पिणी, डाकिनी तथा चोरटी आदि न जाने कितने विकृत रूप बुद्धिमान् से बुद्धिमान् लोगों ने सुने, कहे और देखे ही नहीं, अपितु अनुभव भी किए है।

'माइआ के बेधे' देखने है तो 'जल महि मीन', 'दीपक पतग' 'काम कुंजर', 'भुइअंगम भ्रिग', पखी भ्रिग', 'साकर माखी', 'छिअ जती', 'नवै नाथ सूरज अरु चंदा', 'सुआन सिआल', 'बंतर चीते अरु सिंघाता' ये सब ही क्या? 'सागर इंद्रा धरतेव' भी तो 'माइआ के छेदे' ही है।[८] ब्रह्मा, विष्णु, महेश की तो छोड़ो,[९] बेचारा नारद भी तो उसके प्रभाव से न बच सका।[१०] सभी तो 'माइआ के बेधे' से प्रारम्भ हुए और कोई भी तो 'माइआ के छेदे' के बिना न रह सका। योगियों के यहाँ माया जीव की सास बन गई।[११] ज्ञानी, ध्यानियों को अपने अज्ञान में ऐसा लपेटा[१२] कि सारे संसार में उन्होंने ही माया के अज्ञानाधंकार का प्रसार किया[१३] और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड माया के पाश में बंध गया।[१४] ऐसे माया-पाश-आबद्ध संसार को उसने सत्य का ज्ञान नहीं होने दिया।[१५] तब झूठे माया-पाश में बंधे जीव का 'अहं' जागृत हुआ[१६] और इन्द्रिय-सुख को ही वह वास्तविक सुख समझ बैठा। इस प्रकार माया-लिप्त रह कर

१. ४८० क०, १९। २. ३३१ क०, १९। ३. ४७६ क०, ४।
४. ८७१ क०, ६। ५. ११९४ क०, ३। ६. ३२६ क०, १४।
७. ३३५ क० ५७। ८. ११६० क०, १३। ९. ४८० क०, १९।
१०. ८७२ क०, ८। ११. ४८२ क०, २५। १२. ३३८ क०, ६७।
१३. ११२३ क०, १। १४. ११७ श्लोक। १५. ९१ क०, १।
१६. ८५७ क०, ९।

ही सम्पूर्ण जीवन बिता दिया ।[1] लेकिन अनुभव कबीर ने भी वही किया, जो भर्तृहरि[2] ने किया था, सम्भवतः महान् आत्माओं की अनुभूतियाँ एक-सी ही होती हैं; 'थाकै नैन स्रवन सुनि थाकै थाकी सुंदरि काइआ ।' लेकिन 'एक न थाकसि माइआ ।'[3] इसलिए हे जीव ! उसमे लिपट कर[4] क्यों 'विरथा जनमु गवाइआ ।' यह माया ही है, जो ज्ञान को छीन कर कंचन और कामिनी का प्रसार करती है ।[5] वे कामिनी और कंचन ही तो संसार के सम्पूर्ण आकर्षण, अवगुण तथा दुष्कर्मों के उत्पादक माँ-बाप हैं । (इनका विवरण अन्यत्र मिलेगा ।) यह माया ही है, जो कंचन और कामिनी के माध्यम से संसार में भ्रम फैला कर काम और क्रोध को उत्पन्न करती है ।[6] इस माया से उत्पन्न लोभ में ही जीव अमूल्य जीवन गँवा बैठता है ।[7] इतना ही नहीं, संसार का कौन-सा अवगुण या दुष्कर्म है, जो माया नहीं करवा देती । कौन-सा प्राणी या स्थल है, जो इससे प्रभावित नहीं । इस प्रकार ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीवों के गले में 'तौक' और पैरों में बेडी डाल कर वह उसे योनि-भ्रमण के चक्कर में डाले रखती है ।[8] माया के इस दुष्प्रभावों का परिणाम यह होता है, कि जीव को कभी सत्य का ज्ञान नहीं होता ।[9] 'अहं' जागृत होने के कारण वह बेचारा भगवान को भूल जाता है[10] और तब उस 'जगत पिआरी' के चक्कर में पड़े हुए को 'भगवत्प्रेम' की क्या सुध ?[11] इसी का परिणाम है कि मायावी कभी सुखी नही रह पाता[12] और अपना दुर्लभ एवं अमूल्य मानव-जीवन माया मे लिप्त रह कर बेकार खो देता है ।[13] लेकिन जब जीव को यह पता लग चुका है, कि माया से बचे रहने पर आत्म-ज्ञान उद्बुद्ध होता है,[14] और माया का नाश करने पर तो न केवल आवागमन के चक्कर से छूट कर मुक्ति मिलती है, अपितु ब्रह्म-ज्ञान एवं ब्रह्म रस-पान भी होता है।[15] तब माया से उदास, ब्रह्म के सेवक कबीर ने यह भी बता दिया,[16] कि 'बिनु बैरागु न छूटसि माया ।'[17] तब क्या था ? पथ-प्रदर्शन होना चाहिए, इंजन को 'सिगनल डाउन, मिलना चाहिए और गुरू-ड्राइवर (चालक) हरी झंडी पाकर भक्तों की गाड़ी को लेकर 'हरि'-स्टेशन से इधर रुकने का नही ।

अनहद सुननेवाले योगियों से डर के मारे वह दूर भागने लगी ।[18] संतों ने माया-मटकी को मथ कर उसका सार ही निकाल डाला ।[19] स्वतः 'माखनु खाइआ' तथा संसार बेचारा 'छाछ पीऐ ।' इस प्रकार उस सारे संसार को चुरानेवाली

१. ४८१ क०, २३ ।
२. 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा कालो न यातो वयमेव याता' । आदि
(भर्तृहरि, नीतिशतक)

३. ७६३ क०, ४ । ४. १६५ श्लोक । ५. ४८२ क०, २७ ।
६. ३३८ क०, ६८ । ७. ११०६ क०, ११ । ८. ६५५ क०, ५ ।
९. ९१ क०, १ । १०. ८५७ क०, ६ । ११. २१७ श्लोक ।
१२. ३२५ क०, ८ । १३. ४८१ क०, २३ । १४. ११२३ क०, १ ।
१५. ४७५ क०, १ । १६. ११५७ क०, १ । १७. ३३९ क०, ३४ ।
१८. ३३४ क०, ५३ । १९. १८ श्लोक ।

'खोरठी माइग्रा' से केवल-मात्र 'एकु कबीरा ना मुसै जिनि कीन्ही बारह-बाट।'[१] अर्थात् जिसने माया को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसीलिए तो उस बेचारी ने भी गुरू के डर के मारे कबीर को प्रणाम किया। इस प्रकार 'तपति माइग्रा' ही 'बुझिग्रा अंगिग्रारु' में परिणत हो गई।[२]

माया के प्रमुख अस्त्र हैं—कंचन और कामिनी। कंचन चकाचौंध कर देने-वाली वह धन राशि है, जिसके लोभ में जीव संसार का प्रत्येक कुकर्म करने को तैयार रहता है। उससे उत्पन्न अहंकार मानव को दानव बनाने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं करता। लेकिन यह नहीं भूल जाना चाहिए, कि रावण की 'सोने की लंका' को नष्ट होते कितनी देर लगी थी।[३] उस प्रकार सांसारिक सम्पत्ति की अस्थिरता के विस्तृत विवरण में हम ऊपर देख ही आए है, कि यह सम्पत्ति कितनी अस्थिर है और जीव को तो खाली हाथ ही जाना पड़ता है।[४]

सांसारिक सम्बन्धों की असत्यता में कामिनी-मोह का वर्णन प्राप्त है। मृत पति को घर से निकाल कर शोर मचानेवाली यह कामिनी ही है।[५] जीवों का तो क्या इन्द्र और ब्रह्मा को भी विचलित करनेवाली स्त्री का यह कामिनी रूप ही है। संतों ने और विशेषत: कबीर ने इसे भरपेट कोसा भी है, क्योंकि यह मनुष्य जाति से कहीं अधिक सब दुर्गुणों की जन्म-दात्री है। दो से प्रेम किया भी नहीं जा सकता। कामिनी-प्रेमी भगवत्प्रेमी नहीं हो सकता, क्योंकि भगवान को तो अनन्य भक्त की आवश्यकता है न। जो हो, सद्गृहस्थ होते हुए 'तीन गुन' नष्ट करनेवाली कामिनी के दुष्प्रभाव को कबीर ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

नारी नसावै तीन गुन जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठ सके नहीं कोय॥

और मानव-जीवन में शेष ही क्या रह जाता है?—सांसारिक सम्पत्ति; जिसकी अस्थिरता का वर्णन ऊपर हो चुका है। जो हो, माया कंचन और कामिनी के आकर्षण से मन को विकृत कर देती है। विकृत मन इन्द्रियों पर नियंत्रण न रख, उन्हें विपथगामी बनाने में सहायक होता है। इसका प्रधान आधार विषय और वास-नाएँ ही हैं। अत: उनका विश्लेषण ही इस विषय पर समुचित प्रकाश डाल सकेगा।

विषय

'बिखिग्रा अजहु सुरति सुख आसा।'[६]

जीव सांसारिक प्राणी है और उसे सांसारिक विषयों में ही सुख की आशा है तो—'कैसे होई है राजा राम निवासा।'[७] लेकिन कलियुग का जीव घोर सांसारिक है, अत: जीव इतना सुनते हुए भी वासनाओं का शिकार हो गया।[८] एक बार वासना

१. २० श्लोक। २. ३३१ क०, ४०।
३. ४८१ क०, २१। ४. ११५७ क०, २।
५. ४७७ क०, ६। ६. ३३० क०, ३६।
७. ३३० क०, ३६। ८. ५३ श्लोक।

में फँसा हुआ मन ऐसा पापी हो जाता है कि फिर वासनाएँ ही उसे नहीं छोड़तीं। जब 'काम सुआइ गज बसि परे' तो अंकुश की आवश्यकता होती ही है। इस अंकुश की मार से बचने के लिए ही तो 'बउरे मन' को समझाया है, कि 'बिरवै बाचु' तथा 'हरि राचु' विषयों से बच कर हरि में मन लगाओ।[1] पर विषयी मन को इतना समझने का अवसर ही कहाँ ? सुरही (गाय) की पूँछ को वासनाओं का ऐसा समूह बताया है,[2] जो जीव को छुटकारा पाने ही नही देता। 'कबीर का हरि का सिमरनु छाडि कै अहोई राखै नारि।' तो 'गदहि हौइ कै अउतरै मारु सहै मन चारि।'[3] हरि-स्मरण के स्थान पर कामिनी-लिप्त जीव पशुयोनि मे भी गधी का जन्म पा चार मन से कम भार न उठाएगा। इतना ही नही, कबीर ने तो स्पष्ट ही समझाया है, कि 'जब लग रसु तब लग नहीं नेहा।'[4] विषय-रस के होते हुए भगवत्प्रेम कैसा ? उसे तो अनन्यता चाहिए, सम्भवत: इसीलिए कबीर को भी माया और भक्ति दोनों पत्नियों को एक साथ घर में स्थान देने का दुस्साहस न हो सका था, यद्यपि ब्याहा उसने दोनों को ही था। तभी भक्ति को अपनाने से पहले माया को तिलांजलि देनी पड़ी थी।[5] कबीर का प्रत्येक शब्द अनुभूत सत्य है और सत्य देश, काल निरपेक्ष शाश्वत होता है, तो हमें यह भूल नही जाना चाहिए और जो जीव वासना का त्याग कर दे, 'सो गनै इंद्र को रंक'।[6]

सम्भवत: इसीलिए, कि इन्द्र भी वासना के शिकार होकर गौतम-स्त्री (अहिल्या) पर मुग्ध हुए थे। मृत्यु से डरनेवाला जीव अब भी न समझ सका तो कबीर बोले—

कहत कबीर छोडि बिखिआ रस इतु संगति निहचउ मरणा।[7]

वासना की संगति में होते हुए यम से रक्षा कैसी ? इसी भय से शायद जीव वासनाओं का त्याग कर सके।'

इन्द्रियाँ

पंच पहरुआ दर महि रहत तिन्ह का नही पतिआरा।[8]

इन पाँच इन्द्रियों पर विश्वास हो कैसे ? जक वासनाओं से सम्पूर्ण देह को प्रभावित किया हुआ है। ये इन्द्रियाँ शरीर के पहरेदार न होकर माया के ही पाँच दूत है।[9] इसीलिए इन पाँच पुत्रों को जलाने का सदेश दिया है।[10] यह काठ की काठी रूप देह इन इन्द्रियों की ही आग से जल रहा है।[11] गाॅव-देह में इन पाँचो ने ही किसानों का रूप धारण कर लिया है।[12] अपनी चंचलता के कारण इनको भी मृग कहा गया है।[13] जो हो, अन्यान्य रूप धारण करनेवाली ये इन्द्रियाँ ही शरीर की

१. ३३६ क०, ५७ । २. ११६६ क०, ८ । ३. १०८ श्लोक ।
४. ३२८ क०, २३ । ५. ४८३ क०, ३२ । ६. १६६ श्लोक ।
७. ६१ क०, १ । ८. ३३६ क०, ७३ । ९. ३३१ क०, ४० ।
१०. ४२ श्लोक । ११. १७२ श्लोक । १२. ११०४ क०, ७ ।
१३. ६५६ क०, १० ।

संचालक शक्ति हैं। इनके बिना देह की गति नहीं। संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ जिह्वा, कान, नैन आदि सभी जूठे हैं और इसीलिए 'इंद्री की जूठि उतरसि नाही'।[१] जीवन में सफलता पाने के लिए आवश्यक है, कि इनको वश में किया जाए,[२] क्योंकि इनको 'जारि जुगति सो पावै'। ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग तो इनको जला कर ही पता लग सकेगा।[३] इन्द्रियाँ शरीर में, विष में समाई हुई है। जब तक इस विष को दूर नही बहा दिया जाएगा, जीवन में सफलता की कोई आशा नहीं।[४] क्योंकि 'बिखिआ देह बहाइ' के बाद ही 'नाम लिउ लाइ'[५] होकर जीव प्रभु मे लीन हो सकता है।[६] इस प्रकार जब इन्द्रिय रूपी चोरों को पकड़ कर, नाम-जप में लगा दिया जाएगा,[७] तभी उनसे मुक्ति प्राप्त हो सकेगी।[८] पकड़ कर भी यदि संयम मे रक्खा जाए, तो पाप-पुण्य से निर्लिप्त जीव का भव से छुटकारा हो सकेगा।[९] दूसरा साधन है, कि उनको चूर-चूर कर दिया जाए, तब परम पद की प्राप्ति होगी।[१०] यही जीव में आध्यात्मिक जागरण[११] तथा ब्रह्म-दर्शन का साधन है।[१२] अतः इन बलवती इन्द्रियों को यदि उचित दिशा में लगा दिया जाए, तभी वे बलवती सिद्ध होती है अन्यथा उनमें विकार अवश्वम्भावी है। भक्त भक्ति में तभी तल्लीन होकर ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है, जब विषय-विकारों से निर्लिप्त हो, वह जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दे।

मन

मनु जीते जगु जीतिआ।[१३]

मध्यकालीन संतों में क्रांतद्रष्टा कबीर ने ऐसा अनुभूत सूत्र जन-समाज को दिया, जिसे सम्भवतः जनता तो न अपना सकी लेकिन जिस किसी भी बिरले ने अपनाया, वही महान् हो गया। बादशाह के मोदीखाने में आटा तोलनेवाले ने[१४] 'मनि जीतै जगु जीतु।'[१५] इस रूप में इसे अपनाया और वह गुरू नानक बन गया। कितना महान् है यह सत्य। यह मन है कैसा ? 'इसु मन कउ रूप न देखिया जाई' और रूप-रेखा हो भी कैसे सकती है ? जबकि 'इसु मन कउ नहीं आवन जाना।'[१६] सनक, नारद आदि ने इसी मन को खोजने का प्रयत्न किया था। वस्तुतः जो इसके रूप को पहिचान जाए, वही भव-पार हो, ब्रह्म तक पहुँच सकता है। भक्ति के माध्यम से जयदेव और नामदेव इसे पहिचान कर भव-पार पहुँचे थे।[१७] इसलिए तो उसी परम्परा को अपने रूप में अपनानेवाला कबीर 'इसु मन कउ रमि रहे कबीरा,[१८] उसमे

१. ११६५ क०, ७। २. ३३६ क०, ७३। ३. ३४० क०, १४।
४. ३४५ क०, ५। ५. ८३ श्लोक। ६. ३४५ क० ६।
७. ११६३ क०, २। ८. ३४४ क०, ३। ९. ३४१ क०, २७।
१०. ४७८ क०, ११। ११. ४२ श्लोक। १२. ५ श्लोक।
१३. ११०३ क०, २। १४. ६ म०, १; २८। १५. ३३० क०, ३६।
१६. हि० सि० : तेजासिंह पृ० ४।
१७, १८. ३३० क०, ३६।

रम कर ब्रह्म में खो जाना चाहता है। यह मन अति चंचल है। दसों दिशाओं में उड़नेवाला 'पंखी भइआ।'[1] और 'विरख बसेरो पंखी को'[2] अतः जब चाहे आए और जब चाहे चला जाए। कल्पना के माध्यय से उसकी चंचल उड़न-शक्ति का कोई अनुमान भी नहीं किया जा सकता। इसीलिए तो हाथी की तरह मस्त[3] इस 'मैंगुलु' मन का 'मन का संकुरा मुकति दुआरा' में प्रवेश कैसे हो?[4] यह असम्भव है। यह केवल पक्षी की तरह चंचल तथा हाथी की तरह मस्त ही नही, अपितु शेर की भाँति अति सबल एवं सशक्त भी है।[5] इन शक्तियों के होते भी यह चोरी करता है और देह-गृह को लूट ले जाता है।[6] इसलिए आवश्यकता है, इसकी चंचलता को दूर कर इसमें स्थिरता लाने की, क्योंकि इसके स्थिर होने पर ही 'राम नाव लिव लागी'[7] जो जीव को भव-पार पहुँचा सकती है। इसकी मस्ती को सांसारिकता से हटा कर इसे ब्रह्मोन्मुख करना है तथा इसकी शक्ति का सदुपयोग करना है इन्द्रियों की लगाम बनाने के लिए।[8] इस प्रकार चोर मन को चोरी करने भेजना है नाम और उससे उत्पन्न भक्ति।[9] क्योंकि-'जा की दिल साबति नही ताकउ कहाँ खुदाइ,'[10] माया में बंधा हुआ यह मन मुक्ति कैसे पा सकता है?[11] इसलिए आवश्यक है, कि मन से सम्पूर्ण सांसारिक आशाएँ छुड़वा दी जाएँ।[12] यदि मन संसार में लिप्त रहा, तो वह दिन दूर नहीं जब उसके द्वार पर 'जम दीआ दमामा आइ।'[13] बिना प्रतीक्षा के ही उसे चलना पड़ेगा। अतः मन को सतर्क किया है, कि इन भ्रमों से उत्पन्न[14] विकारों एवं पापों को वह त्याग दे।[15] इसलिए मन को मारना आवश्यक है।[16] क्योंकि एक मन को मारने से ही सब दुर्गुण अपने आप ही चले जाते हैं, 'मारै एकि तजि जाइ घणी'[17]

इसका विश्लेषण भी मनोवैज्ञानिक कबीर ने कैसा किया है, वह अविस्मरणीय है— **'कबीर एक मरंते दोइ मूए दोई मरंतहि चारि।'**

और **'चारि मरंतह छह मूए चारि पुरख दुइ नारि।'**[18]

एक मन के मारने से दो आँखों रूपी विषय-विकार मर जाते है उनसे चार अन्तः-करण तथा उनकी मृत्यु से छह दर्शन भी हृदय में 'अहं' भाव जागृत कर उसे विकृत नहीं कर सकते, जिनमें साँख्य, योग, वैशेषिक तथा न्याय चार पुरुष है तथा पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दो स्त्रियाँ।

कबार का अनुभव कितना महान् था, यह भी केवल अनुभव ही किया जा सकता है, अभिव्यक्त नहीं। उस अनुभव की अभिव्यक्ति कितनी निश्छल थी, केवल इसे ही अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जा सकता है। जो हो, मन को पवित्र करना

---

१. ८६ श्लोक। 			२. ३३७ क०, ६४। 			३. २२४ श्लोक
४. ५८ श्लोक। 			५. ११६० क०, १४। 			६. ११६३ क०, २।
७. ३३२ क०, ४६। 			८. ३२६ क०, ३१। 			९. ३२६ क०, २८।
१०. १८५ श्लोक। 			११. ४७५ क०, १। 			१२. ३४० क०, १३।
१३. २२७ श्लोक। 			१४. ३३८ क०, ६८। 			१५. ८५४ क०, ३।
१६. ६ श्लोक। 			१७. ३४१ क०, २१। 			१८. ६१ श्लोक।

आवश्यक है। सिर मुँडानेवाले आडम्बरी साधु को भी उसने यही कहा है।[१] कि बेचारे सिर ने क्या बिगाड़ा है, कलुषित मन को मूंडो (पवित्र करो)। इतने ही से नहीं, इसी बात को शरीर को कष्ट देनेवाले योगी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार समझाया है—'कूटन सोइ जु मन कउ कूटै' क्योंकि शारीरिक साधनाओं से नही, अपितु मन को मार-पीट कर उसके विकार छुड़ाने से ही जीव,— 'यम ते छूटै।'[२] मुल्ला को उसका साधन भी साथ ही बता दिया, कि, 'मनु करि मका किबला करि देही।'[३] जिज्ञासु योगी को भी संदेश दिया—'मन मन ही उलटी समाना।'[४] इसके लिए देह की मटकी बना कर उसे मथना चाहिए[५] और जन-सामान्य को समझाया, कि सांसारिक इच्छाओं को कम करके, तृष्णा को संयमित कर, संतोष का सहारा लेकर ही मन को वश मे किया जा सकता है। हाँ! देह की आवश्यकताओं को न भुलाना चाहिए, सम्भवतः इसीलिए कबीर ने भगवान को कह दिया था—'भूखै भगति न कीजै'।[६]

कबीर की मंडली में जन-सामान्य के अतिरिक्त पांडे-पंडित, भोगी-योगी, मुल्ला-मौलवी, सभी जो पहुँच जाते थे, अतः उनका संदेश मानव-संदेश होते हुए, कक्षा में विशिष्ट विद्यार्थियों के प्रश्नों के उत्तर में विशेष ज्ञान देनेवाले गुरू की भाँति होता था, क्योंकि उनका ज्ञान बहुमुख था, जो एक ही अनुभूति का प्रसार था। पांडे के वास्तविक धर्म को उन्होंने 'मंत्र द्रष्टारः' ऋषियों की भाँति अनुभव से 'देखा' था और उनके आडम्बरी धर्म को उनके माध्यम से जाना था। योगी वे स्वतः रहे थे, अतः उसकी साधनाओं से वे परिचित थे तथा 'धूरि रमईए' योगियों को भी उन्होंने परखा था। हज्ज पर जाते मुल्ला, मुर्गीमार काजी तथा कुरानपाठी मौलवी भी, वेद-पाठी पण्डितों की ही भाँति उनसे छिपे न रह सके थे। अतः उनके संदेश में उन सब को विशेष रूप से सतर्क किया जाता रहा है।

इस प्रकार मन को बस में कर के करना क्या चाहिए? कबीर यह बताना भी नहीं भूले। मन तो पागल है, इसीलिए उन्होंने कहा है—'बिखै बाचु हरि राचु समझु मन बउरारे।'[७]

संतों में काव्यत्व का अभाव देखनेवाले कांता की मिठास भरी वाणीवाले साहित्य से इसकी तुलना करें। बिहारी के 'सागर भरे गागर' को इस 'गगरी' से टकराएँ, तो फूटने पर इसमें से बिहारी की गागर के सागर का जल नहीं, अपितु अमृत निकलेगा और परिणाम में भी उससे कम नहीं। चारों वाक्यखण्डों को एक बार फिर देखें—'मर बउरा रे' है, न मिठास मरा दैनिक व्यावहारिक प्रयोग! 'समझु' कह कर उसे सतर्क कर दिया, क्या करने को? 'बिखै बाचु' विषयों से बच गया, तो अब क्या करे? 'हरि राचु' सम्पूर्ण जीवन के मूल सिद्धान्त

१. १०१ श्लोक। २. ८७२ क०, १०।
३. ११५८ क०, ४। ४. ३३३ क०, ४७।
५. ४७८ क०, १०। ६. ६५६ क०, ११।
७. ३३५ क०, ५७।

को दो-दो शब्दों के इन वाक्यखण्डों में ऐसे आकर्षक ढंग से पिरो दिया है, कि काव्य-रस को 'बिखै' रस के तुल्य समझनेवाले तो शायद कभी न पी सकें, हाँ ! 'ब्रह्मोदर सहोदर' माननेवाले 'हरि' रस के समान ही उसमें तल्लीन अवश्य हो जाएँगे। यह अभिव्यक्ति से व्यक्त नहीं किया जा सकता, लेखनी से लेखबद्ध भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि काव्य-रस और हरि-रस केवल अनुभूति के विषय है। (इतना भी तो 'बउरे मन' ने ही विषय से दूर बहकाया है)।

मन को विषयों से बचा कर भगवान में लगाना इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि 'मन मारे बिनु भगति न होइ'[1] और भक्ति बिना मुक्ति कहाँ ? क्योंकि भव-पार जाने के लिए उसे मारना पड़ेगा और मारने के लिए उससे लड़ना पड़ेगा, इसीलिए तो—'सो मुल्ला जो मन सिउ लरै।'[2]

मन से लड़नेवाला ही असली मुल्ला है, निमाज पढ़नेवाला नहीं। इस प्रकार उससे लड़ कर उसे बस में कर के अथवा मार कर[3] जो देह की रक्षा कर लेता है, उसी को ब्रह्म-प्राप्ति हो सकती है।[4] अतः मन को स्थिर करके भगवान में लगाना चाहिए,[5] तभी वह धीरे-धीरे 'मुसि-मुसि मनुआ सहज समाना' सहज में लीन हो जाता है।[6] इसलिए बताया है, कि देह मटकी को मथनेवाले ही ब्रह्म-सार पा सकते है।[7]

वस्तुतः जो 'मरमी होइ सु मन कउ जानै'[8] और कबीर ने उसे जान लिया था, तभी तो कहा है—'मन साधे सिधि होइ। मन ही मन सिउ कहै कबीरा मन सा मिलिआ न कोइ।'[9]

उसने सम्पूर्ण संसार को देखा, लेकिन ऐसा कोई न मिल सका। जीव तो क्या, देवता भी उसकी तुलना न कर सके, क्योंकि—'इहु मनु सकती इहु मनु सीउ' इसीलिए जो व्यक्ति इस मन को सिद्ध कर ले—'तउ तीनि लोक की बात कहै'[10] और कबीर ने सबका निचोड़ इस अमर वाणी में प्रगटाया है—

मनु जीते जगु जीतिआ।[11]

अहंकार

"मेरी मेरी करते जनमु गइआ।[12]

अहंकार की कहानी इतनी संक्षिप्त-सी ही है। लेकिन इतने मे भी कुछ बाकी रह नही जाता। सारा जीवन तो इसी में समाप्त हो गया। इस अहंकार की उत्पत्ति के भी अन्यान्य कारण हैं। जीव उच्च कुल में उत्पन्न क्या हुआ, घमण्ड से फूला नहीं समाता। यमराज जब उसे 'मसानि' ले जाता है, तो उसकी 'कुल की आनि

१. ३२१ क०, २८। २. ११५९ क०, ११। ३. ३२३ क०, २८।
४. ३३९ क०, ७३। ५. ७२७ क०, १। ६. ११५८ क०, ४।
७. ४७८ क०, १०। ८. ३४२ क०, ३१। ९. ३४२ क०, ३२।
१०. ३४२ क०, ३३। ११. ११०३ क० २। १२. ४७९ क० १२।
१३. १६६ श्लोक।

कहाँ रह जाती है ? इस बात को जागृत अहं वह जीवन भर भूले रहता है। सुन्दर देह के कारण अभिमान करनेवालों को कबीर ने सतर्क किया है—'कबीर गरबु न कीजीऐ चाम लपेटे हाड।'[1] इसकी क्षणिकता पर विचार करो, बाह्य सौन्दर्य पर नहीं, अतः भगवन्नाम लेकर अन्तर को और अधिक सुन्दर बनाना चाहिए। उच्च कुलोत्पन्न, सुन्दर देह पानेवाला जीव और बड़ा हुआ ; अच्छे सम्बन्धी तथा सुन्दर स्त्री मिल गई ; 'कनक कामनी महासुन्दरी पेखि पेखि सचु मानि।'[2] जब इस 'कनक कामनी' के साथ-साथ कहीं 'सुवर्ण लंका' मिल गई ;[3] तो अहंकार उस चरमावस्था पर पहुँच जाता हैं, जहाँ से रावण का भी विनाश दूर न रह गया था। इतना ही नहीं, इन्द्रियों के माध्यम से विकसित प्रतिभा भी उस अहंकार को जन्म देती है, जो न केवल 'विकसित प्रतिभा' को 'विकृत प्रतिभा' में परिणत कर देता है, अपितु शीघ्र ही मानव को विनाश के गर्त में पहुँचा देता है। वस्तुतः इन सब का आधारभूत कारण है जो मानव-मन में इन सांसारिक वस्तुओं के माध्यम से बिना शक 'अह' को उत्पन्न कर देती है।[4] इसलिए कबीर ने जीव को समझाया है, "कहा नर गरबसि थोरी बात।' वह थोडी बात यही है, कि माया के भ्रम से जिन वस्तुओं के कारण तुम गर्व करते हो, उन सबसे सम्पन्न—'रावन हूँ ते अधिक छत्रपति खिन महि गए बिलात।'[5]

इसलिए इनसे उत्पन्न 'अहं' व्यर्थ है। इस अहं से ही 'लालच झूठ बिकार महामद'[6] आदि सम्पूर्ण दुर्गुणों के साथ-साथ विवेक एव ज्ञान नष्ट हो जाता है, क्योंकि 'अहं बुधि मनु जारिओ रे।' उसने विवेकशील तथा ज्ञानोत्पादिनी बुद्धि को तो नष्ट ही कर दिया।[7] जिसके परिणामस्वरूप जीव ने—'टेढी पाग टेढे चले लागे बीरे खान' तथा भक्ति छोड़ कर 'राम बिसारिओ है अभिमानि।'[8] इस घमण्ड में भगवान को भी भुला दिया है। इस झूठी माया को 'मेरी-मेरी' करता रहता है, जिसका ज्ञान उसे तब तक नही हो पाता, जब तक देह रूपी वस्त्र फाड़ कर यम आत्मा को ले नही जाता।[9] इस प्रकार 'मेरी मेरी करते जनमु गइओ'[10] और अज्ञानी, अहकारी जीव 'खिन महि बिनसि जाइ।'[11] इस अहंकार का प्रभाव तो सर्वव्यापी है, क्योंकि 'पण्डित पढि पुरान' तथा योगी 'जोग धिआन' करके भी 'सभ मदमाते' और 'कोऊ न जाग।' अन्य युगों में जहाँ 'सुकदेवु' आदि कुछ भक्त इसके प्रभाव से बच सके वहाँ 'कलि जागे नामा जैदेव।'[12] इस प्रकार इसके विस्तृत प्रभाव से कठिनाई से दो चार भक्त ही बच पाते हैं। बाँस की तरह ऊँचे खड़े रहना, लेकिन पार्श्ववर्ती चन्दन की सुगन्ध ग्रहण न करना ही अभिमानी का स्वभाव बन जाता है।[13] अतः माया के माध्यम से अहंकार का त्याग आवश्यक है।[14] इसके लिए उपयुक्त साधन है, कि 'काम करत

१. ७ श्लोक। २. ११२४ क० ५। ३. १२५१ क० १।
४. ८५७ क० ६। ५. १२५१ क० १। ६. ११२४ क० ५।
७. ३३५ क० ५६। ८. ११२४ क० ५। ९. ४७९ क० १६।
१०. ४७९ क० १५। ११. ३३६ क० ६०। १२. ११९३ क० २।
१३. १२ श्लोक। १४. १५६ श्लोक।

बचै ग्रहमेव'[१] इस-प्रकार ग्रह का नाश भी कितनी अच्छी तरह से करना चाहिए, यह भी उसने बता दिया है—'कबीर रौड़ा होइ रहु बाट का तजि मन का अभिमान।'[२] लेकिन वह भी पथिक को चुभेगा, अतः ऐसे नम्र बनो 'जिउ धरनी महि खेह'[३] परन्तु वह भी उड़ कर राही के अङ्गों को मलिन करेगी, अतः पानी के समान बनना चाहिए,[३] लेकिन वह भी 'सीरा ताता होइ' इसलिए—'हरिजनु ऐसा चाहिए जैसा हरि ही होइ।'[४] उसके लिए आवश्यक है, कि जीव अहं का त्याग कर ऐसा पूर्ण आत्मसमर्पण कर दे, जिससे वह कह सके—

'मै नाही कछु आहि न मोरा। तनु धनु सभु रसु गोबिन्द तेरा।।'[५]

इस प्रकार अह त्याग कर आत्मसमर्पण करने से न केवल अभिमान नष्ट होता है,[६] अपितु सत्य न कह सकने की विलुप्त शक्ति पुनः जागृत हो जाती है।[७] इतना ही नही, जो 'हरि भइओ खांडु' तथा 'रेतु महि बिखरिओ' लेकिन 'हसती चुनिओ न जाइ' उसे 'चीटी होइ चुनि खाई' में ही जीव की बुद्धिमत्ता है।[८] कबीर ने जो साधन अपनाए थे, निस्संकोच जन-सामान्य को उनसे परिचित कराता गया। इस अहं भाव के नष्ट होने पर ही भगवान कृपा करेंगे।[९] तथा भगवान की कृपा होते ही जीव को संदेश दिया है कि तू 'खसमु पछानि'।[१०] भगवान से मिलने के लिए उसकी पहचान आवश्यक है। भगवान की पहचान होने पर जीव उसमें रम कर स्वतः ही उसे पा लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार को भरमानेवाला अह कहाँ से उत्पन्न होता है ? संसार में क्या करतब दिखलाता है तथा किस प्रकार वही विगलित होने पर, आत्मसमर्पण का रूप धारण कर ब्रह्म-प्राप्ति में जीव की अवरोधक नहीं, अपितु सहायक शक्ति बन जाता है। इसी का इन पक्तियो में संक्षिप्त विवेचन है।

दुर्गुण

'भोले भाइ मिले रघुराइआ।'

इसलिए, **'परहरु लोभ अरु लोकाचारु। परहरु कामु क्रोधु अहंकारु।।'[१]**

सरल भगवान से तो सरल ढंग से ही मिलना है। अतः इन दुर्गुणों का त्याग कर देना चाहिए, जो मायोत्पन्न अहंकार की देन है। अहंकार ही नहीं ये स्वतः मायोत्पन्न भी हैं[२]। इसलिए 'चंचल मन गहहु' तथा 'काम क्रोध संगि कबहु न बहहु।'[३] क्योंकि 'चंचल मन' दुर्गुणों के प्रसार में विशेष सहायक है। इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों को भूल कर ज्ञान का फल खाना चाहिए।[४]

---

१. ३२४ क०, ६। २. १४६ श्लोक। २. १४७ श्लोक।
४. १४८ श्लोक। ५. १४१ श्लोक। ६. ३३६ क०, ६०।
७. ३३६ क०, ७४। ८. ३२५ क०, १०। ६. ६७२ क०, १२।
१०. ११६० क०, १४। ११. ४८० क०, १७। १२. ३२४ क०, ६।
१३. ३३८ क०, ६८। १४. ३४३ क०, ५। १५. ३४४ क०, ११।

क्योंकि यह तो 'मदन चोर' है— 'जिन गिश्रान रतनु हिरि लीन मोर ।'[१] अतः इन दुर्गुणों को त्याग कर तथा तृष्णा, माया, आदि के भी भ्रम को दूर करने पर ही ज्ञान का दीपक पुनः प्रदीप्त हो सकेगा[२] जिसके बिना यम को भूल कर जीव का प्रभु में ध्यान नही लगता[३] और इस प्रभु-ध्यान के बिना, 'कामी, क्रोधी चातुरी बाजीगर बे काम' । क्योंकि दुर्गुणी जीव ने तो— 'निंदा करते जनमु सिरानो कबहू न सिमरिश्रो रामु ।' तो वह 'कैसे उतरसि पारि[४] ।' यह काम, क्रोध तो मानव-जीवन-रथ के पाप पुण्य दोनों बैलों का स्थान लेनेवाले सिद्ध हो गए, अब रथ-यात्रा कैसे पूरी हो सकती है[५] । इतना ही नही 'जो जो करम कीए लालच सिउ ते फिरि गरहि परिश्रो ।'[६] लालच के कारण किए गए दुष्कर्मों का फल तो अपने को ही मिलेगा । इसलिए भलाई इसी में है, कि 'काम क्रोध माइश्रा लै जारी त्रिसना गागरि फूटी'[७] और काम, क्रोध को जलानेवाली लकड़ियाँ बना लो[८] तथा वैरागी को वह रूप धारण करने के बाद भी तृष्णा छोड़ने के लिए सतर्क किया है ।[९] इस प्रकार प्रतिदिन कलुषित भावनाओं से युद्ध करके इन सब दुर्गुणों को इसलिए भी छोड़ने का संदेश दिया है, क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से इन दुर्गुणों का सेवन करते हुए 'देही' चला जाएगा, इन्द्रियाँ थक जाएँगी, लेकिन इनकी उत्पादिका 'माइश्रा न थकसि ।'[१०] जिसका परिणाम होगा, कि 'लालच झूठ बिकार महामद' तो जीव को भरमाए खड़े रहेंगे और इसी बीच यमराज उसे बुला ले जाएगा ।[११] अतः इनको छोड़ना आवश्यक है, क्योंकि इनके छोड़ने पर ही मन स्थिर होगा और 'भजि राम नाम' जीव भव-पार पहुँच सकेगा ।[१२] जन-सामान्य को समझाने का इससे सरल साधन हो भी क्या सकता है, इन दुर्गुणों के साथ-साथ इनसे उत्पन्न दुष्कर्मों का भी छोड़ना आवश्यक है, तभी जीव भव-पार पहुँच सकेगा । नहीं तो वह— 'पाप करता मरि गइश्रा अउध पुनि खिन माहि'[१३] और सत्कर्मों के बिना दुष्कर्मों से तो उसके जीवन पर ब्याज का भार बढ़ता जाता है, जिसका परिणाम यह होता है, कि यम की पुकार शीघ्र ही सुनाई दे जाती है ।[१४] तत्कालीन समाज के दुष्कर्मों का पुलिन्दा इतना भारी है, कि दुर्गुण भी उसे नहीं सम्हाल सकते, अतः 'बाह्याचारों' में स्थान देकर दुर्गुणों को तो हलका करने का प्रयत्न किया है । इस प्रकार दुर्गुण एवं दुष्कर्म मानव को भवसागर से पार ले जाने के स्थान पर डुबाने में विशेष सहयोगी हैं । अतः इनका त्याग ही जीव को अपने उद्गम की ओर बढ़ने में यदि सहायक नहीं, तो कम से कम अवरोधक तो न सिद्ध होगा ।

---

१. ११६४ क०, ५ । २. ११२३ क०, १ । ३. ११२४ क०, ४ ।
४. ११०५ क०, १० । ५. ३३३ क०, ४६ । ६. ३३६ क०, ५६ ।
७. ४८२ क०, २८ । ८. ६६६ क०, २ । ९. ११०४ क०, ८ ।
१०. ७९३ क०, ४ । ११. ११२४ क०, ५ । १२. ११९३ क०, २ ।
१३. २२१ श्लोक । १४. २०८ श्लोक ।

दुस्संगति

'मूरख सिउ बोले झखमारी।' क्योंकि 'बोलत बोलत बढ़हि बिकारा।' इसलिए भलाई इसी में है कि, 'मिलै असंतु मसटि करि रहीए'।[1] विद्वानों ने सम्भवतः इसीलिए कहा है, कि मूर्खो से, दुष्टजनों से न मित्रता रखे, न बैर ही। क्योंकि दोनों परिस्थितियों में मनुष्य को उससे मिलना तो पडता ही है। पहली अवस्था में यदि मिलन है, तो दूसरी अवस्था में टकराहट। दोनों ही अवस्था में दुस्संगति से अनिष्ट की ही सम्भावना है। इसलिए उसका सग तो क्या स्पर्श भी नही करना चाहिए, क्योंकि— 'बासनु कारो परसिऐ तउ कछु लागै दागु।'[2] इतना ही नहीं, अगर कही पास निवास हो गया, तो 'मारी मरउ कुसग की।' उसकी अवस्था बेर के पास रहनेवाले केले जैसी होगी, 'उह झूलै उह चीरीऐ।'[3] इस प्रकार शाक्त का संग नहीं करना चाहिए, क्योंकि तत्कालीन शाक्त (कबीर की दृष्टि में) संत न थे, और अगर कहीं भूल-भटक कर भूसी-चावल की तरह कुसंग का साथ हो गया, तो चावल के कारण 'मुहली' की मार खानेवाली भूसी की ही हालत जीव की होगी।[4] इन सबसे बड़ी बात यह है, कि पापी को भक्ति उसी प्रकार नहीं भाती, जैसे 'माखी चंदन परहर जह बिगंध तह जाइ।'[5] फिर भक्ति से दूर रहनेवाला जीव, माया में लिप्त होकर ब्रह्म को कैसे पा सकता है? अतः जहाँ सत्संगति भगवत्प्राप्ति में सहायक शक्ति है, वहाँ दुस्सगति अवरोधक शक्ति। अतः ब्रह्म-प्राप्ति के लिए इस का भी परिहार आवश्यक है।

बाह्याडम्बर

माथे तिलकु हथि माला बाना। लोगन रामु खिलउना जाना।[6]

कबीर ने तत्कालीन समाज के धार्मिक लोगों में पोथीधारी पंडे, पुराणपाठी पंडित, माला पहिने बाम्हन, तिलकधारी ब्राह्मण, वेदपाठी विद्वान्, धूल रमाए योगी, नंगे साधु, गेरुए पहिने सन्यासी, धोखेबाज तांत्रिक, कपटी पुजारी बांग देते मुल्ला, कुरान की आयतें पढ़ते मौलवी, मुर्गी मारते काजी तथा हज्ज से भी लौट कर पाप करते हाजी को देखा था। उसके प्रदीप्त अन्तःचक्षु ने समाज के रोग को ठीक से पहचाना था। यही कारण था, कि वे केवल अपनी आत्मा से सच्चे सेवक बने रहे। इसी कारण निडर होकर उन्होंने आत्मा की पुकार को सत्य की ऐसी कसौटी बनाया, जिस पर समाज के इन सब धर्म के ठेकेदारों को परखा जा सके। उसने हाथ में डाक्टर का वह नश्तर लिया, जिससे वह देह के गले-सड़े भाग को काटता गया और साथ ही मरहम भी लगाता गया, ताकि समाज की देह नष्ट न होकर स्वस्थ व हृष्ट-पुष्ट हो जाए। इसीलिए उसने जिस पंडे को झटकारा उसे अपनी ओर अनुरक्त भी किया, जिस पंडित को फटकारा, उसे नया पाठ भी पढ़ाया, जिस बाम्हन को दुरदुराया, उसे निर्मल भी कर दिया,

१. ८७० क०, १।
२. १३१ श्लोक।
३. ८८ श्लोक।
४. २११ श्लोक।
५. ६८ श्लोक।
६. ११५८ क०, ६।

जिस ब्राह्मण को ललकारा, उसे नए बल से बलिष्ठ भी बना दिया, जिस वेदपाठी को लताड़ा, उसे ऊपर भी उठाया, जिस पुजारी को धिक्कारा, उसे धन्य भी कर दिया, जिस योगी को दुत्कारा, उसे पुचकारा भी, जिस तीर्थ-यात्री को पुचकारा, उसे दुलराया भी, जिस मुल्ला को डाँटा, उसे नया नूर दिखाया, जिस मौलवी को डपटा, उसे नया सबक सिखाया, जिस को घुड़का, उसकी अक्ल दुरुस्त कर दी, जिस हाजी को झिड़का, उसे सीधा रास्ता दिखाया, इस प्रकार पथभ्रष्ट जन-साधारण को सुपथ पर चलाया और समाज द्वारा ठुकराए हुए हरिजनो को गले लगाया। इन कार्यों से ही 'कबीरा' कबीर हो गया है। अतः उसके व्यक्तित्त्व के निर्माण में जहाँ इन बाह्याचारों के विरोध का विशेष महत्त्व है, वहाँ देश की तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विषमताओं से टक्कर लेकर अदम्य उत्साह तथा साहस से उसका विरोध करते हुए नवीम समाज के निर्माण का श्रेय भी उसी को प्राप्त है। उसने बहती हवा के सम्मुख सीना करके न केवल उसके वेग को ही न सहारा था, अपितु उस दिशा मे आगे भी बढ़ा था। महापुरुष का यही लक्षण है, कि वह स्वतः परिस्थितियों के अनुकूल ढालता चले और कबीर ने यही किया। नीचे लिखी पंक्तियों में इसी का विवरण मिलेगा।

पूजा

'जो पाथर कउ कहते देव। ता की बिरथा होवै सेव॥'[१]

इसीलिए उसने पत्थरपूजा का विरोध किया है, क्योंकि उससे तत्कालीन समाज विकृत हो रहा था। अंधविश्वास है ही ऐसा। अतः स्पष्ट ही कहा है, 'तोरउ न पाती पूजउ न देवा[२]।' क्योंकि उसने स्वतः भी तो 'तीस बरस कछु देव न पूजा।'[३] इस सबसे बड़ी बात तो यह है, कि यह मूर्ति बनी कैसे? 'पाखान गढ़ि कै मूरति कीन्ही दे कै छाती पाउ।'[४] फिर भी उसके प्रति श्रद्धा कैसे बाकी रह जाती है। और यदि; 'जै एह मूरति साची है तउ गड़नहारो खाउ।'[५]

पर उस घढ़नेवाले को तो इसने क्या कहा था? यह 'ना पाथरु बोलै ना कछु देइ'[६] इसलिए इसकी पूजा बेकार है। पूजा के लिए जो 'भूली मालनी' पत्ते तोड़ती है, उसे कहा है, कि पत्ते तो चेतन पौधे के अंग हैं, पर जिसकी पूजा के लिए तुम इन्हें तोड़ रही हो—'सो पाहन निरजीव'।[७] वह ब्रह्म जिसकी पूजा के लिए यह सब आडम्बर है, सर्वत्र ही विद्यमान और 'रूप रंग रेख' रहित है। लेकिन ससार ने तो 'पाहन परमेसुर कीआ' और उसी को 'पूजै सभु संसार।'[८] यदि परमेश्वर कही न मिले, तो पुजारियों के लिए उसे प्राप्त करना भी बड़ा आसान है और धनवानों के यहाँ तो भगवानों के ढेर लग जाए, क्योंकि वे तो 'ठाकरु पूजहि मोलि ले'[९] कितना सस्ता है भगवान! लेकिन कबीर का भगवान तो इनसे भी सस्ता है,

१. ११६० क०, १२। २. ११५८ क०, ६।
३. ४७६ क०, १५। ४, ५. ४७६ क०, १४।
६. ११६० क०, १२। ७. ४७६ क०, १४।
८. १३६ श्लोक। ९. १३५ श्लोक।

क्योंकि निर्धन तो बेचारे इस भगवान को भी नहीं खरीद सकेंगे, इसीलिए तो उसे कहना पड़ा—

ब्रहमु पाती बिसनु डारी फूल संकर देउ।
तीनि देव प्रतखि तोरहि करहि किस की सेउ।[१]

हे अबोध जीव ! ससार-भर के सभी देव तो सर्वत्र विद्यमान है, केवल पहचाननेवाले प्रज्ञाचक्षु अपेक्षित है। इस प्रकार पत्थरपूजा तथा मूर्त्तिपूजा के साथ बहुदेवोपासना का भी विरोध करते हुए जीव को सतर्क किया है, कि 'तू क्यों व्यर्थ ही' 'देवी देवा पूजहि डोलहि'[२] लेकिन भ्रमणशील जीव का 'मन बउरा रे' जो 'पूजन कउ बहु देव'[३] अन्यान्य तीर्थ-स्थानों मे उसे घुमाए ले जाता है। जब वह अपनी बात हरक ढ़ंग से कह कर थक जाता है, लेकिन कोई उसकी बात मानता नही, तो उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण देता है, कि, 'बुत पूजि पूजि हिदू मुए'[४] और तब भी उन्हे विश्वास नही, तो कबीर का क्या दोष ? इस प्रकार पत्थर मूर्ति, देवी, देवता, मदिर आदि सभी की पूजा का दृढ शब्दो मे विरोध किया तथा अन्यान्य देवी-देवताओं का भी विरोध करते हुए एक-मात्र सत्य 'निरंकार निरबानी' ब्रह्म की उपासना का संदेश दिया है।[५]

बहुदेवोपासना का विरोध करते हुए कबीर ने लिखा है, कि 'प्रीति इक सिउ कीए'[६] अन्यथा मानव-मन किसी मे भी नही लग पाता। अन्य देवी-देवता तो अपूर्ण है, अतः उनमें 'मन को लगाना' 'काचि सरसउ' पेलना है, जिससे 'ना खलि भई न तेलु।'[७] इसलिए अन्य देवी-देवताओं को खोजना बेकार है।[८] अतः इस दिशा मे रविदास के विचार को कबीर ने महत्त्वपूर्ण समझा, और इन शब्दों में अभिव्यक्ति की—

हरि सा हीरा छाड़ि कै करहि आन की आस।
ते नर दोजक जाहिगे सति भाखै रविदास॥[९]

असली हीरा तो निराकार ब्रह्म ही है, अतः अन्यान्य देवी-देवताओं की पूजा बेकार है।

स्नान

संधिआ प्रात इस्नानु कराही, जिउ भए दादुर पानी माही।[१०]

बार-बार स्नान करने से जीव पवित्र नहीं हो सकता। मेंढक पानी में सदा ही स्नान करता है। अतः 'किआ जलि बोरिओ गिआना'[११] इतना ही नही, जहाँ जप, तप बेकार सिद्ध होते है, वहाँ 'किआ इसनानु' स्नान भी जीव को तार नही सकता।

सामान्य स्नान की तो बात ही छोड़ो, यदि 'अंतरि मैलु' है, तब तो चाहे 'तीरथ नावै तिसु बैकुंठ न जाना।'[१२] गंगा आदि के अतिरिक्त 'कहा उड़ी से मजनु

१. ४७६ क०, १४। २. ३३२ क०, ४५। ३. ३३५ क०, ५७।
४. ६५४ क०, १। ५. १३५० क०, ५। ६. २१ श्लोक।
७. २४० श्लोक। ८. १२६ श्लोक। ९. २४२ श्लोक।
१०. ३२४ क०, ५। ११. ३३८ क० ६७। १२. ४८४ क०, ३७।

किआ ।'[१] जगन्नाथपुरी में नहा कर भी भव-पार नही पहुँचा जा सकता, जो हो, इस सबसे स्पस्ट है, कि न केवल स्नान, अपितु तीर्थ-स्नान भी बेकार है । तीर्थयात्रा, तीर्थनिवास तथा तीर्थमरण से भी बैकुंठ-प्राप्ति का उन्होंने दृढ़ शब्दों में विरोध किया है । न केवल 'बहु तीरथ भ्रमना'[२] व्यर्थ है । अपितु जो 'हठ तीरथ जाहि'[३] और 'गंगा तीर जु घरु करहि पीवहि नीरू'[४] वे अपने आप को बैकुंठ पहुँचा हुआ समझते हैं । लेकिन सत्य इसके विपरीत ही है । इसीलिए ब्रह्म-प्राप्ति के लिए मन को वश में करना चाहिए, न कि 'तटि तीरथी' निवास से वह मिल सकेगा ।[५] तीर्थ में निवास अथवा मरण से जीव भव-पार नही होता, अपितु यदि जीव, 'मनहु कठोरू मरै बानारसि नरकु न बाँचिआ जाई'[६] मन को शोध चुका है, तभी बनारस मे मरने से भव-पार हो सकेगा और यदि भांग, मछली आदि सम्पूर्ण दुर्गुणो से मन को पापी बना रखा है, तो काशी निवास से ही क्या ? तीर्थ (काशी) में मरण से भी 'ते सभै रसातल जाहि ।'[७] कबीर ने स्वतः 'पहिले दरसनु मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई ।' मगहर से आकर काशी-निवास किया था, लेकिन उन्होंने साथ यह भी कह दिया था—

जैसा मगहरु तैसी कासी हम एकै करि जानी ।[८]

ब्राह्मणों ने कबीर का विश्वास नहीं किया, सम्भवतः किसी ने उपालम्भ ही दिया हो कि औरों को तो 'काशीमरण में स्वर्ग नहीं मिलता ।' यह उपदेश देते है, और स्वतः यहाँ ही चले आए । निर्भीक कबीर की निर्मल आत्मा यह सह न सकी और उन्होंने सबको समझाया 'किआ कासी किआ ऊखरु मगहरु रामु रिदै जउ होई,'[९] और 'जउ तनु कासी तजहि कबीरा रमीऐ कहा निहोरा ।'[१०] यह कहा ही, नहीं, अपितु 'सगल जनमु सिवपुरी' गँवानेवाला जुलाहा—

मरती बार मगहरि उठि आइआ ।[११]

यदि अब भी कबीर के धर्म को 'नकद-धर्म' न कहा जाए, तो क्या कहा जाए ? उन्होंने स्वतः कहा है—

बहुतु बरस तपु कीआ कासी । मरनु भइआ मगहर की वासी ॥
कासी मगहर सम बीचारी । ओछी भगति कैसे उतरसि पारी ॥[१२]

यह काशी और मगहर नही, जो मनुष्य को स्वर्ग व गर्दभयोनि देते है । यह तो भक्ति है, यदि 'भगति ओछी' होगी, तो वह कैसे भव-पार उतरेगा, समझ से बाहर है । वही संदेश प्रभावोत्पादक हो सकता है, जिसका आदर्श बघारा ही न जाए, अपितु आचरण में उतारा जाए । संतों की सबसे बड़ी विशेषता 'कथनी एवं करनी में एकता' का ही कबीर की वाणी ही नहीं, जीवन भी ज्वलंत प्रमाण है ।

---

१. १३४१ क०, २ । २. ४७६ क०, ५ । ३. १३५ श्लोक ।
४. ५४ श्लोक । ५. ३२५ क०, १ । ६. ४८४ क०, ३७ ।
७. २३३ श्लोक । ८. ९७६ क०, ३ । ९. ६९२ क०, ३ ।
१०. ६९२ क०, ३ । ११. ३२६ क०, १५ । १२. ३२६ क०, १५ ।

व्रत

भांग, मछुली खानेवाले यदि व्रत रख कर बैकुंठ जाना चाहें, तो वे बैकुंठ न जाकर 'रसातल जाहि' इसी प्रकार सत्कर्म किए बिना दिखावटी जप, तप के साथ-साथ 'किम्रा बरतु किम्रा इसनानु'[1] व्रत रखने से कुछ लाभ नहीं। व्रत ही क्या, 'ब्रह्मन गिम्रास करहि चउबीसा काजी मख रम जाना। गिम्रारह मास पास कै राखे एकै माहि निधाना।'[2] ये चौबीस उपवास भी क्या उसे भव-पार पहुँचा सकते है ? कभी नही। इस प्रकार जहाँ उन्होंने व्रत और उपवास का विरोध किया है, वहाँ मृतक-पिण्ड तथा श्राद्ध की तो सविस्तार दुर्गति दर्शायी है कहा है—'जिवत पितर न मानै कोऊ मूँए सराध कराही।'[3] जीवन-भर तो माँ-बाप को तंग किया और मरने पर परलोक में भोजन पहुँचाने चले है। पितरों को पहुँचाने के लिए कुछ भोजन डाल देते है, जिसे 'कऊम्रा कूकर खाही।'[4] इतना ही नही, अपने मिट्टी के देवी-देवता के सम्मुख 'तिसु आगे जीउ देही'[5] जीवों की बलि चढ़ानेवालों को भी पूछा है, कि यह तुम्हारे देवों को इनकी आवश्यकता है, तो वे अपने आप ही क्यों नही ले लेते ? अतः बलि चढ़ाने का भी विरोध किया है।

इस प्रकार कबीर ने दृढ़ शब्दों मे व्रत, उपवास, श्राद्ध, मृतक-पिण्ड तथा बलि चढ़ाने का विरोध किया है।

कबीर बैसनो हूआ त किम्रा भइम्रा माला मेलीं चार ।
बाहरि कंचनु बारहा भीतरि भरी भंगार ॥[6]

कबीर की भक्ति मे भाव का प्रमुख स्थान है। मन को पवित्र किए बिना यदि नाम-स्मरण में माला फेरते रहे, तो वह बेकार है। अंतःकरण में तो मल भरा है, भक्ति हो भी कैसे ? न केवल माला फेरने का, अपितु भाव के बिना जप का भी विरोध किया है।[7] क्योंकि—'राम कहन महि भेदु है ता महि एकु बिचारु।'[8] उस भेद और विचार को जाने बिना 'खर चंदन भारा' बनना अथवा 'तोता रंटत' से मोक्ष-प्राप्ति की आशा करना मृग-मरीचिका के अतिरिक्त कुछ नहीं। नाम और जाप ही क्या, भाव बिना तो गायत्री का जाप भी बेकार है, कितना मधुर व्यंग है—

जिह मुख बेदु गाइत्री निकसै सो किउ ब्रह्मनु बिसुरु करै ।[9]

वेद-गायत्री का उच्चारण करनेवाला ब्राह्मण भी ब्रह्म को क्यों कर भुला देता है ? अपढ़ कबीर ने पढ़ने का विरोध नहीं किया, अपितु भक्ति को उससे श्रेष्ठ बताते हुए, उसे न छोड़ने का संदेश अवश्य दिया है।[10] इतना ही नही, जहाँ भी उसने 'कागद देहु बिहाइ' कह पुस्तकी विद्या को त्याज्य बताया है, वहाँ साथ ही यह कहा है, कि—'बावन अखर सोधि के हरि चरनी चितु लाइ।'[11] यह बावन अक्षरों

१. ३३७ क० ६३। २. १३४६ क० २। ३. ३३२ क० ४५।
४. ३३२ क० ४५। ५. ३३२ क० ४५। ६. १४५ श्लोक।
७. ३२४ क० ६। ८. १९० श्लोक। ९. १७० क० ५।
१० ४५ श्लोक। ११. १७३ श्लोक।

का शुद्ध कर अक्षर 'रा' और 'म' को ढूँढ निकालना क्या बौद्धिक प्रक्रिया नहीं। उसने विरोध किया है उस पुस्तकी विद्या का, जो बिना समझे ही ग्राह्य बन चुकी है। रावण की प्रतिभा ने तो उसका दुरूपयोग किया ही था, तत्कालीन ब्राह्मणों की नासमझी के कारण भी उसका दुरुपयोग हो रहा था। इसीलिए यह कहना भूल है (कम से कम 'ग्रथ' के आधार पर) कि कबीर ने वेद, शास्त्र, पुराण और स्मृतियों का विरोध किया है। वेदपाठी बन गए, वेदों का ज्ञान नही। हाफिज बन गए, कुरान का सार न जाना। अणुशक्ति के उपयोग नहीं, अणुबम अथवा अन्य बातों में उसके दुरुपयोग का विरोध करनेवाले आधुनिक सुधी की तरह उन्होंने वेदपाठी और हाफिज के अज्ञान का विरोध किया है। उन्होंने तो स्पष्ट शब्दों मे घोषणा की है—'वेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न बिचारै,'[1] कि उनका विचार न करनेवाला तथा न ही इनके अनुकूल आचरण करनेवाला झूठा है। इसीलिए तो जगत् का गुरू बना हुआ जो 'ब्राह्मण' है, वह बेचारा तो—'अरझि उरझि पचि मूआ चारउ बेदहु माहि।'[2] लेकिन—

कहु कबीर जो ब्रह्मु बीचारै। सो ब्राह्मणु कही अतु हमारै॥[3]

उसने तत्कालीन वातावरण मे, मानव-मात्र की तरह उत्पन्न होनेवाले ब्राह्मण की यह परिभाषा की है। वेदों को न विचारनेवाले को झूठा बताया है और ब्रह्म का विचार करनेवाले को ब्राह्मण। इससे स्पष्ट है, कि उन्होंने जहाँ कहीं भी वेदो को व्यर्थ बताया है, वहाँ केवल उसके तत्कालीन रूप का ही विरोध किया है। वे स्वतः तो पढ़े थे ही नही। उनके ज्ञान का आधार तो अनुभूति थी, वही अनुभूति जो 'मंत्र द्रष्टारः' ऋषियों को हुई थी और इन धर्म-ग्रथों में संगृहीत है। दोनों के ब्रह्म के स्वरूप आदि के वर्णन से स्पष्ट है, कि दोनों का ब्रह्म एक दूसरे से दूर नही, भिन्न नही। हाँ! 'अधकचरे' पण्डितों ने अथवा उन्हीं के शब्दों में 'बामनु' ने जिस रूप में वेद-शास्त्रों को उनके सम्मुख रखा, उस रूप में उन्होंने अवश्य ही उसका विरोध किया है। उन्होंने जप का भी इसी अर्थ मे विरोध किया है। वह जप, जिसके अर्थ का ज्ञान नहीं, भाव का बोध नहीं, भक्ति में तल्लीनता नही, केवल आडम्बर और दिखावा है। आत्मसंतोष से अधिक परतुष्टि का कारण है, कबीर की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं। दूसरी ओर यदि भगवान के गुणों का ध्यान ही 'नाम' है और ऐसे 'नाम' की निरन्तर आन्तरिक पुनरावृत्ति ही 'जप' है। (जैसा कि इसका वास्तविक रूप है) तो यह 'जप' अवश्य ही मोक्ष देनेवाला तो क्या—ब्रह्मरसानुभूति करा कर ऐक्य कराने मे सहायक है। जैसा कि हम साध्य-साधन प्रकरण में देख आए हैं।

जो लोग अपने आप को वेद पढ़ा हुआ बताते थे, उन्हें उन्होंने अज्ञानाधकार में डूब कर मरते देखा था, तभी उनको कहना पड़ा—'पढ़-पढ़ पंडित मूए'[4] और

---

१. १३५० क० ४। २. २३७ श्लोक। ३. ३२४ क० ७।
४. ६५४ क० १।

इसी मृत्यु (अज्ञानाधंकार की) से बचने के लिए उन्होंने उनको 'भले असवारा' बताया है, जो 'वेद कतेब ते रहहि निरारा।' इसी प्रकार बहुत से स्थानों पर वेद का विरोध करते हुए भी उन्होंने ऐसे 'मन के अंधे' को धिक्कार कर कहा है—

वेद पुरान पड़े का किआ गुनु खर चंदन जस भारा।

राम नाम की गति नही जानी कैसे उतरसि पारा।'[1]

'कबीर ने वेदों का विरोध किया है', ऐसा लिखते हुए विद्वानों की सूक्ष्मान्वेक्षिणी शक्ति गधे पर लादे भार की ओर तो चली गई, पर 'चंदन' की सुगन्ध नही अनुभव कर सकी। इतने से ही स्पष्ट है, कि वेद अवश्य चंदन हैं। उन पर लिपट कर भी यदि पाप का विष समाप्त नही होता या वह चंदन से सुगन्धित नही हो पाता, तो चंदन को गुण-हीन कहना, बुद्धिमत्ता का परिचायक नही, या कम से कम युक्तिसंगत नहीं, ऐसा कहें, तो अनुपयुक्त न होगा। क्योंकि आगे स्पष्ट ही कहा है, कि 'राम नाम की गति नही जानी कैसे उतरसि पारा।'[2] यह 'राम नाम की गति' और कहीं से नही, उस चंदन में ही; 'उन वेदों' में से ही जाननी है और तत्कालीन बाह्मन तथा ब्राह्मण दोनों ने ही ऐसा नही किया, इसीलिए तो कबीर के हाथों 'मन के अंधे' की उपाधि पाई।

यदि अब भी विद्वानों का यह मत रहे, कि कबीर ने चंदन को बुरा बताया है, तो फिर मुझे और कुछ नही कहना है।

जपनी काठ की किआ दिखलावहि लोइ।[3]

वह माला, भगवान का नाम जाने बिना जिसे फेरना व्यर्थ है तथा सन्यासी एवं साधु का रूप धारण करने के लिए, जो आवश्यक उपकरण बन गई है, बेकार है। कबीर को सच्चाई से मोह था और आडम्बर से वैर। वे किसी भी प्रकार के आडम्बर को सह नहीं सकते थे। रूप और भेख से उन्हें विशेष चिढ़ थी। अतः न केवल काठ की माला को बेकार बताया, अपितु 'माथे तिलकु हथि माला बाना'[4] कह कर माथे पर तिलक आदि का भी विरोध किया है। उस आडम्बरी साधु के 'डंडा मुंद्रा खिथा आधारी, भ्रम कै भाइ भवै भेखधारी।'[5]

इस प्रकार धूल रमाये साधुओं को छापा, तिलक, त्रिपुण्ड, कंठमाला, डंडा, मुंद्रा, तथा श्रृंगी आदि धारण किए हुए देख कर समाज-रक्षा की चिंता सवार हो जाती थी। अतः कबीर को इस सब सामग्री के उपयोग करनेवालों से दुरुपयोग की आशंका अधिक बनी रहती थी। यह वेश तो किसी बिरले साधु का नहीं, अपितु जन-साधारण में बहुतों का पाया जाता था। अतः ऐसे वेश के प्रचारकों की ओर ध्यान देना उन्होने आवश्यक समझा। परिणामस्वरूप—

कबीर ऐसा जंतु इकु देखिआ जैसी धोई लाख।

दीसै चंचलु बहु गुना मतिहीना नापाक॥[6]

---

१. ११०२ क० १। २. ११०२ क० १। ३. ७५ श्लोक।
४. ११५८ क० ६। ५. ८५६ क० ८। ६. १३९ श्लोक।

लाख के समान हजार बार धुल कर भी साफ न होनेवाला यह नापाक जंतु कैसा था, उसका वर्णन आगे मिलेगा। उसने क्या किया? 'ग्रिहु तजि वन खंड जाइऐ चुनि खाइऐ कंदा।' लेकिन 'अजहु बिकार न छोड़ई पापी मनु मंदा।'[१] इसलिए वन में जाकर कंद, मूल फल खाने का महत्त्व नही और नही 'जटा भसम लेपन कीआ कहा गुफा महि बासु।'[२] जटाएँ रखना, भसम लगाना अथवा गुफा में निवास का महत्त्व है। इस प्रकार वन में योग तप करते हुए तथा 'कंद मूलु चुनि खाइआ' इससे केवल 'जम के पटै लिखाइआ'[३] अपना नाम यमराज की सूची में लिखाया जा सकता है, क्योंकि जब तक 'भगति नारदी रिदै न आई' तब तक यह सब कुछ बेकार है। योगी को ध्यान आया, सम्भवतः यह केवल धूल रमाने का परिणाम है, लेकिन कबीर ने तो स्पष्ट ही कहा है, कि 'विपल वस्त्र केते है पहिरे किआ बन मधे बासा।'[४] अधिक वस्त्रों के पहन लेने से या वन में रहने से भी तो ब्रह्म-प्राप्ति नही। आडम्बरी साधु समझ नहीं पा रहा। कबीर को सोदाहरण व्यंग्यात्मक शैली का आश्रय लेना पड़ा—

नगन फिरत जौ पाइऐ सभु जोगु। बन का मिरग मुकति सभु होगु॥[५]

नंगे तो सब मृग भी मोक्ष पा सकते है, लेकिन यह विचार भ्रम-मात्र है। हे साधु! तुम तब तक इस बंधन से नहीं छुट सकते—'जब नही चीनसि आतम सब।'[६] 'मंत्र द्रष्टारः ने भी तो 'आत्मनं विद्धि' कहा था। भेद इतना ही है, कि उनकी भाषा विद्वानों की भाषा थी, उनका संदेश विचारकों के लिए था, लेकिन कबीर का धर्म, वर्ग, जाति समुदाय, देश और राष्ट्र का धर्म न होकर मानव धर्म था, अतः स्पष्टतम भाषा में सरलतम शब्दों में जन-सामान्य और मानव-मात्र को सोदाहरण उसने वही बात अपने अनुभव के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं, उसने यह भी समझाया है, कि—

मूंड मुंडाए जो सिधि पाई। मुकति भेड न गईआ काई॥[७]

इस प्रकार शारीरिक वेश परिवर्तन-मात्र से मोक्ष प्राप्य नही। इससे बढ़ कर केवल 'बिंदु राखु' से भी भव-पार नहीं, नहीं तो 'खुसरै किउ न परम गति पाई।'[८] इसीलिए जब तक एक-मात्र सत्य ब्रह्म की अनन्य एवं अनवरत भक्ति न की जाएगी, तब तक मुक्ति की आशा करना बेकार है, उसके लिए---

भावै लाँबे केस करू भावै घररि मुडाइ।[९]

जितना सरल उतना ही महान् सत्य है। कबीर ने तंत्र-मंत्र से मन को वश में करनेवालों का भी विरोध किया है[१०] तथा श्मशान में रात्रि मे मंत्र जगानेवालों को अपने बच्चे खानेवाली सर्पिणी बताया है।[११] अतः उस ब्रह्म को पाने का साधन तो 'सिमरन' है और 'तिस के आगे तंतु न मंतु।'[१२] तंत्र-मंत्र साधकों के अतिरिक्त

---

१. ८५५ क० ३। २. ११०३ क० २। ३. ६५४ क० ३।
४. ३३८ क० ६७। ५,६. ३२४ क० ४। ७,८. ३२४ क० ४।
९. २५ श्लोक। १०. ७६ श्लोक। ११. १०७ श्लोक।
१२. ८७१ क० १।

कबीर ने उपदेशकों का भी विरोध किया है, जिन्होंने 'सिख साखा बहुते कीए' लेकिन 'केसो कीओ न मीतु ।'[1] अतः उन्हें भी हरि-मिलन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सकता । इसलिए तो 'गिआनी धिआनी बहु उहदेसी इहु जगु सगलो धंधा ।'[2] उप-देशक तो बहुतेरे बने, पर यह संसार का धंधा कोई नहीं सुलझा सका । अतः उसने इन्हें भी समझाया, कि 'कथनी कहि भरमु न जाई,'[3] जिसका परिणाम यह होता है, कि—'अवरह कउ उपदेस ते मुख मै परिहै रेतु ।'[4] अतः उपदेश देने से अच्छा उसे स्वतः अपनाना है ।

इस प्रकार सिरमुंडा कर अथवा जटा रख कर, नंगे रह कर या अधिक वस्त्र पहिन कर, भसम लगा कर या धूलि रमा कर या छापा छाप कर या तिलक धारण कर, कंठमाला पहिन कर, जप-तप से शरीर गला कर, कंद-मूल खाकर, बिंदु-रक्षा कर, गुफा को घर बना कर, मृगचरों को साथी समझ कर, बन को ही आवास बना कर जिन साधु और योगियों ने मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न किया था उन्हें कबीर ने यह कह कर सतर्क किया—

कबीर मनु मूंडिआ नहीं केस मुडाए कांइ ।
जो किछु कीआ सु मन कीआ मूंडा मूंडु अजांइ ।[5]

कि बेचारे केशों ने क्या बिगाड़ा है ? जो उन्हें मुंडाना पड़ा । यह सब दोष तो मन का है । इसे पवित्र करने का प्रयत्न करना चाहिए । अतः यदि बन जाना आवश्यक ही समझते हो, तो—'मनु मारण कारणि बन जाइऐ' ।[6] उसे किसी के रूप या निवास से कोई विरोध नहीं । उसे तो उस रूप में निहित आडम्बर और भक्तिभाव का अभाव अखरता है, जिसे अत्याचार न सहनेवाली कोई भी पवित्र आत्मा नहीं सहन कर सकती ।

उनसे मुंह मोड़ कर कबीर ने धर्म के ठेकेदारों की नगरी काशी की ओर देखा और उनमें भी विशिष्ट धार्मिक व्यक्तियों पर नजर दौड़ाई, तो—

गज साढे तै तै धोतीआ तिहरे पाइनि तग ।
गली जिन्हा जप मालीआ लोटे हथि निबग ।[7]

उनका वह रूप दिखाई दिया, वह अन्वेषक आत्मा उनके रूप पर विश्वास न करके क्रियाकलापों को देखने पहुँची, तो—

बासन मांजि चरावहि ऊपरि काठी धोइ जलावहि ।
बसुधा खोदि करहि दुइ चूल्हे सारे माणस खावहि ॥[8]

लकड़ियों को धोकर जलानेवाले, बर्तन को मांज कर चढ़ानेवाले, खाते हुए अन्य प्राणियों का कहना ही क्या ? 'सारे माणस खावहि' । सारे मनुष्य को ही खा

१. ६६ श्लोक ।
२. ३३८ क० ६७ ।
३. ६५५ क० ४ ।
४. ६८ श्लोक ।
५. १०१ श्लोक ।
६. ३२३ क० १ ।
७. ४७५ क० २ ।
८. ४७५ क० २ ।

जाते हैं ।[1] यह देख कर कबीर ने उन्हें 'हरि के संत' न कह कर 'बनारसि के ठग'[2] कहा है । सच्चाई के लिए तड़पती हुई आत्मा धर्म के रक्षक रूप में भक्षकों के दुष्कृत्यों को अधिक न देख सकी । सम्भवतः कबीर का ही कहा हुआ यह 'बनारसि के ठग' आज पाँच,छह सौ वर्ष बीत जाने पर भी अपनी सत्यता लिए हुए है ।

उनके वस्त्रों की ओर दृष्टि दौडाई तो कबीर को कहना पडा, कबीर ऊजर पहिरहि कापरे पान सुपारी खाहि ।'[3] कि स्वच्छ वस्त्र पहिनने और आकर्षक रूप बनानेवाले भी बैकुंठ नहीं, अपितु'जमपुर जाहिं' ।[4] इनके अतिरिक्त उसने बनारस में 'मूड पलोसि कमर बधि पोथी'[5] ऐसे बाम्हन भी देखे थे । इन्हें भी उसने समझाया था । वह किसी भी आडम्बर को सह नही सकता था । संक्षेप में उसने सब को बता दिया था, कि जहाँ 'बुत पूजि पूजि हिंदू मूए वहाँ 'तुरक मूए सिर नाई' तथा जहाँ 'कबित पड़े पडि कबिता मूए' वहाँ 'जटा धारि धारि जोगी मूए' तथा 'वेद पड़े पड़ि पंडित मूए' लेकिन 'तेरी गति इनहि न पाई ।'[6] इसीलिए बाह्याडम्बर का प्रसार देखकर ही तो कबीर को कहना पडा था –

पंडित जन माते पढ़ि पुरान । जोगी माते जोग धिआन ।।
संनिआसी माते अहमेव । तपसि माते तप के भेव ।।
सभ मदमाते कोऊ न जाग । संग ही चोर घरु मूसन लाग ।।[7]

सब भक्ति के अभाव तथा आडम्बरी रूप के कारण 'अह' के शिकार बने हुए है । अत. उन्हें समझाया है, कि इस आडम्बर में कुछ नही रक्खा, क्योंकि वास्तविक ध्येय तो 'बिखिआ ते होइ उदास' है । यदि यह जान लिया, तो 'मनु जीते जगु जीतिआ'[8] की सच्चाई भी अनुभव कर सकोगे । जीव यदि इन आडम्बरों से बच मन को वश में कर ले, तो संसार पर तो उसने अनायास ही विजय प्राप्त कर ली, अपितु जब—

कबीर मनु निरमलु भइआ जैसा गंगा नीरु ।
पाछै लागौ हरि फिरै कहत कबीर कबीर ।[9]

मन गंगा जल जैसा पवित्र हो गया है, तो भगवान भक्त के पीछे भागते फिरते है । यह अनुभव करते हुए ही तो कबीर कबीर (महान्) हो गया था । कबीर की भर्त्सना में जितनी प्रचण्डता है, उसकी डाँट में जितनी तीव्रता है, उसके व्यंग में जितनी

---

१. 'सब आदमीं मिल कर खाते हैं ।' (सत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा परिशिष्ट (क) पृ० ४६) Eat up men whole : (Macauliffe : The Sikh Religion. Vol. VI, P. 196)
यहां मैकालिफ का अर्थ ही हमें अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।
जीवित व मृत मनुष्य को ही खा जाते हैं । (बिशन सिंह : भगत बाणी सटीक, पृ० १२६)

२. ४७५ क० २ । ३. ३४ श्लोक । ४. ३४ श्लोक ।
५. ८७१ क० ६ । ६. ६५४ क० १ । ७. ११९३ क० २ ।
८. ११०३ क० २ । ९. ५५ श्लोक ।

मुस्कराहट है, उसके वर्णन में जितनी सजीवता है, उसके कथन में जितनी सादगी है, उसके संदेश में जितनी सच्चाई है, उसकी वाणी में जितनी गहराई है, उसके शब्द में जितनी मर्मस्पर्शिता है, उसके काव्य में जितना रस है, उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति में अनुभूति है। यही कारण है, कि आडम्बर भरे सम्पूर्ण जगत् के विरोधी कबीर का विरोध करके भी कुछ न कर सके, राज्य-शासक उसे मार कर भी न मार सके,[1] समाज उसका बहिष्कार करके भी उसे छोड़ न सका, रामानंद उसे ठोकर लगा कर भी न ठुकरा सके[2] तथा हिन्दू और मुसलमान उसे अपना कह कर भी न अपना सके। सम्भवत: प्रत्येक दिव्य आत्मा का ऐसा ही अंत होता है और कबीर भी इसके अपवाद न थे।

कबीर के युग का शाक्त 'पंच मकार' सेवी बन चुका था, अत: कबीर उनका विरोध करते हुए अपनी सहृदयता का परिचय न दे सके। कहीं उसे लहसुन जैसा बेकार बताया है,[3] तो कहीं वैष्णव की कुतिया से भी बुरा।[4] उसकी संगति की उस बेर के पौधे से तुलना की है, जो हिलने के कारण निकटवर्ती केले के पत्तों को फाड़ देता है।[5] इतना ही नहीं, वह काला बर्तन बताया है, जो स्पर्श होते ही अपनी कालिमा का वरदान दे देता है।[6] इस प्रकार शाक्त का रूप धारण करनेवाले का पूर्णतया विरोध करते हुए उसकी संगति न करने के लिए सतर्क किया है, क्योंकि, 'साकत कारी कांबरी धोए होइ न सेतु।[7] उसकी कुसंगति मे एक बार भक्ति से दूर हुआ, तो घुल कर भी सफेद न होनेवाली 'काली कंबली' की तरह जीव का जीवन बेकार हो जाएगा। अत: उससे बचना ही श्रेयस्कर है। 'कबीर मुलाँ मुनारे किआ चढहि सांई न बहरा होइ, जा कारनि तू बांग देहि दिल ही भीतरि जोइ।'[8]

यह कहना भूल है, कि कबीर ने किसी मत, सम्प्रदाय, धर्म या जाति का विरोध किया था। कबीर ने तो वास्तव मे केवल आडम्बर का विरोध किया था और निष्काम कर्मण्य-जीवन के माध्यम से ज्ञानाधारित अनन्य एवं अनवरत भक्ति की स्थापना की थी। वह हिन्दू भी कर सकता है और मुसलमान भी तथा न हिंदू न मुसलमान भी। कबीर का संदेश मानव-मात्र के लिए दिव्य संदेश था। अत: उसने हिन्दुओं का ही विरोध किया हो ऐसी बात नहीं। मस्जिद में मुल्ला की बांग, वज़ू कर नमाज को जाते नमाज़िओं को भी उसने समझाया था। हे बांग देनेवाले मुल्ला! तेरा साँई बहरा नहीं है, अपितु वह तो तेरे अन्दर ही बैठा है, केवल उसे अनुभव करने की आवश्यकता है।

'किआ उजु पाकु कीआ मुहु धोइआ'[9] बांग को सुन वजू (नमाज से पहले

१. ११६२ क० १८।
२. कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दरदास भूमिका पृ० २४, (किवदंती)।
३. १७ श्लोक। ४. ५२ श्लोक।
५. ८८ श्लोक। ६. १३१ श्लोक।
७. १०० श्लोक। ८. १८४ श्लोक। ९. १३५० क०५४।

मुँह हाथ आदि का धोना) करके तुमने अपने आपको पवित्र कर लिया, लेकिन तुम्हारे 'दिल महि कपटु निवाज गुजारै'[१] और नमाज पढ़ कर तुम समझते हो, कि बहिश्त पहुँच जाओगे, लेकिन यह भी तुम्हारी भूल है।[२] 'मसीति सिरू नाए' करके भी तुम खुदा तक न पहुँच सकोगे।[३] इस प्रकार बांग, वजू, नमाज और मस्जिद का विरोध करते हुए भी उसने कुरान का विरोध नही किया, अपितु कुरान पर विचार न करके मुर्गीमार मुल्ला को भ्रम में पड़ा हुआ बताया है।[४] इतना ही नहीं, तसबीह (माला) और इबादत (प्रार्थना) के चक्कर में पड़े हुए मौलवी को धिक्कारा है, क्योंकि वहाँ पवित्र भावनाओं का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। धार्मिक कृत्यों की दृष्टि से 'काजी मह रमजाना'[५] कह कर रमजान के महीने में उसके रोजा रखने का विरोध किया हैं, क्योंकि वह 'रोजा धरै निवाज गुजारै'[६] लेकिन उस नमाज और रोजे का क्या महत्त्व जिसके बाद भी 'दिल महि कपटु'[७] बना रहे। इस प्रकार जो—

रोजा धरै मनावै अलहु सुआदति जीव संघारै।
आपा देखि अवर नहीं देखै काहे कउ झख मारै॥[८]

इतना स्वार्थी बना रहे, कि अपने स्वाद के लिए हिंसा करे, उसका रोजा अवश्य ही बेकार है। उससे पूछा है, जब तुम सबमें एक ही खुदा व्याप्त बताते हो, 'तउ किउ मुरगी मारै'[९] लेकिन इस 'हलालु' का उसके पास कोई उत्तर नहीं। तब कबीर ने उसे सतर्क किया है, कि अब तो तू जबरदस्ती जुलम करता है और उसे 'हलालु' बताता है, लेकिन जब—'दफतर लेखा माँगिऐ तब्र होइगो कउन हवालु।'[१०] यम के यहाँ तो लेखा देना ही होगा। वह तो मुरगी कुरबान करके हज्ज करने चल पड़ा। लेकिन यह नहीं विचारा, कि इस हज्ज का प्रभाव 'कउ तक ढाओ'—कब तक रहेगा।[११] इसीलिए कबीर ने शेख को समझाया, कि जब दिल ही साफ नहीं, तो 'किआ हज काबै जाइ।'[१२] क्योंकि वहाँ खुदा नहीं मिल सकता। कबीर ने कुरबानी करनेवाले काजी को समझाया कि हज करने के लिए जाते हुए मुझे तो रास्ते में ही 'आगे मिलिआ खुदाय' और वह—'साई मुझ सिउ लरि परिआ तुझे किन्हि फुरमाई गाइ।'[१३] साईं मुझसे यह कह कर लड़ पड़ा कि, तुझे गोबध की आज्ञा किसने दी है? इतना ही नही कबीर कई हज्ज पर गया लेकिन जब 'मुखहु न बोलै पीर।'[१४] तो कबीर पूछता है, कि आखिर मेरी खता (दोष) क्या है? काजी यदि अब भी अपना दोष न समझ सके, तो कबीर का क्या दोष; जो 'दखन देस हरि का वासा' न समझ कर केवल 'पछिमि अलह मुकामा' समझता है, उसे कबीर कहता है, कि—'दिल महि खोजि दिलै दिलि खोजहु एही ठउर मुकामा।'[१५] दिल में ही उसे अनुभव

१. ११५८ क० ४। २. १३४९ क० २। ३. १३४९ क० २।
४. १३५० क० ४। ६. १३४९ क० २। ५. ४८० क० १७।
७. १३५० क० ४। ८. ४८३ क० २९। ९. १३५० क० ४।
१०. १८७ श्लोक। ११. १४ श्लोक। १२. १८५ श्लोक।
१३. १९७ श्लोक। १४. १९८ श्लोक। १५. १३४९ क० २।

करो, वह केवल पश्चिम में—मक्का में ही नहीं, अपितु सारे संसार में है और उस सबसे निकट, दिल में है, केवल अनुभव करने की आवश्यकता है। उसे यह भी बताया कि 'साचु कतेब बखानै' कि वह न स्त्री है न पुरुष। वह तो सर्वत्र है, सब कुछ है लेकिन यह सब कुरान में पढ़ना तब तक बेकार है 'तउ दिल महि खबरि न होई।'[१] अत: उसे तो दिल में पहचानो। जब कबीर समझा कर थक गया लेकिन मुल्ला न समझा तो उसने घोषणा की—

मनु करि मका किबला करि देहि। बोलनहारु परम गुरु ऐही॥
कहु रे मुल्ला बांग निवाज। एक मसीति दसै दरवाज॥[२]

मन को मक्का बना कर देह को पश्चिम दिशा बनाओ। तब देह रूपी मस्जिद के दशों द्वारों से बांग देकर नमाज पढ़ो। क्योंकि 'हिन्दु तुरक का साहिबु एक' तो दिल में ही है। इसमें मुल्ला और शेख क्या कर सकते हैं?[३]

इस प्रकार कबीर ने जहाँ नमाज करवानेवाले मुल्ला को बांग, वजू, नमाज तथा मस्जिद की सच्चाई से परिचित करवाया,[४] वहाँ धार्मिक मौलवी को कुरान की आयतों पर विचार करने को प्रेरित किया।[५] इतना ही नहीं, धर्माधिकारी शेख को तसबीह और इबादत का महत्त्व समझाते हुए हज्ज के सच्चे रूप से उसका परिचय करवाया।[६] रमजान अथवा रोजे के बाद कुरबानी से पेट भरनेवाले मुर्गीमार न्यायाधिकारी काजी को उसके न्याय का सबक सिखाया।[७] तथा अत में हज्ज से लौटते निराश हाजी को सच्ची हज्ज की राह दिखाई।[८] इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान का भेद-भाव मिटाते हुए दोनों के आडम्बरों से उन्हें परिचित करवाया।

सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने छूत-छात का विरोध किया था। लकडी धोकर जलानेवाले ब्राह्मण को उन्होंने 'सारे माणसखावहि' देखा था।[९] अब भी वह अपने आपको पवित्र समझता था और हरिजनों के स्पर्श तो क्या? छाया से भी बच कर चलना अपना धर्म समझता था। नही तो, पतित-पावनी में एक बार और स्नान करना पड़ता था। कौन जानता है, कि इस स्नान से पाप घटते थे या बढ़ते थे? मन पवित्र होता था या और अधिक कलुषित। कबीर ने सूतक के जाल में जनता को फँसानेवाले लोगों को बताया था, कि—

जलि है सूतकु थल है सूतकु सूतक ओपति होई।

इस प्रकार सर्वत्र सूतक का प्रभाव दिखाते हुए कहा है—

उठत बैठत सूतकु लागे सुतकू परै रसोई।[१०] इस प्रकार भोले-भाले समाज को—'फासन की विधि सभु कोऊ जानै छूटन की इकु कोई।'[११] फँसाने का साधन तो सभी

१. ४८३ क० २६।
२. ११५८ क० ४।
३. ११५८ क० ४।
४. १३५० क० ४।
५. ४८३ क० २६।
६. १८५ श्लोक।
७. ४८० क० १७।
८. १४ श्लोक।
९. ४७५ क० २।
१०. ३३१ क० ४१।
११. ३३१ क० ४१।

जानते है। बचाने के लिए बिरला ही कबीर आया है, जिसने बताया, कि रामु रिदै बिचारै' यही एक-मात्र बच निकलने का साधन है। समाज में जूठ का शोर मचानेवालों को भी कबीर ने लताडा था। उसने कहा था, 'गोबरू जूठा चउका जूठा' तथा 'जिह्बा बोलत जूठा' और 'अगनि भी जूठी पानी जूठा' इन सबसे बढ़ कर—

माता जूठी पिता भी जूठा जूठे ही फल लागे।[1]

संसार में सब आए भी जूठे है, और जाना भी जूठे ही है। तो स्वच्छता क्या है ?—

कहि कबीर तेई नर सूचे साची परी बिचारा।

जिन्होंने संसार-मात्र के जूठे होने की सच्चाई को जान लिया है, वे ही मनुष्य सत्य है, अन्य कोई नहीं। इस प्रकार छूत-छात का आधार जो था, कबीर ने बड़ी मजबूती से पकड़ कर हिला दिया। उसने हिन्दू और मुसलमान दोनो को मनुष्य-जाति के प्राणी घोषित किया। आज पाँच, छह सौ वर्ष बाद महात्मा गांधी ने भी यही प्रयत्न किया है। गांधी संत ही नही, राजनैतिक व्यक्ति थे, अत. उनका सम्बन्ध राजनीति से भी था। लेकिन कबीर की निश्चल आत्मा केवल मानव-नीति ही जानती थी, अतः उसने दोनों के जीवन-यापन के आधार-भूत सिद्धान्तों में ऐक्य लाने का प्रयत्न किया था। उसने दो धर्म, दर्शन एवं संस्कृतियों के माध्यम से एक नवीन जीवित वस्तु उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। उसने उद्घोषित किया था—'हिन्दू तुरक का साहिब एकु'[2] लेकिन धर्म के आडम्बर में लिपटे हुए ब्राह्मण और मुल्ला का साहिब एक कैसे हो सकता था ? तो कबीर ने पूछा, कि—'हिन्दू तुरक कहा ते आए किनि एह राह चलाई।'[3] दोनों के पास कोइ उत्तर न था। फिर भी दोनों ही अपनी हठ छोड़ने को तैयार न थे। कबीर की सच्ची आत्मा को उनके मौन का प्रश्रय मिला, वह प्रचण्ड हो उठी, लेकिन एक बार फिर उन्होने दोनों को समझाया—

गरम वास महि कुलु नही जाती, ब्रहम बिंदु ते सभी उतपाती।[4]

अपने तर्क और ज्ञान के घमण्ड मे वे अपढ़ कबीर को नितांत गँवार समझे बैठे थे। अभी उन्होंने उसकी दिव्य आत्मा की ज्योति की लौ न देखी थी। तब कबीर से न रहा गया और उसने मुल्ला को फटकारते हुए चेताया, 'तू बलपूर्वक क्यों सुन्नत करता है, यदि खुदा मुझे तुरक बनाएगा, तो वह यह कार्य भी स्वतः ही करेगा।'[5] मुल्ला की झुकी हुई गर्दन देख कबीर ने चुटकी ली—'सुंनति कीए तुरकु जे होइगा अउरत का किआ करीऐ, अरध सरीरी नारी न छोडै तातै हिंदू ही रहीऐ।'[6] मुल्ला तो बेचारा आधा हिन्दू बन गया और ब्राह्मण इतने में 'ज्ञान लव दुर्विदग्ध' बन चुका था। कबीर ने झाड़ते हुए उसे भी ललकारा—'तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद।' वह मौन था। कबीर ने अमोघ प्रहार किया—

१. ११६५ क० ७। २, ११५८ क० ४।
३. ४७७ क० ८। ४. ३२४ क० ७।
५. ४७७ क० ८। ६. ४७७ क० ८।

जौ तू ब्राहमणु ब्रहमणी जाईआ । तउ आन बाट काहै नहीं आइआ ॥[1]

कबीर का तर्क, ज्ञान का तर्क न था । वह प्रातिभ सत्य था । दोनों के पास इसका कोई उत्तर न था । अतः दोनो को ही कबीर ने समझाया, कि 'मंत हरि पूछै कउनु है मेरे जाति न नाउ ।'[2] भगवान ने भक्त की जाति तो क्या ? नाम तक भी कभी नहीं पूछा । इसीलिए तो वह कहता है, कि—

हमरा झगरा रहा न कोऊ । पंडित मुला छाड़े दोऊ ॥[3]

इस प्रकार सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए छूत-छात, जात-पाँत तथा कर्म-व्यवसाय के सभी भेदों को दूर कर भगवान के दरबार में प्रत्येक मानव की एक ही जाति, मानव—जाति का संदेश दिया । एक ही धर्म—मानव-धर्म का प्रसार किया । एक ही ब्रह्म—एक-मात्र पूर्ण सत्य ब्रह्म का बोध कराया । एक ही मार्ग—अनवरत अनन्य तल्लीनता का मार्ग सुझाया । कौन जानता है, कि गुरू नानक ने कितने तत्त्व यही से संगृहीत किए थे ? कौन जानता है, अकबर का 'दीनइलाही' इसी का प्रतिबिंब-मात्र था ? सम्भवतः वह प्रतिबिंब भी ठीक न उतर सका । कौन जानता है, रवीन्द्र के अथाह रहस्यवाद की थाह, अबोध कबीर के शब्दों में छिपी हुई है ? कौन जानता है, गांधी की हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना का आदि स्रोत कबीर के ही कुछ पद हैं ? और कौन जानता है, अरविन्द के आनंदमय निष्काम कर्मण्य-जीवन के मूल आध्यात्मिक, तंतु जुलाहे के सूत से ही एकत्र किए गए है । इसीलिए कबीर कबीर थे, कबीर हैं और सदा कबीर ही रहेंगे ।

---

१. ३२४ क० ७ । २. ६० श्लोक ।
३. ११५८ क० ७ ।

पंचम अध्याय

रामानन्द एवं उनकी शिष्य परम्परा के धार्मिक विश्वास

रामानन्द एवं उनकी शिष्य परम्परा में संत शिरोमणि कबीर ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। सम्भवतः इसीलिए उनका 'ग्रंथ' में भी विशिष्ट स्थान है। उनके व्यक्तित्व के माध्यम से उनकी वाणी (आकार एवं महत्त्व की दृष्टि से) सबके मध्य होकर भी सबसे अलग प्रतीत होती है। यही कारण है, कि उन्होंने यहाँ भी सबसे पहले ही अपना व्यक्तित्व, वाणी एवं विचारधारा अंकित करवा ली। इस प्रकार कबीर के गौरवान्वित होने में लेखक अपनी दुर्बलता को भी दुर्बलता नहीं समझता। इसीलिए गुरू रामानन्द और उनके अन्य शिष्यों को इस अध्याय में स्थान मिला है।

रामानन्द : व्यक्तित्व

उत्तरी भारत में योग की कष्टमयी देह-साधनाओं के मध्य भक्ति के स्नेह की लौ प्रज्वलित करनेवाले अद्वितीय व्यक्तित्व लेकर रामानन्द ही अवतरित हुए थे। दक्षिण से उत्तर मे भक्ति लाने का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है।[1] भक्ति को उच्च वर्ग के समाज की ही पैतृक सम्पत्ति समझने की प्रथा का अन्त इन्होंने ही किया था। धार्मिक क्षेत्र में सस्कृत के 'कूप-जल' को भाषा के 'बहते नीर' में बहाने का गौरव भी इन्ही को प्राप्त है।[2] इस प्रकार सदियों से चली आनेवाली जातिबन्धन की लड़ियों को तोड़[3] जुलाहा कबीर, चमार रैदास, नाई सेन, जाट धन्ना तथा अन्य निम्न वर्ग के संतों को शिष्य परम्परा[4] में स्थान देकर गुरू से नर्क जाने का शाप लेने का दुस्साहस इसी महान् विभूति में था।[5] जो हो, यह प्रसिद्ध है, कि उन्होंने

१. उ० प० : परशुराम चतुर्वेदी पृ० २२२।
२. हि० आ० इ० : डा० रामकुमार वर्मा पृ० २२०।
३. एन् आ० रि० लि० : फर्कुहर, जे० एन० पृ० ३२५।
४. सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० १०१।
५. हि० सा० दा० पृ० : विश्वम्भर उपाध्याय, पृ० ११८।

बारह वर्ष तक योगसाधना की थी।[1] भक्तमाल के आधार पर रामानन्द की जन्म-तिथि बहुमत से सं० १३५६ स्वीकार की जाती है[2] और मृत्यु स० १४६७।[3] एक विद्वान् ने मृत्यु तिथि सं० १४९१-९२ तक मानी है,[4] क्योकि स० १४५५ में जन्म लेनेवाला कबीर तथा सं० १४८२ मे जन्म लेनेवाला पीपा किस प्रकार उनके शिष्य माने जा सकते है। सम्भवतः इसीलिए फर्कुहर ने तो उनका समय लगभग सं० १४५७ से १५२७ माना है।[5]

जो हो, इन सब तथ्यों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि राघवानन्द की शिष्य परम्परा[6] में होते हुए भी कुछ विचार भेद हो जाने के कारण उन्होंने न केवल 'रामावत' अथवा 'रामानन्दी सम्प्रदाय' की स्थापना ही की,[7] अपितु निम्न वर्ग की शिष्य-परम्परा के माध्यम से भक्ति के अवरुद्ध द्वार को जन-सामान्य के लिए भी खोल दिया। उनके पहले जीवन की अधिक रचनाएँ प्रायः संस्कृत में ही प्राप्त हैं, लेकिन इधर उनकी छह हिन्दी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं।[8] इसमे भी भूल से उनके तीन पदों को दो बताया गया है[9], तथा जिन हस्तलिखित प्रतियों को आधार बताया है, उनका विवरण भी अधूरा ही है, जिससे पाठक के लिए वे खोज का ही विषय बनी हुई हैं।[10] जो हो, इस सबसे यह निश्चित है, कि उन्होंने धर्म को जन-सामान्य की सम्पत्ति समझ कर, जन-सामान्य की भाषा को अवश्य अपनाना आरम्भ कर दिया था। उनके व्यक्तित्व को अधिक उभारने का श्रेय उनके शिष्यो मे से भी विशेषतः कबीर और रैदास को प्राप्त है।

साहित्यिक परिचय

'योग-चिन्तामणि', 'रामरक्षास्तोत्र' आदि रामानन्द के प्रामाणिक ग्रंथ नहीं माने जा सकते।[11] तो भी उनमें योग आदि का महत्त्व बताते हुए पुराने गुरू और उपास्य के स्थान पर नए गुरू एवं उपास्य का नाम जोड़ने का प्रमाण मिलता है।[12]

---

१. हिन्दी साहित्य : आचार्य ह० प्र० द्वि० पृ० ११५।
२. वै० शै० : भण्डारकर, आर० जी० पृ० ६६।
३. सत काव्य : प० च० पृ० १५४।
४. रामानन्द की हिन्दी रचनाएं : प्रधान सम्पादक आचार्य ह० प्र० द्वि०, जीवन चरित लेखक : डा० श्री कृष्णलाल पृ० ४०।
५. एन् आ० रि० लि० : फर्कुहर पृ० ३२३।
६. हि० सं० : डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल पृ० ३७।
७. उ० प० : प० च० पृ० २२२।
८. रामानन्द की हिन्दी रचनाएं : आचार्य ह० प्र० द्वि०।
९. वही, परिशिष्ट २. पृ० २६।
१०. वही, पृ० १ फुटनोट।
११. हिन्दी साहित्य : आचार्य ह० प्र० द्वि० पृ० ११५।
१२. हिन्दी साहित्य : आचार्य ह० प्र० द्वि० पृ० ११५।

हिन्दी में मिलनेवाले बसन्त राग के एक पद में 'सहज सुनि' में ब्रह्मानुभूति के कारण सदा रहनेवाले बसन्त का वर्णन किया है तथा राग सोरठि के दूसरे पद में संसार को असत्य बता कर नाम को आधार माना है। तथा संसार-लिप्त को 'गुड़ माँहि रह्यो उरझाई' गुड़ खानेवाला 'गुड़ का चीटा' बताया है। इस प्रकार गुरू-कृपा से 'मैं मेरी' का ज्ञान नष्ट करके भव-पार पहुँचने को ही वास्तविक सुख माना है।[1]

"ग्रंथ" में उनका एक ही पद प्राप्त है, जिसमें सर्वव्यापक ब्रह्म की महत्ता को स्वीकार करते हुए, कर्म फल नाश करनेवाले गुरू के शब्द को अपनाते हुए गुरू को धन्य बताया है। इतना ही नही, 'कत जाईऐ रे घर लागो रंगु' कह कर बाह्य पूजा का विरोध करके अन्तर में ही ब्रह्मानुभूति का सदेश दिया है। स्पष्ट ही रामानन्द का यह स्वर शिष्य-परम्परा में होनेवाले निर्गुण संतों की प्रधान विचारधारा को 'गागर में सागर' वत् संजोए हुए है। संक्षेपत: ब्रह्म निर्गुण-निराकार एवं सर्व-व्याप्त है। वह हृदय में अनुभवगम्य है। बाह्य पूजा व्यर्थ है। वह वेदों, पुराणों के द्वारा भी ज्ञेय या प्राप्य नहीं। केवल सत्गुरू के उस 'शब्द' से वह अनुभवगम्य है, जिसने संसार के सब भ्रमों का नाश कर दिया है, तथा ब्रह्म में ही लीन करवा दिया है, अत: वह धन्य है।[2]

स्पष्ट, सरल तथा सरस ब्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। कहीं भी शब्दों का रूप विकृत नहीं, अपितु उनके माधुर्य भाव को सुबोध बना कर अनायास ही ग्राह्य बना देता है। इस प्रकार अनुभूति (आध्यात्मिक विचारों) के साथ-साथ वे उनकी अभिव्यक्ति (भाषा-शैली) के भी गुरू ही थे और सत मत में गुरू का पद कितना ऊँचा है, यह किसी से छिपा नहीं। इसी से उनका महत्त्व स्वत: ही स्पष्ट है।

रविदास : व्यक्तित्व

मध्ययुग में भारतीय क्षितिज पर उच्च कुलोत्पन्न राजाओं का अभाव था, क्योंकि उनके काम निम्न हो चुके थे। ऐसे ही समय भारतीय समाज के नियंता नीच कुलोत्पन्न संत हुए थे, क्योंकि उनके महान् कार्य उन्हें महान् बनाने के साथ-साथ समाज को भी ऊपर उठाने का भार संभाले हुए थे।

छीपी नामदेव, जुलाहा कबीर, जाट धन्ना, नाई सेन, कसाई सधना, धुन्यिा दादू, मोदी नानक तथा इन सबसे बढ कर चमार रैदास ऐसे ही संत थे, जिन्होंने समाज की नैतिक बागडोर को अपने हाथों में थाम कर उसे राजनैतिक परतन्त्रता मे भी पारिवारिक, सामाजिक एव धार्मिक स्वतन्त्रता का वह क्रियात्मक संदेश दिया, जो उनकी धमनियों में प्रवाहित रक्त के साथ-साथ उनका जीवन ही बन गया। और संत शिरोमणि कबीर ने 'संतनि मे रविदास संत है'[3] कह कर रविदास का महत्त्व जन-समाज को जतलाया है। जूते गाँठ कर निष्काम कर्मण्य-जीवन व्यतीत करनेवाले

---

१. ना० प्र० सभा : ह० लि० प्रति सं० २४२१|४।०६ से २४४४|१४०६ पृ० २२६।

२. ११६५ रामानन्द १।

३. उ० प० : प० च० पृ० २४४।

इस चमार ने अपने आपको 'विखियात चमार' कहने में ही गौरव अनुभव किया है।[1] तब भी अनन्य भक्तिन मीराँ ने इसी को गुरू बना अपने आप को धन्य समझा।[2] बनारस के आस-पास इसी ढोर चरानेवाले को वहाँ के 'विप्र परधान' ने दण्डवत् प्रणाम किया था।[3] यदि जनश्रुतियों का ऐतिहासिक न सही, कुछ भी साहित्यिक मूल्य है, तो इसका घर से निकाला जाना, भगवान का छप्पर मे पारस मणि खोंस जाना तथा वर्ष भर बाद उसी प्रकार सुरक्षित पाना, पाँच सोने की मोहरों का मिलना, आरती होना, गगा का हाथ निकाल कर भेंट स्वीकार करना, ब्राह्मणों का पराजित होना, झाली रानी का दीक्षा लेना, मूर्ति बुलाने का चमत्कार दिखाना, शरीर में चर्म के नीचे से यज्ञोपवीत दिखाना, जूता भिगोनेवाले कठौते में गंगा जी का आना तथा भोज पर बैठ कर प्रत्येक ब्राह्मण के साथ पहुँच जाना, इन सभी तथाकथित घटनाओं में कही न कही, कुछ न कुछ उनकी दैवी प्रतिभा अवश्य ही किसी रूप में प्रस्फुटित हुई होगी। इन अलौकिक चमत्कारों में आज के बौद्धिक प्राणी का विश्वास तो होना ही नहीं चाहिए, पर इनमे अन्तर्हित भावना के प्रति भी यदि आज का वैज्ञानिक यन्त्र-चालित मानव उपेक्षा की दृष्टि दिखाए, तो मानव-धर्म का पुजारी मानव नहीं बन सकता। यदि गंगा के भेंट स्वीकार करने की भावना में भक्त के पवित्र मन और अनन्य भक्ति का संदेश निहित है, तो ब्रह्म-भोज में पहुँचने से नानव-मात्र को समता के स्तर पर लाने की भावना है। मीराँ तथा झाली रानी के गुरू को काशी के 'विप्र परधान' का दण्डवत् प्रणाम—मानव की महानता उसके गुण एवं कार्यों में निहित है, इस विचार का प्रचारक है। जो हो, रविदास के व्यक्तित्त्व की महानता इसी से स्पष्ट है, कि तत्कालीन संत शिरोमणि कबीर नें उसे 'संतनि में रविदास संत है' कहा था और आधुनिक युग के संत गांधी तो स्वतः हरिजन बने और हरिजन कॉलोनी में ही रहे। कौन जानता है कि एक ही आत्मा कितनी देह धारण करती है और गांधी के इस चोगे में किस मध्यकालीन संत की आत्मा विचर रही थी।

ऐतिहासिक परिचय

बनारस के पास 'मडुआ-डीह' में[4] चमार माँ-बाप घुरबनिया तथा रघू के घर[5] रविदास ने १५ वीं शताब्दी के मध्यभाग में जन्म लिया। ये रामानंद के शिष्य तथा कबीर के समकालीन माने जाते हैं। सेन का 'कबीर अरु रैदास संवाद' इसका प्रमाण है, जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है। यद्यपि इनके जन्म और मृत्यु के सं०

---

१. १२६३ रवि, १।
२. मीराबाई की पदावली ; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
३. १२६३ रवि, १।
४. संत रविदास और उनका काव्य : रामानन्द शास्त्री पृ० ७१।
५. रैदास की बानी : बेलवेडियर प्रेस. जीवन चरित्र।

ठीक से निर्धारित नहीं किए जा सके,[१] तो भी इन्हें कबीर का समकालीन मानने में दो मत नहीं। बनारस के पास ढोर चराने के कार्य का विवरण इनकी अपनी ही वाणी मे मिलता है। गुरू अर्जुन ने भी 'रविदासु ढुवंता ढोर' कह कर इस तथ्य की पुष्टि की है।[२] सम्भवतः जीवन के कुछ भाग जूते भी गाँठते रहे होंगे, जैसा कि अन्यान्य कथाओं में प्रसिद्ध है।[३] अनन्य भक्तिन मीराँ ने तो उनका शिष्यत्व स्वीकार किया ही है; झाली रानी ने भी उनको गुरू बनाया था, यह भी प्रसिद्ध है।[४] सेन ने भी रैदास जी को अपना गुरू स्वीकार किया है।[५] इनकी पत्नी का नाम लोणा (लोना) बताया जाता है।[६] भविष्य पुराण में इनका वर्णन मिलता है।[७] उसी में विजयदास को इनका पुत्र भी बताया गया है। एक विद्वान् ने रैदास का मृत्यु-स्थान चित्तौड़गढ़ बताया है।[८] दूसरा विश्वास है, कि उनकी मृत्यु चितौड़ में न होकर पंजाब अथवा दक्षिण की किसी यात्रा में ही हो गई, जिसका परिचय प्राप्त नहीं हो सका।[९] महान् विभूतियों का तिरोहण प्रायः अज्ञात रूप से ही होता है।

साहित्यिक रविदास

रविदास की कृतियाँ यत्र-तत्र हस्तलिखित प्रतियों में बिखरी पड़ी है, जिन्हें नियमित रूप से प्रकाशित करने का कार्य नहीं हो सका। 'रैदास की बानी' में ८६ पद तथा ६ साखियाँ प्राप्त है।[१०] 'ग्रंथ' मे उनके ४० पद प्राप्त है जिनमें से 'सुखसागर सुरितरु ······· जन्म मरण भै भागी।' पद की पुनरावृत्ति हो गई है।[११] इनके पद, कुछ साखियाँ तथा प्रह्लाद लीला भी प्राप्त है। रविदास की प्राप्त सभी बाणी को अभी प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया है।[१२] इसमें भी ९७ पद ६ साखियाँ

---

१. संत रविदास और उनका काव्य : पृ० ८४ (लगभग सं० १४५४-१५९५ से पहले)।
   (अ) संत रैदास : भागवत मिश्र (अप्रकाशित प्रबन्ध) लखनऊ विश्वविद्यालय पृ० ९८ सामान्य मान्यता (सं० १४७१-१५९७)।
   (ब) वहीं, अपना मत पृ० ११७ मृत्यु सं० १५९७ ठीक ही प्रतीत होता है।
   (स) रामचरण कुरील कृत सत्यकथा, 'विशेष कथन' (जन्म माघ पूर्णिमा सं० १४७१, मृत्यु सं० १५९७, आयु १२६ वर्ष १ मास १४ दिन)।
   (द) मीरा स्मृति ग्रंथ : प्रो० तारकनाथ मृत्यु सं० १५७६।
२. ग्रंथ ४८७ म० ५, २। ३. उ० प० : प० च० पृ० २३८।
४. वही, पृ० २४०। ५. दी चमार्स : ब्रिग्स, जी० डब्ल्यू पृ० २०८।
६. संत रैदास : भागवत मिश्र (अप्रकाशित प्रबन्ध) पृ० १।
७ देखें अध्याय १७; श्लोक ५३-५६।
८. संत रैदास : भागवत मिश्र (अप्रकाशित प्रबन्ध) पृ० १४८।
९. संत रविदास और उनका काव्य पृ० ८७।
१०. बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित 'रैदास की बानी'।
११. देखें 'ग्रन्थ' पृ० ६५८ रवि० ४, तथा ११०६ रवि २।
१२. संत रविदास और उनका काव्य पृ० ९२। सभी 'प्रतिलिपियों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा शुद्ध एवं मौलिक रूप में संत रविदास का समस्त उपलब्ध साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य किया गया है।

तथा प्रह्लाद लीला संगृहीत है। एक अन्य लेख जिसका इसमें उल्लेख नहीं, उसमें हमारे देखने में कुल ७४ पद मिले है।[१] जिसमें एक अन्य शोध विद्यार्थी केवल ७१ पद तथा ४ साखियाँ ही ढूंढ पाए थे।[२] जो हो, संत रविदास की सम्पूर्ण वाणी का अध्ययन करने पर उन्हें उत्कृष्ट संत कवि माना जा सकता है। 'कबीर अरु रैदास' संवाद से ज्ञात होता है, कि संवाद से पहले ये सगुण-साकार के पुजारी थे, लेकिन उसके बाद पूर्णतया निर्गुण के उपासक बन गए।[३] अतः इनके सगुण-भक्ति के पदों को इनके पहले जीवन से सम्बन्धित माना जा सकता है, तथा बाद के पद (जो प्रायः 'ग्रंथ' में संगृहीत है) इनके परवर्त्ती जीवन के पद कहे जा सकते हैं। 'ग्रंथ' के केवल १८ पद 'रैदास की बानी' के संगृहीत ८७ पदों में मिलते है। रज्जब की 'सर्वांगी' में प्राप्त पदों का 'ग्रंथ' के पदों से मिलान करने पर रविदास का एक पद पीपा के नाम पर मिलता है।[४]

रविदास की विचारधारा का विश्लेषणात्मक अध्ययन अलग से प्रस्तुत किया जा रहा है। उनके काव्य का आंतरिक सौन्दर्य जहाँ उनके उदात्त भावों में निहित है, वहाँ सरल, सरस एवं मधुर अभिव्यक्ति भी काव्य-रसिक को प्रभावित किए बिना नहीं रहती।

इन सभी संतों में से रैदास की भाषा सबसे अधिक आधुनिक खड़ी-बोली के निकट है। 'इउ गुर परसादि नरक नही जाता' तथा 'माटी को पुतरा कैसे नचतु है।'[५] इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

कहीं-कही फारसी की शब्दावली का भी प्रयोग मिलता है। विशेषतः जहाँ 'बेगम पुरा सहर को नाउ' हो गया, वहाँ 'तसवीस खिराजु', 'खउफु न खता', 'आबादानु' और न जाने इसी प्रकार के कितने शब्द अपने आप ही पहुँच जाते है।[६]

राग मलार में उन्हें अनुस्वार से कुछ ऐसा मोह हुआ, कि प्रत्येक पद ही अनुस्वारांत बनता गया—चमारं, सारं, पानं आनं, बीचारं और नमसकारं।[७]

इस प्रकार अन्य सतों की ही भाँति रविदास की भाषा में भी विविधता पाई जाती है। इसका कारण यही है, कि उन्होंने भी समय, स्थान और परिस्थिति के अनुकूल अपनी अभिव्यक्ति में थोड़ा-बहुत परिवर्तन लाना उचित समझा।

'हरि सौ हीरा छाडि कै' वाला पद यद्यपि 'ग्रंथ' के बाहर रविदास के नाम पर ही मिलता है, लेकिन 'ग्रंथ' में वह कबीर के श्लोकों में अंकित है तथा शब्दा-

---

१. हस्तलेख संख्या २४२१।१४०१ (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० १९७-२१० (संख्या में ७१ पद व ४ साखियों में लिखा है, लेकिन पदों की वास्तविक गिनती ७० ही है। अतः कुल संख्या ७४ है)।

२ संत रैदास : भागवत मिश्र (अप्रकाशित प्रबन्ध) पृ० १६३।

३. वही, पृ० २।

४. हि० सं० : पी० बड़थ्वाल पृ० ४३।

५. 'ग्रन्थ' ४७८ रवि ५ ; ६।

६. ग्रंथ ३४५ रवि २।

७. १२९३ रवि १।

वली मे भी कुछ परिवर्तन मिलता है, सम्भवत. इस 'दोजक' आदि शब्दों का रूप बदल कर रविदास की ही विचारधारा से परिचित करवाने के लिए कबीर ने कही उसका उच्चारण किया होगा और वही से यह 'ग्रथ' में सगृहीत किया गया हो। अतः नामदेव और त्रिलोचन की वार्तावाले श्लोको[1] की तरह इसे[2] भी यहाँ कबीर द्वारा ही उच्चरित माना जाता है। कबीर तथा रविदास दोनों मे 'फल कारन फलै बनराय' वाला पद थोड़े-बहुत शब्द-भेद साथ मिलता है। इतना ही नही, गुरू नानक तो इनकी आरती से इतना प्रभावित हुए, कि उसी शैली में उसी राग मे आरती लिखते हुए उन्होंने इनके कई शब्द अपनाने में भी हिचकिचाहट नही की।[3]

जो हो, रविदास का महत्त्व तो इतने-मात्र से ही स्पष्ट है, कि समाज तो क्या, निम्नवर्गीय संतों में भी निकृष्टतम कुल में जन्म पाकर संतशिरोमणि कबीर के हाथों उन्होंने 'संतनि मे संत' की उपाधि पाई है।

रविदास की विचारधारा

अन्य संतों की भाँति रविदास भी दार्शनिक न होकर, अध्यात्मपथ के पथिक संत ही थे। वस्तुतः उनके 'संत-व्यक्तित्व में से भी', साधक रविदास का रूप ही अधिक उभर कर सामने आता है। कबीर शीघ्र ही अपने साध्य तक पहुँच गए थे। ऐसी अवस्था में वे भक्तों को ही नही अपितु जन-सामान्य को भी अपने पथ पर खींच रहे थे। रविदास जीवन के अत तक पथिक ही बने रहे, उनके पदों की ध्वनि स्पष्ट ही उनके 'पथिक-जीवन' का भान करा देती है। ऐसी अवस्था में उनकी अनुभूतियों से प्रासाद का निर्माण करना और भी कठिन है। कबीर की अनुभूति की अभिव्यक्ति में अनायास ही विचार स्पष्ट होते चलते हैं, अतः वहाँ विचारों की प्राप्ति उतना कठिन नहीं, जितना उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन एवं तत्पश्चात् उन्हें किसी निश्चित विचारधारा का रूप देना। लेकिन रविदास की अनुभूतियों की छान-बीन में स्वतः ही विचारों को ढूँढना पड़ता है। इसीलिए कबीर में दार्शनिक विचारों की खींचा-तानी की भाँति ही किसी को 'रैदास में सगुण निराकार ब्रह्म के दर्शन होते हैं'[4] इतना ही नहीं साथ ही 'रैदास त्रिदेवों में भी विश्वास करते दिखलाई देते हैं;[5] तो भी पूजा-भावना के विरुद्ध बोलते दिखाई पड़ते हैं।'[6] एक अन्य विद्वान् का मत है कि 'उन्होंने सगुण और निर्गुण दोनों ही उपासना-पद्धतियों का समन्वय करके अपनी मौलिक उपासना-पद्धति निर्धारित की थी। दूसरे शब्दों में वे सगुण के माध्यम से निर्गुण तक पहुँचाने के समर्थक थे।[7] 'जे ओहु दुआदस सिला पूजावै' तो रविदास को 'पापी नरक

१. 'ग्रंथ' १३७५ श्लोक सं०२१२, २१३। २. ग्रंथ पृ० १३७७, श्लोक सं० २४२।

३. विस्तृत विवरण के लिए देखें अध्याय द्वितीय 'संतों की वाणी किसने संगृहीत की?

४, ५. निर्गुण काव्य दर्शन, सिद्धनाथ तिवारी पृ० २५४।

६. निर्गुण काव्य दर्शन, सिद्धनाथ तिवारी पृ० ३७।

७. संत रविदास और उनका काव्य : रामानन्द शास्त्री, वीरेन्द्र पाण्डेय पृ० २१७।

सिधारिश्रा[1] कहने की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई ? इसका विस्तृत समाधान यथास्थान होगा । एक अन्य विज्ञ लेखक का विश्वास है, कि वे 'स्वयं बहुत ऊँचे ज्ञानी भक्त थे, जिसे मूर्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती, परन्तु दूसरों के लिए वे मूर्ति की आवश्यकता समझते है ।[2] इतना ही नहीं, बिना किसी उद्धरण के (सम्भवतः किसी किवदन्ती के आधार पर) यह भी लिखा है, कि 'कहा जाता है कि उन्होंने एक मन्दिर भी बनवाया था, जिसमें वे स्वयं पुजारी रहे थे ।'[3] लेकिन रविदास ने एक स्थान पर स्पष्ट ही लिखा है 'कहीअत आन अचरीअत अन कछु समझ न परै ।'[4] अन्तःसाक्ष्य का विशेष महत्त्व स्वीकार करना ही चाहिए । इन संतों की एक ही तो मूल विशेषता थी 'कथनी और करनी' मे एकता । यदि उनकी इस विशेषता का भी परिहार कर दिया जाए, तो आज के पोंगा उपदेशकों से अधिक उनका क्या मूल्य रह जाता है ? इस विषय मे सेन द्वारा लिखित 'कबीर-रैदास सवाद'[5] (रचनाकाल संवत् १४४५ लगभग) विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है, जिससे स्पष्ट ही प्रतीत होता है, कि संवाद से पूर्व रविदास सगुण के पुजारी थे और उसके बाद निर्गुण के उपासक ।

जो हो, इस सब से बढ़ कर ध्यान देने योग्य बात यह है, कि उन्होंने स्रष्टा तथा सृष्टि आदि के विषय में उतना कहा ही नही, जितना 'जाति त्रिखिश्रात चमार'[6] के विषय में । क्योंकि वह और उससे भी बढ़ कर उसकी जाति ही प्रसिद्ध है, अतः उसी विषय में उन्होंने अधिक कहना उपयुक्त समझा । सम्भवतः इसीलिए इस बात को वे कभी नहीं भूले कि—

'जाती ओछा पाती ओछा ओछा जनमु हमारा'[7] और ब्रह्म के अनंत गुणों व रूपों में से 'पतितपावन'[8] से प्रारम्भ कर 'भक्त-उद्धारक'[9] तक ही पहुँच सके । इस 'पतित-पावन' तथा 'भक्त-उद्धारक' भगवान के रूप में ही उनके ब्रह्म का माहात्म्य छिपा हुआ है । उस माहात्म्य का कथन जीव तो क्यों ? 'जोगीसर पावहि नहीं तुअ गुण कथनु अपार'[10] जोगी भी कथन नही पाते, इसलिए भक्त रविदास ने साध्य के ज्ञान में उतना प्रयत्न करना उचित नहीं समझा, जितना कि उसे पाने के साधन में । अतः कहा— 'अकथ कथा बहु काइ करीजै'[11] क्योंकि हे भगवान ! 'पडीऐ गुनीऐ नामु सभु सुनीऐ अनभऊ भाऊ न दरसै'[12] तुम तो न केवल अकथ्य, अपितु पठन तथा श्रवण से परे अतीन्द्रिय भी हो । यही है उसके स्वरूप की एक झलक । उसकी स्थिति पर विचार करते हुए उसे न केवल घट-घट में निवासी कहा है, बल्कि 'तीनि लोक प्रवेस'[13] कह कर उसे सर्वव्यापक एवं सर्वान्तरयामी भी बताया गया है । रविदास को वेदों,

---

१. ८५७ रवि २ । २, ३. हि० स० : पी० ब० पृ०४१ ।
४. ६५८ रवि ३ । ५. अप्रकाशित : ना० प्र० सभा में सुरक्षित ।
६. १२९३ रवि, १ । ७. ४८६ रवि, ३ ।
८. ग्रंथ में रविदास का प्रथम पद ९३, १ ।
९. ग्रंथ में रविदास का अन्तिम पद १२९२, २ । १०. ३४६ रवि, १ ।
११. ८५८ रवि, १ । १२. ९७३ रवि, १ । १३. ११२४ रवि, १ ।

शास्त्रों आदि का भी कबीर जितना ज्ञान न था। उन्होंने 'नेति' गुणों का आश्रय न लेकर ब्रह्म को जिस रूप में अनुभव किया, उन्हीं गुणों के द्वारा वर्णन किया है। अनुभूति में क्या नहीं है ? इस बात का महत्त्व नही, अपितु वह क्या, कैसा व कहाँ है, इस बात का महत्त्व है। सर्वव्यापक वह 'जगत गुर सुआमी।'[१] बाजीगरवत्[२] सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माता भी वही है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—

एक ही एक अनेक होई बिसथरिओ आन रे आन भरपूरि सोऊ।[३]

वह स्वतः ही सम्पूर्ण सृष्टि में प्रसरित हुआ। इसलिए वही 'सगल भवन के नाइका'[४] सम्पूर्ण जगत् का नियंता भी है। नियंता वही तो एक-मात्र सर्वदाता है, क्योकि सांसारिकों एवं देवताओं के भी सब कुछ देनेवाले 'सुरतर' और 'कामधेनु' उसी की देन हैं—

सुखसागरु सुरतर चितामनि कामुधेनु बसि जाके।

चारि पदारथ असट दसा सिधि नवनिधि करतल जाके।[५]

इस प्रकार वह न केवल 'भवखण्डन'[६] अपितु 'पूरनकाम'[७] भी है। 'मुकति का दाता' वह 'गरीब निवाजु'[८] ही नही, 'मेटि जाति हुए दरबारु'[९] अपना दरबारी बना कर धीरे-धीरे 'माथै छत्र धरै।'[१०] वस्तुतः ससार में अन्य कोई, केवल 'एकु मुकंद करै उपकारु'[११] हैं। एक-मात्र भवतारक या भक्त-उद्धारक उसे ही कहा जा सकता है। क्योंकि वही तो 'नीचहु ऊच करै'[१२] उसी की कृपा का ही तो परिणाम है, कि 'नामदेव कबीरु तिलोचन सधना सैनु तरै।'[१३] ये तो भक्त थे, यहाँ तो 'अजामलु पिगुला' जैसे 'दुर-मति निसतरै' इसलिए तू किउ न तरहि रविदास।'[१४] इसीलिए तो 'जाति आछोप छीपा', 'जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे वधु करहि' ऐसे कुल के 'परसीध कबीरा' तथा 'जाके कुटुंब के ढ़ेढ सभ ढोर ढोवत फिरहि अजुहु बनारसी आस पासा' ऐसे 'रविदास दासान दासा'[१५] सबको वह पार लगानेवाला है। इसीलिए एक-मात्र उसी की शरण में जाना चाहिए 'बिनु रघुनाथ सरनि का की लीजै'[१६] यही है, रैदास के सगुण-निराकार ब्रह्म की एक झलक। इस प्रकार रैदास जब उसे समझने-समझाने से थक गया, तो यह कहता हुआ अपनी हार स्वीकार कर शांत हो गया— 'जैसो तू तैसा तुही किआ उपमा दीजै।'[१७] इस प्रकार वह तो केवल अनुभूतिगम्य है।

सृष्टि

'एक ही एक अनेक होई बिसथरिओ आन रे आन भरपूरी सोई।'[१८]

सृष्टि कब, कहाँ, कैसे, किस क्रम में आविर्भूत हुई, इस विषय में रैदास ने विस्तार

---

१ ७१० रवि, १। २. ५८७ रवि, ६। ३. १२६३ रवि, २।
४. ३४६ रवि, ४। ५. ६५६ रवि, ४। ६. ८५८ रवि, १।
७. ८५८ रवि, १। ८. ११०६ रवि, १। ९. ८७५ रवि, १।
१० ११०६ रवि, १। ११. ८७५ रवि, १। १२. ११०६ रवि, १।
१३. ११०६ रवि, १। १४. ११२४ रवि, १। १५. १२९३ रवि, २।
१६. ७१० रवि, १। १७. ८५८ रवि, १। १८. १२९३ रवि, २।

से कुछ भी वर्णन न करते हुए उसे ब्रह्म का प्रसार या विस्तार माना है। तथा 'जो दीसै सों होई बिनासा'[१] दृश्यमान सभी कुछ नश्वर हैं, अतः 'जैसा रंगु कुसुंभ का तैसा इहु संसारु'[२] फूल के शीघ्र ही उड़ जानेवाले रंग के समान इस संसार को क्षणिक बताया है, इतना ही नहीं उसके विचार से तो संसार सत्य भी नहीं, उसकी तो केवल 'राज भुइअंग' (रज्जु-सर्प) के समान प्रतीति होती है।[३] सम्भवतः इसीलिए सांसारिक सम्पत्ति बेकार है, जो संसार ही असत्य एवं क्षणिक है, उसकी सम्पत्ति से ही क्या मोह ?

'ऊचें मंदर साल रसोई। एक घरि फुनि रहनु न होई।'[४]

जब क्षण-भर भी उसने रहना ही नहीं, तो 'नाम-बिना' 'ऊचें मंदर सुंदर नारी'[५] सभी कुछ व्यर्थ है' इसलिए शारीरिक कष्ट सहन कर इनको एकत्रित करना भी उचित नहीं, क्योंकि 'जोई जोई जोरिस्रो सोई सोई फाटिस्रो'[६] और संसार का यह व्यापार तो है ही झूठा 'झूठै बनजि उठि ही गई हाटिस्रो'[७] इसीलिए 'जत देखउ तत दुख की रासी'[८] यह संसार दुःखों का घर-मात्र ही है। अतः हे जीव ! 'चेतसि नाही दुनिया फनखाने'[९] इस नश्वर अस्थिर, असत्य एवं दुखराशि संसार को देख कर भी तू सतर्क नहीं होता। जीवनगत सत्य को पहिचान और 'नाम-स्मरण' कर इस लौकिक जीवन को सफल बना।

इसीलिए सामान्य जीव की तो ठीक वही स्थिति है— 'जैसे कुरंक नही पाइ-ओ भेदु। तनि सुगंध ढूढे प्रदेसु।'[१०] जो अंतर में स्थित कस्तूरी को न पहचाननेवाले मृग की होती है, क्योंकि वही तो 'सब घट भीतरि हाटु चलावै।'[११] अन्तःकरण में बैठ सब जीवों को नियंत्रित करता है। दोनों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए रविदास ने कहा है 'सोई मुकुंद हमरा पित माता'[१२] इतना ही नहीं, वही 'मुकुंद हमारे प्राण।' सामान्य जीव का तो ब्रह्म से इतना ही सम्बन्ध स्थापित किया गया है। जीव है क्या ? आत्मा ही देह धारण कर जीव का रूप ग्रहण करती है, अत देह पर विचार करना भी आवश्यक है। आखिर यह देह है क्या ?—

जल की भीति पवन का थंभा रकत बूंद का गारा।
हाड मांसै नाड़ी को पिंजरू पंखी बसै बिचारा॥[१३]

इस तरवर में आत्मा रूपी पक्षी रहता है। 'साढे तीनि हाथ तेरी सीवाँ' लेकिन यह मी तो स्थिर नहीं, समय पाकर 'इहु तनु होइगो भसम की ढ़ेरी'[१४] इसलिए इसके बाह्य सौन्दर्य पर 'तू काँइ गरबहि बावली' गर्वित होना बेकार है। क्योंकि है तो यह 'माटी का पुतरा'[१५] ही, जो ऐसा है जैसे 'घास की टाटी। जसि गइओ घासु रलि

१. ११६७ रवि, १। २. ३४६ रवि, १। ३. ६५८ रवि १।
४. ७६४ रवि, ३। ५. ६५६ रवि, ६। ६. १२६३ रवि, ३।
७. १२९३ रवि, ३। ८. ७१० रवि, १। ९. ७९४ रवि, २।
१०. ११९६ रवि, १। ११. ७९४ रवि, २। १२. ८७५ रवि, १।
१३, १४. ६५९ रवि, ६। १५. ४८७ रवि, ६।

गइग्रो माटी ।'[१] अतः 'भादों की खूम्भ'[२] की तरह क्षणिक इसका विश्वास नहीं करना चाहिए। इस सबसे यह तात्पर्य नही, कि देह बेकार हैं, बल्कि उसका एक निश्चित कार्य है तथा उसकी क्षणिकता अपने उस उत्तरदायित्व के प्रति अधिक सतर्क करती है, क्योंकि देह संसार में व्यापारी के एक बैल का कार्य करती है---'हउ बनजारो राम को सहज करउ व्यापारु'[३] सो देह तो राम के नाम के व्यापार का साधन-मात्र है, जिसकी सफलता 'नाम का भार' लादने में ही है।[४] अतः 'मेरे रमईए रंगु मजीठ का'[५] नाम का पक्का रंग चाहिए, जो उतरे नही। इतना ही नहीं, कुरंग-कस्तूरीवत् देह में ही ब्रह्म की स्थिति है, केवल उसे अनुभव करने की आवश्यकता है।[६] अतः 'माटी के पुतरे' का भी अपना विशेष महत्त्व है। क्षणिक देह के कारण सांसारिक संबन्धों में सत्य का अभाव अनुभव करते हुए रविदास ने कहा है, कि अन्य सम्बन्धियों की तो बात ही क्या—मृत्यु हो जाने पर जो 'घर की नारि नितहि तन लागी'[७] है, 'ओई भी लागे काढ़ु सबेरा'[८] और देर होने पर 'उह तउ भूतु-भूतु करि भागी।'[९] वह अंकशायनी भी उसी देह को भूत समझ कर उससे दूर भागना प्रारम्भ कर देती है। यह है विधि की विडम्बना या जीवनगत सत्य और जीवन क्या है? 'तै जीवनु जगि सचु करि जाना'[१०] मानव-जीवन एक सत्य है लेकिन उसकी सच्चाई भी सांसारिक सम्पत्ति एकत्रित करने या विषयोपभोग करने मे नही, अपितु 'हिरदै नामु सम्हारि'[११] मे निहित हे, क्योंकि विलम्ब करने का अवसर नही, 'जनमु सिवारो पंथु न सिवारा। सांझ परी दहदिस अधियारा।'[१२] युवावस्था व्यतीत होने पर, असमर्थ जरा आ जाने पर तृष्णा समाप्त न होगी और भगवद्भक्ति में मानव संग्लन न हो पाएगा। अतः जीवन की सार्थकता एवं सफलता इसी में है, कि सामर्थ्य होते हुए भी अविलम्ब 'नाम-स्मरण' करते हुए दुर्लभ मानव-जीवन का अधिक से अधिक सदुपयोग करना चाहिए।[१३] क्योंकि यह 'दुर्लभ जनमु पुनं फल पाइओ'[१४] है, अतः इसे व्यर्थ गँवाना बुद्धिमत्ता नहीं।

साध, भक्त एवं सन्त की कोटि तक पहुँचता हुआ जीव अपने मे विशेष गुणों को उद्भासित कर लेता है। इस प्रकार उसका भगवान से सम्बन्ध सामान्य जीवों की अपेक्षा कहीं अधिक निकट होता है। साध इसलिए महान् है क्योंकि 'साध संगति बिनु भाव नहीं उपजै'[१५] और 'भाव बिनु भगति न होई तेरी।'[१६] इतना ही नहीं, भक्त का तो नाम, गाँव, ठाँव तथा कुटुम्ब सभी कुछ धन्य है[१७] और वही एकमात्र सौभाग्यशाली है।[१८] इसीलिए निर्लिप्त भक्त की सांसारिको से तुलना करते हुए कहा है, 'पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बरावरी अउरु न कोइ'।[१९] क्योंकि

---

१. ७६४ रवि, ३। २. ११९६ रवि, १। ३. ३४६ रवि, १।
४. ३४६ रवि, १। ५. ३४६ रवि, १। ६. ११९६ रवि, १।
७,८. ७९४ रवि ३। ९. ७९४ रवि ३। १०, ११. ७९४ रवि २।
१२. ७९४ रवि २। १३. ४८६ रवि १। १४. ५६८ रवि ३।
१५, १६. ६९४ रवि २। १७. ८५८ रवि २। १८. ११०६ रवि २।
१९. ८५८ रवि २।

वही तो 'पुरैन पात रहै जल समीप' ।[१] इसलिए वस्तुतः 'जनमे जगि ओइ' ।[२] क्योंकि 'मोह पटल सभु जगतु बिआपिओ भगत नहीं संतापा'[३] और ऐसे भक्त से भी आगे बढनेवाला संत तो 'सतिगुर गियान जानै' तथा 'देवादेव' है ।[४] अतः संसार में 'संत आचरण संत चो मारगु'[५] ही अनुकरणीय है, क्योंकि 'संत अनंतहि अंतरु नाहीं, ।[६] यही है संत का भगवान से निकटतम संबंध और संत शिरोमणी कबीर की उक्ति प्रसिद्ध है, कि 'संतनि मे रविदास संत है ।' अतः व्यक्तिगत उनका ब्रह्म से क्या संबंध है ? यह देखना भी आवश्यक है ।

'सोई मुकुंद हमरा पित माता'[७] और प्राण भी है । यद्यपि 'जाती ओछी पाती ओछी ओछा जनम हमारा'[८] है और वह 'जाति बिखिआत चमार'[९] है तो भी हमारा उत्पादक महान् है । इसीलिए कोई भी तो 'हमसरि दीनु' और 'दइआलु न तुम-सिरि'[१०] नही है और 'हम अउगुन तुम्ह उपकारी'[११] हो, क्योंकि 'तुम रहीअत हो जगत गुर सुआमी' और 'हम कहियत कलिजुग के कामी' ।[१२] रविदास उदास है, क्योंकि उसमें 'प्रेम भगति नही ऊपजै'[१३] लेकिन धीरे-धीरे रविदास को अपने बाजी-गर 'सउ प्रीति बनि आई'[१४] तब उसी की 'प्रेम की जेवरी'[१५] से बँधा हुआ रविदास कहता है, हे भगवान् ! 'तूझहि चरन अरविन्द भवन मन'[१६] लेकिन भगवान तक उसकी आवाज पहुँची कहाँ ? इसीलिए और तेजी से पुकारता है, 'साची प्रीति हम तुम सिउ जोरी' और सच कहता हूँ, भगवन् ! 'तुम सिउ जोरि अवर संग तोरी ।'[१७] और इस प्रकार 'कहि रविदास सरनि प्रभ तेरी'[१८] क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान है, कि दुरमति 'अजामलु पिंगला' आदि उसकी शरण मे गए और 'ऐसे दुरमति निसतरे' तो 'तू किउ न तरहि रविदास' ।[१९] इसलिए उसने तो सब इन्द्रियों के माध्यम से पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया है—

चित सिमुरनु करउ नैन अविलोकनो सुवन बानी सुजसु पुरि राखउ ।
मन सु मधुकरु करउ चरन हिरदे धरउ रसन अमृत सम नाम भाखउ ।।[२०]

क्योंकि रविदास ने अनुभव कर लिया है, कि 'बहुत जनम बिछुरे थे माधउ' लेकिन 'इहु जनमु तुम्हारे लेखे'[२१] अतः भगवन् ! संसार को छोड़ तुम से अनन्य, सच्चीं एवं सर्वांगी प्रीति लगा कर, सम्पूर्ण देह से तुमसे ही सम्बन्ध जोड़ कर पूर्ण आत्मसमपर्ण करने के बाद भी तुम 'कारन कवन अबोल'[२२] इतना सब होने पर भी जब दयालु और उद्धारक भगवान न पसीजे, तो 'तू जानत मैं किछु नहीं भवखंडन राम' ।[२३] यह कह अपना सम्पूर्ण 'अहं' विलीन कर रविदास अनन्य भक्ति में लग गए और जीवन के अन्तिम भाग में उसके 'गरीब निवाजु' एवं उद्धारक गुणों की सार्थकता

१,२. ८५८ रवि २ । ३. ६५८ रवि १ । ४,५,६. ४८६ रवि २ ।
७. ८५५ रवि १ । ८. ४८६ रवि ३ । ९. १२९३ रवि १ ।
१०. ६९४ रवि १ । ११. ४८६ रवि ३ । १२. ७१० रवि १ ।
१३. ३४६ रवि ५ । १४,१५, १६. ४८७ रवि ४ । १७. ६५९ रवि ५ ।
१८. ७९३ रवि १ । १९. ११२४ रवि १ । २०. ६९४ रवि २ ।
२१. ६९४ रवि १ । २२. ६९४ रवि १ । २३. ८५८ रवि १ ।

अनुभव करते बोले—'नीचहु ऊच करै मेरो गोविन्दु काहु ते न डरै'[1] और इसी के प्रमाणस्वरूप उस 'गरीब निवाज गुसईया' ने 'मेरा माथै छत्रु धरै'[2] इस प्रकार अब मेरी 'तृसना चूकी' और उसने 'करि किरपा लीने कीट दास'[3] तथा इससे सबसे बढ कर 'मेटी जाती' और 'हुए दरबारि'।[4] तब भी वह इस सम्बन्ध को भूलता नहीं कि—

तुम चन्दन हम इरंड बापुरे संगि तुमारे बासा।
नीज रूख ते ऊच भए है गंध सुगंध निवासा ॥[5]

क्योंकि भगवान तो किसी विशेष की बपौती सम्पत्ति नहीं, वह तो प्रत्येक भक्त की सामान्य सम्पत्ति है।[6] अतः माया (मोह और ममता) से बाँधनेवाले भगवान से भक्त रविदास आराधना करके टूट गया और अब उसने प्रेम से भगवान को इतनी दृढ़ता से बाँध लिया है, कि उसे छूटने के लिए ललकारता है—

जउ हम बांधे मोह फास हम प्रेम बंधनि तुम बांधे।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥[7]

रविदास के ललकारे हुए भगवान ने नामदेव के सम्मुख आकर भक्त से छूटने की अपनी असमर्थता को इन शब्दों में स्वीकार किया है—

मेरी बांधी भगतु छड़ावै बांधे भगतु न छूटै मोहि।
एक समै मोकउ गहि बांधे तउ फुनि मोपै जबाबु न होइ ॥१॥

इसीलिए तो— **मै गुन बंध सगल की जीवनि मेरी जीवनि मेरे दास।**
नामदेव जाकै जीअ ऐसी तैसो ताके प्रेम पगास ॥२॥[8]

इसीलिए तो इस भगवान को सूर मे बालकृष्ण तथा तुलसी मे आदर्श राम के रूप मे अवतरित होना पड़ा। कितनी शक्ति है भक्त की भक्ति मे—जिससे निर्गुण-निराकार ब्रह्म को सगुण-निराकार ही नहीं, सगुण-साकार रूप भी धारण करना पडता है। इस शक्ति को अनुभव करने पर ही तो 'अंतरे उद्भासित ब्रह्म' भक्त बोल उठता है, 'जब हम होते तब तू नाही' और 'जब तू ही मै नाही।' ठीक उसी प्रकार 'अनल अगम जैसे लहरि महोदधि जल केवल जल माहीं।'[9] और तब ब्रह्म मे ही 'विलीन अहं' भक्त इस सम्बन्ध को और स्पष्ट करता है तथा इस प्रतीत होनेवाले अन्तर को एक 'आभास-मात्र' ही कहता है, क्योंकि ऐसी स्थिति पर पहुँचने के बाद दोनों में कोई अंतर रह नहीं जाता। वस्तुतः वह पहले से ही, होता ही नही, केवल उसका आभास ही है—

तोही मोही मोही तोही अंतरु कैसा।
कनक कटिक जल तंरग जैसा ॥[10]

यही है, भक्त रविदास की भगवान से संबंध की एक झलक।

---

१. ११०६ रवि १। २. ११०६ रवि १। ३,४. ८७५ रवि १।
५. ४८६ रवि ३। ६, ७. ६५८ रवि २। ८. १२५२ नामदेव ३।
९. ६५७ रवि १। १०. ९३ रवि १।

साध्य

'चमार रविदास ही संतों में भी संत रविदास बन गए थे, यह किसी से छिपा नही। अतः उनके जीवन के आध्यात्मिक विकास-क्रम के अनुकूल ही उनका प्रत्येक साध्य-साधन बनता गया और वे इसी क्रम से इस पथ पर अग्रसर होते गए।

सामाजिक दुर्व्यवहार और राजनैतिक अव्यवस्था के जिन दो चक्की के पाटों के भीतर तत्कालीन जनता पिस रही थी, उनमें अग्रगण्य निम्न जातियाँ थीं। सम्भवतः उसी की प्रतिक्रिया में छींपा, नाई, जुलाहा, जाट, धुनिया, और इन सबसे भी एक कदम आगे चमार रविदास जाति से नीचतम और संस्कारों से उच्चतम व्यक्तित्त्व लेकर हमारे सामने आए। अतः रविदास की भगवान से पहली प्रार्थना यही है, कि 'नीचहु ऊच करै'[१] और 'मेरी हरहु बिपति।'[२] इस प्रकार सामाजिक एवं सांसारिक आपदाओं से सुरक्षित होने के बाद भक्त रविदास सगुण भगवान के सम्मुख प्रस्तुत हो प्रार्थना करते हैं।

सगल भुवन के नाइका इकु छिनु दरसु दिखाइ जी।[४]

उसे पता है, कि ब्रह्म के क्षण-भर के दर्शन से ही मानव-मन पवित्र हो जाता है और पवित्र मन ही निर्वाण पद पा सकता है। अतः उसके साध्य की अगली सीढ़ी है 'जीवत मुकत सदा निरबान'।[५] लेकिन 'जीवत मुकत' रहते हुए भी उसे 'निरबान' पर विश्वास नहीं, क्योंकि मन चंचल है और माया सर्पिणी, न जाने कब डस ले। अतः वह तो भव-पार जाना चाहता है, जिस मार्ग से 'जन निसतरि तरे,।[६] संसार-समुद्र से तर कर कहाँ जाना है, उस स्थान का भी स्वतः ही परिचय दिया है, 'बेगम पुरा सहर को नाउ।'[७] उसे ही सांसारिक वह स्वर्ग समझते है, जहाँ कोई दुःख, दर्द, चिंता, पीड़ा और पाप नहीं। सुख, समृद्धि तथा ऐश्वर्य का ही साम्राज्य है। इसलिए वह 'नरक नहीं जाता' और ऐसे स्वर्ग की झलक मिलने पर नरक जाना भी कौन चाहेगा। लेकिन स्वर्ग भी तो उसका अन्तिम साध्य नहीं, क्योंकि स्वर्ग निवासी देवताओं को भी उसने मानव-जीवन के लिए ललचाते हुए देखा है, अतः वह तो जिस यम ने 'सभै जगु लूटिआ'[८] उससे सदा के लिए बचना चाहता है 'जम फाँसा' से निकल 'जम सिउ नहीं कामा'[९] रखने में विश्वासी है। इस प्रकार यम से कोई सम्बंध न रखने का मतलब है 'तउ जग जनम संकट नही आइआ'[१०] और यह तभी सम्भव है, जब वह 'जनम जनम के काटे कागर'[११] जन्म-जन्म के बंधनों से छुटकारा मिलने पर ही अयोनि होते हुए उसे कभी भी 'जोनि न कामु।'[१२] तब परमगति पाकर[१३] अमरपद[१४] उसका साध्य बन जाता है। इस अवस्था मे भी वह करे क्या? अंतर की पुकार सुनाई देती है, 'ब्रह्म-रसपान[१५] अनंत काल तक यह अवस्था भी

१. ११०६ रवि १। २. ३४५ रवि १। ३. ३४६ रवि ४।
४. ११६७ रवि १। ५. ४८७ रवि ५। ६. ३४५ रवि २।
७. ४८७ रवि ४। ८. ७६४ रवि ३। ९. ६५९ रवि, ७।
१०. ४८७ रवि ५। ११. ११६६ रवि १। १२. १२९१ रवि ३।
१३. ११२४ रवि १। १४. ८५८ रवि २। १५. ९३ रवि १।

सह्य नहीं, अतः साध्यों के भी साध्य, अंतिम साध्य पूर्ण ऐक्य में ही वह पूर्ण विश्वासी है, क्योंकि तरंग-जलवत् आत्मा-परमात्मा में कोई अंतर तो है ही नहीं[१] जब 'सो मुनि मन की दुबिधा[२] खाई,' तभी मन को शांति मिलती है। क्योंकि यह द्वैत तब समाप्त होता है जब 'फलु लागा तब फूल बिलाइ'[३] और जीव 'बिनु दुआरे लोक समाई ॥'[४] यही है संत का व्यक्तित्व और उसका अंत मे विलीनीकरण क्योंकि 'संत अनंतहि अंतरु नाहीं।'[५]

इस साधन-साध्य विकास-क्रम में चमार रविदास अपने 'भक्त व्यक्तित्व[६] के माध्यम से संत रविदास बना है, यह भुलाया नहीं जा सकता। सम्भवत. इसीलिए प्रबलतम साधन भक्ति, साधन होते हुए भी, साध्य के स्तर तक पहुँच जाती है और 'भगति हेति गावै रैदासा'[७] में उसकी आत्मा गूंजती सुनाई पड़ती है तथा इस भक्ति का प्राण है 'सतिनामु'। इसीलिए भगवान की आरती के भोगस्वरूप उसने मांगा है 'सतिनामु है हरि भोग तुहारे'।[८] इस प्रकार साधन का साधन 'नाम' ही साध्य का भी साध्य बन गया है। इस 'नाम' में अनवरत एवं अनन्य तल्लीनता ही तो संत रविदास के भी भक्त रूप को उभारे रखती है।

साध्य-प्राप्ति के साधन भी अनंत हैं। भक्त की साधना-पद्धति को समझने के लिए उन पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। संत शंकर की तरह दार्शनिक या ज्ञानी नहीं थे। उन्हें अपनी तर्क-शक्ति अथवा मस्तिष्क से अधिक अपने हृदय पर तथा भगवत्कृपा पर विश्वास था, क्योंकि पवित्र अंतःकरण से निःसृत प्रत्येक ध्वनि कुंदन होती है, उसका आधार अनुभूति होती है। अतः भगवत्प्राप्ति का सर्वप्रधान साधन है—भगवत्कृपा। दरिद्र रविदास ने तो भगवत्कृपा से ही अठारह सिद्धियाँ प्राप्त की हैं।[९] इसलिए वह कहता है, 'सुनहु रे संतहु हरि जीउ ते सभै सरै।'[१०] उसकी कृपा से सब कुछ प्राप्त होता है। उसकी कृपा प्राप्त करने का प्रधानतम साधन है भक्ति। षट कर्म, सत्कुल में जन्म आदि सभी कुछ व्यर्थ है, यदि 'हरि भगति हिरदै नाहि।'[११] मानव-जीवन ही नहीं अपितु, 'राजे इन्द्र समसरि, गृह आसन बिनु हरि भगति कहहु किह लेखे।'[१२] इतना ही नहीं, यह भी भक्ति की ही शक्ति है, गंगा में पड़ी हुई शराब भी जिस प्रकार गंगोदक बन कर पवित्र हो जाती है, उसी प्रकार भगवद्भक्ति-लिखित हेय ताड़पत्र भी वन्द्य हो जाता है। इस भक्ति से ही 'होहि पुनीत भगवंत भजन' तथा 'ते आपु तारि तारे कुल दोइ ॥'[१३] इसीलिए संसार में वे दुःखी है 'जिनिनाह निरंतरि भगति न कीनी।'[१४] क्योंकि इस 'भगति जुगति' से ही 'भ्रम बंधन काटि बिकार।'[१५] अतः यह तो निश्चित हो गया, कि भव-पार

१. ११६७ रवि, १। २ ११६७ रवि, १। ३,४. ११६७ रवि, १।
५. ४८६ रवि, २। ६. ६५६ रवि, ५। ७. ६६४ रवि, ३।
८. ८५८ रवि, १। ९. ११०६ रवि, १। १०. ११२४ रवि, १।
११. ६५८ रवि, ३। १२. १२९३ रवि, १। १३. ८५८ रवि, २।
१४. १२९३ रवि, १। १५. ३४६ रवि, ५।

पहुँचने के लिए, ब्रह्म से ऐक्य स्थापित करने के लिए भक्ति का आश्रय लेना नितांत आवश्यक है। उस भक्ति का स्वरूप क्या होना चाहिए। आडम्बरपूर्ण बाह्य सामग्री नहीं, वहाँ तो आंतरिक भाव (लगन) की आवश्यकता है, क्योंकि 'भाव बिनु भगति न होई तेरी'[1] और उस भाव में भी चाहिए भगवत्प्रेम। क्योंकि—

प्रेम भगति कै कारणै कहु रविदास चमार[2]

लेकिन—**प्रेम भगति नहीं ऊपजै ताते रविदास उदास।'**[3]

इस 'प्रेम भगति' के लिए भगवान का भय चाहिए और चाहिए उसमें दृढ़ विश्वास, तभी भगवत्प्रेम जागृत हो सकेगा और जीव उसके 'प्रेम की जेवरी'[4] में बंध सकेगा। तब प्रेम के लिए तड़पन पैदा होगी, वह तड़पन कैसी होगी ? यह कोई ही जानता है, क्योंकि—

सो कत जानै पीर पराई, जाके अंतरि दरदु न पाई।[5]

उसकी अभिव्यक्ति के लिए ही तो भगवत्विरह-अनुभूत भक्त ने तीव्र विरहानुभूति के बहुत से प्रसिद्ध लौकिक उदाहरण इन सुन्दर शब्द-चित्रों के माध्यम से उत्कृष्ट काव्य में अंकित किए है, जिसे उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर पा रहे—

'जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा, जउ तुम चंद तउ हम भए है चकोरा।'[6]

और हम तुमसे प्रेम का 'गंठ-बंधन' तोड़ते भी नही, क्योंकि—'तुम सिउ तोरि कवन सिउ जोरहि।'[7] इसीलिए 'जउ तुम दीपका तउ हम बाती। जउ तुम तीरथ तउ हम जाती।' और अब तो 'साची प्रीति हम तुम सिउ जोरी। तुम सिउ जोरी अवर संग तोरी।[8]

यह 'अवर' माया से उत्पन्न सांसारिक मोह-ममता से इतर कोई नहीं। इसलिए—

जह जह जाउ तहा तेरी सेवा। तुम सो ठाकुरु अउरु न देवा॥[9]

अब तक रविदास सगुण से निराकर के उपासक बन चुके थे और यह उनके **अगाध भगवत्प्रेम तथा अनन्य तड़पन की ही अभिव्यक्ति है। यह अनन्यता कैसी होनी चाहिए ?—**

तेरे चरण कमल में न लीन[10] करके पुनः, **तनु मनु देइ न अंतरु राखै**[11]

अपने भगवान से कोई भेद न रखे तथा 'अवरा देखि न सुनै न भाखै।'[12] इस प्रकार के 'तुमरे भजन कटहि जम फाँसा'।[13] इसीलिए तो 'भगति हेति गावै रैदासा'[14] यह है रविदास की पूर्ण अनन्यता का परिचय।

इस अनन्य भक्ति का आधार है नाम।[15] वह 'नामु नाराइन' जो 'जीवन प्राण धन मोरे'[16] है। क्योंकि न केवल 'नामु तेरो आरती भजनु मुरारे'[17] अपितु 'हरि के नाम बिनु झूठे सगल पासारे।'[18] और नाम है क्या नही—

---

१. ६६४ रवि, २। २. ३४६ रवि, ४। ३. ३४६ रवि, ५।
४. ४८६ रवि, ४। ५. ७६३ रवि, १। ६. ६५८ रवि, ५।
७,८,९. ६५८ रवि, ५। १०. ४८७ रवि, ४। ११, १२. ७६३ रवि, १।
१३,१४. ६५९ रवि, ५। १५,१६. ६७४ रवि, १। १७,१८. ६६४ रवि, ३।

नामु तेरो आसनो नामु तेरो उरसा नामु तेरा केसरो ले छिटकारे ।
नाम तेरा अंभुला नाम तेरो चंदनो घसि जपे नामु ले तुझहि कउ चारे ।।१।।
नाम तेरा दीवा नामु तेरो बाती नामु तेरो तेलु ले माहि पसारे ।
नाम तेरे की जोति लगाई भइओ उजिआरो भवन सगलारे ।।२।।
नामु तेरो तागा नामु फूल माला भार अठारह सगल जूठारे ।
तेरो कीआ तुझहि किआ अरपउ नामु तेरा तुही चवर ढोलारे ।।३।।
दसअठा अठसठे चारे खाणी इह वरतणि है सगल संसारे ।
कहै रविदासु नामु तेरो आरती सतिनामु है हरि भोग तुहारे ।।४।।[१]

आरती का भोग ही जो ठहरा, वह नाम ही तो सर्वस्व है। सम्भवतः इसीलिए नाम-मार्ग का अनुसरण करनेवाले गुरु नानक भी इस आरती से प्रभावित हुए बिना न रह सके। अन्य भी सभी सतो की इससे मिलती-जुलती आरती इस राग में ही प्राप्त है। सारे संसार को यम से बँधा हुआ देख कर 'हम तउ एक राम कहि छूटिआ'[२] रविदास तो एक बार उसका नाम लेकर ही बच निकला, क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान था कि—'हरि के नाम कबीर उजागर'[३] जिससे उसके तो 'जनम जनम के काटे कागर'[३] और 'निमत नाम देउ दूध पीआइआ, तउ जग जनम संकट नही आइआ।'[४] इसीलिए 'जन रविदास राम रंगि राता।'[५] जिसके परिणामस्वरूप 'जाति विखिआत चमार' को ही 'अब विप्र परधान तिहि करहि डंडउति'[६] लेकिन वह तो 'तेरे नाम सरनाइ रविदास दासा।'[७] इतना ही नही' उसे यह भी पता है, कि 'नामदेव कबीरु तिलोचनु साधना सैनु तरै।'[८] इसीलिए जनता को भी रविदास कहता है, कि तुम राम का नाम क्यों नही लेते—

नाना खिआन पुरान बेद विधि चउतीस अछर माही ।
बिआस बिचारि कहिओ परमारथु राम नाम सरि नाही ।।[९]

जिस बात को वेदों आदि के ज्ञाता व्यास ने कहा है, रविदास तो प्रत्यक्ष अनुभव करके केवल उसे दोहरा-मात्र रहा है। चौतीस अक्षरों में 'नाम' के ये दो अक्षर ही तो ससार मे एक-मात्र सत्य है[१०] और उनके समान दूसरा कोई अक्षर नही। इतना ही नही, 'राम नाम बिनु बाजी हारी'[११] इसलिए हे जीव! 'रसन अमृत नाम भाखउ'[१२] क्योकि 'कलि केवल नाम अधार'[१३], कलियुग में तो एक-मात्र नाम ही आधार है। इसलिए 'तजीले सरब जंजाल'[१४] वह अपना अनुभव बताता है, कि मैं राम नाम धनु लादिआ बिखु लादि ससारि'[१५] अतः 'मोहि जम डंडु न लगाइ'[१६] क्योंकि उसका 'पान

१. ६६४ रवि, ३। २. ७६४ रवि, ३।
३, ४, ५. ४८७ रवि, ५। ६, ७. १२९३ रवि १।
८. ११०६ रवि, १। ९. ११०६ रवि, २। १०. ६५८ रवि, ४।
११. ६५६ रवि, ६। १२. ६६४ रवि, २। १३. ३४६ रवि, ५।
१४. ३४६ रवि, ३। १५. ४८६ रवि, ४। १६. ३४६ रवि, ३।

करत पाइओ रामईआ धनु'[1] और यह नाम ही तो नश्वर संसार में एक-मात्र अनश्वर एवं प्राप्य धन है।

रविदास तो उस एक का ही नाम लेकर तर गया, लेकिन भव-पार पहुँचने के लिए उसके जप की आवश्यकता है। 'मुकुंद मुकुंद जपहु संसार' क्योंकि 'मुकुंद मुकुंद हमारे प्रान।'[2] इसलिए 'जीवत मुकुंदे मरत मुकुंदे।' मरते-जीते उसी का जप करना चाहिए। इस प्रकार—

'बरण सहित जो जापै नामु।
और— **सो जोगी केवल निहकाम।'**[3]
कहि रविदास जो जपै नामु।
तिसु जाति न जनमु न जोनि कामु॥[4]

तो भी अन्य सब बचनों को छोड़ कर हे जीव तू 'हरि हरि हरि न जपसि रसना।'[5] उद्धार का एक-मात्र यही मार्ग है इसलिए—

'हरि हरि हरि हरि हरि हरि हरे।
हरि सिमरत जन गए निसतरि तरे।'[6]

भक्ति-पथ के पथिक की पहली अवस्था जप की है, जिसमें ओष्ट-उच्चारण अपेक्षित है, लेकिन धीरे-धीरे अभ्यास से वही 'सिमरन' की अवस्था तक पहुँच जाता है, जहाँ कि उच्चारण मुख में ही होता है और मन को भगवान मे जोड़ा जाता है तथा सिमरन के चरम तक पहुँचते पहुँचते ध्यानावस्था आ जाती है। इस प्रकार नाम तथा अनन्य भक्ति-पथ के ही ये विशिष्ट पथ-चिह्न है, जो साधन के भी साधन होते हुए अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इस ध्यान के लिए आवश्यक है, कि उस चंचल मन को वश मे किया जाए, तो 'मनु माइआ कै हाथ बिकान'[7] तथा उस माया के हाथ बिकने के कारण ही 'मेरा मनु बिखिआ बिमोहिआ'[8] और इसे 'कछु आरा पारु न सूझ।'[9] लेकिन मन का विशेष महत्त्व है, क्योंकि—

बिखु अमृतु बसहि इकि संगा।[10]

यह विष और अमृत और कुछ नहीं अन्तर्मन की दो अवस्थाएँ-मात्र हैं। यदि मन विकृत हो गया है, तो वही विष रूप विषयों से पूर्ण है और यदि मन सुकृत है तो वही अमृत रूप भक्ति (नाम) से पूर्ण है। अतः विष और अमृत का निवास-स्थान भिन्न नहीं। हाँ ! विष को ही अमृत और अमृत को विष में परिणत किया जा सकता है। इसलिए मन को वश में करना आवश्यक है, जिसके साधन भी हैं, जिनमें प्रमुख है, सत्संग। सत्संगति का महत्त्व इसी से स्पष्ट है, कि 'साध सँगति बिना भाउ नहीं

१. ४८६ रवि, ४। २. ८७५ रवि. १।
३. ११६७ रवि, १। ४. ११९६ रवि, १।
५. ११०६ रवि, २। ६. ४८७ रवि, ४।
७. ७१० रवि, १। ८, ९. ३४६ रवि, १।
१०. ५२५ रवि, १।

उपजै'[१] और 'भाव बिनु भगति न होई तेरी ।'[२] इससे भी बढ़ कर इस 'साध संगति पाई परम गते ।'[३] संगति से ही परमगति प्राप्त हुई ।

सत्संगति के साथ-साथ निष्काम कर्मण्य-जीवन का महत्त्व भी नहीं भुलाया जा सकता । यद्यपि वह खुद 'चमरटा गाँठि न जनई' तो भी 'लोगु गठावै पनही'[४] इतने बड़े संत ने अपना काम न छोड़ा, जुलाहा कबीर ताना बुनता रहा, गुरू नानक जीवन के लगभग अन्तिम दिनों तक खेती करता रहा । इन संतो के उपदेश व्यक्तिगत जीवन के उदाहरणों से क्रियात्मक रंग मे रंगे गए थे, अतः समाज पर भी एक विशेष पक्का मजीठ का रग चढ़ानेवाले सिद्ध हुए । निष्काम सत्कर्म की तो वे अन्त तक प्रेरणा देते रहे । आलसी जीव को सतर्क करते हुए 'ग्रंथ' मे उनकी अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार है—

कहु रविदास भइओ जब लेखो । जोई जोई कीनों सोई सोई देखिओ ॥[५]

कर्मानुकूल ही फल प्राप्ति होती है । अतः जीव के सत्कर्म उसे भगवनोन्मुख होने में सहायक सिद्ध होते है । जहाँ सत्कर्म भक्ति को पुष्ट करते है, वहाँ ज्ञान दृढ़ सम्बल के रूप मे उसका आधार बनता है । क्योकि 'गिआने कारन करम अभिआसु ।'[६] और जब 'गिआन भइआ तह करमह नासु ।'[७] तथा इस 'गिआनु' के स्वरूप को स्पष्ट किया है 'रवि प्रगास रजनी जथा'[८] कह कर और ज्योंही 'उपजिओ गिआनु हुआ परगासु'[९] इस प्रकार ज्ञान का प्रकाश ही भक्ति के पथ को आलोकित करता है ।

लौकिक सत्कर्म की ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे परिणति है सेवा । सेवा का रविदास की साधना-पद्धति में विशेष स्थान माना गया है और 'अष्टांग-साधन' नाम की बिशेष साधना-पद्धति को उनकी ही साधना-पद्धति कहा भी जाता है ।'[१०] रविदास को दु.ख है कि वह भगवान की सेवा नहीं कर सका 'राजाराम की सेव न कीनी कह रविदास चमारा ।'[११] यह तो सेवक की विनम्र उक्ति है । वस्तुतः उसने सम्पूर्ण सर्वांगी सेवा का सुन्दर रूप सक्षेप मे इस प्रकार हमारे सामने रखा है—

चित सिमरनु करउ नैन अविलोकनो स्रवन बानी सुजसु परि राखउ ।
मन सु मधकरु करउ चरन हिरदै धरउ रसन अंमृत राम नाम भाखउ ॥[१२]

सत्य को कुरेद कर उसका सौन्दर्य नष्ट करने की क्षमता हममें नहीं, क्योंकि 'गागर में सागर' शैली में कही गई यह बात सम्भवतः इससे अच्छे ढ़ंग से कही ही नही जा सकती है । जो हो, इसी सेवा के लिए रविदास ने कहा है—'सेव मुकुंद करै वैरागी ।'[१३]

१, २. ६६४ रवि, २ । ३. १२९३ रवि, ३ ।
४. ६५९ रवि, ७ । ५. १२९३ रवि, ३ । ६, ७. ११६७ रवि, १ ।
८. ३४६ रवि, ५ । ९. ८७५ रवि, १ ।
१०. उ० प० च० पृ० २४५ संत रविदास और उनका काव्यः रामानन्द, वीरेन्द्र पांडेय पृ० २०७ ।
११. ४८६ रवि, ३ । १२. ६९४ रवि, २ । १३. ८७५ रवि, १ ।

सेवा के साथ-साथ भक्त की प्रार्थना में भी विशेष शक्ति होती है। आरती में तो नाम को ही सर्वस्व बता कर भोग रूप उस 'नामु' की ही याचना की है।[१] पुन: मेरी हरहु बिपति'[२] इतनी प्रार्थना की सुनाई हो जाने पर 'पैज राखहु राजा राम मेरी'[३] यह प्रार्थना भी राम (दशरथपुत्र नहीं) के दरबार में जा पहुँची और फिर 'मोही न बिसारहु मैं जनु तेरा।'[४] अब तक तो संबंध ही घनिष्ठ हो चुका, फिर राम क्यों कर बिसारने लगा। इसी प्रार्थना मे उसने यह भी बता दिया, कि भगवन् तेरी पूजा-अर्चना बिना मेरी गति नही।[५] लेकिन यह अर्चना आडम्बरमयी नही। उसकी दीन प्रार्थना ने भगवान को अवश्य ही पसीजने पर विवश कर दिया होगा, तभी तो गंगा-माई ने भी उसकी सुपारी लेने के लिए हाथ बढ़ाया होगा।[६] जो हो, रविदास की प्रार्थना में अद्‌भुत शक्ति थी, जिसमें कि उसका 'अहं' पूर्णतया विगलित हो चुका था 'करि बंदगी छाड़ि मैं मेरा'[७] उसने पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया था। क्योंकि उसे अनुभव है, कि—

सगल जीअ सरनागती पूरन प्रभु काम।[८]

इसलिए—'**कहि रविदास सरनि भ्रम तेरी। जिउ जानऊ तिऊ करु गति मेरी॥**[९]

यही है भक्त के पूर्ण आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा, पार जानेवाले तीर के उस यात्री की तरह, जिसने मल्लाह को कह दिया—'मुझे तो तैरना आता नहीं, डुबाओ, चाहे पार पहुँचाओ। मैंने तो अपने आपको तुम्हें सौंप दिया।' कितनी अबोधता और सरलता है तथा अगाध विश्वास। लेकित भक्त की सब साधनाएँ अपूर्ण हैं—जब तक संयोजक सत्गुरू भक्त को उस मार्ग का ज्ञान ही नहीं कराता, अपितु मार्ग दिखा कर उस पर चलाता नहीं। गाड़ी है, डिब्बे हैं, इंजन है—उसमे ईंधन है, पटरियाँ भी साफ है, सिगनल भी चले जाने की सूचना दे रहा है, लेकिन चालक के अभाव में गाडी बेकार है। गुरू नहीं सत्गुरू के अभाव में भक्त (जीव) बेकार है। संत साहित्य में सत्गुरू का विशेष स्थान है। वही जीव को ब्रह्म की अद्वितीय देन है। सगुण के साकार अवतारों से भी उसका महत्त्व अधिक स्वीकार किया गया है। जो हो, रविदास ने संक्षेप में ही इस विषय में बहुत कुछ कह दिया। रविदास जगत भ्रम में फँसा हुआ होने के कारण उदास है औरभक्त-भयँहारक गुरू ने ही उसकी रक्षा की। अतः वह गुरू-ज्ञान में ही लीन हो गया है।[१०] उसका अनुभव कहता है, कि सत्गुरू ही लोहे को सोना बनानेवाले पारस की तरह सामान्य जीव को भी उच्च कोटि का भक्त बना देता है[११] और इन सबसे बढ़ कर 'गुरपरसादि निरंजनु पावउ'[१२] यही उसका अन्तिम साध्य है और उसका प्रथम तथा अन्तिम एक-मात्र साधन है सत्गुरू। इस प्रकार सत्गुरू ही भक्त और भगवान

१. विस्तृत विवरण 'नाम' देखें। २. ३४६ रवि, ३।
३. ६६४ रवि, २। ४. ३४५ रवि, १। ५. ५२५ रवि, १।
६. किबदंती, संत रविदास और उनका काव्य पृ० १५३।
७. ७१४ रवि, २। ८. ८५८ रवि, १। ९. ७९३ रवि, १।
१० ४८६ रवि, १। ११. ३४६ रवि, ५। १२. ५२५ रवि, १।

की संगमभूमि है। सम्भवतः इसीलिए उसका महत्त्व इन दोनों से भी अधिक स्वीकार किया है। इसी भाव के द्योतक साध, संत आदियों का महत्त्व पीछे बताया जा चुका है, जिसमें संत अनंतहि अतरु नाही"[1] से ही संत अथवा सत्गुरू का महत्त्व स्पष्ट है। यही है भक्त की भक्ति का साधन-मार्ग।

अवरोधक शक्तियाँ

जिस प्रकार पहाड़ी झरने के मार्ग में आनेवाली प्रत्येक चट्टान अथवा पर्वत शृंखला का विशेष महत्त्व होता है, ठीक उसी प्रकार भक्ति के प्रशस्त पथ मे भी अन्यान्य अवरोधक शक्तियाँ भक्त की परख के लिए सदा ही उपस्थित रहती है। सच्चे भक्त को ये अवरोधक-शक्तियाँ सजग कर उसे और दृढ़तापूर्वक अपने पथ पर बढ़ने का संदेश ही नहीं, अपितु प्रेरणा भी देती हैं, जब कि निर्बल, अशक्त, और आडम्बरी भक्त को वे दबोच लेती हैं, क्योंकि—

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारभ्य चोतमजनाः न परित्यजन्ति॥ (भर्तृहरि, नीतिशतक)

(विघ्नों से बार-बार सताए जाकर भी उत्तम पुरुष अपने कार्य को बीच में नही छोड़ते) अतः साध्य-प्राप्ति में आनेवाली इन अवरोधक शक्तियों पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

माया ही एक-मात्र ऐसी है जिसने आत्मा और परमात्मा के मध्य भेद की खाई पाट दी है और वह इसे भरने नहीं देती। यह माया 'सभु जगतु बिआपिओ'[2] है और यही न केवल 'भ्रम फाँस' है, अपितु इसने तो 'मनु माइआ कै हाथ बिकानउ' है,[3] जिसने मानव-मन को खरीद लिया है। माया के हाथ बिके हुए मन को 'बिखिआ बिमोहिआ'[4] तथा उसे कुछ आरा पारु न सूझ।'[5] जब उसे कुछ सूझता नहीं, तब वह 'कहीयत आन अचरीअत आन कछु।'[6] ऐसी अवस्था में विषय-लिप्त मन को सबल इन्द्रियाँ घेर लेती हैं, क्योंकि 'इन्द्री सबल और निबल विवेक बुद्धि'[7] और—

इन पंचन मेरो मनु जु बिगारिओ। तथा—
पलु पलु हरि जी ते अंतरु पारिओ।[8]

इस प्रकार अन्तर की इस खाई को बढ़ानेवाली एक नहीं, सभी इन्द्रियाँ[9] जो एकत्रित हो गई, वहाँ अकेला जीव बेचारा क्या करे? क्योंकि 'मृग मीन भृंग पतंग कुंचर एक दोख बिनास।'[6]

---

१. ४८६ रवि, १। २. ६५८ रवि, २। ३. ७१० रवि, १।
४, ५. ३४६ रवि, १। ६. ६५८ रवि, ३।
७. ६५८ रवि, ३; 'इन्द्रियाणी प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। (देखें गीता २, ६०)
८. ७१० रवि, १। ९. ४८६ रवि, १:—
ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २, ६२, ६३)

ये पाँचों प्राणी एक हीं इन्द्रिय दोष से प्रभावित होने के कारण प्राण तक खो बैठते हैं, तों इस बेचारे जीव का क्या कहना ?

पंच दोख असाध जा महि ता की केतक आस ।[१]

इन पाँचों दोषों से भरपूर है । सत-साहित्य मे काव्यत्त्व का अभाव देखनेवालों को 'गागर मे सागर' शैली का इससे उत्कृष्ट काव्यरत्न कही ढूँढने पर भी मिल सकेगा, इसमें हमे संदेह है । इन पाँचों इन्द्रियों ने 'काम क्रोध माइआँ मद मतसर इन पंचहु मिलि लूटे ।'[२] इन पाँचों दुर्गुणों के माध्यम से जीव को लूट लिया है । काम के प्रभाव से तो देवी-देवता भी न बच सके, 'गौतम नारी उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भग गामी ।'[३] इन्द्र अहिल्या पर और ब्रह्मा तो अपनी पुत्री पर ही मोहित हो गए थे, यह काम का ही सर्वव्यापी प्रभाव है । 'माटी का पुतरा' देह क्षणिक है, यह जानते हुए भी सांसारिक मोह को छोड़ नहीं पाता और 'पुत्र कलत्र का करहि अहंकारू ।'[४] कामिनी ही क्या ? कंचन, सांसारिक सम्पत्ति भी जीव को भरमाए रहती है । यद्यपि 'ऊचे मंदर साल रसोई । एक घरि फुनि रहणु न होई ।'[५] तो भी जीव सांसारिक सम्पति एकत्रित करने में लगा ही रहता है । रविदास ने समझाया है—

जोई जोई जोरिओ सोई सोई फाटिओ ।
झूठै बनजि उठि ही गई हाटिओ ।।[६]

और 'राम नाम बिनु' यह सब सांसारिक सम्पत्ति व्यर्थ है, इसीलिए मनुष्य जीवन की बाजी हार जाता है ।[७] इतना सब होते हुए भी जीव संसार में ही भरमाया रहता है । इन सांसारिक पदार्थों के कारण जीव मे अहंकार जागृत हो जाता है—

हम बड कवि कुलीन हम पंडित हम जोगी सनिआसी ।
गिआनी गुनी सूर हम दाते इह बुधि कबहि न नासी ।।[८]

इस प्रकार इस 'अहं' के उच्छलन के अन्यान्य कारण हैं । यह 'अहं' जीव में अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न कर देता है[९] और उसे भगवान-उन्मुख होने में बाधा पहुँचाता है । इसीलिए रविदास को कहना पड़ा—'करि बंदिगी छाड़ि मैं मेरा'[१०] 'अहं को त्याग कर ही भगवनोन्मुख हुआ जा सकता है । गुरू नानक एवं अन्य गुरुओं ने भी इस 'अहं' (हउमे) को ही सबसे बड़ी अवरोधक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है । दुष्कर्म और दुर्गुण भी भगवत्प्राप्ति में जीव के लिए बाधक सिद्ध होते है । रविदास ने अन्य दुर्गुणों के साथ परनिन्दा एवं साधनिन्दा को विशेष रूप से भगवत्-प्राप्ति में बाधक स्वीकार किया है और कहा है कि, ६८ तीर्थों का स्नान करनेवाला, दान आदि करनेवाला भी यदि 'करै निंद' तो 'सभ बिरथा जावै'[११] साध का निंदक किसी भी प्रकार तर नहीं सकता । बल्कि 'पापी नरकि सिधारिआ'[१२] उसे तो केवल

१. ४८६ रवि, १ । २. ६७४ रवि, १ । ३. ७१० रवि, १ ।
४. ११६६ रवि, १ । ५. ७६४ रवि, ३ । ६. १२६३ रवि, ३ ।
७. ६५६ रवि, ६ । ८. ६७४ रवि, १ । ९. ७६४ रवि, २ ।
१०. ३४६ रवि, ५ । ११. १२. ८७५ रवि, २ ।

नरक में स्थान प्राप्त है। अन्य बड़ी अवरोधक शक्ति है बाह्याडम्बर। रविदास के विरोध में कबीर की तीव्र कटुता नहीं, परन्तु उसके तीव्र मधुर व्यंग भी कम मर्म-स्पर्शी नहीं। दूध तो बछड़ा जूठा कर चुका है और 'फुलु भवरि' तथा 'जलु मीनि बिगारिओ'[१] तथा—

धूप दीप नैईबैदहि बासा। कैसे पूज करहि तेरी दासा ॥[२]

रविदास की समझ से बाहर है, कि पवित्र भगवान की इन अपवित्र वस्तुओं से वह कैसे पूजा करे। इसलिए वह तो 'तणु मणु अरपउ पूज चरावउ'[३] और सभी 'गुर परसादि निरंजनु पावउ।'[४] भगवान को पाने के लिए यह आडम्बरपूर्ण पूजा सामग्री अपर्याप्त है। आरती मे हम देख ही आए है, कि फूल, माला, चंदन, पवित्र जल, दीया, बत्ती, तेल और चंवर सभी कुछ तो उसके नाम में ही है और 'नाम' ही एक-मात्र ज्योति तथा 'हरि का भोग' है।[५] इतना ही नही 'अठसठि तीरथ स्नान', 'दुआदस शिला पूजा', 'कूपू तटा देवावै', 'ग्रहन करै कुलखेति' 'अरपै नारि सीगारि समेति', 'सगली सिमृंति स्रवनि सुनै', अनिक प्रसाद करावै', तथा 'भूमिदान सोभा मंडपि पावै', लेकिन साध निन्दा त्यागे बिना और सच्ची लगन से भगवान को अराधे बिना उसे भगवत्प्राप्ति नही हो सकती, अपितु वह नरकगामी ही होगा।[६] इससे भी अधिक सत्कुल में जन्म लेकर चाहे षट् कर्म को ही क्यों न करता रहे, लेकिन जब तक 'हरि भगति हिरदै नाहि'[७] जीव भव-पार पहुँच ब्रह्म को नहीं मिल सकता। केवल वेद-पुराणों का पढ़ना भी व्यर्थ है,[८] क्योंकि उससे भी 'अणभउ भाउ न दरसै।'[९] वस्तुत: इन सब अवरोधक शक्तियों का मूल कारण मायोत्पन्न अविद्या है, क्योंकि उसी ने ही 'बिवेक दीप मलीन'[१०] कर दिया है, इसलिए जब तक 'मैले कपरे कहा लउ धोवउ'[११] अपवित्र मन को पवित्र नहीं कर लिया जाएगा, जब तक भगवद्भक्ति सम्भव नहीं, और भगवद्भक्ति बिना भगवत्प्राप्ति असम्भव है। इस प्रकार इन अवरोधक शक्तियों का नाश करके ही अथवा इनसे बच कर या अप्रभावित रह कर ही जीव भक्त बन सकता है और तब भगवान को प्राप्त कर सकता है। रविदास ने कहा भी है, कि सच्चे भक्त को तो माया प्रभावित ही नही कर पाती—

'मोह पटल समु जगतु बिआपिओ भगत नहीं संतापा।'[१२]

इसलिए मन को पवित्र कर, भक्त बन जाना आवश्यक है।

सामाजिक मान्यताएं

रविदास की सामाजिक मान्यताओं का भी विशेष महत्त्व है। वस्तुत: जिस आन्दोलन को कबीर ने राष्ट्रीय स्तर पर आरम्भ किया था, रविदास ने उसे ही

१, २, ३, ४. ५२५ रवि, १। ५. ६६४ रवि, ३।
६. ८७५ रवि, २। ७. ११२४ रवि, १।
८. ६७३ रवि, १। ९. ६७३ रवि, १।
१०. ४८६ रवि, १। ११. १२९३ रवि, ३।
१२. ६५७ रवि, २।

जातिगत स्तर पर चलाया था। कबीर ने मानव मानव में समता और एकता का राग अलापा था, चाहे वह किसी भी धर्म, कर्म पद जाति व जन्म से सम्बन्धित क्यों न हो? रविदास ने घर मे उजाला करने के बाद ही जगत् को आलोकित करना उचित समझा था। हिन्दू जाति के 'बिखिआत चमार' होने का गौरव उन्हें प्राप्त था—उन्होंने उसी जाति को अपने 'चमारत्त्व' की अन्तर्ज्योति से ज्योतित करने का प्रयत्न किया। संक्षेप में जो कार्य कबीर ने एक दृढ़, सम्बद्ध राष्ट्र-निर्माण के लिए किया था, उसी के लिए रविदास एक सशक्त धर्म और जाति का आधार प्रस्तुत करते रहे। दोनों का कार्य एक ही था, केवल पैमाने एवं आकार का भेद था। सम्भवतः इसीलिए जहाँ रविदास का कार्य मधुर व्यंगों से चलता रहा, वहाँ कबीर को तिलमिला देनेवाले कटु व्यंगों के साथ-साथ पाण्डे-काजियों, ब्राह्मण-मुल्लाओं को भी ललकारना पडा।

जो हो, जात-पाँत का रविदास ने भी कबीर से कम शक्तिशाली शब्दों में विरोध नहीं किया। 'जाति बिखिआत चमार' ही 'रिदै राम गोविन्द गुण सार'[१] होने के कारण 'अब विप्र परधान तिहि करहि डंडउति'[२] बनारस के प्रधान ब्राह्मणों का ही साष्टांग प्रणाम-स्थल बना हुआ है। कबीर ने तो एक बार ललकारा ही था न 'मैं जुलाहा हूँ और तुम काशी के ब्राह्मण, मेरा ज्ञान पहिचानो'[३] लेकिन—

जाके कुटुम्ब ढेढ सभ ढोर ढोंवत फिरहि अजहु बनारसी आस पासा।

उसी रविदास को 'आचार सहित' विप्र करहि डंडउति तिन तनै'[४] लेकिन वह तो 'दासान दासा'[५] ही बना हुआ है। जन्म और जात-पाँत ही नहीं, कर्म तथा व्यवसाय की स्वतन्त्रता मे भी भक्ति के क्षेत्र में भगवान के दरबार में कोइ रोक-टोक नही, क्योंकि भक्त तो 'मेटी जाति' और झट से 'हुए दरबारि'[६] तथा उसने 'करि किरया लिनै कीट दास'।[७] अपना दास बना लिया। इसीलिए 'आछोप छीपा' नामदेव, जिसके कुल मे 'गऊरे बधु करहि' ऐसा जुलाहा कबीर, त्रिलोचन, कसाई सधना तथा नाई सेन तर सकते हैं[८] कोई कर्म या व्यवसाय भगवद्भक्ति में बाधक नहीं, उनका तो अपना महत्त्व है, क्योंकि 'कहु रविदास भइओ जब लेखो।' जोई जोई कीनो सोई स्रोई देखिओ'[९] गुरू नानक ने भी तो यही कहा है 'करनी आपो आपणी के नैड़े के दूरि।'[१०] कर्मानुकूल फल-प्राप्ति में रविदास ने अपना विश्वास इन शब्दों द्वारा प्रकट किया है—

जीअ जंत जहा लगु करम के बसि जाइ।
काल फास अवध लागे कछु न चलै उपाइ॥[११]

तथा 'पूरब लिखत लिलाट'[१२] भी इसी का परिणाम है। कर्म का महत्त्व स्थापित करते

१. १२९३ रवि, १। २. १२९३ रवि, १। ३. ४८२ क० २६।
४, ५. १२९३ रवि, २। ६, ७. ८७५ रवि, १।
८. 'नामदेव कबीरु तिलोचनु सधना सैनु तेरे।' (११०६ रवि, १)।
९. १२९३ रवि, ३। १०. ८ म० १, ? श्लोक। ११. ४८६ रवि, १।
१२. ३४६ रवि, ५।

हुए बाल्मीकी का उदाहरण देकर जीव को कर्मण्य-जीवन व्यतीत करने का सन्देश एवं प्रेरणा दी है—

काहे न बालमीकहि देख ।
किसु जाति ते किह पदहि अमरिओ राम भगति बिसेख ॥[१]

इसलिए जीव को सतर्क करता है 'काहे रिदै राम न जपसि अभाग ।'[२] कर्मण्य-जीवन में कथनी एवं करनी में ऐक्य का महत्त्व स्थापित किया है ।[३] रविदास वेदों के विरोधी नहीं । हे जीव ! संसार दुःखराशि है इस बात को 'अजौ न पत्याई निगम भए साखी ।'[४] इसीलिए भक्ति और कर्म के साथ-साथ उसने ज्ञान के महत्त्व को भुलाया नही—'उपजिओ गिआनु हुआ परगास',[५] और यह अन्तर्ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है । आडम्बरी ब्राह्मणों के पाखण्डपूर्ण ज्ञान का तो उन्होंने विरोध ही किया है, क्योंकि 'करम अकरम बीचारिये संका सुनि बेद पुरान' ।[६] ऐसे ब्राह्मण तो न जाने कितने मार्ग बताते है, जो संदेहोत्पादक हैं । इस प्रकार जन्म-जाति, कर्म-व्यवसाय का भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं—

बरन अबरन रंकु नही ईसुर विमल बासु जानिऐ जगि सोइ ।
ब्रहमन बैस सूद अरु ख्यत्री डोम चंडार मलेछ मन सोई ॥
होई पुनीत भगवंत भजन ते आपु तारि तारे कुल दोई ।
धंनि सु गाउ धंनि सो ठाउ धंनि पुनीत कुटंब सभ लोइ ॥
जिनि पीआ सार रसु तजे आन रस होई रस मगन डारे बिखु खोइ ।
पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि अउरु न कोई ॥
जैसे पुरैन पात रहे जल समीप भनि रविदास जनमे जगि ओइ ॥[७]

मध्ययुगीन भारत में 'संतों के भी संत' रविदास का समाज की पुकार के प्रत्युत्तर में यही सामाजिक समता का स्वर निनादित हुआ था । सम्भवतः आज भी पाँच, छह सौ साल बाद गांधी जी को इसीलिए 'हरिजन' पत्र चला कर 'हरिजन कॉलोनी' में ही रहना पड़ा था । मध्ययुग का एक 'विखियात चमार हरिजन' बन गया था, इसीलिए आधुनिक युग की एक दैवी आत्मा को उससे मिलने के लिए ही 'हरिजन' के स्तर तक आना पड़ा था । यह है 'बिखिआत चमार' की महानता और यदि उसकी सारी विचारधारा, तथा सारे कार्यों को शब्दों में आबद्ध करना हो, तो उनके ही इन शब्दों से अच्छे रूप में नही किया जा सकता—

जाति भी ओछी करम भी ओछा ओछा जनमु हमारा ।
नीचे से प्रभु ऊंच कियो है कह रैदास चमारा ॥[८]

इसलिए अपनी अनुभूति का सार वे इस रूप में कह गए है—

---

१ ११२४ रवि, १ । २. ११६७ रवि, १ ।
३. ६५८ रवि, ३ । ४. ७१० रवि, १ ।
५ ८७५ रवि, १ । ६. ३४६ रवि, ५ ।
७. ८५८ रवि, २ । ८. ४८६ रवि, ३ ।

हरि सा हीरा छाडि कै करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिगे सत भाखै रैदास॥

और युग युग-युगान्तर तक इस सत्य को जगत् की कसौटी पर कसता रहेगा।

धन्ना

'इह विधि सुनि कै जाटरो उठि भगति लागा।'[1]

पूर्वकालीन भक्तों ने नीच जाति का होते हुए, सामान्य व्यवसाय करते हुए भी भगवान को पा लिया। यह सुन धन्ना जाट भी भक्ति में लग गया और 'धंनै सेविआ बालबुधि'[2] धन्ने ने भगवान की सेवा में अपनी अबोध बुद्धि का परिचय दिया। जो हो, धन्ना अवश्य ही उच्च कोटि का भक्त था। भक्तमाल के अनुसार भगवान को हठात् इसका भोग ग्रहण करना पड़ा था[3] तथा संतों को मार्ग में खिलाए हुए अनाज के परिणामस्वरूप धन्ने का खेत बिना बीज के ही उग आया था। अन्यत्र धन्ने को त्रिलोचन का मित्र बताया है, जिसने उसे पूजा के लिए ठाकुर दिया था।[4] यही वह ठाकुर था, जिसने रूठे हुए धन्ने का भोग स्वीकार किया था। तब ही धन्ने ने भोजन ग्रहण किया था।[5] त्रिलोचन वहाँ पूजा करता था और गौएँ चराता हुआ धन्ना पास खड़ा होकर देखा करता था।[6] तभी उसने पूजा करने के लिए ठाकुर मांगा था। यद्यपि यह हस्तलिखित प्रति ऐतिहासिकता से कहीं अधिक भक्तिपरक है। तो भी नाभादास की भक्तमाल की तरह यदि इससे ऐतिहासिक तथ्य संगृहीत किए जाएँ, तो त्रिलोचन और धन्ना का मिलना अथवा कम से कम समकालीन होना तो सिद्ध होता ही है। एक विद्वान् का विचार है, कि सं० १४७२ में धन्ना का जन्म हुआ।[7] दूसरा मत है, कि १६ वीं शताब्दी के प्रथम या द्वितीय चरण में वह विद्यमान था।[8] धन्ने ने धुवान (जिला टाँक) राजस्थान में जन्म लिया था।[9] कबीर, रैदास आदि की तरह उनका नाम भी रामानंद शिष्य-परम्परा में आदर से लिया जाता है और इन्हें कबीर आदि का गुरू-भाई—(आयु में कुछ छोटा) स्वीकार किया गया है। यद्यपि रामानंद का शिष्य होने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं,[10] तो भी केवल भक्तमाल के उस एक ही पद के आधार पर यह माना जाता है। मीरा द्वारा ही उनका सर्वप्रथम उल्लेख होना[11] यह बताता है, कि ये उससे पूर्व ही प्रसिद्ध हुए होंगे।

---

१. ४८८ म० ५, २। २. ११६२ म० ५, १।

३. भक्त माल : नाभादास पृ० १२५।

४. प्रेम अबोध : गुरू गोबिन्द सिंह लिपिकाल सन् १६६३, (अप्रकाशित हस्तलिखित प्रति पंजाबी; सुरक्षित, शोधविभाग, शि० प्र० प्र० कमेटी, अमृतसर) पृ० ३६।

५. वही पृ० ४३। ६. वही पृ० ३३।

७. सि० रि० भाग ६, पृ० १०६। ८. उ० प० : परशुराम चतुर्वेदी पृ० २५२।

९. सि० रि० भाग ६, पृ० १०७। १०. उ० प० : प० च० पृ० २५१।

११. उ० प० : प० च० पृ० २५२।

साहित्यिक परिचय—

खेद का विषय है, कि हिन्दी के साहित्यकारों ने इन्हें संत स्वीकार करते हुए भी उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। एक विद्वान् ने तो अपने साहित्य के इतिहास में केवल ऐतिहासिक परिचय-मात्र देकर यह भी नहीं लिखा, कि उन्होंने कुछ लिखा भी है, या नहीं; उनकी कृतियों का आलोचनात्मक परिचय तो दूर की बात रही।[1] अन्य प्रायः सभी ने 'ग्रथ' मे उनके चार पद बताने की भूल की है।[2] 'ग्रंथ' में धन्ना के केवल तीन पद है। राग आसा में धन्नाजी के दो पदों के बीच का पद, धन्नाजी का न होकर गुरू अर्जुन का है, जो उन्होंने धन्ना के पहले पद की व्याख्या में अथवा उसे समझाने एवं प्रेरणा देने के लिए लिखा है।[3]

भक्त धन्ना के इन तीन पदों के अतिरिक्त मुझे तीन और पद देखने को मिले हैं।[4] जिनमे से दो राग भैरु तथा एक राग बिलावलु मे प्राप्त है।[5] 'ग्रंथ' में धन्ना जी के दो पद राग आसा (पृ० ४८७-४८८) तथा एक आरती (पृ० ६९५) प्राप्त हैं। इधर गुरू अर्जुन के पद को धन्ने का पद मान लेने के कारण कुछ बड़ी ऐतिहासिक भूलें हो गई है। 'धन्ने ने नामदेव, कबीर, रैदास तथा सेन से अपने आपको प्रभावित स्वीकार किया है।'[6] वस्तुतः ऐसी बाात नहीं है। क्योंकि यह तो गुरू अर्जुन का वह पद है जिसमे उन्होंने इन भक्तों के उदाहरणों से धन्ने को भी भक्ति का महत्त्व बताते हुए भक्ति में ही तल्लीन होने की प्रेरणा दी है।

'ग्रंथ' के बाहर के एक पद में' हरि बिन और न कोई' तथा 'करता करै सु होई' इन दो विचारों की प्रधानता मिलती है।[7] इस प्रकार भगवान का महत्त्व स्थापित हो जाने पर 'हरि गुन गाइरे हरि गुण गाइ'[8] कह कर उसमें ही तल्लीन होने का सदेश दिया है और यह कहते हुए अपनी विनम्रता का परिचय दिया है, 'अगणित महिमा राम तुम्हारी।' लेकिन अबोध—'मैं गुण का जाणौं गोपाल।' पुनः राग बिलावलुवाले पद में—

'तेनु धरे जिनि राम कहे। तिनके दुख दारण आप दहे।'[9]

उसने भगवद्भक्तों के उद्धारक ब्रह्म का स्वरूप सोदाहरण प्रस्तुत किया है। इसमें नारद, अम्बरीक, प्रह्लाद, सुदामा, सनक, सनंदन के साथ-साथ 'नामां' का नाम भी गिनाया है। जिसमे स्पष्ट है, कि कबीर, रैदास आदि गुरु-भाई समझे जाने-

१. हि० आ० इ० : पृ० २२२।
२. सि० रि० मैकालिफ भाग ६, पृ० १०८; उ० प० : प० च० पृ० २५३; हिन्दी साहित्य पृ० १४०।
३. विस्तृत विवेचन अध्याय ३ 'संत वाणी में देखें।
४. ह० लि० प्रति २४२१/१४०९ ना० प्र० सभा काशी।
५. वही पृ० २३१।
६. उ० प० : प० च० २२६; हिन्दी साहित्य : आचार्य ह० प्र० द्वि० पृ० १४०।
७. ह० लि० प्रति नं० २४२१/१४०९ पृ० २३१ पद सं० १।
८. वही पद सं० २। ९ वही पृ० २३१ पद सं० ३।

वाले तब तक इतने प्रसिद्ध न हो सके थे, जितने पूर्ववर्ती नामदेव। लेकिन इन सबने ही 'गुर परसादि परम पद पावै'। गुरू की कृपा से ही परम पद पाया है।

ग्रंथ' में प्राप्त पदों के आधार पर धन्ने की विचारधारा का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

सर्वकर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक ब्रह्म ही सर्वरक्षक हैं। जो 'जननी केरे उदर उदक' से ही बच्चे की उत्पत्ति कर देता है तथा पानी से बाहर रहनेवाले कछुए के बच्चों को बिना दूध के ही पाल देता है। इतना ही नहीं, वही पत्थर मे स्थित कीड़े को भोजन पहुँचा कर असम्भव को सम्भव कर देता है, इसीलिए संसार में एक-मात्र वही पूर्ण है।[1] सम्भवतः ये अपने पहले जीवन में साकार में विश्वासी हों, लेकिन इनके ब्रह्म का यह रूप तो निराकार ही है।

ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित कर वह जीव को चेतावनी देता है, कि 'करता करै सु होई' और तुम्हारे किए तो कुछ भी नहीं हो सकता, अतः 'हे चित चेतसि कि न' हे चित ! क्यों नहीं जागता ? क्योंकि अब तक तूने 'भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने तनु मनु धनु नहीं धीरे।'[2] अनेक जनम तो व्यर्थ घूम कर व्यतीत कर दिए हैं। विषय को अमृत समझ करैं तथा उन्हीं में सुख जान कर 'बिसरे प्रभु हीरे' हीरे-प्रभु को भुला दिया।[3] परिणाम यही है, कि वह शीघ्र ही यम का शिकार होगा। इसका कारण यही है, कि जीव को 'बिखु फल मीठ लगे' तथा पागल मन ब्रह्म का विचार ही नही करता। अतः मन को सतर्क किया है, कि ब्रह्म का विचार करो। क्योंकि सांसारिक इच्छाओं को तृप्त करने पर ही गुरू ब्रह्म-ज्ञान से अतःकरण को प्रकाशित करेगा। तब उसी ने नाम 'धनु दीआ' उससे प्रेम भगति, उत्पन्न हो गई। इस प्रेम-भक्ति में निरन्तर तल्लीनता से ही मुक्ति प्राप्त होगी, जिसमें सन्त समागम विशेष रूप से सहायक है। इस अंतर्अनुभूति का परिणाम है, कि जीव ने 'अछली प्रभु पहिचानिआ' और वह 'जोति समाइ' अपने साध्य तक पहुँच गया।[4]

राग आसा के इन दो पदों में ही धन्ने ने भगवान के महत्त्व को जान लिया और गुरू अर्जुन से प्रेरणा पाकर 'बाल बुधि' से वह भक्ति मे लग गया। लेकिन इन निर्गुण उपासकों का भगवान भी भक्तवत्सल ही रहा है। कबीर ने भी कहा था 'भूखे भगति न कीजै यह माला अपनी लीजै'[5] इतना ही नही, गृहस्थी की सभी वस्तुओं के लिए भी उसने भगवान से प्रार्थना की थी, क्योंकि उसके 'मुंडीआ' साथी सभी कुछ खा जाते थे और लोई बेचारी को 'चाबनु' ही मिलते थे।[6] धन्ने ने भी भक्तों के 'कारज सवारता' की आरती करते हुए 'दालि सीधा' 'पन्ही आछादानु,' अनाज, 'गऊ भैंस के साथ-साथ 'घर की गीहनि चंजि' भी मांगी है।[7] इससे स्पष्ट है, कि इनका प्रवृत्तिमार्गी जीवन भी निर्लिप्त ही था। इसीलिए खेती करते हुए भी

१. ४८८ धन्ना, ३। २. ४८७ धन्ना, १। ३. ४८७ धन्ना, १।
४ ४८७ धन्ना, १। ५. ६५६ क० ११। ६. ८७१ क० ६।
७. ६९५ धन्ना १।

ये निर्लिप्त थे। निष्काम कर्मण्य-जीवन और भगवान में अनन्य लौ इन सन्तों की सबसे बड़ी क्रियात्मक देन थी। इसीलिए जन्म से जितने निम्न कुलों से ये सन्त आविर्भूत हुए थे, व्यवसाय से जितने सामान्य स्तर से विकसित हुए थे' अपने कार्य और आचार से उतने ही महान् हो गए। धन्ना भी ऐसे ही धन्य संतों में से एक हैं।

सेन

सेन नाई होकर भी उच्च कोटि के संत हो चुके हैं। भक्तमाल के अनुसार सन्तों की सेवा में देर होने के कारण भगवान ने स्वतः नाई का रूप धारण करके उसके स्थान पर राजा की सेवा की थी।[1] जो हो, यह निश्चित है, कि यह उच्च कोटि के भक्त थे और भगवद्भक्ति के कारण नामदेव, कबीर, त्रिलोचन तथा सधना के साथ-साथ भव-पार पहुँच गए थे।[2] रविदास ने 'ग्रंथ' में इसका वर्णन किया है। प्रो० रानाडे ने इनका समय लगभग सं० १५०५ निर्धारित किया है।[3] अन्य किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में प्रायः सभी विद्वानों ने उसे स्वीकार किया है। इनके विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक तो यह कि ये बीदर के राजा की सेवा में थे और प्रसिद्ध मराठी सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन तथा शिष्यमण्डली में थे।[4] दूसरा यह कि बांधवगढ़ के राजा राजाराम के नाई थे तथा रामानन्द शिष्य परम्परा में थे[5]। 'ग्रंथ' का उद्धरण देते हुए चतुर्वेदी जी ने भूल से यह लिख दिया, कि राजा अपने नाई का ही शिष्य बन गया। जबकि 'ग्रंथ' में उल्लिखित उनके पद में यह विवरण प्राप्त नहीं।[6] इस विषय में बी० एस० पण्डित का लेख महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, जिसका चतुर्वेदी जी ने उद्धरण अवश्य दिया है, लेकिन दुःख है, कि वह लेख हमें अधिक परिश्रम के बाद भी न मिल सका। जो हो, इनके १५० के लगभग अँभंगों को देख कर डा० विनयमोहन शर्मा का यह मत ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, कि ये बीदर के ही राजा के यहाँ रहे होंगे।[7] प्रेम अबोध में लिखा है, कि एक बार ब्रह्ममुहूर्त में सेन ने सधना को उठाया और वह उठ कर घर चला गया।[8] यदि यह प्रामाणिक है, तो इनके जीवन पर और प्रकाश पड़ सकेगा। कम से कम यह तथ्य विचारणीय अवश्य है। हिन्दी में इनका 'ग्रंथ' में केवल एक पद प्राप्त है।[9] उधर डा० विनय मोहन शर्मा ने इनका एक और हिन्दी पद खोज निकाला है।[10] हमें भी इनका एक

---

१. भक्तमाल : नाभादास पृ० ५०८।
२. 'ग्रंथ' ११०६ रवि १-२।
३. मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र: प्रो० रानाडे पृ० १९०।
४. उ० प० : प० च० पृ० २३०।
५,६. सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० १२०।
७. मराठी संतों की हिन्दी को देन : डा० विनय मोहनशर्मा पृ० १३२।
८. प्रेम अबोध : भाई हरि सिंह, गुरदित्त सिंह पृ० २८०।
९. 'ग्रंथ' साहिब में सेन की कई सूक्तियां उद्धृत हैं। (हि० आ० इ० : डा० रामकुमार वर्मा पृ० २२४) हमें केवल एक ही पद मिल सका है।
१०. मराठी संतों की हिन्दी को देन : डा० विनय मोहन शर्मा पृ० १३३।

और हिन्दी पद देखने को मिला है।[1] इसके अतिरिक्त सेन जी द्वारा रचित 'कबीर अरु रैदास संवाद' भी प्रसिद्ध है, जिसमें ६९ छंद है।[2]

साहित्यिक परिचय

श्री समर्थ वाग्देवता मन्दिर की जीर्ण पांडुलिपि में धनासरी राग में प्राप्त (जो डा० विनय मोहन शर्मा ने खोज निकाला है) पद में वेद, शास्त्रों को झूठ बताते हुए सच्चे भक्त कबीर और रोहिदास कोही धन्य कहा है।[3] ना० प्र० सभा के हस्त-लेख में राग गौड़ी में प्राप्त पद में भगवान से प्रार्थना की है, कि अपराधी होने पर भी दास को छोड़ना नहीं चाहिए। क्योंकि उसका तो 'और नहीं आलम्बना।' अतः 'राम राइ' उस पर कृपा करो। यह कहते हुए सदा ही भगवान की कृपादृष्टि की याचना की है।[4] 'ग्रन्थ' में उनकी एक-मात्र आरती करना व्यर्थ बताया है, क्योंकि इस सबमें वह स्वतः विद्यमान है। हृदय के उत्तम दीये में स्नेह रूपी भक्ति तथा बत्ती रूपी नाम के ज्योति-ब्रह्म मे तल्लीन होना ही वास्तविक आरती है। भगवान को जाननेवाला ही उसके इस सुन्दर रूप को पहचान पाता है तथा भक्ति के माध्यम से उसमें रम कर पूर्ण आनन्द लेता है। इस प्रकार की भक्ति को रामानन्द जानता है।[5] सम्भवतः सेन द्वारा रामानन्द का नाम लेने के कारण ही उसे रामानन्द का शिष्य माने जानेवाले मत को प्रश्रय मिल गया। जो हो, यह भी शोध का विषय है। 'कबीर अरु रैदास संवाद' में सगुण पर निर्गुण की तार्किक विजय दिखाते हुए यह बताया है, कि रैदास और कबीर दोनों ने एक दूसरे को गुरु-भाई स्वीकार किया है।[6] हिन्दी रचनाओं के अतिरिक्त १५० मराठी अंगों के प्रमुख विषय निम्न है—

१—पंढ़र पुर के बिठोवा (बिट्ठल) का रूप वर्णन। २—नाम-माहात्म्य। ३—मोक्ष-तुच्छता (भक्ति-माहात्म्य)। ४—कीर्त्तन-महिमा। ५—आत्मसमर्पण परक पद। ६—याचनापरक पद। ७—नीतिपरक पद। ८—गोपी-प्रेम सम्बन्धी पद।[7]

इन्हें पढ़ने से ज्ञात होता है, कि उन्होंने बीठुल को भी बाल-कृष्ण का ही रूप स्वीकार किया है। उनकी 'गौलक्ष' शीर्षक रचनाएँ अति सरस बन सकी है।[8]

जो हो, इससे यह स्पष्ट है, कि अन्य सन्तों की भाँति ये भी अपने पहले जीवन में सगुण के पुजारी थे और अन्त मे निर्गुणोपासक बने थे।

हिन्दी के सभी प्राप्त पदों में स्पष्ट, सरल एवं सरस ब्रज भाषा के दर्शन होते हैं, जो भक्तिपरक होने के कारण मर्मस्पर्शी एवं चित्ताकर्षक है। कौन जानता

१. ह० लि० प्रति स० २४२१। १४०६ (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० सं० २३१।
२. ना० प्र० सभा काशी—हस्तलिखित ग्रंथ संख्या १४२४, लिपिकाल सं० १८५६।
३. मराठी संतो की हिन्दी को देन पृ० १३३।
४. हस्तलेख (ना० प्र० सभा काशी) पृ० २३१।
५. 'ग्रंथ' ६९५ सैणु १।
६. पद संख्या ३५,६६।
७. डा० विनयमोहन शर्मा का लेखक के नाम 'पत्र' से उद्धृत (तिथि ३-२-५८)
८. मराठी संतों की हिन्दी को देन पृ० १३२।

है, कि राजा को भी नाई का शिष्यत्त्व ग्रहण करना पड़ा था, सम्भवतः इसीलिए उत्तर भारत के कई प्रांतों (पंजाब आदि) में नाई को 'राजा' नाम से पुकारा जाता है। इससे अधिक भक्त का महत्त्व हो भी क्या सकता है ?

पीपा

राज-पाट, ऐहिक सम्पत्ति को छोड़ भक्ति के माध्यम से मुक्ति की ओर अग्रसर होनेवाले पीपा का अपना ही महत्त्व है। प्राप्त का त्याग ही वास्तविक त्याग है और गागरोंन गढ़ के राजा पीपा का जीवन इसका ज्वलंत उदाहरण है। सपत्नी राज-पाट त्याग कर नाम धन अपनाया और भक्ति करने जा पहुँचे, द्वारिका नगरी। इनका जीवनकाल अन्यान्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न माना है,[1] परन्तु इनका जन्म सं० १४६५ के लगभग अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। भक्तमाल के अनुसार ये भी रामानन्द के शिष्य माने जाते हैं।

सं० १७४० की एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार उन्होंने रामानंद को गुरू स्वीकार कर दंडवत् प्रमाण किया (पृ० २२७) वहाँ इन्हें कबीर के भी दर्शन हुए तथा 'पीपा स्वामी सैन मिलाही' (पृ० २३०) से ज्ञात होता है कि, रामानंद के ही समीप सेन और पीपा परस्पर मिले थे। जो हो, इसमें पीपा जी का वृत्तांत बहुत विस्तार से दिया हुआ है, जो भक्तिपरक होता हुआ भी ऐतिहासिक शोध का विषय है। पीपा की पत्नी जब उनका साथ छोड़ने को तैयार न हुई तो रामानंद ने उसे 'धर्म की बेटी' कहा (पृ० २३४) और उसे पीपा के साथ ही द्वारिका जाने की आज्ञा दे दी।[2] प्रेम अबोध के अनुसार रामानंद उसका गुरू था (पृ० २१६) तथा रविदास और कबीर गुरू रामानंद के पास उपस्थित थे, जबकि पीपा रामानंद का शिष्यत्त्व ग्रहण करने बनारस पहुँचा (पृ० २३४)। पुनः शिष्यत्त्व ग्रहण कर गुरू आज्ञा से सपत्नी द्वारिका जी चला गया।[3]

'पीपा जी की बानी'[4] तथा 'पीपा की बानियाँ'[5] में क्रमशः इनके आध्यात्मिक ज्ञान तथा निर्गुण ज्ञानोपदेश सम्बंधी पद संगृहीत मिलते हैं। 'पीपा जी की बानी' नाम से इनकी रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित भी हो चुका है, लेकिन अब प्राप्य नहीं।[6]

---

१. एन० आ० रि० लि० : फर्कुहर पृ० ३२३, (सं० १४८२ जन्म)।
अ. आर्कियॉलॉजिकल सर्वे रिपोर्टः कनिंघम, भाग ३, पृ० १११ (वर्तमान सं १४१७ से १४४२ के मध्य)।
ब. सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० १११ (जन्म सं० १४८२ ।
स. नि० सं० : पी० बड़थ्वाल पृ० ४० (जीवनकाल लगभग स० १४१० से १४६० तक)।
द. उ० प० : प० च० पृ० २३४ (जन्म सं० १४६५ से १४७५ के लगभग)।

२. ह० लि० प्रति, ना० प्र० सभा० काशी सं० २३४३। १४०० से २३७१। १४०० लिपिकाल सं० १७४० (पीपा जी का वर्णन पृ० २१६-२५४, २७४-३०४)।

३. प्रेम अबोधः भाई हरिसिंह गुरदित सिंह पृ० २४७।

४. ह० लि० प्रति, ना० प्र० सभा, काशी देखें १६०६।२२४।

५. ,, ,, ,, ,, ,, ,, देखें १६४१।५१५।

६. उ० प० : प० च० पृ० २३५।

एक अन्य पुरातन प्रामाणिक हस्तलेख में भिन्न-भिन्न रागों में इनके १६ पद तथा १२ साखियाँ प्राप्त हैं।[1] उसमें भी धनासरी राग में एक पद प्राप्त है। 'ग्रंथ' में इनका राग धनासरी में केवल एक ही पद प्राप्त है,[2] लेकिन वह हस्तलेख के धनासरी राग के पद से भिन्न है। इनके पदों से ज्ञात होता है कि रामानंद के शिष्य बनने से पहले ये सगुणोपासक थे और बाद में निर्गुणोपासक।

'ग्रंथ' के बाहर राग धनासरी में प्राप्त एक पद में उन्होंने भगवत्प्राप्ति विद्या और दान के स्थान पर 'साध संगति बिन मेरों कही न मानै मन' कहते हुए सत्संगति से मन को नियंत्रण में लाने पर जोर दिया है।[3]

'ग्रंथ' में उल्लिखित पद मे देह का महत्त्व स्थापित करते हुए, 'धूप दीप नई-वेदा 'तथा' 'पाती' आदि सभी कुछ से उस निरंकार को पूज्य बताया है, जो देह में ही निवास करता है, क्योकि 'जो ब्रहमंडे सोई पिंडे' अतः उसे तो 'जो खोजै सो पावै।' इस प्रकार परिवर्तनशील जगत् में एक-मात्र सत्य 'परम ततु' को सत्गुरू की कृपा से ही अनुभव किया जा सकता है।[4] पीपा की वाणी की सादगी और सरलता उनके व्यक्तित्त्व के इन गुणों की परिचायिका है। उनका माधुर्य और नम्रतापूर्वक समझाना उनके भक्त-हृदय के सूचक है। इसीलिए पीपा राजा होकर भी भक्त हो सके, जीवन भर गृहस्थी रह.कर भी निर्लिप्त रह सके, यही उनकी महानता के चिह्न हैं।

सधना

सधना कसाई होते हुए सी जीव-हत्या स्वतः न करता था, हाँ! व्यवसाय में आबद्ध होने के कारण मांस अवश्य बेचता था। संत होने के लिए जाति और व्यवसाय का कोई बंधन नही, क्योंकि ऐसे व्यक्तियो की तो एक ही जाति है 'भक्त'। इन्हें नामदेव का समकालीन माना गया है।[5] प्रेम अबोध से भी इस मत की पुष्टि होती है।[6] जो हो, सधने का समय १४ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग स्वीकार किया जा सकता है। ये सेहवान (सिंध प्रांत) के निवासी कहे जाते है। सरहिंद में इनकी समाधि प्राप्त है, लेकिन कोई विवरण वहाँ से भी नहीं प्राप्त हो सका। 'संतगाथा' में प्राप्त छह पदों में फारसी-अरबी के शब्दों से यह अनुमान और भी दृढ हो जाता है।[7] चतुर्वेदी जी का अनुमान है, कि 'संतगाथा' के छह पदों का रचयिता और 'ग्रंथ' के एक पद का रचयिता सम्भव है, भिन्न-भिन्न व्यक्ति हों।[8] यह अभी शोध का ही विषय है।

१. ह० लि० प्रति, ना० प्र० सभा काशी सं० २४२१ । १४०६, पृ० २३१-२३३
२. 'ग्रंथ' ६९५ पीपा १।
३. 'ग्रंथ' ६९५ पीपा १।
४. सि० रि० : मैकालिफ, भाग ६, पृ० ८४।
५. प्रेम अबोधः हरिसिंह गुरूदितसिंह पृ० ३००।
६,७. उ० भ० : प० च० पृ० १०१।
८. हस्तलेख सं० २४२१ । १४०६ का० ना० प्र० सभा, पृ० २३६।

'ग्रंथ' मे प्राप्त इस एक पद के अतिरिक्त हमें सधना के दो पद एक अन्य हस्तलेख में मिले हैं।[१] दोनों पद राग रामकली में है। जबकि 'ग्रंथ' मे प्राप्त पद राग बिलावलु में है। इनमें से दूसरा पद 'ग्रंथ' के पद का ही थोडा बहुत परिवर्तित रूप है। क्योंकि शब्दावली एवं पद प्राय: सभी मिलते है, केवल क्रम मे भेद है।

पहले पद में बताया है, कि संसार में 'एक हलाहल एक अमीरस', दो रस हैं। लेकिन कोई भी व्यक्ति एक साथ दोनों का पान नही कर सकता। अत: संतोषपूर्वक अलौकिक रस की ओर बढ़ना चाहिए। बिरला ही उसके महत्त्व को समझता है।[२]

'ग्रंथ' के पद में नृप-कन्या को ब्याहने के लिए विष्णु-भेखधारी उस कामार्त्ती व्यक्ति का वर्णन है, जिसे राजा पर आक्रमण होने पर भागना पड़ा था। भगवान की महानता इसी से बताई है, कि वह अपने दुष्कर्म अनुभव करनेवाले पापियों का भी उद्धार कर देता है। चातक का उदाहरण देकर भगवान के प्रति अनन्यता का महत्त्व स्थापित किया है, किन्तु साथ ही डूब कर मरने के बाद नौका की व्यर्थता सिद्ध की है। अत: भगवान की शरण मे जाकर पूर्णतया आत्मसमर्पण करके शीघ्र ही तार लेने की प्रार्थना की है। यह नम्रता कसाई के विगलित 'अह' की परिचायिका है।[३]

सधना के ये पद स्वच्छ ब्रज भाषा का स्वरूप हमारे सम्मुख रखते हैं। उनकी प्रार्थना की नम्रता ने उनकी भाषा को भी अधिक लचीला तथा मृदुल बना दिया है। यही है कसाई की भक्ति की अभिव्यक्ति।

इस प्रकार परम्परा से रामानद की शिष्य परम्परा मे माने जानेवाले 'ग्रंथ' में उल्लिखित सभी संतों का व्यक्तित्त्व साहित्यिक परिचय एवं विचारधारा का विवरण प्रस्तुत किया गया है। कबीर के विशिष्ट व्यक्तित्त्व ने उन्हे इन सबसे भी पहले ही स्थान दिलवा दिया (गत अध्याय मे) और रामानंद परम्परा में न होते हुए भी सधना ने अपने उपयुक्त वातावरण देख इन संतो में ही अपना स्थान बना लिया। क्योंकि सभी सतों की एक ही जाति; एक ही कोटि होती है। गुरू और शिष्य सभी एक दूसरे से बढ़ कर महान् है।

———

१. 'ग्रंथ' ८५८ सदना १।
२. ह० ले० स० २४२१। १४०६, पृ० २३६ पद सं० १।
३. ८५८ सधना १।

षष्ठ अध्याय

महाराष्ट्री संतों के धार्मिक विश्वास

नामदेव: व्यक्तित्व

'भक्तों में भी भक्त' नामदेव मूलतः भक्त थे। भगवान ने तो 'दीपे के घरि जनमु दैला'[1] तो भी एक सच्चे भक्त की तरह उन्होंने अपने आपको मूर्ख और अज्ञानी समझ कर भगवान के सम्मुख पूर्ण आत्मसमर्पण कर प्रार्थना की थी, 'संसारु समुंदे तारि गोबिंदे।'[2] भगवान तक प्रार्थना नही पहुँची, तो और दीन होकर पुकारा—'मोकउ तारि ले रामा तारि ले।' साथ ही कारण भी दिया, कि—

मैं अजानु जनु तरिबे न जानउ बाप बीठुला बाह दे।[3]

यह प्रार्थना करते हुए उसने छिपाया नहीं, अपितु स्पष्ट ही कहा—'अधमु अजाति नामदेउ तउ सरनागति आईअले'[4] और थोड़ी देर बाद उसने अनुभव किया कि 'मेरे माथे लागीले धूरि गोबिंद चरनन की।'[5] धूल क्या लगी, और दीन बन कर अपने आपको गरीब कहते हुए उसने नाम को ही जीवन का आधार बना लिया।[6] तब नाम के लिए नामदेव में इतनी तड़पन पैदा हो गई, कि 'राम नाम बिनु घरीअ न जीवउ'।[7] इस अनवरत एवं अनन्य तड़पन के कारण 'नामे प्रीति नाराइन लागी'[8], देह को उसकी मस्जिद तथा हृदय को उसका पुजारी बना भक्त भगवान की भक्ति में तल्लीन हो गया[9] और तब उसे संसार की क्या परवाह? मस्त भक्त अलापा—'तेरी भगति न छोड़उ भावै लोगु हसै,' क्योंकि अब तो 'चरन कमल मेरे हीअरे बसै'[10] और 'मैं बउरी मेरा रामु भतारु'[11] बन चुका है फिर हँसी ही क्या 'भले निंदउ भले निंदउ भले निंदउ लोगु' लेकिन मेरा तो 'तनु मनु' सभी कुछ केवल 'राम

---

१. ४८६ नाम, ५। २. ११९६ नाम, २। ३. ८७३ नाम, ३।
४. ९८८ नाम, २। ५. ६९४ नाम, ५। ६. ७२७ नाम, १।
७. ४८५ नाम, ३। ८. ११६४ नाम, ७। ९. ११६७ नाम, १।
१०. ११९५ नाम, १। ११. ११६७ नाम, ४।

पिआरे जोगु ।'[1] मीराँ ने भी तो संसार को ठुकरा कर साँवलिया को इसी अनन्य तड़पन से अपनाया था । इसका परिणाम क्या हुआ ? रंगाई और सिलाई में भी आध्यात्मिकता छा गई, क्योंकि—'मनु मेरो गजु जिहवा मेरी काती । मपि मपि काटउ जम की फासी ।' जात-पाँत की परवाह किए बिना रात-दिन वह नाम का जाप करता है, तथा 'रागिनि रागउ सीवनि सीवउ ।' लेकिन 'राम नाम बिनु घरीग्र न जीवउ ।' इतना ही नहीं, उसके पास 'सुइने की सूई' तथा 'रुपे का धागा' है लेकिन आठों पहर अपने खसम का ध्यान करता है, शरीर से काम करता है, तथा 'नामे का चितु हरि सिउ लागा ।'[2] यह है, निष्काम कर्मण्य-जीवन की अनन्य भक्ति के साथ सिलाई तथा आध्यात्मिकता में रंगाई । हिन्दी-साहित्य ही क्या; संसार के किसी भी साहित्य के उत्कृष्टतम आध्यात्मिक रूपक से जन-जीवन का यह रूपक टक्कर लेने की क्षमता रखता है । अतः जिस भगवान को पडित वेदों के माध्यम से भी न जान सके, उसे ही 'मूरखु नामदेउ जानै'[3] न केवल जाना, अपितु जानने के बाद गुरू ने 'अलखु लखाइआ'[4] तब अपने आप ही 'आजु नामे बीठलु देखिआ' और अब तो 'मूरख को समझाऊ रे'[5] कि अन्यान्य देवी-देवताओं की पूजा छोड़ एक 'घटि-घटि अंतरि ब्रहमु लुकाइआ'[6] की ही अनवरत अनन्य आराधना करो ।[7] ऐसे ही अनन्य भक्त की सशक्त भक्ति ने ही तो भगवान को भी यह कहने पर विवश कर दिया था कि, 'मेरी बांधी भगतु छडावै बांधै भगतु न छूटै मोहि । एकसमै मोकउ गहि बांधै तउ फुनि मोपै जबाबु न होइ ।' 'मैं गुन बंध सकल की जीवनि' लेकिन 'मेरी जीवनि मेरे दास ।' 'नामदेव जाके जीअ ऐसी तैसो ताकै प्रेम प्रगास । २ । ३ ।'[8] और अब तक दूध पीनेवाले,[9] देहुरा फिरानेवाले[10] तथा गौ को जिलानेवाले[11] बीठुल ने उसे विश्वास दिला दिया था, कि 'नामे नाराइना नाही भेदु'[12] अब जब भेद ही नहीं रहा, तो अनायास ही 'नामदेउ नाराइना पाइआ'[13] और इस प्रकार जब उसे पा ही लिया तो अधिक देर प्रतीक्षा किए बिना ही 'नामा साचि समाइआ ।'[14] यही है भक्त की अनवरत, अनन्य, अनत आराधना और उसका अमरफलपूर्ण ऐक्य ।

नामदेव के शब्दों में भगवान का आकर नामदेव के कटोरे से दूध पीने का[15] तथा शूद्र कह कर मदिर से निकाले जाने पर—उसके पीछे बैठ कर भगवत्स्मरण करने पर देहुरे के फिरने का[16] तथा सुलतान के सामने गौ जिलाने का[17] वर्णन भी मिलता है । यह तो अनुमान किया ही जा सकता है, कि सम्भवतः ये पद सगुण बीठुल के पुजारी नामदेव के है, न कि निराकार बीठुल के उपासक के । इसी प्रकार

---

१. ११६४ नाम, ४ । २. ४८५ नाम, ३ । ३. ७१८ नाम, १ ।
४. ८७४ नाम, ४ । ५. ८७४ नाम, ७ । ६. १३५१ नाम, ३ ।
७. ८७४ नाम, ५ । ८. १२५३ नाम, ३ । ९. ११६३ नाम, ३ ।
१०. १२६२ नाम, २ । ११. ११६६ नाम, १० । १२. ११६५ नाम, १० ।
१३. ८७४ नाम, ४ । १४. १३५१ नाम, २ । १५. ११६३ नाम, ३ ।
१६. ११६४ नाम, ६; १२६२ नाम, २ । १७. ११६५ नाम, ४; ११६६ नाम, १० ।

का एक अन्य पद भी मिलता है, जिसमें वृंदावन में खेलते, बेनु बजाते साँवलिया को नामदेव ने अपना स्वामी स्वीकार किया है।[1] उसकी ध्वनि से भी यह स्पष्ट है, कि यह शब्द सगुण के पुजारी का ही है। जो हो, इतना होते हुए भी नामदेव के विचारों का विश्लेषण करते हुए हम देखेंगे कि नामदेव का स्वामी निश्चित रूप से अवतार रूप में अवतरित न होनेवाला एवं आकार की सीमा से परे रहनेवाला ही रहा है, अतः इन पदों को नामदेव के पहले जीवन का—जब कि वे सगुण के पुजारी थे स्वीकार करने में कोई असुविधा नहीं प्रतीत होती। लेकिन भक्त-उद्धारक भगवान का क्रियात्मक रूप से कार्य करना आज के वैज्ञानिक बौद्धिक युग के मस्तिष्क की समझ से बाहर का प्रश्न बना रह जाता है। इसे इतिवृत्तात्मक सत्य न मान कर, भावात्मक सत्य स्वीकार करने में ही इस समस्या का समुचित समाधान माना जा सकता है। जो हो, यह निस्संकोच सत्य है, कि जिस भक्त की महानता भगवान ने स्वयं आकर स्वीकार की है, वह भक्त अवश्य ही 'भक्तों का भक्त' एवं संत साहित्य मे भक्त-शिरोमणि 'नाम' को 'देव' माननेवाला स्वतः 'नाम' का 'देव' बन अपना नाम अवश्य ही सार्थक कर गया। यही है उसका नाम उसके साधन का नाम—नाम (भक्ति)-मार्ग।

जीवन-वृत्त

महाराष्ट्रीय संत नामदेव का जन्म सं० १३२७ मे[2] गाँव नरसी-बमनी जिला सितारा में हुआ था। इनके पिता दरजी दामा शेट थे तथा माता गोना बाई।[3] इन्होंने अपनी जाति छींपी बताई है।[4] सम्भवतः उन दिनों छीपी कपड़े छापने तथा दर्जी का, दोनों ही कार्य करते हो। क्योंकि इन्होंने अपने पदों में अपने दर्जी के कार्य का वर्णन भी आध्यात्मिक रूपक में किया है, जैसा कि हम इनके व्यक्तित्व मे देख आए हैं। अस्सी वर्ष की अवस्था में पंढरपुर के बिट्ठल मन्दिर के महाद्वार पर सं० १४०७ में इनका निधन हुआ था।[5] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने नामदेव की मृत्यु पंजाब में गाँव घोमन में सं० १४६४ में मानी है।[6] इनका पंजाब की यात्रा करना प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। इन भेदों के आधार पर ही मराठी अभंगों के लेखक तथा 'ग्रंथ' के हिन्दी पदों के लेखक— दोनों के भिन्न-भिन्न नामदेव होने की सम्भावना की गई है। लेकिन नामदेव की हिन्दी एवं मराठी रचनाओं का मिलान करके डा० विनय मोहन शर्मा ने सिद्ध किया है, कि 'पंजाब और महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर-कालीन नामदेव भिन्न हैं।'[7] इधर फर्कुहर तथा डा० मोहनसिंह उनका समय

१. ६८८ नाम, २।
२. वै० शै० : भंडारकर, आर जी पृ० ६२।
३. सि० रि० : मैकालिफ, भाग ६, पृ० १७।
४. 'ग्रंथ' ४८६ नाम, ५।
५. सि० रि० : मैकालिफ, भाग ६, पृ० ३४।
६. मिडिवल मिस्टिसिज्म आफ इण्डिया : आचार्य क्षि० मो० सेन० पृ० ५६।
७. मराठी संतों की हिन्दी को देन : डा० वि० मो० शर्मा, पृ० १०४।

(सं० १४४७-१५०७) पन्द्रहवीं शताब्दी तक खींच लाए है, जो सबल प्रमाणों के अभाव में विशेष महत्त्व नहीं रखता। नामदेव का समय सं० १३२७-१४०७ ही उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि उनका ज्ञानदेव का समकालीन होना ऐतिहासिक तथ्य है।[1] इनके चार पुत्र तथा एक पुत्री थी।[2] इस प्रकार नामदेव गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए भी पूर्णतया निर्लिप्त थे। उनके पहले जीवन के पदों से ज्ञात होता है, कि वे साकार बीठुल के पुजारी थे, जो अधिकतर मराठी अभंगों के रूप में हमें प्राप्त हैं। 'ग्रंथ' में प्राप्त उनके पद वृद्धावस्था के प्रतीत होते है, जबकि वे निर्गुण के उपासक बन चुके थे। वे संत से अधिक भक्त और 'भक्तों' के भी भक्त थे। उनकी रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं। कबीर ने अपनी रचनाओं में भक्ति के मर्म को पहचाननेवाले जयदेव और नामदेव का नाम श्रद्धापूर्वक लिया है।[3] रविदास ने भी 'आछोप छीपा'[4] को कबीर, त्रिलोचन आदि के साथ भव-पार पहुँचनेवाला बताया है।[5] इसी प्रकार अन्य संतो ने भी उसे उच्च कोटि का भक्त स्वीकार किया है। इसीलिए उनको 'भक्तो का भी भक्त' कहना उपयुक्त जान पड़ता है।

साहित्यिक परिचय

मराठी अभंगों तथा हिन्दी के पदों के रचियता एक ही नामदेव है, यह मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है। ग्रंथ' में इनके केवल ६१ शब्द प्राप्त हैं, हमें एक हस्त-लेख में १२१ हिन्दी के पद तथा १६ साखियाँ देखने में आई है।[6] जिनमे 'ग्रंथ' वाले बहुत से पद थोड़ी—बहुत शब्दावली के परिवर्तन के साथ प्राप्त है। नामदेव के मराठी अभंगों के प्रधान विषन निम्न है---

१. भगवान से मिलन-उत्कण्ठा। २. अनन्य-उपासना।
३. नाम-माहात्म्य एवं उसी में तल्लीनता। ४. माया-रक्षक गुरू का अनुग्रह।
५. बाह्याडम्बरों के प्रति उदासीनता। ६. पोथी पंडे का विरोध आदि, आदि।[7]

इन अभंगों में नामदेव के साकार बीठुल के ही दर्शन होते है। हस्तलेख एवं 'ग्रंथ' के पदों में भगवान को दूध पिलाने, देहुरा फिरने तथा गौ जिलाने आदि घट-नाओं का वर्णन होते हुए भी निराकार सर्वव्यापी बीठुल के ही दर्शन होते है। नाम-देव की विचारधारा मे इसका विश्लेषणात्मक अध्ययन मिलेगा।

वस्तुत: नामदेव भक्त थे। इसीलिए नामदेव के प्राण उनकी तड़पन मे है। कवि वही महान बन पाता है, जहाँ उसकी आन्तरिक तड़पन की अभिव्यक्ति हो, और नामदेव का काव्यगत सौन्दर्य देखना हो तो---

---

१. उ० पं० : प० च० पृ० १०५।
२. सि० रि० : मैकालिफ, भाग ६, पृ १८।
३. 'ग्रंथ' ३३० कबीर ३६। ४. १२६३ रवि, २।
५. ११०६ रवि, १, २।
६. हस्तलेख सं० २२४१। १४०६ (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० १८४-१६६।
७. मराठी संतों की हिन्दी को देन : डा० वि० मो० शर्मा, पृ० १०८।

मारवाड़ि जैसे नीरु बालहा बेलि बालहा करहला ।[1]

प्यासे मारवाड़ का रसास्वादन कीजिए । मीन और चातक से लेकर तड़पन की कोई परम्परीण तुलना नामदेव के किसी भी तड़पन के पद मे न मिलती हो, ऐसी बात नही ।

उनके विशाल ज्ञान के भंडार से परिचित होना हो, तो सुनिए, उन्हें इन सब बातों का ज्ञान है, कि प्रयाग में स्नान करनेवाला पुण्य का भागी होता है । काशी-वास श्रेष्ठ है । पिंडदान गया में कराना पड़ता है ।[2] ध्रुव, प्रह्लाद, बिभीखन, सुदामा, आदि सबका भगवान ने उद्धार किया हैं ।[3] इतना ही नही, उन्हे भगवान राम की पत्नी सीता की रावण द्वारा चोरी करने की कथा का भी ज्ञान है, तथा इन सबसे बढ़ कर 'लोधे का खेत' खानेवाली लंगड़ी गायत्री को भी उन्होंने देखा था ।[4] उनकी चित्ताकर्षक शैली का परिचय पाना है । तो पढ़िए—

तेली कै घर तेलु आछै जंगल मधे बेल गो ।
माली कै घर केल आछै केल बेल तेल गो ।[5]

यद्यपि इस प्रकार के पदों की संख्या अधिक नहीं, तो भी ये उनकी सामर्थ्य के परि-चायक अवश्य है । उनकी शैली में 'गागर में सागर' के बहुत अच्छे उदाहरण मिलते हैं ।

'असुमेध जगने । तुला पुरख दाने । प्राग इसनाने ।' तथा 'गइआ पिंडु भरता । बनारसि असि बसता ।'[1] आदि प्रत्येक दो-दो या तीन-तीन शब्दों के वाक्य-खण्ड मे पूरा भाव स्पष्ट झलक आता है और पद भी निरन्तर प्रह्वमान (गतिशील) रहता है ।

अनुप्रास तो अनायास ही मिलता है, उपमा से भी इनकी वाणी भरी पड़ी है । मन को गज, तथा (नामद्वारा) जीभ की कैंची बना कर यम को काटने का आध्यात्मिक रूपक दर्जी नामदेव को कितना शोभा देता है, यह बात केवल अनुभव करनेवाला ही जानता है ।[2] सृष्टि-रचना का वर्णन उन्होंने प्रश्नोत्तर रूप में किया, जिसमें उनकी भाषा भी सामान्य स्तर से विचलित हो गई, विस्तृत विवरण विचार-धारा में मिलेगा ।[3]

इनकी भाषा में 'तारीअले' आदि मराठी शब्दों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है,[4] जिनके उदाहरण सर्वत्र ही देखने को मिलते हैं । रागु तिलग मुस्लिम प्रिय राग है, अतः वहाँ फारसी शब्दों के आधिक्य ने पदों के लिए वैसा ही वातावरण उपस्थित कर दिया ।[5]

'पांडे तुमरी गाइत्री लोधे का खेतु खाती थी । लै करि ठेगा टगरी तोरी

१. 'ग्रंथ' ६९३ नाम, ३ । २. ८७३ नाम, १ । ३. ७१८ नाम, २ ।
४. ८७५ नाम, ७ । ५. ७१८ नाम, ३ । ६. ४८५ नाम, ३ ।
७. ६९३ नाम, ४ । ८. ३४५ नाम, १ । ९. ७२७ नाम, १, २ ।
१०. ८७५ नाम, ७ ।

लांगत लांगत जाती थी।'[१] तथा 'वाका लड़का मारिआ था' आदि पदों मे आधुनिक खड़ी बोली की क्रियाओं के कितने स्पष्ट दर्शन होते है।

अपनी वाणी में उन्होंने मुसलमानों का विरोध नहीं किया, क्योंकि उनके पास कबीर की कटुता न थी, उनका स्वर तो नम्र होकर सबको समझाता रहा, सहलाता रहा और पुचकारता रहा। नामदेव-त्रिलोचन की बातचीत का उल्लेख कबीर की वाणी में भी मिलता है।[२]

नामदेव और रविदास का 'पहिले दूध बिटारिओ बछले' आदि पद तुलनीय हैं।[३] दोनों में भाव विचार एवं कहीं-कहीं पदसाम्य भी प्राप्त है।

इस प्रकार नामदेव की वाणी की तड़पन में वह शक्ति है, जिसने अनायास ही भगवान को भी उसके बंधन में बंधने पर विवश कर दिया।[४] यही है भक्त की अनन्य भक्ति की शक्ति, जिसने भक्तों के भी भक्त नामदेव को सदा के लिए नामदेव ही बना दिया।

नामदेव की विचारधारा

ब्रह्म

जांचै घरि कुलालु ब्रहमा चतुरमुखु डांवड़ा जिनि विस्व संसारु राचीले।
जांकै घरि ईसरु बावला जगत गुरू तत सारखा गिआनु भाखीले'॥[५]

ब्रह्म के बड़प्पन का तो कहना ही क्या? यह तो उसके घर का ही परिचय है, जहाँ सृष्टि का निर्माता चतुर्मुखी ब्रह्मा कुलाल बना हुआ है और ईश्वर पगला-सा होकर भी सत्य ज्ञान का परिचय देता है। 'धरमराइ प्रतिहारू'[६] तथा 'चउर ढूर जांचै है पवणु'[७] इतना ही नहीं, 'छिनवै करोड़ मेघ माला' जिसकी 'पानी हारीआ' है। गंगा उसके नख से प्रसरित हुई है तथा सातों समुद्र उसके घड़े रखने के स्थान-मात्र हैं। ऐसा 'त्रिभुवन धनी' संसार की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त वह ब्रह्म है।[८] उस बेअंत के गुणों का बखान ही नहीं किया जा सकता, कहीं उसने 'जलधि बांधि' तो कहीं 'धू थापिओ हो'[९] इस प्रकार जब हरि की महिमा का गान करता हुआ नामदेव थक गया, तो बोला—'हरि की महिमा किछु कथनी न जाई'[१०] क्योंकि तेरा पारु न पाइआ बीठुला[११] जहाँ तुम्हारा पार ही नहीं पाया जा सकता—वहाँ अनंत महिमा का ही गान कैसे हो सकता है।

जिसकी महिमा ही अनन्त है, उसके आविर्भाव और तिरोहित होने का क्या ज्ञान? क्योंकि 'आवत किनै न पेखिओ कवनै जानै री बाई।[१२] वह तो 'आदि जुगादि जुगादि जुगो जुगु' इसलिए 'ताका अंतु न जानिआ'[१३] अनादि काल तक के लिए इसी रूप

१. ८७५ नाम, ७। २. देखें श्लोक कबीर २१२, २१३।
३. ४८५ नाम, २ तथा ५५२ रवि १। ४. १२५२ नाम, ३।
५, ६, ७, ८. १२९२ नाम, १। ९. ६५७ नाम, २।
१०. ११६४ नाम, २। ११. ११९२ नाम, २।
१२. ५२५ नाम, २। १२. १३५१ नाम, २।

में चला आ रहा है, अतः न तो उसके आविर्भाव और न ही तिरोहण को जाना जा सकता है।

केशव ही कलंदर का रूप धारण करके आ पहुँचा। छप्पन करोड़ बादल उसका पहिनावा हैं तथा प्रत्येक प्राणी ही उसका रूप। मेरी देह मस्जिद है और मन उसका पुजारी मुल्ला। शरीरधारी लक्ष्मी उसकी पत्नी है, लेकिन वह 'निरंकार आकारै' इस प्रकार नामदेव का स्वामी अन्यान्य रूप धारण करके अन्तरयामी होता हुआ भी 'फिरे सगल बेदेसवा'[1] किसी को यह भ्रम न हो जाए, कि नामदेव का 'बीठुल' आकारबद्ध है, मंदिर-स्थित है इसलिए उसने स्पष्ट ही कहा है कि 'नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत'[2] उसका कोई दृश्य-जगत् में रूप रंग हो, तब तो उसे कहीं स्थापित किया गया हो, लेकिम वह तो इससे परे है, इतना होते हुए भी नामदेव को इस बात का ज्ञान है, कि 'अनंत रूप तेरे नाराइणा'[3] क्योंकि वह तो उसे प्रत्येक रूप में ही अनुभव करने लगा। अतः बोला न केवल 'तेरा नामु रूड़ो' अपितु 'रूप रूड़ो रंग रूड़ो मेरो रामईआ'[4] उसका तो रूप और रंग दोनों ही सुन्दर एवं आकर्षक हैं। इस प्रकार प्रत्येक रूप में उसका सुन्दर रूप नामदेव ने अनुभव किया है। इसलिए 'आनँद रूपी मेरो रामईआ'[5]। आनन्दानुभूति होती ही वहाँ है, जहाँ राम के रूप की अनुभूवि हो जाए। ऐसा राम रहता कहाँ है ? इसका उत्तर है—'घटि घटि अंतरि ब्रहमु लुकाइआ'[6] वह तो प्रत्येक घट में अन्तर्हित है, प्रत्येक घट में ही क्या—'मेरा प्रभु रविआ सरबे ठाई।'[7] संसार में कोई भी तो ऐसी जगह नहीं, जहाँ वह न व्याप्त हो। इसीलिए उसकी स्थिति को ठीक रूप से न पहचानने के कारण 'कोई बोलै निरवा कोई बोलै दूरि।'[8] कोई उसे समीप बताता है और कोई दूर, लेकिन 'गोबिंदु बसै हमारै चीति'[9] उसका असली निवासस्थान तो हमारा चित ही है, केवल अन्तःकरण में अनुभव-मात्र करने की देर है। क्योंकि 'सभै घट रामु बोलै रामा बोलै। राम बिना को बोलै रे।'[10] सब में अकेला वही तो बोल रहा है। 'एकल माटी कुंजर चीटी भाजन है बहु नाना रे।'[11] इस सबसे स्पष्ट है, कि 'अस्थावर जंगम कीट पंतगम घटि घटि रामु समाना रे।'[12] न केवल बड़े से छोटे चेतन, अपितु जड़ पदार्थों में भी वही समाया हुआ है। इस प्रकार वस्तुतः वह 'नेरै नाही दूरि। निज आतम रहै भरपूरि।[13] अपनी आत्मा ही नहीं' सब अन्तर सब ठाँई हो'[14] इसलिए 'एक अनेक बिआपक पूरक जत देखत तत सोई।'[15] जहाँ देखो एक-मात्र वही है और 'बीठलु बिनु संसारु नही'[16] तथा वही 'पूरि रहिओ तू सरब माही।'[17] इस प्रकार न केवल एक मुरारि ही प्रत्येक घट में है, अपितु 'सभु

१. ११६७ नाम, १। २. ८७५ नाम, ७। ३. ११६३ नाम, १।
४. ६६३ नाम, ३। ५, १३५१ नाम, २। ६. १३५१ नाम, ३।
७. १३५० नाम, १। ८. ७१८ नाम, १। ९. ११६४ नाम, ७।
१०. ९८८ नाम, ३। ११, १२. ९८८ नाम, ३। १३. ६५७ नाम, १।
१४. ६५७ नाम, २। १५, ४८५ नाम, १। १६, ४८५ नाम, २।
१७, ४८५ नाम, २।

गोबिंदु है सभु गोबिंदु है। गोबिंदु बिनु नही कोई ॥'[1] भगवान की स्थिति ही सब वस्तुओं में नहीं, लेकिन सब वस्तुएँ भगवान का ही प्रसार-मात्र है, इस प्रकार वे भगवान से अतिरिक्त कुछ न होकर, संसार की प्रत्येक वस्तु में एक-मात्र भगवान की ही स्थिति अनुभव होती है। सो जिस भगवान के स्वरूप का ज्ञान न हो सका था, उसकी स्थिति का भान अवश्य हो गया है। लेकिन केवल स्थिति से नहीं, अपितु गुणों से ही किसी का उचित ज्ञान हो सकता है, अतः नामदेव के ब्रह्म का ज्ञान पाने के लिए उसके गुणों का विश्लेषण भी आवश्यक है।

जिसे आते-जाते किसी ने नही देखा,[2] वह ब्रह्म अजन्मा और अनादि ही नहीं, अकुल[3] और अयोनि भी है, क्योंकि बंधन मुकता जातु न दीसे'[4] इसीलिए वह अनश्वर और अनंत है और ऐसे ब्रह्म का पार कहाँ—तेरा पारु न पाइओ बीठुला'[5] बेअन्त उसके अनंत रूप[6] तथा महिमा भी अनंत है। वह तो वेदों से भी अज्ञेय ही बना हुआ है चाहे 'पंडित होइकै बेदु बखानै'[7] (यद्यपि 'मूरख नामदेउ रामहि जानै')। इतना ही नही, मन, बुद्धि और हृदय से भी परे का ब्रह्म अतीन्द्रिय भी है। नयनों से अलख,[8] वाणी की पहुँच से परे अविगत[9] जिह्वा से अस्वाद्य[10] तथा वाक्शक्ति से अकथ्य[11] है। वह तो 'गूंगे महा अंमृतु रसु चाखिआ पूछे कहनु न जाइ हो'[12] है। इस प्रकार नामदेव जैसे भक्तों के लिए उसके 'नेति' नहीं, 'सेति' गुणों का का महत्त्व है, क्योंकि उसके विषय में उन्होंने वही कहा है, जो अनुभव किया, बल्कि उसमें से भी बहुत-कुछ कहा नही जाता। जो अनुभव ही नहीं किया, उस विषय में अनधिकार चेष्टा नही की। क्योकि संतों की वाणी तो अनुभूति की ही अभिव्यक्ति-मात्र है।

उसकी स्थिति देखते हुए हम ऊपर देख आए हैं, कि वही सर्वव्यापक एवं सर्वान्तरयामी है[13]-'एकल माटी कुंजर चीटी'[14] इस प्रकार 'जंगमकीट पंतगम' तथा 'घटि घटि अंतरि ब्रहमु लुकाइआ'[15] क्योंकि भक्त को एक वही तो सब स्थानों पर 'लुकाइआ' अनुभव होता है, इसीलिए उसे घोषणा करनी पड़ी 'सभ रामु एकु करि जानिआ'[16] उसने तो 'बसै घटाघट' अन्तरयामी का रूप भी स्पष्ट कर दिया 'ऐसो रामराइ अन्तरजामी'—'जैसे दरपन माहि बदन पखानी'[17] वस्तुतः सबमें व्याप्त वह अकेला ही भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है और सब कुछ स्वतः ही बनता जाता है, तथा सब अपने आप ही करता जाता है—'आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा।' इतना ही नहीं, 'आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तूरा।'[18] जिस प्रकार 'जल ते तरंग तरंग ते है जलु कहन सुनन कउ दूजा।'[19] दो प्रतीत होनेवाले

---

१. ४८५ नाम, १। २. ५२५ नाम, २। ३. १३५१ नाम, ३।
४. १३१८ नाम, १। ५. ११६६ नाम, २। ६. ११६३ नाम, १।
७. ७१८ नाम, १। ८. ८७४ नाम, ४। ९. १३५० नाम, १।
१०, ११, १२. ६५७ नाम, २। १३, देखें ब्रह्म की स्थिति।
१४. ६८८ नाम, ३। १५. १३५१ नाम, ३। १६, ६५७ नाम, ३।
१७. १३१८ नाम, १। १८. १२५२ नाम, २। १९, १२५२ नाम, २।

जल-तरंग एक ही हैं, उसी प्रकार संसार में वास्तविक स्थिति उस एक की है, अन्य सब तो उसी के भिन्न-भिन्न रूप-मात्र है। इसीलिए तो कहा है 'जत देखत तत सोई,'[१] और उसके 'बिनु संसारु नहीं' लेकिन इस बात को 'बिरला बूझै कोई।'[२] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रचयिता भी वह स्वयं ही है[३] तथा 'जो किछु कीआ सु आपै आपै'[४] उसका नियंता भी एक-मात्र वही है। क्योंकि ब्रह्माण्ड भर में 'सभो हुकमु हुकमु है'[५] उसकी ही आज्ञा चलती है। इस प्रकार संसार में 'सभु गोबिंदु है सभु गोबिंदु है। गोबिंदु बिनु नहीं कोई'[६] और है भी वह 'पूरा'[७] इसलिए नामदेव ने एक-मात्र उसी को 'सति पदारथ जानिआ'[८]। यह है ब्रह्म के लौकिक गुणों की एक झलक। लेकिन भक्तों के भी भक्त 'नामदेव के सम्मुख तो भगवान अपनी विवशता इन दीन शब्दों में प्रकट करता है—'मेरी बांधी भगतु छुड़ावै बांधै भगतु न छूटै मोहि। एक समै मोकउ गहि बांधै तउ फुनि मोपै जबाबु न होई।'[९] इस प्रकार नामदेव का जो भगवान भक्त की भक्ति की शक्ति से उसके बस में आ गया है—भक्त को उसके दैवी नहीं, उससे कहीं अधिक लौकिक गुणों की अनुभूति हुई और यह वाणी तो उसी की अभिव्यक्ति-मात्र है। वस्तुतः नामदेव का बीठुल तो केवल भक्त-रक्षक, उद्धारक तथा भवतारक है, लेकिन अपने इन्हीं गुणों के परिणामस्वरूप सभी लौकिक गुण भी अनायास ही उसमें प्रतिभासित हो उठते है। उसे सम्पूर्ण पुराणों एवं प्राचीन इतिहास का ज्ञान है, कि कब-कब भगवान किस भक्त की रक्षा करने या उद्धार करने आए क्योंकि अपने उद्धार के लिए उसे भी तो उसकी आवश्यकता है और भगवान के न्यायालय में या दरबार मे इससे अधिक प्रमाण उद्धृत भी तो नहीं किए जा सकते।

भक्त की रक्षा करके ही उसका उद्धार किया जा सकता है और उद्धार करके—तार करके ही उसे भव-पार पहुँचाया जा सकता है। भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिए ही 'मारिओ हरनाखसु नरसिंघ रूप होइ देह धारिओ'[१०] अम्बरीक कउ दीओ अभै पदु' तथा 'राजु भभीखन अधिक करिओ' और 'नउनिधि ठाकुरि दई सुदामै' तथा 'धूअ अटलु अजहू न टारिओ'[११] इस प्रकार 'राजा राम जपत को को न तरिओ'[१२] सभी भक्त तो भव-पार पहुँच गए। वह हरि तो 'अंधुरे की लाकरी'[१३] है, उसी ने हरनाखस हने परान' तथा 'अजैमल की बैकुंठहि थान'[१४] गनिका तथा 'हरि हरि करत पूतना तरी'[१५] इतना ही नहीं, उसी का सिमरण करते-करते 'द्रोपद सुत उधरी'[१६] तथा 'गऊतम सती सिला निसतरी' और उसी 'सांवली ओ बीठुलाई' ने ही तो—कर धरे चक्र बैकुंठ ते आए गज हसती के प्रान उधारी अले। दुहसासन की सभा द्रोपती अंबर लेत उबारी अले।'[१७] तथा 'गोतम नारी अहलिआ तारि पावन केतक तारी अले॥'[१८] उसने न

१, २. ४८५ नाम, १। ३, ४. १३५१ नाम, ३। ५. १३५० नाम, १।
६, ७. ४८५ नाम, १। ८. १२५२ नाम, २। ९. १२५२ नाम, ३।
१०, ११, १२. ११०५ नाम, १। १३, १४, १५, १६, १७. ८७४ नाम, १।
१८, १९. ९८८ नाम, २।

केवल गनिका, कुबिजा तथा 'अजामलु तारी अले' अपितु 'देवा पाहन तारी अले'[१] और 'दासी सुत जन बिदरु सुदामा उग्रसैन कउ राज दीए।'[२] उसकी महानता इसी में है, कि ऐसा करते हुए 'नामे के सुआमी' ने जप हीन तपहीन कुलहीन क्रमहीन'[३] सभी को तो तार दिया और उसकी बड़ाई सुननी है, उसने ही 'जलधि बांधि ध्रू थापिओ हो'[४] तथा 'सीअ बहोरी लंक भभीखरण आपिओ हो'[५] लेकिन यह न भूल जाना चाहिए, कि ऐसा भी 'नामे का सुआमी' 'सम अंतर सम ठाई हो।'[६] जैसे कबीर को अपना अनुभव था कि गंगा ने उसकी जंजीर तोड़ी थी तथा अत्याचारी सिकन्दर के हाथी ने उसे कुचलने के स्थान पर झुक कर नमस्कार किया था।[७] उसी प्रकार नामदेव का भी अनुभव है, कि भगवान 'दूधु पीआइ भगतु घरि गइआ। नामे हरि का दरसनु भइआ।'[८] इतना ही नहीं 'हीनड़ी जात' के कारण देहुरे से निकाला हुआ पीछे बैठा 'जिउ जिउ नामा हरि गुण उचरै।' उसी प्रकार 'भगत जनाँ कउ देहुरा फिरै।'[९] जब उसने स्वतः ही भगवान की कृपा को क्रियात्मक रूप से अनुभव कर लिया, तो मायावी जगत् को ललकारा; कउन को कलंक रहिओ राम नाम लेत ही।' क्योंकि 'पतित पवित भए रामु कहत ही।'[१०] यही है उसके भक्त-रक्षक, उद्धारक एवं भवतारक ब्रह्म का स्वरूप।

इससे स्पष्ट है 'पतितपावन' वह 'दीन का दइआलु'[११] भी है। मुस्लिम ठग के रूप में ब्रह्म को देख नामदेव ने उसके 'मीठे बोल'[१२] भी सुने है। 'करीमाँ रहीमा अलाह तू गनी।'[१३] हे दयालु तथा उदार भगवान तू धनी है, लेकिन धनी भी कितना 'बिसीआर'—अत्यधिक। और 'हाजरा हजूरी दिहंद'[१४] प्रत्यक्ष दाता तू ही तो 'एकु तू दिगर'[१५] एक-मात्र दाता है। सांसारिक सब सम्पत्ति से कहीं आगे बढ़, न केवल मुक्ति अपितु 'अभै पद दाता'[१६] भी है। भक्त पर तो इतना 'दइआलु किरपालु कही-अतु है'[१७] कि 'नामा कहै भगति बस केसव अजहूँ बलि के दुआर खरो'[१८] इसी तथ्य को तो भक्त के सम्मुख अशक्त, निर्बल भगवान ने स्वतः स्वीकार किया है—'एक समै मोकउ गहि बांधै तउ फुनि मोपै जबाबु न होई। मै गुन बंध सगल की जीवनि मेरी जीवनि मेरे दास।'[१९] जब भगवान ने ही अपना परिचय दे दिया तब नामदेव संसार से बोले—

'नामदेव जाकै जीअ ऐसी तैसो ताकै प्रेम प्रगास।'

यही है 'भक्तों के भक्त' नामदेव का भगवान जिसकी भक्ति ने उस निरंकार, निरंजन तथा निरबान को भी बोलने को विवश कर दिया।

---

१. ३४५ नाम, १। २, ३. ३४५ नाम. १।
४, ५, ६. ६५७ नाम, २। ७. ८७० क० ४। ८ ११६४ नाम, ३।
९. ११६४ नाम, ६। १०, ७१८ नाम, २। ११. ६६४ नाम, ५।
१२. ८७५ नाम, ७। १३, १४. ७२७ नाम, १। १५. ७२७ नाम, १।
२६. ११६५ नाम, ३। १७. १२६२ नाम, २। १८. ११०५ नाम, १।
१९. १२५३ नाम, ३।

सृष्टि

माई न होती बापु न होता करमु न होती काइआ ।
हम नहीं होते तुम नहीं होते कवनु कहाँ ते आइआ ॥
चंदु न होता सूरू न होता पानी पवनु मिलाइआ ।
सासतु न होता बेदु न होता करमु कहाँ ते आइआ ।[१]
इस सब ब्रह्माण्ड का आप ही करता बीठुल देउ ।[२]

उसने आपको ही सम्पूर्ण संसार में प्रसरित किया है, इसीलिए तो 'एक अनेक बिआपक पूरक जत देखउ तत सोई ।'[३] और 'सभु गोबिंदु है सभु गोबिंदु है । गोबिंदु बिनु नहीं कोई ।'[४] तो इस सब ब्रह्माण्ड का निर्माण क्यों किया ? 'इहु परपंचु पारब्रह्म की लीला विचरत आन न कोई ।'[५] उसी ने माला में पिरोयी हुई मणियों की तरह सृष्टि में सभी कुछ निर्मित किया है और उन्हें यथास्थान रखा है, इतना ही नहीं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी के नियंत्रण मे है और 'सभो हुकमु हुकमु है आपे'[६] सभी कुछ तो उसकी आज्ञा के अनुकूल ही होता है । हृदय में विचार कर देखने से पता चलता है, कि 'इभै बीठलु उभै बीठलु बीठल बिनु संसार नहीं । थान थनंतरि नामा प्रणवै पूरि रहिओ तूं सरब मही ।'[७] तो भी संसार में भिन्न-भिन्न रूप दिखते हैं, ये ठीक वैसे ही हैं, जैसे, 'जल तरंग अरु फेन बुदबुदा जल ते भिन न होई ।'[८] सृष्टि रचना के क्रम पर विचार करते हुए उन्होंने बताया है, कि पहले पूर्ण कमल उत्पन्न हुआ उससे ब्रह्मा और ब्रह्मा से 'सगले जना'[९] क्योंकि उसके घर में 'कुलालु ब्रहमा' है, 'जिनि बिस्व संसारु राचीले ।'[१०] ब्रह्माण्ड का सारा खेल माया के कारण ही है। वह कैसे उत्पन्न हुई । तो इसका उत्तर है, कि पहले ब्रह्म ने 'शब्द' किया, उस शब्द से ही माया उत्पन्न हुई। तब ब्रह्म और माया से उस सृष्टि का निर्माण हुआ ।'[११] पात्र में जलवत् यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हिल रहा है । जीव-मात्र उसकी इच्छा के अनुकूल चल रहा है । यदि इसमें कोई भ्रम है, तो यह तर्क का विषय नही, उसकी कृपा को प्राप्त करो, तो स्वतः ज्ञान हो जाएगा ।'[१२] इस प्रकार का सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का विकास है और उसी के नियंत्रण मे है । जीव को सतर्क किया है, कि सम्पूर्ण सांसारिक सम्पत्ति एवं यह संसार भी नश्वर है । सोने की लका क्षण-भर मे नष्ट हो गई थी ।'[१३] अतः हे जीव ! 'झूठी माइआ देखि कै भूला रे मना'[१४] और मन ही जब भटक गया, तो वह संसारसमुद्र के पार कैसे पहुँचेगा, क्योकि 'ससारु सागरु बिरखै का बना ।'[१५] वस्तुतः यह सम्पूर्ण सृष्टि तो उसका प्रासाद-मात्र है, जिसमें 'चदु सूरजु दीवड़े' 'धरमराइ प्रतिहारु' पवणु 'चउर ढूल' तथा 'छिनवै करोडी मेघ माला पाणी हारीआ' है तथा उसके घर में 'कुलालु ब्रहमा' है, जिसने 'बिस्व संसारु राचीले ।'[१६] यही है, पारब्रह्म की लीला और उसका संसार ।

१. १७३ नाम, ३ । २. १३५७ नाम, ३ । ३, ४, ५. ४८५ नाम, १ ।
६. १३५१ नाम, २ । ७. ४८५ नाम, २ । ८. ४८५ नाम, १ ।
९. ६९३ नाम, ४ । १०. १२९२ नाम, २ । ११. ६९३ नाम, ४ ।
१२. ६९३ नाम, ४ । १३. ६९३ नाम, १ । १४, १५. ४८६ नाम, ५ ।
१६. १२९२ नाम, १; विस्तृत विवरण महिमा में देखे ।

जीव

सम्पूर्ण सृष्टि की भाँति जीव का भी वही उत्पादक है। नामदेव ने इस बात को 'हमारो करता रामु सनेही।'[1] कह कर स्पष्ट ही स्वीकार किया है। उसने 'माटी कुभेउ' की तरह ही 'जीव प्रगासिग्रा'[2] है। जिस प्रकार घड़ा मिट्टी का होते हुए भी मिट्टी नहीं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का होते हुए भी उसका ही भिन्न रूप है—क्योंकि न केवल मानव, अपितु सम्पूर्ण जीव-मात्र ही एक लड़ी में पिरोए हुए मोतियों का भिन्न रूप है। इसीलिए भक्त को जात-पाँत से कोई काम नहीं होता।[3] प्रत्येक भक्त ही क्या मनुष्य-मात्र की एक ही जाति एवं एक ही धर्म होता है, वह है शाश्वत मानव-जाति और चिरंतन मानव धर्म। जो अनादि काल से अनंत युगों तक सम्पूर्ण धरा-धाम पर इसी रूप में बने आ रहे है और बने रहेंगे। यह तो है ही एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न रूप-मात्र। जैसे, जल 'तरंग अरु फेन बुदबुदा जल ते भिन न होई।'[4] इस प्रकार का जीव स्वतः कुछ करने योग्य नहीं, क्योंकि उससे तो कुछ होता नही? जो 'करिहै रामु होइ है सोइ।'[5] और यह सम्पूर्ण जगत् उसी के हुकम से चलता है। अतः जीव की भलाई इसी में है, कि जैसी अवस्था में वह रखे, उसी में प्रसन्न रहना चाहिए, क्योंकि—

कबहू खीरि खांड घीउ न भावै। कबहू घर घर टूक मगावै।

'कबहू कूरनु चने बिनावै।' अतः 'जिउ रामु राखै तिउ रहीऐ रे भाई।'[6] क्योंकि उसकी महिमा तो कही नहीं जा सकती। अतः सभी अवस्थाओं में उसकी कृपा को अनुभव करते हुए एक सम रहना चाहिए।

जौ राज देहि त कवन बड़ाई। जौ भीख मंगावहि त कीआ घटि जाई।[7]

जीवन में असंतोष से बच कर चलने का मार्ग यही है। वस्तुतः जीवन है भी एक धूल भरी उस गाड़ी के समान जिसे कीचड़ में से हाँका जा रहा है। साफ मार्ग में पहुँचने में ही उसकी सुरक्षा है। प्रारब्ध मानव की जीवन-गाड़ी को माया रूपी कीचड़ में घसीटे ले जा रहा है और सत्संग ही इसके लिए साफ मार्ग तैयार कर सकता है। अतः भगवत्कृपा की प्रार्थना की गई है।[8] इस प्रकार भक्ति के कारण जीव ही जब भगवत्कृपा का अधिकारी हो जाता है, तब वह भक्त या संत बन जाता है। नामदेव स्वतः ऐसे ही भक्त थे, अतः भक्त का महत्त्व तो उनके व्यक्तित्त्व के माध्यम से ही आलोक में आ सकेगा।

'भगति दानु दीजै जाचहि संत जन'[9] तथा ऐसी भक्ति को प्राप्त करके सांसारिक सम्पत्ति के लोभ में 'संत जनां राम नामु न छोड़ै'[10] यही संतो की वास्तविक पहचान है। इस प्रकार भव-पार पहुँच कर 'संता मधे गोबिंदु आछै'[11] से पता चलता

---

१. ६६२ नाम, १। २. १३५१ नाम, ३। ३. ४८५ नाम, ३।
४. ४८५ नाम, १। ५. ११६५ नाम, ४। ६. १२६४ नाम, ५।
७. ५२५ नाम, १। ८. ११६६ नाम, ३। ९. १२६२ नाम, १।
१०. ११६५ नाम, १। ११. ७१८ नाम, ३।

है, कि वे भगवान के तुल्य हो जाते हैं। उनकी विशेषता यही है, कि 'जिनि हरि पाइश्रा तिनहि छपाइश्रो'[1] वे उसे अनुभव ही करते हैं, अभिव्यक्त नहीं कर पाते। इस प्रकार अपने संत व्यक्तित्त्व का प्रचार नहीं करते, अपितु वह तो स्वयं ही जगत् को आलोकित करता रहता है। जीव और ब्रह्म के संबंध को वह 'तारि लै बाप बीठुला'[2] कह कर और भी स्पष्ट करता है। तब पुत्र भक्त ही पूरे उस ठाकुर का दास बन जाता है'[3] और भगवान भी 'दास अनिनं मेरो निज रूप'[4] रह कर उसे 'अपना ही रूप' मानता है तथा 'मेरी जीवनि मेरे दास'[5] कह उसके महत्त्व को भी स्वीकार करता है। नामदेव का जीव 'तुमचे पारसु हम चे लोहा संगे कंचनु भैइला'[6] संसर्ग से लोहे से कंचन ही नहीं बनता, अपितु उससे खेलता हुआ 'जग ते ठाकरु' बनने की शक्ति भी रखता है, क्योंकि 'जल ते तरंग तरंग है जलु कहन सुनन को दूजा।'[7] भक्त के निष्काम होने पर 'को ठाकरु को दासा रे'[8] भेद रह ही कहाँ जाता है, इसीलिए तो भक्त की विपदा को अपनी विपदा समझ भगवान गौ जिलाने आए थे और उसके बाद भी नामदेव ने अनुभव किया था 'नामे नाराइन नाही भेदु'।[9] इस प्रकार द्वैत समाप्त होने पर[10] 'नामासाची समाइश्रा'[11] ब्रह्म में विलीन होकर उसका अपना अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाता है।

साध्य

रविदास ने सामाजिक विषमता को दूर कर सामान्य-स्तर का निर्माण करना था, अत: उनके साध्य में प्रधान स्वर भक्त की ही भाँति जीव-मात्र को जाँत-पाँत के बंधन से ऊपर उठाना था। हरिजनों के माध्यम से अपने अध्यात्मपथ पर अग्रसर थे, इसीलिए 'संतो के भी संत' कहलाए। कबीर संतशिरोमणि थे। राष्ट्रीय और उससे बढ़ कर प्राणी-मात्र के स्तर पर मानव मानव में समता स्थापित करते हुए भी वैयक्तिक जीवन में उन्हें ब्रह्म से मिल कर ही एक नहीं होना था, अपितु स्वत: ही ब्रह्म मे परिणत होना था, अत: उनके साध्य में यही ध्वनि विशेष रूप से ध्वनित होती है। परंतु नामदेव 'भक्तो के भी भक्त' है, अत: उन्हें सामाजिक उत्थान और आध्यात्मिकता से भी अधिक प्रिय अनन्य भक्ति और उसमें तल्लीनता ही है। 'नाम' को 'देव' मान, उसमें ही अपने स्वत्त्व का विलय 'नामदेव' के नाम की सार्थकता है। 'यथानाम तथा गुण' की उक्ति यहाँ पूर्णतया चरितार्थ होती है, यह तो 'कथनी और करनी में ऐक्य' वाले संतो से भी एक कदम आगे उन दोनों का 'नाम' से भी ऐक्य स्थापित करनेवाले सिद्ध हुए।

सांसारिक जीव होने के कारण उसे भवसागर से तरना अवश्य है, अत: भगवान से प्रार्थना की है, 'मोकउ तारि ले रामा तारि ले।'[12] क्योंकि 'मै अजानु जनु तरिबे न जानउ बाप बीठुला बाह दे।'[13]

---

१. ७१८ नाम, १। २. ११६६ नाम, २। ३. १२५२ नाम, २।
४. १२५२ नाम, ३। ५. १२५३ नाम, ३। ६. १३५१ नाम, २।
७,८. १२५२ नाम, २। ९. ९८८ नाम, ३। १०. १३५० नाम, १।
११. १३५१ नाम, २। १२,१३. ८७३ नाम, ३।

जीव यदि पूर्ण आत्मसमर्पण करके भी भव-पार पहुँच सके तो उसे और क्या चाहिए, इस प्रकार न जाने कितने स्थलों पर उसने भव-पार पहुँचने के लिए भगवान से 'तारिले' की प्रार्थना की है।'[१] भव से तरने के लिए आवश्यक है, कि जीव की यम से रक्षा होनी चाहिए, इसीलिए जम ते 'छूटै'[२] का साधन उसने गुरू द्वारा प्राप्त 'नाम' बताया है और नाम मिलने पर तो वह रात-दिन नाम का जाप कर मन (गज) द्वारा नाप कर जिह्वा (कैंची) से उसे काट देता है तथा इस प्रकार यम से रक्षित बन जाता है।'[३] यम से रक्षा अपने आप ही हो जाएगी, यदि अतः-अनुभूति हो जाए। उसके लिए 'मधुर मधुर धुनि अनहत गाजै'[४] को सुनने की आवश्यकता है। क्योंकि साध्यों का साध्य तो है ही 'गोविन्द' प्राप्ति और वह 'गोबिंदु बसै हमारै चीति'[५] अंतर में वह 'अनहद बेणु बजाउगो' इसलिए 'घट ही भीतरि' नहा कर 'सुन समाधि समाउगो'[६] और शून्य में समाधि लगी रहने पर स्वतः ही भगवत्मिलन हो जाता है, अन्य किसी साध्य की आवश्यकता नही रह जाती। इसके लिए आवश्यक है, उसके एक ही नाम के माध्यम से अन्यन्य भक्ति की। यह भक्ति ही सच्चे भक्त का साधन होते हुए भी साध्य होती है, क्योंकि साधन की चरमावस्था स्वतः साध्य में परिणत हो जाती है। इसीलिए तो 'जाचहि संत जन' क्या जाचहि ? हे भगवन् ! 'भगति दानु दीजै'[७] संसार की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति, भगवान की अमूल्य देन, मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट वरदान और भक्त का सर्वस्व। यह दात एक बार मिल गई, भक्त संसार के लिए पागल हो जाता है 'दरद दिवाणी मीराँ' की तरह उसे लोक, कुल, परिवार, और समाज की मर्यादाओं से अधिक अपनी और भगवान की मर्यादा का ध्यान होता है। इसीलिए तो भक्त की आत्मा पुकार उठती है, 'तेरी भगति न छोड़हु भावै लोगु हसै'[८] उसे लोगों के हँसने या रोने की क्या परवाह ? उसकी मस्ती अनन्य है और है अनंत।

इतना सब होते हुए भी भक्त भूल नहीं पाता, कि वह मूलतः जीव है, अतः लौकिक भी। इसीलिए यम से रक्षित होकर भव-पार पहुँचने के बाद भी उसे 'जनम मरन संताप हरिओ'[९] बन कर आवागमन के चक्कर से छूट कर वह 'निरबाणु पद'[१०] पाता है, जो हरि के नाम में ही निहित है और वह मुक्ति[११] ही 'हरि भेटुला'[१२] है। हरि से भेंट हो गई तो 'आठ पहर अपना खसम धिआवहु'[१३] और 'राम रसाइन पीउरे दगरा'।[१४] इस प्रकार भगवान से भेंट करके, निरंतर उसके ध्यान मे लग कर राम रसायन पान का परिणाम तो एक ही है और वह है 'नामे नाराइन नाही भेदु'[१५] भेद

---

१. ११६६ नाम, २।, ११६७ नाम, ११।   २. ११६७ नाम, ११।
३. ४८५ नाम, ३।   ४. ६८८ नाम, १।   ५. ११६४ नाम, ७।
६. ६७३ नाम, २।   ७. १२९२ नाम, १।   ८. ११६५ नाम, १।
९. ११०५ नाम, १।   १०. ११६३ नाम, १।   ११. १२९२ नाम, २; ११०५ नाम, १।
१२. ४८६ नाम, ५।   १३. ४८५ नाम, ३।
१४. ४८६ नाम, ४।   १५. ११६५ नाम, १०।

नही रहा, तो द्वैत मिट गया और 'नामा साची समाइला'।[1] प्रत्येक साधक के अनेक पड़ाव है, जो अपने आप में भी साध्य हैं, लेकिन अंतिम तथा पूर्ण साध्य तो एक-मात्र वही है, जिसके ये सब भिन्न-भिन्न रूप-मात्र हैं, अतः यम से रक्षा, भव-पार पहुँचना, आवागमन से बचना, मुक्ति पाना, अमर पद पर बैठ जाना, और अंतर में निरंतर उसकी अनुभूति करते हुए ब्रह्म-रसपान वहाँ पहुँच कर सब ब्रह्म से ऐक्य अथवा उसमें परिणति के साधन ही प्रतीत होते है। अतः साध्य तो एक वही है, जिसे प्रत्येक संत ने अनुभव किया है।

साधन

साध्य है 'नामे चे सुआमी बीठुलो' और उसका मार्ग ऐसा है—

जिउ आकासै पंखी अलो खोजु निरखिओ न जाई।
जिउ जल माझै माछलो मारगु पेखणों न जाई ॥[2]

कितनी सत्य अनुभूति है, भगवत्प्राप्ति का मार्ग आकाश में पक्षी और जल में मछली के मार्ग से कुछ भी तो भिन्न नही। नामदेव भी ऐसे ही पथ का पथिक रहा था, इसीलिए उसे इस कठिनाई का ज्ञान था, तभी लौकिकों के लिए उसने समाधान प्रस्तुत किया है, कि भगवत्प्राप्ति के लिए भगवत्कृपा-प्राप्ति ही सर्वोत्तम साधन है। नामदेव तो हरि-गुण गाता हुआ उससे प्रार्थना ही यह करता है कि 'कृपा करि जन अपुने ऊपर'[3] और भगवत्कृपा पाने के लिए उसकी प्रसन्नता आवश्यक है'।[4] वह प्रसन्न हो गया तो उसने स्वतः कुछ नहीं करना, केवल 'होइ दइआलु सतिगुरू मेलि तू मोकउ।'[5] क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान है, कि सत्गुरू ही भव-पार पहुँचाएगा और उसे मिलाएगा क्योंकि जीव और ब्रह्म का वही तो एक-मात्र संयोजक-स्थल है। सत्गुरू का भी एक क्रम विशेष है जिससे वह साधक को साध्य तक ले जाता है। सबसे पहले 'गिआनु अंजनु मोकउ गुरि दीना'[6] और तब 'दुख बिसारि सुख अंतरि लीना' इस प्रकार 'गुरू ने मेरा जन्म सफल किया है।'[7] इतना ही नहीं, संक्षेप मे उसी ने 'भव से पार उतारा'[8] 'द्वैत मिटाया'[9] तथा 'अलखु लखाइआ'।[10] अलख के दर्शन कराके शीघ्र ही सत्गुरू ने ऐसी 'बुधि सिखलाई' जिससे 'नर ते सुर होइ निमख मैं।[11] यम तो गुरू को देखते ही भाग गया।'[12] इस प्रकार आवागमन के चक्कर से रक्षा कर 'सतिगुर' से मिलानेवाला एक-मात्र सत्गुरू ही है।'[13] गुरू की महिमा एवं कार्य उसने एक ही शब्द में बताए है, जिसका कुछ भाग यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता—

जउ गुरदेउ त मिलै मुरारि। जउ गुरदेव त उतरै पारि।
जउ गुरदेव त बैकुंठ तरै। जउ गुरदेउ त जीवन मरै ॥

---

१. १३५१ नाम, २। २. ५२५ नाम, २। ३. ६९३ नाम, १।
४. ११६६ नाम, १। ५. ११६६ नाम, २। ६. ८५७ नाम, १।
७. ८५७ नाम, १। ८. ११६४ नाम, ५। ९. ११६ नाम, ७।
१०. ८७४ नाम, ४। ११. ८७४ नाम, २। १२. ११०५ नाम, ५।
१३. ४८६ नाम, ५।

सति सति सति सति सति गुरदेव । झूठु झूठु झुठ झूठ ग्रान सभ सेव ।
जउ गुरदेउ त नामु हड़ावै । जउ गुरदेउ न दहदिस धावै ।।
जउ गुरदेउ पंच ते दूरि । जउ गुरदेउ न मरिबो झूरि ।
जउ गुरदेउ सभै बिखु मेवा । जउ गुरदेउ त जम ते छूटै ।।
जउ गुरदेउ त भउजल तरै । जउ गुरदेउ त जनमि न मरै ।
बिनु गुरदेउ ग्रवर नहीं जाई नामदेउ गुर की सरणाई ।।

नामदेव ने तो गुरू की शरण ले ली । गुरू भी नामदेव को नाम ही देता है, जिससे वह 'नाम' को ही अपना आराध्य 'देव' मान कर अपना नाम सार्थक करे। भक्त नामदेव से अधिक महत्त्व 'नाम' का ही है, क्योंकि नाम ने ही उसे नामदेव बनाया है ।

'इकु नामु निसतारे'[१] गुरू ने नामदेव को नाम देकर यह गुरू-मंत्र भी बता दिया, इसीलिए 'नामे चितु लाइग्रा सचि नाइ ।'[२] ग्रब तो उसे नाम के बिना बतीसों लक्षणों से युक्त सौन्दर्य भी नहीं भाता'[३] ग्रौर वह रात-दिन नाम का जाप करता रहता है तथा ग्रनुभव करता है कि 'राम नाम बिनु धरीग्र न जीवन'[४] यह नाम ही 'मैं ग्रंधुले की टेक'[५] बन चुका है, इतना ही नही, दीन नामदेव ने तो यहाँ तक कहा है 'मैं गरीब मैं मसकीन तेरा नामु है ग्रधारा ।'[६] इस प्रकार उसने तो 'मुख मनसा रतनु परोइग्रा'[७] ग्रौर जीभ को सतर्क कर दिया—

रे जिहवा करउ सत खंड । जामि न उचरसि स्री गोबिंद ।
रंगीले जिहबा हरि कै नाइ । सुरंग रंगीले हरि हरि धिग्राइ ।।

क्योंकि—**'मिथिग्रा जिहवा ग्रवरे काम। निरबाण पदु इकु हरि का नामु ।।'**[८]

स्वतः तो नामदेव के नाम को ग्रपना लिया ग्रब दूसरों को भी समझाने लगे, कि बाह्याग्राडम्बर ग्रादि पाखंड त्याग कर 'हरि का नामु नित नितहि लीजै'[९] क्योंकि—'कउन को कलंकु रहिग्रो राम नामु लेत ही ।' इतना ही नहीं, सब 'पतित पवित्र भए रामु कहत ही ।'[१०] इससे भी बढ़ कर नाम से ही 'मिटे सभि भरमा' तथा इसने ही 'जाति कुल हरी'[११] तथा पतित से पतित भक्तों को भी पवित्र बना कर भव से पार पहुँचा दिया । ग्रजामिल, गणिका ग्रादि इसके साक्षी हैं ।'[१२] इसलिए तर्क एवं वाद-विवाद को छोड़ कर 'रसना राम रसाइनु पीजै ।[१३]' मूर्ख जनता उसकी बात नहीं समझती, तो स्वतः नाम के ग्रनुभूत महत्त्व की झलक दिखा कर ललचाता है, कि इस नाम से न केवल 'नरते सुर होइ निमख मै,' ग्रपितु—'नरते उपजि सुरग कउ जीतिग्रो सो ग्रवखध मै पाई ।'[१४] इतना समझनें पर जो नाम का महत्त्व न समझ कर उसे ग्रपनाते नहीं, नामदेव उन्हें कहता है, कि—'जो न भंजते नाराइणा ।

१. ११६४ नाम, ५ । २. ११६४ नाम, ७ । ३. ११६३ नाम, २ ।
४. ४८५ नाम, ३ । ५,६. ७२७ नाम, १ । ७. ६५७ नाम, ३ ।
८. ११६३ नाम, १ । ९. ६७३ नाम, ४ । १०. ७१८ नाम, २ ।
११,१२. ८७४ नाम, ५ । १३. ११६४ नाम, ४ । १४. ८७४ नाम, ३ ।

तिन का मैं न करउ दरसना[1] तथा 'तेरे नाम अविलंबि बहुतु जन उधरे नामे की निज मति एह ।'[2]

वस्तुतः भगवान में आरोपित गुण ही नाम है, तथा ऐसे गुणों का निरंतर नाम ही जप और ऐसे जप का आंतरिक ध्यान ही सिमरन ।

नाम का जप आवश्यक है, क्योंकि 'जपत मैं अपदा टरि'[3] इसीलिए रात-दिन नाम जपने का संदेश दिया गया है ।[4] जप से भी बढ़ कर उसका अंतर में ही सिमरन करना चाहिए, क्योंकि सिमरन से ही गोविन्द को जाना जा सकता है ।[5] अतः बाह्य आडम्बरपूर्ण धर्म-कर्म को तथा पूजा-विधि को छोड़ कर 'सिमरि सिमरि गोबिद' कहता हुआ नामदेव तो उसके सिमरन में ही खो गया ।

मृत्यु मानव-मात्र में एक अज्ञात शक्ति के प्रति भय उत्पन्न कर देती है । उस भय से अपनी रक्षा के लिए जीव उसमें अपना विश्वास लाता है, तथा धीरे-धीरे उसे प्यार करने लगता है । जीव का यह भगवत्प्रेम ही भक्ति में परिणत हो जाता है, क्योंकि 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'[6] अर्थात् ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है और 'भगति करहि जो जन तिन भउ सगल चुकाईऐ'[7] इसलिए नामदेव तो उससे 'भगति दानु दीजै'[8] कह कर ही अपनी अभिलाषा प्रकट करता है तथा भक्ति मिल जाने पर वह उसे किसी भी अवस्था में छोड़ने को तैयार नहीं, चाहे संसार उसकी हँसी ही क्यों न उड़ाता रहे ।[9]

उसकी भक्ति का आवश्यक गुण है, अनन्यता । केवल एक-मात्र सत्य ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए, क्योंकि अन्यान्य देवी-देवताओं की उपासना करने-वाले को वेश्या बताया है । जैसे उसका सम्पूर्ण रूप-शृंगार बेकार है, उसी प्रकार केवल एक ही ब्रह्म की उपासना न करनेवाली आत्मा 'मारगु छोडि अमारगि पाइ ।' पति भगवान से न मिल कर विपथगामी हो जाती है ।[10] अनन्यता के इस अभाव के दुष्परिणामों का भी सविस्तार वर्णन किया है । भैरो के पुजारी भूत बनते हैं तथा सीतला के पुजारी गधे की सवारी करते हुए धूल उडाते हैं । शिव का नाम लेनेवाले बैल पर चढ़ डमरू बजाते हैं तथा जो, 'महा माई की पूजा करै । नर से नारि होइ अउतरै ।'[11] और भवानी से नामदेव पूछते है, मेरी रक्षा करने के समय तू कहाँ गई थी ।[12] कितना मधुर उपालम्भ है और है अन्यान्य देवी-देवताओं की पुजारियों के मुँह पर करारी चपेट । इसलिए 'राम छोडि चितु अनत न फेरउ ।'[13] इस प्रकार भक्ति में अनन्यता के साथ-साथ उसका अनवरत प्रवाह भी आवश्यक है । उसके मन ने आलस्य किया और नामदेव ने झट से चेताया 'अपुने रामहि भज रे मन आल-सीआ ।'[14] इसलिए यह नाम तो 'नित नितहि लीजै' ।[15] भगवान का नाम तो लेते रहे,

१ ११६३ नाम, २ । २. ८७४ नाम, ३ । ३. ९७ नाम. ४ ।
४. ४८५ नाम, ३ । ५. ८५८ नाम, १ । ६. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १.१, ।
७. ६७३ नाम, २ । ८. १२९२ नाम, १ । ९. ११९५ नाम, १ ।
१०. ११६५ नाम, २ । ११. ८७४ नाम, २ । १२. ८७४ नाम, २ ।
१३. ८७३ नाम, २ । १४. ८७३ नाम, १ । १५. ९७३ नाम, ४ ।

ध्यान भी करते रहे, लेकिन उदासीन भाव से नहीं। उसके लिए भी एक ललक चाहिए, तड़पन चाहिए हृदय के अन्तरतम से। भक्त में जब तक उसे पाने के लिए तड़पन न होगी, उसकी भक्ति मे शक्ति न आएगी। नामदेव की भक्ति का प्रधानतम अंग है नाम और उसकी शक्ति है एक-मात्र सत्य ब्रह्म के अनन्य भजन एवं उसकी अनवरत तड़पन में।

'तेरा नामु रुड़ो रुपु रुड़ो अति रंगरुड़ो मेरो रामईमा।'[१]

किसी के प्रति तड़पन उत्पन्न हो, उसके लिए आवश्यक है, कि प्राणी उस पर मोहित हो। मोहित भी किसी के रूप, गुण व कार्य पर हुआ जा सकता है। नामदेव तो उपासक के नाम, रूप, रंग सभी पर मोहित है, अतः उसमें उसके लिए तड़पन पैदा हो चुकी है। वह तड़पन कैसी है और कितनी तीव्र है, इसकी अभिव्यक्ति मे तीव्र तड़पन का कोई भी लौकिक उदाहरण प्रस्तुत करने में वह चूक गया हो, ऐसी बात नही। संतों की वाणियों मे काव्यत्व का अभाव तथा एक ही विषय की पुनरावृत्ति से ऊबनेवालों को इन शब्दों में मनचाही सरसता और उनकी बहुज्ञता, सूक्ष्मेक्षिता के साथ-साथ शैली में कला का सजा-सँवरा हुआ रूप भी मिल सकेगा। प्रयुक्त उपमाएँ और रूपक उनकी मौलिक अनुपम प्रतिभा के परिचायक हैं।

'मारवाड़ि जैसे नीरु बालहा बेलि बालहा करहला।
जिउ कुरंक निसि नाद बालहा तिउ मेरै मनि रामईआ॥'[२]

इतना ही नही, उसकी तड़पन वैसी ही है जैसी भँवरे को 'कुसुम बासु' की, 'कोकिल कउ अंबु' की, 'चकवी कउ सूठ' की, 'मानसरोवर हंसुला' 'तरणी कउ कंतु' की, 'बालक कउ खीरु' की, चातृक मुख जैसे जलधरा' की, तथा ''मुछुली कउ जैसे नीरु बालहा तिउ मेरै मनि रामईआ।'[३] यह उदाहरण तो प्रकृति के विशाल प्रांगण से एकत्रित किए हैं। मानव-मन की विविध अवस्थाओं के तड़पन के चित्र भी अंकित किए है, 'जैसे भूखे प्रीति अनाज। तृखावत जल सेती काज।'[४] तथा 'जैसी पर पुरखा रत नारी। लोभी नरु धन का हितकारी। कामी पुरुष कामिनी पिआरी। ऐसी नामे प्रीति मुरारी।'[५] तथा बारिक अरु माता' का निष्काम एवं निष्कारण स्नेह नामदेव ने अपने भगवान से कर लिया है, क्योंकि उसे अनुभव हो चुका, कि 'गोबिन्दु बसै हमारै चीति।'[६]

नाम के लिए नामदेव में ऐसी तड़पन थी, अब उसमें ध्यान लग गया है, तो ध्यान में भी कितनी एकाग्रता चाहिए, यह भी दर्शनीय है—'नाद भ्रमे जैसे मिरगाए। प्रान तजे वाको धिआनु न जाए। ऐसे रामा ऐसे हेरउ। राम छोडी चितु अनत न फेरउ।'[७] मृग बेचारा तो नाद की मस्ती में प्राण ही दे देता है, जैसे मछुए का मछुली में, सुनार का घड़े जानेवाले सोने में, तथा जुआरी का कौड़ी में ध्यान रहता है, उसी प्रकार

१. ६६३ नाम, ३। २. ६६३ नाम, ३। ३. ६६३ नाम, ३।
४. ११६४ नाम, १। ५. ११६४ नाम, १। ६. ११६४ नाम, १।
७. ८७३ नाम, २।

की एकाग्रता चाहिए जीव की नाम में ।[1] इससे भी बढ़ कर जैसे अन्य लोगों से बात करते हुए पतंग उड़ानेवाले बच्चे का ध्यान डोरी में, हँसते-खेलते चली आती हुई पनिहारिन का ध्यान गागर में तथा दूर चरती हुई गाय का ध्यान बछड़े में ही रहता है,[2] उसी प्रकार—

'कहत नामदेउ सुनहु तिलोचन बालकु पालन पउढीअले ।
अन्तरि बाहरि काज बिरूधी चीतु सु बारिक राखी अले ।।'[3]

काम में संलग्न माँ का ध्यान बच्चे में तथा कार्य करते हुए भी नामदेव का ध्यान नाम में ही है। बछड़े बिना गाय तथा जल बिना मछली जैसे तड़पती है, वैसे ही नाम बिना नामदेव ।[4]

'सुइने की सूई रुपे का धागा । नामे का चितु हरि सउ लागा ।'[5] नामदेव ने नाम की सुई तथा जाप (भक्ति) के धागे से अपने चित को हरि से सीकर जोड़ दिया है, दर्जी जो ठहरा ।

यही है 'भक्तों के भक्त' की भक्ति और नामदेव का नाम, उसकी अनन्यता, तल्लीनता और तड़पन ।

इस भक्ति में 'अहं' विगलित कर—पूर्ण आत्मसमर्पण कर भगवान से प्रार्थना करने का विशेष महत्त्व है । क्षणिक देह[6] एवं नश्वर संसार[7] का बोध कराते हुए नामदेव ने बार-बार जीव को 'अहं' त्याग कर अपने आप को भगवान की शरण में पूर्णतया सौंप देने का क्रियात्मक सन्देश दिया है । संतों की महानता उनकी 'कथनी और करनी' की एकता मे ही निहित है । 'काहे रे नर गरबु करत हहु बिनसि जाइ झूठी देही । मेरी मेरी कैरउ करते दुरजोधन से भाई ।'[8] तथा 'सरब सोइन की लंका होती रावन से अधिकाई ।'[9] अतः नामदेव ने तो क्षणिक देह, तथा क्षण भंगुर संसार को जान कर अहं को गला कर बीठुल से प्रार्थना की थी, 'मोकउ तारि ले रामा तारि ले । मैं अजानु जनु तरिबे न जानउ बाप बिठला बाह दे ।'[10]

तैरना तो जानता ही नहीं, अतः कहीं संसार समुद्र में न छोड़ देना—'मोकउ तू न बिसारी तू न बिसारी । तू न बिसारी रामईआ ।'[11]

यह है आत्मसमर्पण की चरमावस्था तथा विनीत नामदेव की दीनतम प्रार्थना ।

बिना मन को वश में किए 'आठ पहर अपना खसम धिआवहु'[12] व्यर्थ है, जिस प्रकार बगुले का ध्यान मछली की ओर ही रहता है, वैसे ही मन का ध्यान विषयों की ओर रहता है, उधर से हटा कर इसे नाम में एकाग्र करने पर ही उचित ध्यान हो सकता है, जो भगवत्प्राप्ति का एक साधन है ।[13]

१. ८७३ नाम, २ । २, ३. ९७२ नाम, १ । ४. ८७४ नाम, ४ ।
५. ४८५ नाम, २ । ६. ६९२ नाम, १ । ७. ६९३ नाम, १
८. ६९२ नाम, १ । ९. ६९३ नाम, १ । १०. ८७८ नाम, ३ ।
११. १२९२ नाम, २ । १२. ४८५ नाम, ३ । १३. ४८५ नाम. ४ ।

मन को वश में करने के लिए सत्संगति का विशेष महत्त्व है। जीव का साध की संगति से ही 'भगतु भगतु ताको नाम परिओ,'[1] है। इतना ही नही, उसके तो 'दरसन निमख ताप त्रई मोचन'[2] और अगर कहीं स्पर्श हो जाए, तब तो मुक्ति हीं प्राप्त हो जाती है।[3] सत्सगति से ही दुष्कर्म एव दुर्गुणों का त्याग तथा सत्कर्मो को प्रश्रय मिलता है, ये सत्कर्म ही सत्संस्कारों को देते हैं, और वे संस्कार गुरु-कृपा प्राप्त करने का अधिकारी बना सांसारिक जीव को भक्त की श्रेणी में ला बिठाते हैं।

'लोभ लहरि अति नीझर बाजै काइआ डूबै केसवा।'[4] तथा 'काम क्रोध तृसना अति जरै।' क्योंकि 'साध संगति कबहू नही करै।'[5] अतः दुर्गुण त्याग कर सत्कर्म करने चाहिएँ। क्योंकि 'भगति नामदेउ सुकृत सुमति गए'[6] और तब सत्कर्म करने कौन सुमति बैकुण्ठ नहीं गया। अतः भगवत्प्राप्ति में सत्कर्म का भी विशेष महत्त्व है। संतो का जीवन तो इस बात का प्रमाण रहा है, कि इन सत्कर्मों के साथ-साथ उन्होंने निष्काम होते हुए भी कर्मण्य-जीवन व्यतीत किया है। इस विषय मे त्रिलोचन नामदेव सवाद प्रसिद्ध है, जिसमे त्रिलोचन को उत्तर देतें हुए नामदेव ने कहा है, कि 'रांगनि रांगउ सीवनि सीवउ। राम नाम बिनु घरीअ म जीवहु।'[7] रंगाई और सिलाई का काम शरीर से तथा भगवान का नाम लेने का काम मन से करता हूँ, क्योंकि उसके बिना तो क्षण-भर भी नहीं जीवित रह सकता। कबीर ने भी नामदेव, त्रिलोचन के ऐसे संवाद को अपने श्लोकों में स्थान दिया है।[8]

भगवान की सच्ची भक्ति ही उसकी सेवा है' नामदेव ने इस बात को भी नहीं भुलाया तथा बाह्य आडम्बरमयी पूजा, सेवा आदि का सर्वत्र ही खण्डन किया है।

यह भी नहीं भूल जाना चाहिए, कि 'भक्तों के भक्त' नामदेव की भक्ति ज्ञान का सम्बल लेकर ही आगे बढ़ी थी। ज्ञान के भ्रम में फिरनेवाले पण्डित और मुल्ला को सजग करते हुए उन्होंने कहा है कि—'हिन्दू अंन्हा तुरकू काणा। दुहाँ ते गिआनी सिआणा।'[9] यह 'गिआनी' वही है, जो मन्दिर और मस्जिद मे न जाकर भी निराकार का उपासक है। अन्यत्र कहा है, जो आत्मा-परमात्मा में भेद समझे हुए है, 'जैसे पसु तैसे ओइ नरा'[10] अतः समुचित ज्ञान को भी भगवत्प्राप्ति मे सहायक माना है।

कबीर तो अपने पहले जीवन में योगी रहे ही थे, तभी योग का इतना विशद और सूक्ष्म परिचय उनके शब्दों में मिलता है। रविदास सम्भवतः योग से अपरिचित ही रहे, कम से कम 'ग्रंथ' में योग से सम्बन्धित उनका कोई पद प्राप्त नही।

१. ११०५ नाम, १। २. ३. १२५२ नाम, ३। ४. ११९६ नाम, २।
५. १२५२ नाम, १। ६. ७१८ नाम, २। ७. ४८५ नाम, ३।
८. १३७५ कबीर, २१२, २१३। ९. ८७५ नाम, ७। १०. ११६३ नाम, २।

नामदेव के ६१ पदों में भी केवल ३ में योग का वर्णन मिलता है, जिनमें उन्होंने योग का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसे भी ब्रह्मानुभूति में सहायक माना है।

नाद के कारण जहाँ अन्तर में दिशाएँ झलमला रही हैं, 'तह अनहद सबद बजंता' और 'जोती जोति समानी।'[1] तथा 'जह अनहत सूर उज्यारा। तह दीपक जलै छंछारा' और 'नामा सहज समानिआ।'[2] इतना ही नहीं, 'बिनु सावण घनहरु गाजै। बादल बिन बरखा होई। जउ ततु बिचारै कोई।'[3] कबीर से पहले नामदेव ने भी तत्कालीन सिद्धों एवं नाथ-पंथियों की इस शैली को अपनाया था। उनके शब्दों से यही ज्ञान होता है, कि उनका भी योग से अच्छा परिचय था, सम्भवत: जीवन के मोड़ पर उन्होंने भी योग को किसी रूप में अपनाया हो। जो हो, इस योग के द्वारा ही नामै ततु पछानिआ'[4] में कुछ सार अवश्य है। अन्यत्र न केवल 'अखंड मंडल निरंकार महि अनहद बेनु बजाउगों, इसका ही वर्णन है, अपितु, 'इड़ा पिंगुला अउरु सुखमना पउनै बंधि रहाउगो। चंदु सूरजु दुई समकरि राखउ ब्रह्म जोति मिली जाउगों।'[5] इतना ही नही, अड़सठ तीर्थ उसकी देह में ही हैं तथा हरि में चित लगा कर वह 'सुंन समाधि समाउगों।'[6] इस प्रकार ब्रह्म-तत्त्व की पहचान व शून्य समाधि में समाने के लिए योग भी उपयोगी है'

नामदेव की भक्ति को यदि एक वाक्य में आबद्ध करना चाहें, तो लिख सकते हैं—

'सुसंस्कारों के कारण भगवत्कृपा से प्राप्त सत्गुरू ने नाम के माध्यम से जो अनन्य भक्ति दी, 'अहं' एवं सांसारिकता का त्याग कर निरन्तर उसमें तल्लीन हों ब्रह्म-रसापन ही भगवत्मिलन व ऐक्यानुभूति है।'

अवरोधक शक्तियाँ—

साधक को साध्य और साधनों का ज्ञान हो जाता है और वह अनवरत प्रयत्न करता हुआ साधनों के माध्यम से साध्य की ओर अग्रसर रहता है, लेकिन मार्ग कंटकाकीर्ण है। भक्ति-पथ वह प्रशस्त पथ नहीं जिस पर विना बाधाओं के अबाध गति से आगे बढ़ा जा सके, अतः मार्ग की अवरोधक शक्तियाँ भक्त की भक्ति की कसौटी होती है। उनसे बच कर चलनेवाला भक्त ही साध्य ब्रह्म को प्राप्त कर पाता है। जीव सांसारिक प्राणी है और संसार माया विनिर्मित। अतः जीवात्मा को परमात्मा से दूर रखने में सबसे बड़ा हाथ है माया का।

'झूठी माइआ देखि कै भूला रे मना'[7] मन उसमें भरमा गया है और उसका तब तक छुटकारा नहीं, जब तक वह सर्पिणी माया के दुष्प्रभाव से न बच निकले। माया के प्रबलतम अस्त्र हैं विकार। ये मन को विकृत कर लेते हैं, फिर माया के

१. ६५७ नाम, १। २. ६५७ नाम, १।
३. ६५७ नाम, ३। ४. ६५७ नाम, ३।
५. ६७२ नाम, १। ६. ६७३ नाम, १।
७. ४८६ नाम, ५।

जंजाल से छुटना दुष्कर है, क्योंकि —'इह संसार से तब ही छूटउ जउ माइआ नह लिपटावउ।' इतना ही नही, 'माया नाम गरभ जोनि का तिह तजि दरसन पावउ।'[१] ब्रह्म के दर्शनों के लिए आवश्यक है, कि माया से निर्लिप्त हो जाएँ, तभी आवागमन से भी छुटकारा मिल सकेगा।

विकारों से लिप्त विषयी मन को सम्बोधित करके कहा है, कि कैसे मन तरहिगा रे संसारु सागरु बिखे का बना।[२]' इतने पर भी मन सजग नही होता, क्योंकि माया के दुष्प्रभाव से वह विषयों में फँस जो चुका है। अतः पुनः उसे ललकारते हुए नामदेव कहता है, 'काए रे मन बिखिआ बन जाइ।[३] भूलौ रे ठग भूरी खाई।' जैसे पानी में रहनेवाली मछली जीभ के लालच में जाल को नही पहचान पाती, उसी प्रकार जीव 'कनिक कामिनी बाधिओं मोह।'[४]

मन को विषयों में उलझाने के दो प्रधान केन्द्र बिन्दु है, कंचन और कामिनी। सांसारिक सम्पत्ति और धन एकत्रित करने का लोभ जीव से क्या दुष्कर्म नही करा लेता। जिस प्रकार अधिक एकत्रित किया हुआ शहद मधु-मक्खी खो बैठती है तथा बछड़े के लिए संगृहीत दूध को गाय से ग्वाला दुह लेता है और बेचारा बछड़ा तो गले से बांध कर, खींच कर, दूर कर दिया जाता है,'[५] ऐसे ही— 'माइआ कारन स्रमु अति करैं। सो माइआ लै गाड धरै।'[६] उसका परिणाम यह होता है, कि 'धनु धरती' और 'तनु होइ गइओ धूड़ि।'[७] इतना ही नहीं, सांसारिक सम्पत्ति के लोभ में न केवल दुर्योधन,'[८] अपितु स्वर्ण-लंका के अधिपति रावण तथा 'दुरबासा सिउ करत ठगउरी जादव ए फल पाए।'[९] इन सबका ही नाश हो गया था। इस प्रकार भक्ति को कंचन और कामिनी से बचना आवश्यक है क्योंकि जिसमें 'परधन परदारा परिहरि ताकै निकटि बसै नर हरी।'[१०] इन्हीं के माध्यम से मन विकृत हो विषयों में अटक जाता है और जीव को भगवनोन्मुख होने में बाधा पहुँचाता है। इनमें से जहाँ 'काम-क्रोध तृसना अति जरै।'[११] वहाँ—'लोभ लहरि अति नीझर बाजै काइआ डूबै केसवा।'[१२] जीव में इन विषयों के प्रसार का साधन है इन्द्रियाँ। उन 'दस बैरागनि मोहि बसि कीन्ही पंचहु का मिट नावउ।'[१३] इन इंद्रियों ने भी देह को सुख पहुँचाने के लिए ही जीव को अपने वश में किया है लेकिन वे भूल गईं कि 'बिनसि जाइ झूठी देही'[१४] देह तो क्षणिक है और अपने साथ कुछ ले भी नहीं जाता। अपनी देह के साथ-साथ सांसारिक सम्बन्धों का मोह भी जीव को माया में ही लिपटाए रखता है, लेकिन यम की पुकार सुन कोई सम्बन्धी भी तो साथ नहीं देता। इसलिए इन सांसारिक संबंधों अथवा सम्पत्ति आदि के कारण 'काहे रें नर गरब करत हहु'[१५] इन सबने तथा तुम्हारी

---

१. ६६३ नाम, २। २. ४८६ नाम, ५। ३, ४. १२५२ नाम, १।
५. १२५२ नाम, १। ६, ७. १२५२ नाम, १। ८. ६६२ नाम, १।
९. ६६३ नाम, १। १०. ११६३ नाम, २। ११. १२५२ नाम, १।
१२. ११६६ नाम, २। १३. ६६३ नाम, २। १४. ६६२ नाम, १।
१५. ६६२ नाम, १।

देह ने तो नष्ट हो जाना है, अतः इनके मोह के कारण विषयों में लिप्त मन को दुर्गुणों एवं दुष्कर्मों से बचाओ, क्योंकि 'इह संसार ते तब ही छूटउ जउ माइआ न लपटावउ।'[१] तथा माया क्या है, इसका भी स्पष्ट ही उल्लेख किया है'[२] 'माइआ नाम गरभ जोनि का तिह तजि दरसन पावउ।'[३] इस प्रकार इन सब अवरोधक शक्तियों की जड़ है माया, जो संसार के साथ-साथ अबाध गति से संचरणशील रहेगी, क्योंकि उसका सम्बन्ध मानव-मन से है।

तत्कालीन समाज में दूसरी प्रधान अवरोधक शक्ति थी—बाह्याडाम्बर। इसमें सन्देह नहीं, कि नामदेव स्वतः अपने प्रारम्भिक जीवन में साकार एवं सगुण बीठुल के पुजारी रहे थे, लेकिन अपनी भक्ति से भक्त इतना आगे बढ़ता गया, कि उनका साकार बीठुल निराकार मे परिणत हो गया था और 'नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत।'[४] सर्वान्तिरयामी का यह रूप पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

नामदेव के बाह्याडम्बर के विरोध में भी कबीर की कटुता एवं प्रचण्डता नहीं, अपितु भक्त की मधुरिमा एवं दीनता है। कबीर तिलमिला देता है और नामदेव उसके अभाव अनुभव करा उसे लज्जित कर देता है। यह मर्मस्पर्शिता भी कबीर के प्रहारों से कम प्रभावोत्पादक नहीं। 'एकै पाथर कीजै भाउ। दूजै पाथर धरीऐ पाउ। जे ओहु देउ ते ओहु भी देवां। कहि नामदेव हम हरि की सेवा।'[५] क्या पत्थर और मूर्ति के पुजारियों को अबोध भक्त की सबल युक्ति सतर्क नही कर देती? तथा अन्यान्य देवी-देवताओं के पुजारियों को उन्होंने जो झाड़ पिलाई है, वह अनन्य भक्ति के प्रकरण में हम देख ही आए हैं। पुनः 'ठाकुर कउ इसनानु करउ' तथा आनीले फूल परोई ले माला ठाकुर की हउ पूज करउ।'[६] और दूध की खीर बना कर 'नैवेदु करउ' लेकिन वह यह भूल जाता है, कि 'बइआलीस जीअ जल महि होते' तथा फूल की 'पहले बास लई है भवरह' और 'पहले दूध बिटारिओ बछरै, इतना होते हुए भी इस जूठी सामग्री को पवित्र समझ कर पवित्र भगवान की पूजा कैसी? नामदेव उन्हें याद दिला देता है, इभै बीठलु ऊभै बीठलु बीठल बिनु संसार नही। थान थनंतरि नामा प्रणवै पूरि रहिओ तूं सरब मही।'[७]

इतने पर भी पुजारियों की समझ में न आया, तब नामदेव को ब्राह्मणों के देवता एवं अवतारों का अभाव उन्हें आधुनिक खड़ी बोली में बतलाना पड़ा, 'आजु नामे बीठलु देखिआ मूरख को समझाउ रे।'[८] क्या समझाया? 'पांडे तुमरी गाइत्री लोधे का खेतु खाती थी। लै करि ठेगा टगरी तोरी लांगत लांगत जाती थी।' इतना ही नहीं 'पांडे तुमरा महादेउ धउले बलद चड़िआ आवतु देखिआ था। मोदी के घर खाणा पाका वाका लड़का मारिआ था।'[९] यह तो हुई तुम्हारे देवी-देवताओं की

१, २. ६९३ नाम, २। ३. ८७५ नाम, ७।
४. ५२५ नाम, १। ५, ६. ४८५ नाम, २।
७. ४८५ नाम, २। ८. ८७४ नाम, ७।
९. ८७५ नाम, ७।

बात, अब अपने अवतार की भी सुन लो—'पांडे तुमरा रामचंदु सो भी आवतु देखिआ था। रावन सेती सरबर होई घर की जोई गवाई थी।'[1]

आठ शब्दों की खो देनेवाली लंगड़ी गायत्री देवी तथा पुत्र घातक देव महादेव को तो देखा ही था, लेकिन तुम्हारे भगवान रामचंद्र जी की पत्नी सीता को रावण चुरा ले गया। जो भगवान अपनी पत्नी की ही रक्षा न कर सका, वह संसार की क्या रक्षा करेगा। इसीलिए तो, 'हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमानु मंसीत।' लेकिन 'नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत।'[2]

क्या यह उक्तियाँ कबीर से कम प्रभावोत्पादक है? हाँ! कहने की शैली में उनका अपना व्यक्तित्त्व अवश्य झलक रहा है। जो हो, पत्थर, मूर्ति, देवी-देवता तथा अवतारों की पूजा का खण्डन नामदेव को करना पड़ा, क्योंकि ब्रह्मोन्मुख तत्कालीन भक्त के मार्ग में ये बड़ी अवरोधक शक्तियाँ सिद्ध हो रही थी।

'असुमेध जगने। तुला पुरख दाने। प्राग इसनाने।' तथा 'गइआ पिंडु भरता बनारसि असि बसता। मुखि बेद चतुर पड़ता।' और 'सगल धरम अछिता। खटु करम सहित रहता। सिवा सकति सबादा। मन छोड़ि छोड़ि सगल भेदं। सिमरि सिमरि गोबिंदं।'[3]

इस प्रकार सक्षेप मे ही यज्ञ, दान, प्रयाग, स्नान, गया में पिंड भरण, बनारस में निवास, मुख से वेद-पाठ, वाह्य ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ षट् कर्म करते हुए रहना तथा शिव-शक्ति के संवाद का (तंत्रों का) ज्ञान आदि सबको व्यर्थ समझ, त्याग कर गोबिन्द का सिमरन करने का सदेश दिया है। क्योंकि ये धर्म-कर्म नही, अपितु आडम्बर-मात्र है। अन्यत्र भी तीर्थ-स्नान का विरोध करते हुए लिखा है, 'गंगा जउ गोदावरि जाईऐ कुंभि जउ केदार न्हाइऐ'[4] तो भी भव-पार नही पहुँच सकते। इसीलिए 'गंगा मइआ गोदावरी संसार के कामा।'[5] नामदेव के काम का तो केवल नाम ही है।

दान देकर ही स्वर्ग-प्राप्ति के इच्छुकों को भी सतर्क किया है कि 'अस्रुदान गजदान सिहजानारी भूमि दान'[6] तथा 'गोमती सहज गऊ दाने कीजै' इतने से भी संतोष नही, तो अपने को पवित्र करने के लिए 'आप बराबरि कंचनु दीजै'[7] लेकिन इनसे भी अमरपद की प्राप्ति न होगी।

'कोटि जउ तीरथ करै' तथा 'तीरथ मरै'[8] तो भी मोक्ष-प्राप्ति आवश्यक नहीं, सम्भवतः पोंगा पडितों की यही ललकार सुन कबीर काशी से मगहर मरने चले गए थे। उन्हें इन ब्राह्मणों के काल्पनिक स्वर से खर-योनि ही पसंद थी। वह भगवान से ऐक्य स्थापित कर चुके थे, अतः उनके लिए काशी अथवा मगहर में मरने

---

१. ८७५ नाम, ७।
२. ८७५ नाम, ७।
३. ८७३ नाम, १।
४. ९७३ नाम, ४।
५. ११९५ नाम, १।
६, ७. ९७३ नाम, ४।
८. ९७३ नाम, ४।

में कोई अन्तर न था। नामदेव ने भी यही बात कही है।

'तनु जउ हिवाले गारै'[1] अथवा 'बनारसी तपु करै उलटि' तथा 'अगनि दहै काइआ कलपु कीजै'[2] इस प्रकार शारीरिक कष्ट, तप एवं काया-शोध से भी ब्रह्म प्राप्त नहीं, अपितु बाह्य आवरण-मात्र बन कर ये तप आदि शारीरिक कष्ट देने के कारण भगवत्प्राप्ति में अवरोधक ही सिद्ध होते हैं।

एकादशी आदि के व्रत के विरोध[3] के साथ-साथ, 'पंडित होइकै बेदु बखानै'[4] का भी विरोध किया है। क्योंकि वेद-उच्चारण-मात्र से या उसका उपदेश देने से कोई लाभ नहीं, अपितु उसमें वर्णित तथ्यों की अनुभूति अवश्य मानव को आध्यात्मिक पथ पर ले जाने में सहायक-सिद्ध हो सकती है।

त्रिलोचन—

दक्षिण में पंढरपुर के आस-पास ही, सं० १३२४ में त्रिलोचन का जन्म हुआ।[5] नाभादास की भक्तमाल के अनुसार ये नामदेव के समकालीन तथा ज्ञानदेव अथवा ज्ञानेश्वर के शिष्य थे।[6] फर्कुहर ने भी इन्हें पंढरपुर निवासी एवं नामदेव का समकालीन स्वीकार किया है।[7] प्रेम अबोध के अनुसार धन्ने से आयु में बड़ा तथा उसे ठाकुर देनेवाला कहा गया है।[8] रैदास ने नामदेव, कबीर, सेन, सधना आदि के साथ भक्ति के कारण इसे भी भव-पार पहुँचनेवाला बताया है।[9]

भूत, वर्तमान और भविष्य देखने की क्षमता होने के कारण ही इनका नाम त्रिलोचन रखा गया था। इनके यहाँ अंतर्यामी' बन कर भगवान ने नौकरी की थी—ऐसा प्रसिद्ध है। जो हो, यह निश्चित है, कि यह (सम्भवतः किसी दक्षिण प्रदेश के ही) उच्च कोटि के संत थे। 'ग्रंथ' में कबीर के दो पदों में नामदेव और त्रिलोचन का परस्पर संवाद मिलता है। जिसमे नामदेव इन्हें निष्काम कर्मण्य-जीवन व्यतीत करते हुए अंतःकरण से भगवत्तल्लीन रहने का ही सदेश देते हैं।[10] अन्यत्र भी नामदेव ने इन्हें सम्बोधन किया है, जिससे यह अनुमान दृढ़ हो जाता है, कि ये नामदेव के समकालीन थे। इधर एक हस्तलिखित प्रति में इनका परिचय मिला है, जिसमें इन्होंने अपने को पहले जीवन में सगुण का पुजारी स्वीकार किया है। यह भगवान की 'बहुविधि पूजा करे' तथा और किसी से इन्हें कोई मतलब न था।

देहि कष्ट करै मन जीतै।

वह सेवा में लगा रहता था, तथा मन को वश में कर भक्ति में लगाता था।

१, २. ९७३ नाम, ४। ३. ७१८ नाम, २। ४. ७१८ नाम, १।
५. सि० रि० : मैकालिफ, भाग ६, पृ० ७६।
६. उ० प० : प० च० पृ० १२३।
७. एन० आ० रि० लि० : फर्कुहर, जे० एन० पृ० २९१।
८. प्रेम अबोध : भाई हरिसिंह, गुरुदित्तसिंह पृ० ३६।
९. 'ग्रंथ' ११०६ रवि, १-२।
१०. कबीर श्लोक सं० २१२, २१३ 'ग्रंथ'।

तब उसकी 'फाटी कांबलि' और 'टूटी-पनही' का वर्णन है। इस प्रकार सपत्नी त्रिलोचन यात्रा पर निकले थे। जिससे उनकी संसार से निर्लिप्तता का आभास मिलता है। २७ पदों में कहानी के रूप में त्रिलोचन की यात्रा का वर्णन मिलता है।[१] एक अन्य परिचई भी मिली है, उसमें भी ३२ पदों में इसी कथा का वर्णन है, वहाँ त्रिलोचन का दूसरा नाम 'तिलौचंद' भी दिया है तथा पत्नी का नाम 'हरिदासी' बताया है।[२] इनमें ऐतिहासिक अंश चाहे जितना हो, लेकिन यह सत्य है, कि वे उच्च-कोटि के संसार से निर्लिप्त भक्त थे।

न जाने कब से इनके रचित मराठी पदों की सम्भावना चली आ रही है, लेकिन अब तक कोई पद प्राप्त नहीं हो सका, सम्भवतः इसीलिए डा० विनय मोहन शर्मा ने तो इन्हे मराठी संतों में भी स्थान नहीं दिया।[३] जो हो, परम्परा से अभी तक इनका स्थान मराठी संतों में बना हुआ है। न जाने कब किसी अन्तराल से इनकी उन रचनाओं की सूचना मिल जाए, जिनकी अनुश्रुति बहुत समय से साहित्य के इतिहास का विषय बनी हुई है।

हिन्दी-जगत् 'ग्रंथ' मे प्राप्त इनके केवल चार पदों से परिचित है। उन्ही के आधार पर इन्हें उच्च कोटि का संत माना जाता है। इधर हमारे देखने में इन चार पदों के अतिरिक्त तीन पद और मिले है।[४]

'ग्रंथ' में एक पद स्री राग में, पद गूजरी में तथा एक धनासरी में प्राप्त है। लेकिन इस हस्तलेख में क्रमशः एक राग टोडी, दूसरा राग गुंड तथा तीसरा राग रामकली में। दोनों ही ग्रथों में प्रत्येक पद का स्वर अलग ही है। केवल 'ग्रंथ' के राग धनासरी तथा हस्तलेख के राग गुंड पदों में इतना ही साम्य है, कि दोनों में अपनी गँवार स्त्री को सांसारिक सम्पत्ति के मोह में न फँस कर भगवत्कृपा को अनुभव करने का संदेश दिया है।[५]

हस्तलेख के राग टोडी में मिलनेवाले पद में 'इहूँ तेरा कछु ननूँ मेरा को। संसार सार बटुवा लो।' कहते हुए संसार में 'मेरा-मेरा' की भावना का विरोध किया है तथा 'एकल आइबो एकल जाइबो' कह कर उसकी अस्थिरता का प्रदर्शन किया है। अतः सांसारिकता के मोह में फँस कर 'हरि विमुख' होना व्यर्थ है।[६]

राग गुंड में होनेवाले दूसरे पद में अपनी गँवार स्त्री को भगवान की अपार कृपा का विस्तारपूर्वक विवरण देकर उसकी कृपा को अनुभव करने का संदेश दिया

---

१. ह० लि० प्रति, सं० ७६७, ना० प्र० सभा काशी। गुरुस्तुति—रचयिता रामचरण स्वामी, लिपिकाल—सं० १७७६।
२. ह० लि० प्रति सं० २२१५। १३८८।
३. देखें मराठी संतों की हिन्दी को देन : डा० विनयमोहन शर्मा।
४. ह० लि० प्रति सं० २४२१। १४०६ (ना० प्र० सभा काशी) पृ २४२।
५. 'ग्रंथ' ६६५ धनासरी १; (अ) हस्तलेख २४२ राग गुंड २।
६. हस्तलेख २४२१। १४०६ पृ० २४२ राग टोडी।

है, क्योंकि—

तिलोचन नौ-स्वामी सारंगधर । बेऊ बराबरि की धारे ॥

उसके स्वामी की तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता । इस प्रकार पत्नी को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है ।[1]

राग रामकली योगियों का राग है । कोई भी, कहीं भी इस राग में लिखे, वह अवश्य ही यौगिक शब्दावली से प्रभावित होता है । त्रिलोचन ने भी 'सुनि हो राजा औधू बोले' कह कर इस पद को प्रारम्भ किया है और उसमें 'हिरनी चीता मारया' तथा 'गाये बांध बिआर्या' आदि उल्टबासियों के आन्तरिक क्रियाओं से सम्बन्धित प्रयोग अनायास ही मिल जाते है । इससे यह भी स्पष्ट है, कि त्रिलोचन न केवल योग से परिचित ही थे, उसका उन्हें अच्छा ज्ञान भी था ।[2]

'ग्रंथ' के स्त्री राग के पहले पद में सर्पिणी माया के दुष्भाव का सविस्तार वर्णन है ।[3] राग गूजरी के पहले पद में बाह्याडम्बरों का विरोध है[4] तथा दूसरे पद में अन्तिम समय में किस लौकिक, इच्छा के दुष्परिणामस्वरूप अगले जन्म में क्या मिलता है ; इसका वर्णन है ।[5] राग धनासरी में गँवारिन पत्नी को सोदाहरण यह समझाया है, कि कर्मों का फल अवश्यम्भावी है, अतः दुःखों को अपने ही दुष्कृत्यों का फल समझ कर उसकी कृपा अनुभव करते हुए धैर्य एवं संतोषपूर्वक जीवन व्यतीत करने में ही जीवन की सफलता है ।[6]

प्राणी को सतर्क किया है, कि माया के मोह में तू जरा-मरण के भय को भूल गया है । अपने परिवार को देख तू कमल की तरह खिल उठता है और 'पर घरि जोहहि कपट नरा' दूसरे की पत्नी पर कुदृष्टि । द्वार पर खड़े यम के असह्य प्रहार का स्मरण आते ही सज्जन भगवान को रक्षा के लिए पुकार उठता है । माया के चक्कर में फँसने के कारण भोग-भोगने में हो वास्तविक सुख समझनेवाले जीव क्यों आलस्य में बिना भगवान का ध्यान किए व्यर्थ जीवन गँवा रहा है । संसार का मार्ग तो ऐसा दुर्गम है, जहाँ रवि, शशि की भी पहुँच नहीं, तथा जहाँ बड़े-बड़े शक्तिशाली भी नहीं टिक सके । अतः यम की याद आते ही वह भगवान से रक्षा की प्रार्थना करता है । यह व्यक्तिगत उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ वह जन-सामान्य को माया से बच कर अपने आपको भगवदर्पण करने का संदेश देता है ।[7]

गुदड़ी, मुद्रा धारण करके, श्मशान की राख मल कर, कमण्डलु हाथ मे लेकर अड़सठ तीर्थों में स्नान करना ; सब व्यर्थ है । ऐसा करते-करते अभी तक चौरासी लाख योनियों के चक्कर में फँसा हुआ साधु समझ नहीं पाता । अत. उसे समझाया है, कि—

१. हस्तलेख २४२१ । १४०६ पृ० २४२ राग गुंड ।
२. 'वही' पृ० २४२ राग रामकली ३ ।
३. 'ग्रन्थ' ९२ त्रिलोचन १ ।
४. 'ग्रन्थ' ५२५ त्रिलोचन १ ।
५. 'ग्रन्थ' ५२५ त्रिलोचन २ ।
६. 'ग्रन्थ' ६९५ त्रिलोचन १ ।
७. 'ग्रन्थ' ९१ त्रिलोचन १ ।

अंतरु मलि निरमलु नही कीना बाहरि भेख उदासी।
हिरदै कमलु घटि ब्रहमु न चीना कहि भइआ संनिआसी ॥

आंतरिक मल को दूर करके जब तक अन्तःकरण में ब्रह्म को पहचान लिया जाए, तब तक यह सब बाहरी वेश बेकार है। अतः यह सब जप, तप करना, जल बिलोने के समान है, इसमें कुछ सार नहीं। वास्तविकता तो उसे अन्तःकरण में पहचान कर उसी का स्मरण करने में है।[1]

अन्त समय में धन की चिंता करनेवाले को सर्प-योनि, कामिनी की कामना करनेवाले को वेश्या-जन्म तथा पुत्र की इच्छा करनेवाले को शूकर-योनि प्राप्त होती है। इसलिए अन्त समय नारायण का स्मरण करना चाहिए, क्योंकि उसी से मानव मुक्त हो सकेगा।[2]

'नाराइन निंदसि काइ भूली गवारी।' यह तो अपने सुकृत, दुष्कृत्यों का फल है। विष्णु कुल में अवतार पा, गंगा में नित स्नान कर, शिव के मस्तक के आभूषण चंद्र मे भी तो पापों का कलंक अंकित ही है। संसार के प्रकाशक सूर्य का सारथी, पक्षीराज गरूड़ का भाई अरूण भी तो अपांग ही है। शिव को भी कपालधारी बने रहना पड़ता है। कल्पतरु, कामधेनु और अमृत तक का उत्पादक बेचारा समुद्र स्वतः तो खारा ही बना रहता है। राम का सशक्त सहायक पवनपुत्र भी बेचारा लंगोटी-धारी ही है। यह सब अपने कर्मों का ही फल है, जो भोगे बिना किसी का छुटकारा नहीं। अतः भलाई इसी में है, कि राम नाम का जाप करते हुए अपने पूर्व कृत कर्मों के फल को धैर्यपूर्वक भोग और भविष्य में सत्कर्मों द्वारा भगवत्कृपा की पात्र बन।[3]

त्रिलोचन के पदों की भाषा में मराठी शब्दावली का प्रभाव स्पष्ट ही लक्षित हो जाता है आगलड़ा, इड़ा, बाहुड़ी, साजणु आदि शब्द उसी प्रभाव के द्योतक है। इनका पौराणिक ज्ञान असीम है। यद्यपि भाषा सुबोध नहीं, तो भी शैली सशक्त है। अपनी बात को इतने प्रभावशाली ढंग से सोदाहरण, सप्रभाव प्रस्तुत करते हैं, कि वह पाठक या श्रोता पर अमिट छाप छोड़ जाती है। उन्होंने जमाने को पहचाना था और उपयुक्त निदान ही बताया था। इसी में उनके नाम की सार्थकता निहित है। इसीलिए उनका सत्य आज भी सत्य है। और सदा सत्य बना रहेगा।

बेणी

बेणी योगी पहले थे और भक्त या संत बाद में। इनकी सभी रचनाओं में योग के स्वर की प्रधानता इस बात का प्रमाण है। इनका ऐतिहासिक विवरण कहीं भी कुछ नहीं मिल पाया। इसीलिए इन्हें इनकी रचनाओं के आधार पर कबीर आदि से पूर्ववर्ती संतों में स्थान देना उपयुक्त समझा जाता है तथा भाषा-शैली की दृष्टि से किसी पश्चिमी प्रांत का निवासी माना जा सकता है।[4] हाँ! केवल पंचम गुरू अर्जुन ने 'ग्रंथ' में वर्णित अन्य सात भक्तों के साथ इनका नाम भी लिया है।

१. 'ग्रन्थ ५२५ त्रिलोचन १। २. 'ग्रन्थ' ५२५ त्रिलोचन २।
३. 'ग्रन्थ' ६९५ त्रिलोचन १। ४. उ० प० : प० च० पृ० १०४।

वही इनका पहला और अन्तिम उद्धरण मिलता है।[१] सरदार नरायन सिंह ने 'ब्रह्म-भाट बेणी' इनका पूरा नाम बताया है तथा असनी नगर में सं० १६६० में इनका जन्म होना लिखा है।[२] इस भूल को स्पष्ट करने में किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। क्योंकि सं० १६६१ में संगृहीत 'आदि ग्रंथ' में सं० १६६० में उत्पन्न संत बेणी के पद कैसे आ गए ? हाँ ! यह और कोई ब्रह्मभाट बेणी हो सकते हैं, लेकिन 'ग्रंथ' में जिनके पद संगृहीत हैं, वह बेणी नहीं। इन्हें १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।

साहित्य-जगत् 'ग्रंथ' में उल्लिखित इनके केवल तीन पदों से परिचित है। हमारी खोज में इनके सात पद और मिलें हैं।[३] इनके रचयिता का नाम बेणी दास दिया हुआ है, पदों की भाषा एवं शैली के मिलान पर ही नहीं, अपितु उन्हीं पदों में एक पद के, कुछ शब्दावली परिवर्तन के साथ, मिलने पर सिद्ध हो गया कि ये वे ही बेणी हैं। इस हस्तलेख में इनके राग रामंगरी (रामकली) में पाँच तथा राग भैरु में दो पद प्राप्त हैं। जबकि 'ग्रंथ' में एक स्री राग, एक राग रामकली तथा एक राग प्रभाती में। 'ग्रंथ' का राग रामकली का पद ही हस्तलेख के राग रामंगरी के दूसरे पद के रूप में कुछ परिवर्तित शब्दावली के साथ मिलता है।[४]

हस्तलेख में राग रामंगरी में प्राप्त प्रथम पद में योग का वर्णन प्राप्त है, जिसमें 'अनाहद जे सबद बाजे' आदि व्याख्या देकर बताया है, कि अनाहद शब्द के श्रवण से जीव भव-पार पहुँच सकता है।[५] दूसरे पद का वर्णन 'ग्रंथ' के पदों में मिलेगा, जिसमें कि योग का सविस्तार परिचय देने का प्रयत्न किया है। तीसरे पद में यह बताया है, कि 'ऐसा जोग रे ध्यावो बाला मुकति है दासी। करम के सब बंधन छूटै। अगम अबिनासी।' ऐसे योग का ध्यान करना चाहिए जिससे क्रियमान कर्मों के तो बंधनों से जीव मुक्त हो जाए और मुक्ति दासी बन कर उसे प्राप्त हो। यह बताते हुए योग का महत्त्व दर्शाया है तथा उसे भव-पार पहुँचानेवाला बताया है।[६]

अगले पद में 'चेति रे आतमां चेति' कह कर अंतःकरण में ब्रह्म को उद्भाषित करने के लिए जहाँ एक ओर सुषुमा साधने का संदेश दिया है, वहाँ दूसरी ओर अजपा जाप करने का पाठ पढ़ाया है। तब 'अनहद सींगी बाजी' और परिणाम-स्वरूप साधक को मोक्ष की प्राप्ति होगी।[७]

इस प्रकार इस राग के अंतिम शब्द में योग से ही अंतः रसपान तक साधक को पहुँचा दिया है, क्योंकि योग से 'ओषदी सहजै प्रकास' हो जाता है, तब 'अमृत पीया पाछै विष न पीजै।' यही जीवन का साध्य है, कि सांसारिक विष त्याग कर जीव अमृतरस (ब्रह्म रस) का पान करें।[८]

२. 'ग्रन्थ' ११९२ म० ५, १। ३. भगतमाल : भाई नारायण सिंह पृ० १९५।
३. हस्तलेख सं० २४२१ । १४०१ (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० २४४-२४६ ।
४, देखें 'ग्रंथ' ९७४ बेणी १, तथा हस्तलेख पृ० २४५ बेणी २।
५. हस्तलेख पृ० २४४ बेणी १। ६. वही—पृ० २४५ बेणी ३।
७. वही पृ० २४५ बेणी ४। ८. वही पृ० २४५ बेणी ५।

राग भैरु के पहले पद में 'सबद अनाहद बाजै भरी' तब 'करम गलित जीव कहाँ समाइ' जीव अपनी लौकिक उन्नति के चरम पर पहुँच चुका है, अब वह अपनी स्थिति को कहाँ विलीन कर दे; निरंतर अनहद शब्द जो सुनाई दे रहा है।[1] अंतिम पद में वह अपनी अनुभूति के चरम पर पहुँच गया। वहाँ 'बिजली चमकत कार छंछाल।' योग से अंतःप्रकाश हो चुका है और 'जहाँ अनूपम थांन। तहाँ क्रीड़ा करै आतमाँ राम। 'जीव स्वतः ही अंतर में ब्रह्मानुभूति कर रहा है। कौन जानता है, यह क्रीड़ा ब्रह्म की है या ब्रह्म से ऐक्य स्थापित किए हुए जीव की। यही साध्य का भी साध्य है।[2]

स्रीराग के पद में माया के भ्रमवश संसार चक्र में उलझे हुए जीव को चेताया है, कि गर्भ में जिसने रक्षा की, उसे भुला कर मोह-माया के जंजाल में ऐसा फँसा हैं, कि राम को स्मरण न करनेवाली दुर्बुद्धि पनपा ली और सांसारिक भोग में ही वास्तविक सुख अनुभव करता हुआ पास खड़े यम का डर भी नही रहा। बालपन खेल में तथा युवावस्था नामामृत त्याग कर विषय-विष मे ही वास्तविक रसपान समझ कर बिता दी। अब पाँचों विकार दुःख देते है। अवसर से पाप-पुण्य की पहचान नहीं की तथा सुत, सम्पत्ति के झूठे गर्व में नाम को हृदय से भुला दिया। इस प्रकार अमूल्य हीरा जन्म गँवा दिया। अब वृद्धत्त्व के कारण इन्द्रियो ने काम करना बंद कर दिया। अंतर्चक्षुओं को कुछ सूझता नहीं,' 'उड़िआ मनु पंखी।' लेकिन कहीं इस प्रकार की मृत्यु भी मोक्षदायक हो सकती? नहीं, कदापि नही। इसीलिए बेणी का संदेश है, कि दिन भर कार्य करते हुए भी उसको न भूलो तभी जीवन सफल हो सकता है और मानव भव-पार पहुँच सकता है।[3]

राग रामकली के पद में योग का विस्तृत विवेचन है। इड़ा, पिंगला सुषम्ना का मिलन-स्थल ही प्रयाग कहलाता है। मन को उसी में स्नान करना चाहिए। वहीं अनहद शब्द सुनाई देता है और वही निरंजन हैं, जिसे कोई बिरला ही जानता हैं। गुरू-कृपा से दुर्मति नष्ट होने पर अन्तर्ज्ञान से अंतर भीग जाता है। इसके लिए मन को माया से हटा कर शून्य में लगाना आवश्यक है। संसार-वृक्ष में उलझे नही, असुर (दुर्गणों की) नदी में बहे नहीं, अन्तर्ज्ञान उत्पन्न करे, तभी अमृत झरेगा। यह गुरू-कृपा एवं ज्ञान से प्राप्य है। बेणी तो उसके नाम की ही पहचान-मात्र मांगता है।[4]

राग प्रभाती में, जब कि चारों ओर ज्ञान-प्रकाश हो चुका है तब भी चंदन और तुलसीपत्र के आवरण में ढके हुए 'नित प्रति इसनानु सरीरं' से देह को पवित्र बनानेवाले 'रिदै छुरी' रखते हैं। रासलीला में पैरों से नाच, पर दिल में पाप, कण्ठ में रुद्राक्ष की माला, पर हृदय में झूठ, रखनेवाले जिसने भी आत्मतत्त्व को नहीं पहचाना, उस अंधे के सम्पूर्ण लौकिक कार्य व्यर्थ गए। अतः बेणी कहता है' कि

---

१. वही पृ० २४५ राग भैरु (बेणी) १। २. वही पृ० २१६ राग भैरु (बेणी) २।
३. 'ग्रन्थ' ९३ बेणी १। ४. 'ग्रन्थ' ९७४ बेणी १।

एक-मात्र ब्रह्म का ध्यान करो, उस ध्यान का भी एक मार्ग है, जो गुरू से प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि 'बिनु सतिगुर बाट न पावै ।'[१]

इस प्रकार संक्षेपतः माया के कारण सुखी प्रतीत होनेवाले मानव-जीवन एवं सांसारिक सम्पत्ति से जीव को सतर्क किया ताकि वह उसी में लिप्त न हो जाए। पुनः उसे हृदय में अनुभव करना आवश्यक बताया है, जिसके लिए योग-मार्ग का भी आश्रय लिया जा सकता है। अन्यथा हृदय में उत्पन्न भक्ति तो शीघ्र ही उसे (ब्रह्म-रसपान) ऐक्य विधायक सिद्ध होगी।

इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द बहुतायत से मिलते हैं। इनका प्राप्त पुराना रूप ही हिन्दी के कबीर आदि अन्य संतों से भी उन्हें अधिक पुराना सिद्ध करता है। अलंकारों की क्लिष्टता ने इनकी अभिव्यक्ति को यहाँ दुरुह अवश्य बना दिया है। लेकिन जहाँ उदाहरण विचारों को समझने मे सहायक है, वे समझ में आने पर उसके आंतरिक एवं बाह्य सौन्दर्य को भी उभारने में भी सफल स्थान पाते हैं। संत बेणी का अपना सौन्दर्य भी इस सौन्दर्य को उभारने में ही निहित है।

संत बेणी की वाणी का साहित्यिक के साथ-साथ इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व भी है, कि इन्ही तीनों रागो में गुरू नानक ने इसी भाव के शब्द लिखे हैं। जिनके न केवल भाव, अपितु पद एवं शब्द साम्य से भी स्पष्ट है, कि गुरू नानक के पास अपनी वाणी की रचना करते हुए ये पद उपस्थित थे।[२]

———

१. 'ग्रन्थ' १३५१ बेणी १ ।

२. विस्तृत विवरण के लिए देखे, अध्याय २ संत-वाणी किसने संगृहीत की ? बेणी के पृ० ९३ ९७४ तथा १३५१ पर प्राप्त पदों की क्रमशः गुरु नानक के पृ० ७४ के पद 'पहिलै पहरै रणि कै बणजारिआ' पुनः पृ० ९०३ की अष्टपदी 'खटु मटु देही मनु बैरागी' तथा पृ० १३३१ के १४ वें शब्द 'गीत नाद हरख चतुराई ।' से तुलना कीजिए ।

सप्तम अध्याय

कृष्ण-भक्तिपरक तथा मुस्लिम संतों के धार्मिक विश्वास

गुरु नानक बहु भ्रमणशील व्यक्ति थे। उन्होंने अपने विचारों का विशालतम भूखंड में प्रचार करने के लिए तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध संतों की ही भाँति कृष्ण-भक्तिपरक संतों को भी अपनी वाणी के साथ एकत्रित करना उपयुक्त समझा। सम्भवतः अपनी बंगाल की यात्रा मे जयदेव के प्रभाव से परिचित हुए थे तथा लौटते हुए सूरदास के वात्सल्य भरे गीतों ने उनके भी अन्तःस्तल को गुदगुदाया था। अतः जन-सामान्य को विशेष रूप से प्रभावित करनेवाले इन दोनों की रचनाओं को उन्होंने तथा परवर्ती परमानन्द के पद को इसी आधार पर सम्भवतः पंचम गुरू ने ही 'ग्रंथ' में स्थान दिया है। यह भूल न जाना चाहिए कि साकारोपासक इन भक्तों के भी निर्गुण-उपासना संबन्धी पदों को ही 'ग्रंथ' में स्थान मिला है।

जयदेव

'गीतगोविन्द' के माध्यम से संस्कृत साहित्य को संयोग शृंगार के मधुरतम गीत देनेवाले तथा हिन्दी-साहित्य के लिए राधा-कृष्ण के माध्यम से कृष्ण-भक्ति के स्रोत जयदेव अद्वितीय व्यक्तित्त्व लेकर भारतीय साहित्य को अपने मधुर रस से आप्लावित करने आए थे। केंदुली ग्राम (जिला बीरभूम) बंगाल में इनका जन्म हुआ, ऐसा प्रसिद्ध है।[१] उसके पास से बहनेवाली गंगा आज तक 'जयदेई गंगा' के नाम से पुकारी जाती है, सम्भवतः यह इसी का प्रमाण है। 'ग्रंथ' में प्राप्त इनके हिन्दी पदों को देख कर कुछ विद्वानों की धारणा है, कि सम्भवतः संस्कृत के प्रसिद्ध गीतगोविन्दकार जयदेव 'ग्रंथ' के इन पदों के लेखक जयदेव से भिन्न हैं।[२] अन्य विद्वानों का मत है, कि 'ग्रंथ' के हिन्दी पदों के लेखक संस्कृत के प्रसिद्ध गीतगोविन्दकार

---

१. उ० प० : प० च० पृ० ६५।

२. वही पृ० ६६ : हिन्दी साहित्य : आचार्य ह० प्र० द्वि० पृ० ११८। सि० प० रि० : मैकालिफ भाग; ६, पृ० ४ :

जयदेव ही हैं ।[1] किसी सबल प्रमाण के अभाव में हमें दो भिन्न लेखक स्वीकार करना अधिक युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । हमें एक अन्य पुरातन संग्रह में जैदेव के नाम से एक पद राग बसन्त में मिला है, जिसमें राम-लक्षमण के होली खेलने का वर्णन प्राप्त है तथा भाषा 'ग्रंथ' के एक पद से बहुत कुछ मिलती है। राधा-कृष्ण का पुजारी सीताराम को भी मिलता दिखाया गया है ।[2] जो हो, यह हिन्दी पद भी इन्ही जयदेव का प्रतीत होता है ।

कुछ विद्वानों ने इन्हें राजा लक्ष्मणसेन का समकालीन तथा उनके दरबार का प्रसिद्ध कवि स्वीकार किया है । जिनका राज्य-काल भी भिन्न-भिन्न बताया जाता है ।[3] दूसरे मत के अनुसार वे राजा कामार्णव (सं० ११९९-१२१३) के समकालीन माने जाते हैं ।[4] जो हो, यह निश्चित है कि १३ वीं शताब्दी में यह विद्यमान थे । कबीर ने भी नामदेव के साथ उन्हें भगवद्‌भक्ति पहचाननेवाला उच्च कोटि का भक्त स्वीकार किया है ।[5] गीतगोविन्द के अन्त में इन्होंने अपने पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधादेवी दिया है । इनके जीवन के विषय में भी अन्य भक्तों की भाँति अन्यान्य जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं ।

संस्कृत साहित्य में उनका 'गीतगोविन्द' अपनी मधुर भावाभिव्यंजना तथा कोमल कांत पदावली के कारण अद्वितीय स्थान बनाए हुए है । उनके शृंगार में भक्ति का पुट भी मिलता है । हिन्दी में 'ग्रंथ' के दो पदों के अतिरिक्त हस्तलेख में उनका एक पद और देखने को मिला है,[6] जिसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है । इन पदों के आधार पर उन्हें हिन्दी का कवि माना जा सकता है, लेकिन संस्कृत के गीतगोविन्दकार की प्रतिभा उसमें प्रस्फुटित नहीं हो सकी । उनकी भाषा अपभ्रंश से भ्रष्ट हो गई है, ऐसा कहें, तो अनुचित न होगा । हस्तलेख में वर्णित राग बसन्त के पद में उन्होंने 'तहाँ फाग षेले लषमण रांम' का वर्णन किया है । दस सिर तोड़ रावण का हनन कर तैंतीस करोड़ को स्वतन्त्र करनेवाले राम का वर्णन भी है । अतः 'सुर नर मुनि जन पूरे राम' करनेवाले 'सीताराम' का जयदेव भजन करता है ।[7] यह पद उनकी सगुण भक्ति का ही परिचायक है । विशेष बात यह है, कि संस्कृत में राधा-कृष्ण का पुजारी हिन्दी में सीताराम का भी आराधक बन गया । ग्रंथ' में प्राप्त राग गूजरी के पद में

१. हि० आ० इ० : डा० रामकुमार वर्मा पृ० ५०० ।
२. हस्तलेख सं० २२४१।१४०१ (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० २३६ ।
३. सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० ४ (सं० १२२७) ।
(अ) द' हिस्ट्री आफ बंगाल : डा० मजुमदार पृ० २३१ । (सं० १२३६ १२६२) ।
(ब) मिडोवल इण्डिया : डा० ईश्वरी प्रसाद पृ० २६ (सं० ११७६ राज्यारोहण) ।
४. ह० प० : प० च० पृ० १६ ।
५, 'ग्रंथ' ३३० क०, १ ।
६. हस्तलेख संख्या २४२१।१४०१ पृ० २३६ ।
७. वही पृ० २३६ पद सं० १ ।

उन्होंने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का रूप उपस्थित किया है[1] तथा राग मारू में आन्तरिक साधना द्वारा उसे प्राप्त करने का संदेश दिया है।[2]

प्रकृति का निर्माता, सत्य आदि भावों से युक्त जो अनुपम पुरुष है, वही सर्वव्याप्त है। यम से बच कर यश प्राप्त करते हुए अमर होनेवाले जीव को उसने सन्देश दिया है, कि 'केवल राम नाम मनोरमं।' अतः अमृत तुल्य उस नाम का ही स्मरण करो। काम, क्रोध आदि दुर्गुणों से बच कर दुष्कर्म एवं दुर्मति त्याग कर भगवान की शरण में जाओ। पुनः योग, यज्ञ, दान एवं तप आदि बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए 'रिद करमणा बचसा' वचन, कर्म तथा पवित्र हृदय से भगवान की ही अनन्य भक्ति का सन्देश दिया है। तथा इस प्रकार त्रिकालातीत, सर्वव्यापी ब्रह्म में ही पूर्ण आत्मसमर्पण करके ही जीव जीवन को सफल बना सकता है।[3]

राग मारु के पद मे इड़ा, पिंगला के माध्यम से इन्द्रियों को वश में कर चंचल चित को स्थिर करने का सन्देश दिया है। चित के स्थिर होने पर उससे कायापलट हो सकती है, जिससे 'अपिउ पीआ' (कठिनाई से पेय अमृत रस) पिया जाता है। अन्तःकरण से उसके गुणों को अनुभव करके उससे द्वैत भाव समाप्त करके ऐक्य स्थापित किया जाता है। इस प्रकार जीव ने आराध्य की आराधना की, श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की तथा जलवत् जल में समा गया। यह निर्वाण पंद ही जीव को ब्रह्म मे लीन होने में सहायक-सिद्ध होता है।

इस प्रकार पहले पद मे जहाँ ब्रह्म का स्वरूप स्थिर करके जीव को ससार की व्यर्थता बताते हुए, दुर्गुणों एवं बाह्याडम्बरों से बच कर आन्तरिक जप एव अनन्य भक्ति का सन्देश दिया है, वहाँ दूसरे पद मे योग द्वारा चंचल मन को वश मे करके अन्तर्ज्ञान द्वारा ब्रह्म से ऐक्य का साधन बताया है।

ध्यान से देखने से यह पता लगता है कि पहले पद की भाषा स्पष्टतः संस्कृत के गीतगोविन्दकार की भाषा है। क्योकि न केवल अनुस्वारान्त शब्दों का आधिक्य, अपितु माधुर्य व्यंजक प, र, म आदि शब्दों का पर्याप्त प्रयोग एवं जयदेव की अनुप्रासप्रियता, अनायास ही इस पद के माध्यम से उसके संस्कृत व्यक्तित्त्व का परिचय दें रही है। दूसरे पद में योग की शब्दावली अवश्य ही कर्णकटु शब्दों से भरपूर है। तो भी उसे मधुरिमा में ढालने का प्रयत्न किया गया है। जो हो, दोनों पदों में 'गागर में सागर' शैली का ऐसा आश्रय लिया गया है, कि इसे समास शैली का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। तीन-तीन शब्दों के वाक्य खण्डों में अपनी बात पूरी कह कर कवि आगे बढ़ता गया है। यथा—'अबल बलु तोड़िया' (इन्द्रियों की शक्ति को चूर-चूर कर दिया) पुनः 'अचल चलु थापिआ' (चंचल मन को स्थिर किया), तब 'अपिउ पीआ' (कठिनाई से पेय अमृत पिआ)।[4] प्रथम पद में तो संत

---

१. 'ग्रंथ' ५२६ जयदेव १।
२. 'ग्रंथ' पृ० ११०६ जयदेव।
३. 'ग्रंथ' ५२६ जयदेव १।
४. 'ग्रंथ' ११०६ जयदेव १।

मत की सभी बातों का संक्षेप में वर्णन कर दिया है।[1] दिव्य है कवि की अन्तर्दृष्टि और वर्णन शक्ति।

जयदेव के पद तो दो ही है, लेकिन इनका महत्त्व इस दृष्टि से भी अत्यधिक है, कि इन्होंने गुरू नानक तक को इतना प्रभावित किया, कि उन्होंने भी इन्हीं भावों को ऐसे ही शब्दों में (अपने व्यक्तित्त्व के अनुरूप थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके) अपनी वाणी मे स्थान दिया है।[2] दोनों का मिलान इस तथ्य पर प्रकाश डाल जयदेव के व्यक्तित्त्व को उभार कर सामने ला सकेगा।

सूरदास

हिन्दी के उत्कृष्टतम कवियो में स्थान पानेवाले, 'सूरसागर' के लेखक, राधा-कृष्ण के सेवक, अनन्य भक्त, वात्सल्यराज, अन्धराज सूर का भी एक पद 'ग्रंथ' में संगृहीत था, लेकिन प्रामाणिक प्रति में उसकी एक ही तुक, 'छाडि मन हरि बिमुखन को संगु'[3] प्राप्त है।[4] कुछ विद्वानों का विचार है, कि गुरू विचारधारा के अनुकूल न होने के कारण शेष पद को अंकित नही किया गया।[5] अपितु अगले पद में गुरू अर्जुन ने इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। सूरदास के अन्य १५ पद तथा १२ साखियों के साथ यह पद एक हस्तलेख में इस प्रकार मिलता है—

तजि मन हरि बिमुषनि को संग।
जाकी संगति कुबुधि उपजंत है। पड़त भजन में भंग ॥टेक॥
कहा भयो पै पान कराये । विष नहीं तजत भुवंग ॥
कऊवै कहा कपूर षवाये । स्वान न्हवाये गंग ॥१॥
षरकूं कहा अगरजा लेपन । मरकट भूषन अंग ॥
न्यूं पाषांण बांण नहीं भेदै । रीतौ भयो निषंग ॥
सूरदास वै कारी कांमरि । बऊरि न चढ़इ रंग ॥२॥११॥[6]

यह मत रखनेवालों का विचार बहुत उपयुक्त नही प्रतीत होता, क्योंकि इसी विचार के पद अन्य संतों की वाणी मे भी प्राप्त है। उनका कथन है, कि जीव कितना ही बुरा क्यों न हो; वह जिस किसी भी अवस्था में गुरू की शरण में जाएँगा, उसका उद्धार अवश्य हो जाएगा। 'बुढ़ापे में भक्त होना कठिन है' फरीद के इस भाव का सम्भवतः बुढ़ापे में ही अनन्य भक्त होनेवाले तृतीय गुरू अमरदास ने

१. 'ग्रंथ' ५२३ जयदेव १।
२. जयदेव के पृ० ५२६ तथा पृ० ११०६ के पदों की तुलना क्रमशः गुरू नानक के पृ० ५०५ पर घरु ४ के पहले शब्द तथा पृ० ६६१ पर शब्द सं० ६ 'सूर सरु सोसिलै' से करनी चाहिए।
३. 'ग्रंथ' पृ० १२५३।
४. विस्तृत विवरण देखें, तृतीय अध्याय 'संत वाणी की संख्या'।
५. गुरमत प्रकाश : साहिब सिंह पृ० १००।
६. हस्तलेख संख्या २२४१ । १४०१ (ना० प्र० सभा, काशी)—पृ० २५७, (११वां पद)

विरोध किया है।[1] सूरदास की 'कारी काँमरि' का रंग उनके विचार में नहीं बदल सकता, अतः इस 'ग्रंथ' को स्थान न मिल सका, लेकिन 'ग्रंथ' में ही कबीर के एक श्लोक में लिखा है—

कबीर साचा सतिगुरू किया करै जउ सिखा महि चूक।[2]

शिष्य ही जब अत्यधिक स्वाभाविक दोषों से भरा हुआ है, तो बेचारा सत्गुरू भी क्या करे? यही तो सूर की 'कारी काँमरि' है। अतः हमारा विचार है, कि सूर के पद को 'ग्रंथ' में इसलिए स्थान नहीं मिल सका, क्योंकि वह पद भी निर्गुण एवं निराकार की उपासना का द्योतक नहीं। अपने पहले जीवन में सगुण-साकार के पुजारियों के भी उन्हीं पदों को 'ग्रथ' में स्थान मिला है, जिनमें उनकी निर्गुणोपासना झलक रही हो। लेकिन सूर के इस पद में भी उनके निर्गुणोपासक होने का कोई चिह्न नहीं मिलता। इसीलिए एक तुक लिख लेने के बाद, यह विचार आते ही शेष पद नही अंकित किया गया। जो हो, इससे सूर का महत्त्व घटता नहीं। कौन जानता है, अन्य भक्तों ने बाह्य चक्षुओं से जगत् के साकार भगवान को देख लिया था। इसीलिए उन्हें निर्गुण की उपासना करनी पड़ी। लेकिन अंतर्चक्षु प्रदीप्त अंधराज ने निर्गुण को तो अन्तर में ही देख लिया था, इसीलिए उन्हें साकार से खेलना पड़ा। अनन्य है उनकी भक्ति और अनन्त है उससे द्रवित सुधा-रस।

परमानंद

कृष्ण-भक्त अष्टछाप के प्रसिद्ध कवियों में इनका अपना स्थान है। मैकालिफ ने इन्हें पंढेरपुर के उत्तर बरसी का निवासी बताया है।[3] सं० १६०७ के आस-पास इनका विद्यमान होना माना जाता है।[4] साकार कृष्ण की लीलाओं में इनके अनेक पद प्राप्त हैं। 'ध्रुव चरित्र' तथा 'दानलीला' भी इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ है। एक हस्त-लेख में इनके भिन्न-भिन्न रागों में इसी प्रकार के २७ पद मिलते है।[5] 'ग्रंथ' में राग सारंग में इनका केवल एक ही पद मिलता है।

इनमें इन्होंने 'अनपावनी भगति' का इतना महत्त्व बताया है, कि उसके बिना वेदों का पढ़ना, सुनना सभी कुछ बेकार है। क्योंकि आत्मा को वास्तविक भूख तो भक्ति की है। अतः काम, क्रोध आदि दुर्गुणों को छोड़ कर, तथा इहलोक और परलोक के विनाशक दुष्कर्मों से बच कर सत्संगति करनी चाहिए। इस सत्संगति से ही भगवान के गुणों का ज्ञान होता है। तब ही अनपावनी भक्ति द्वारा जीव भव-पार हो पाता है।[6]

---

१. देखें फरीद का श्लोक सं० १२ तथा गुरू अमरदास की व्याख्या श्लोक सं० १३ में 'ग्रंथ' पृ० १३७८।
२. कबीर श्लोक सं० १५८; 'ग्रंथ' पृ० १३७२।
३. सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० ८२।
४. हि० आ० इ० : डा० रामकुमार वर्मा पृ० ५६४।
५. हस्तलेख सं० २२४१। १४०६ पृ० २५२। ६. 'ग्रंथ' २५३ परमानन्द १।

इस प्रकार सरल एवं सरस ब्रजभाषा में उन्होंने अपने विचारों को प्रकट किया है।

इस प्रकार कृष्ण-भक्तिपरक भक्तों में से जयदेव, सूरदास तथा परमानंद को 'ग्रंथ' में स्थान प्राप्त हुआ है, जिससे उनके संत-व्यक्तित्व तथा महत्त्व का बोध होता है।

शेख फरीद : व्यक्तित्व

हंसु चलसी डुंमणा अहि तनु ढेरी थीसी।[१]

दरवेश को इस बात का ज्ञान था, कि हंस (आत्मा) चला जाएगा और यह देह राख की ढेरी-मात्र रह जाएगी। उसने उन आँखों को देख लिया था, जिन्होंने सम्पूर्ण संसार को मोह लिया था।[२] लेकिन तब तक, 'बुढा होआ सेख फरीदु कंबणि लगी देह।'[३] बुढ़ापा आ गया था और उसका शरीर काँपने लग गया था। इसीलिए उसने यह कहते हुए भगवान की शरण में जाने की प्रार्थना की,[४] कि 'यदि मुझे इस क्षणिक जीवन का ज्ञान पहले ही होता, तो मैं शीघ्र ही भगवान में लग गया होता।'[५] क्योंकि भगवत्प्रेम के बिना अब वह अनुभव करता है, कि 'चिंत खटोला वाणु दुखु विरह बिछावण लेफु।' चिंता उसकी वह खाट है, जो दुःख रूपी बान से बुनी हुई है तथा ब्रह्म के वियोग से उत्पन्न यह विरह ही उसका बिछौना तथा ऊपर लेने का कपड़ा है।[६] अत. भगवान से कृपा करने की प्रार्थना की है, क्योंकि देह के जर्जर हो जाने पर भी वासना रूपी कौए चोंच मारने से हटते नहीं, तो भी उसकी तृष्णा समाप्त नहीं हुई।[७] इसी विचार से उन्होंने अपने आप को फल खाते हुए और जमीन पर सोते हुए वन मे रहनेवालों का दास बताया है।[८] ऐसा प्रसिद्ध है कि उन्होंने स्वतः भी वन में रह कर तप किया था।[९] यद्यपि अन्यत्र उन्होंने स्वतः ही वन में जाने का विरोध किया है।[१०] इससे स्पष्ट है कि यहाँ उनका भाव सादे रहने-मात्र से है और जब सम्पूर्ण शारीरिक प्रयत्नों से उन्होंने भगवान की ओर बढ़ने का उल्लेख किया,[११] तो गुरू नानक ने शरीर को कष्ट न देकर उसे अन्तः-करण में ढूँढने का संदेश दिया।[१२] पुनः तृतीय गुरू अमरदास ने भी शारीरिक प्रयत्न करनेवाले को उल्टा लटक कर मरनेवाले बगुले की तरह बताया है।[१३] दरवेश का व्यक्तित्व उन तत्त्वों से संगृहीत हुआ था, जो मांगने से मृत्यु को अच्छा समझते थे[१४] तथा अपनी ईमानदारी से कमाई हुई 'काठ की रोटी' को 'पराई चोपड़ी' हुई से।[१५] अतिथि-सत्कार के बिना उनकी देह को कष्ट पहुँचता था[१६] और भगवान के नाम मे

---

१. ७६४ फरीद २। २. १४ श्लोक। ३. ४१ श्लोक।
४. ४८८ फरीद १। ५. ४ श्लोक। ६. ३५ श्लोक।
७. ९० श्लोक। ८. १०१ श्लोक।
९. भक्तमाल : ज्ञानी नरायणसिंह पृ० २००। १०. १९ श्लोक।
१०. ११९ श्लोक। ११. १२० म०, १। १२. १२२ म०, ३।
१४. ४२ श्लोक। १५. २८ श्लोक। १६. २२ श्लोक।

रमं जाने पर तो उन्होंने देह में खून का भी अभाव अनुभव किया था,[१] क्योंकि देह भर में नाम ही जो समा गया था। इसका भी एक कारण था, कि उन्हें इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका था, कि 'वारी आयो आपणी चले मसाइक सेख।'[२] अपने-अपने समय के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को यहाँ से चले जाना है। इसीलिए भगवान की कृपा के साथ-साथ उससे मिलना उन्होंने आवश्यक समझा और प्रत्येक सत की भाँति उसी में विलीन हो गए।

ऐतिहासिक परिचय

शेख फरीद और शेख ब्राहम नामक दो व्यक्तियों का परिचय मिलता है। यह ऐतिहासिक तथ्य है, कि गुरू नानक शेख ब्राहम को मिले थे।[३] अतः मैकालिफ का मत है, कि 'ग्रंथ' मे अंकित पदों का रचयिता यही ब्राहम था, जो गुरू नानक को मिला था और सं० १६०६ मे उसकी मृत्यु हुई थी।[४] यह शेख फरीद की शिष्य-परम्परा में ११ वें स्थान पर था[५] और बहुत सम्भव है, कि गुरू नानक ने शेख फरीद की वाणी इससे ही प्राप्त की हो।[६] दूसरी ओर आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा डा० मोहन सिंह आदि ने सं० १२३० में कोठीवाल गाँव (पंजाब) मे जन्म लेनेवाले शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के शिष्य शेख फरीद को ही इनका रचयिता माना है तथा आचार्य सेन ने तो इनकी साधनाओं से पवित्र होनेवाले गाँव को 'पाक-पत्तन' बताया है।[७] ये 'शकरगंज' भी कहलाते थे[८] और इनका देहान्त सं० १३२२ में हुआ था[९]। जो हो, यह निश्चित है, कि इन पदों के रचयिता शेख फरीद अवश्य ही उच्च-कोटि के संत थे।

'पंजाबी साहित्य के पिता' फरीद

'ग्रंथ' में ४ पद तथा ११२ श्लोक प्राप्त हैं। 'फरीद सानी', 'सलीस फरीद', 'शेख फरीद', 'ब्रह्म कल', 'शेख ब्रह्म साहब', 'शाह ब्रह्म' आदि अनेक उपाधियाँ है।[१०] इन्होंने न केवल पंजाबी को सर्वप्रथम अपने उत्कृष्ट साहित्य से समृद्ध किया (इसी-लिए 'पंजाबी साहित्य के पिता' कहलाए), अपितु फारसी साहित्य को भी इनकी देन महत्त्वपूर्ण है।[११] 'ग्रंथ में अंकित पदों के अतिरिक्त हमें इनके एक अन्य पद के दर्शन हुए हैं, जो अन्य ३६ साखियों तथा १ पद के साथ एक हस्तलेख में अंकित है।[१२]

राग मुलतानी टोडी में वर्णित इस पद में फरीद अपनी उत्पत्ति का कारण

१. ५१ श्लोक। २. ४७ श्लोक।
३. सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० ३५७।
४. वही पृ० ३५८।
५, ६. शेख फरीद जी की वाणी सटीक : साहिबसिंह पृ० ११।
७. मिडिवल मिस्टिसिज्म : आचार्य क्षितिमोहन सेन पृ० १७।
८. उ० प० : प० च० पृ० ३७४।
९. सि० रि० : मैकालिफ भाग ६, पृ० ३८४।
१०. उ० प० : प० च० पृ० ३७३।
११. हि० लि० : डा० मोहनसिंह पृ० ११४।
१२. हस्तलेख सं० २४२१। १४०६ (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० २४०।

ब्रह्म से इन शब्दों में पूछता है—

क्यूं क्यूं क्यूं में डेस जरण क्यूं । मैं तन जोबन तौ क्यूं संज्यौ ॥

भगवान का उत्तर सुन जब उसे जीवन का ध्येय समझ आ गया, तो वह ब्रह्म में ही तल्लीन हो गया।

सेष फरीद ऐसी ल्यौ लाई । ज्यूं कव रवै त्सूं त्सूं त्सूं ॥२॥१॥

इसके भाव और शैली दोनों में ही 'ग्रंथ' में प्राप्त पदों से भिन्नता है।

'ग्रंथ' में प्राप्त वाणी के विचारों का विशद विश्लेषणात्मक अध्ययन अन्यत्र प्रस्तुत किया गया है। फरीद भावात्मक संत थे। अतः कहीं-कहीं अपनी उक्तियों में उन्होंने भावावेश में ऐसे शब्द भी कह दिए, जो भावात्मक-सत्य होते हुए भी लौकिकों की दृष्टि में इतिवृतात्मक तथ्य की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। अतः परवर्त्ती गुरुओं ने आवश्यकतानुसार उनकी व्याख्या एवं आलोचना की है। फरीद ने नाम में ही लिप्त हो जाने पर देह में लौकिक रक्त का अभाव अनुभव किया और इस तथ्य को इसी रूप में अभिव्यक्त भी कर दिया।[1] परन्तु जन-सामान्य मे भ्रम न उत्पन्न हो इस दृष्टि से तृतीय गुरू ने सम्पूर्ण देह को तो रक्त से भरा हुआ बताया, लेकिन नाम आने पर उसने सांसारिकता का अभाव बताया है।[2] जो हो, इसी प्रकार कुछ स्थलों पर विचारधारा मे विरोध या विरोधाभास होने पर भी गुरुओं ने यत्र-तत्र उसकी आलोचना की है। इन स्थलों का यथाप्रसग निर्देश किया गया है।

फरीद के काव्य में मिठास देखनी है, तो पढिए—'बेड़ा बंधि न सकिओ बंधन का बेला'[3], आदि। उनके स्वभाव एवं वाणी में इस मिठास के आधिक्य के कारण ही तो उन्हें 'शकरगंज' की उपाधि मिली थी।[4] निखरे हुए सौन्दर्यवाली षोडसी के लिए 'गोरी'[5] शब्द का प्रयोग किसके हृदय को उद्वेलित नहीं करता और सम्भवतः उसी दिन से यह 'गोरी' न केवल पंजाबी साहित्य का आभूषण बन गया, अपितु उत्तराखंड के अन्य साहित्यों ने भी इसे इसी रूप में अपना कर इसके माध्यम से माधुर्य रस का आस्वादन किया। बिरही संत का कवि हृदय यह भी जानता है, कि कोयल 'बिरह-दग्धा' होने के कारण ही काली है, उसने कोयल से ही स्वतः यह कहलवा लिया।[6] उसके अनुभवशील हृदय ने अंतर मे 'अंधियारी राति' को भी अनुभव किया है।[7] उसकी कल्पना की ऊँची उड़ान ने चिंता की खाट को दुःख के बान से बुना है और वियोगी जीव को विरह के बिछौने पर लिटा कर उसी चादर से ढक दिया है।[8] भावों को सूक्ष्मकल्पना के माध्यम से ऐसे रूपकों में संजो देने की शक्ति किन्हीं अद्वितीय प्रतिभवान् कवियों में होती है। सम्पूर्ण साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है।

---

१. ५१ श्लोक। २. ५२ श्लोक।
३. ७९४ फरीद २। ४. उ० प० : प० च० प० ३७४।
५. ४८८ फरीद २। ६. ७९४ फरीद १।
७. ५० श्लोक। ८. ३५ श्लोक।

'रोटी मेरी काठ की'[1] में दरवेश के भाव और भाषा की सादगी झलकती है। तथा 'रुखी सुखी खाइ कै ठंडा पानी पीउ। फरीदा देखि पराई चोपड़ी ना तरसाए जीउ।'[2] में संसार के महान्तम सत्य को सरलतम शब्दों में आबद्ध कर अपने संतोषी संत-व्यक्तित्व का परिचय दिया है। किसी कवि या संत की किसी भी कहावत से यह कम प्रचलित हो, ऐसी बात नहीं, यही इसकी जनप्रियता की कसौटी है और इस महान् कटु सत्य को मधुरतम अभिव्यक्ति प्रदान करने की कुशल कला भी इसमें प्रस्फुटित हुई है, क्योंकि सत्य और प्रिय विरोधी गुण हैं, इन्हें एक ही सूत्र मे पिरो देना केवल महान् कलाकारों की कला का द्योतन है। 'साईं मेरे चंगा कीता'[3] में आधुनिकतम शुद्ध पंजाबी के दर्शन कर उसकी भाषा की स्थिरता को स्वीकार करना पड़ता है, जो आज लगभग ७०० वर्ष बीत जाने पर भी उसी रूप में प्रयुक्त होती है और 'वंइए', 'मंचिदड़ीआ', 'कूंजडीआ', आदि के माध्यम से स्थानीय लहंदा[4] का प्रभाव सम्मुख आता है।[5] इस प्रकार उन्हें 'पंजाबी साहित्य का पिता' कहना उपयुक्त ही है।

शेख फरीद की विचारधारा

यह हम ऊपर देख ही आए हैं, कि इनमें से कोई भी संत दार्शनिक न थे और फरीद भी इसके अपवाद न थे। वे इन सबसे भी पहले हुए थे तथा मुस्लिम संस्कृति की देन होने के कारण उनका धर्म क्रियात्मक अधिक था, सैद्धान्तिक कम। उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप पर उतना विचार नहीं किया, जितना इस बात पर कि मानव को उस तक पहुँचने के लिए किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए। उन्होंने जीव को उसके रूप, स्थिति एवं कर्त्तव्य के प्रति ही अधिक सतर्क किया है। संसार की सापेक्षिक स्थिति एवं महत्त्व बताते हुए यम को कभी भी भुलाने का प्रयत्न नहीं किया। उनकी मान्यताएँ एवं विश्वास लौकिक हैं, अतः धर्म के व्यावहारिक पक्ष के अधिक निकट हैं। उन्हीं का यहाँ क्रमबद्ध विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

ब्रह्म

परवदगार अपार अगम बेअंत तू[6]

फरीद भगवान की अपार कृपा से परिचित है, उसका उसके दार्शनिक रूप से नहीं, अपितु लौकिक रूप से ही अधिक सम्बन्ध है। उसने 'गूंगे के गुड़े' का मिठास अनुभव किया है, इसीलिए उसने कहा है, कि चीनी, शहद और दूध मीठे तो सभी हैं, लेकिन 'रब न पुजनि तुधु।'[7] रब्ब (भगवान) के मिठास से इनकी तुलना नहीं की जा सकती।' उसके इस मिठास को चखना है, तो उसके निवास-स्थान पर पहुँचे,

---

१. २८ श्लोक। २. २९ श्लोक। ३. ३ श्लोक।
४. 'लहंदा' पजाबी में पश्चिम को कहते हैं, इसलिए वहां की बोली के लिए भी 'लहंदा' शब्द प्रयोग में आने लगा है।
५. ४८८ फरीद २। ६. ४८८ फरीद १। ७. २७ श्लोक।

वह तो 'बसि रबु ही आलीऐ'[१] हृदय में निवास करता है। ब्रह्म के स्वरूप के विषय में फरीद की इस वाणी में इतना ही परिचय मिलता है। सम्पूर्ण जगत का एकमात्र नियंता वही है।[२] लेकिन फरीद को उसके आश्रयदाता एवं कृपालु रूप ही अधिक प्रभावित कर सके है। इस अत्यधिक दुःखों से भरे संसार में जीव का एकमात्र आश्रयदाता वह ब्रह्म ही है।[३] फरीद ने युवक को समझाया, कि इसी अवस्था का सदुपयोग करते हुए जाप करना चाहिए, बुढ़ापे में इन्द्रियों के अवश हो जाने पर जाप भी न हो सकेगा।[४] लेकिन गुरू अमरदास उसकी इस विचारधारा से सहमत न थे, अतः उन्होंने कहा— भगवान की कृपा होनी चाहिए और जीव की इच्छा होनी चाहिए, जप तो बुढ़ापे में भी हो सकता है।[५] सो स्पष्ट है, कि भगवान की कृपा का कितना महत्त्व है। इस कृपा के बिना मानव-जीवन और जीवन-यात्रा दोनों बेकार ही नहीं, अपितु भार हैं।[६] इतना ही नहीं, यदि भगवत्कृपा प्राप्त कर ली, तो बहिश्त में मिलनेवाले खजूर और शहद भी यहीं मिल जाएँगे।[७] फरीद ने कहा, कि यह भगवत्कृपा जागनेवाले अर्थात् भगवत्भक्ति में लगे हुए व्यक्तियों पर ही होती है।[८] लेकिन गुरू नानक ने विरोध किया, कि भगवत्कृपा तो अनायास ही होती है और जिन पर उसने कृपा करनी होती है, सोते हुए भी उन्हें जगा लेता है तथा बहुत से जागते हुए भी उसे नहीं पाते।[९] अतः भगवत्कृपा के लिए किसी विशेष जीवन की आवश्यकता नही, क्योंकि—

किआ हंसु किआ बगुला जा कउ नदरि धरै।
जे तिसु भावै नानका कागहु हंस करै॥[१०]

उसकी कृपा होनी चाहिए, वह स्वतः ही काग को भी हंस बना लेता है। इस प्रकार जिन पर भगवान की कृपा होती है, उन्हीं का जीवन संसार में सफल है,[११] क्योंकि 'करि किरपा प्रभि साध संगि मेली' कृपा करके भगवान जीव को उन साधुओं से मिला देता है, जो 'जा होइ कृपालु त प्रभू मिलाए।' कृपा-दृष्टि कर जीव को भगवान से ही मिला देते है।[१२] अतः फरीद का ब्रह्म सर्व-आश्रय दाता एवं कृपालु है और उसकी महानता को उसने इन शब्दों में स्वीकार किया है— 'जे तै रबु विसारिआ त रबि न बिसरिओहि।' कि जीव भगवान के पास से आकर उसे भुलाने की कृतघ्नता कर सकता है, पर उसको सब का ध्यान है।[१३] इतना ही नही, उसने तो जीव को यहाँ तक विश्वास दिलवाया है, कि हे अबोध जीव ! 'जे तू मेरा होई रहहि सभु जगु तेरा होइ।'[१४] तब भी यदि जीव उसकी

---

१. १९ श्लोक। २. ११० म०, ५। ३. २१, १० श्लोक।
४. १२ श्लोक। ५. १३ म०, ३। ६. २० श्लोक।
७. ८९ (मुस्लिम विश्वासों के अनुकूल बहिश्त में पहुँचने पर ये उत्कृष्ट पदार्थ मिलते हैं।)
८. ११२ श्लोक। ९. ११३ म०, १। १०. १२४ म०, ३।
११. ४८८ फरीद १। १२. ७९४ फरीद १। १३. १०७ श्लोक।
१४. ९४ श्लोक।

कृपालुता न अनुभव कर सके, तो उसका क्या दोष ?

जीवात्मा

फरीद ने अनुभव कर लिया है, कि चाहे सारा संसार मर जाए, लेकिन पवित्र आत्मा अमर है[१] और इस देही को देह में धारण करनेवाला जीव तो संसार रूपी सुन्दर उपवन का पक्षी रूपी अतिथि है ।[२] अतः उसे घमण्ड कैसा ? वह तो सम्पूर्ण जगत को ही अपनी भाँति दुखी अनुभव करता है ।[३] बेगुनाहों को यम की चपेट में आया देख कर वह सोचता है, कि 'हम दोसाँ दा किआ हालु'[४] क्योंकि आत्मा अकेला है और जगत के प्रलोभन अनंत । जीव उनमें फँस तो जाता है, पर उसे भगवान पर आशा है,[५] सम्भवतः इसीलिए भगवान उसे धैर्य बंधाता है, कि 'अपना सुधार कर मुझमें चित, लगाओ, अखिल विश्व ही तुम्हारा होगा ।[६] जिन्होंने संसार के इस भ्रम को समझ लिया है, वे बच जाते है, अन्यथा दूसरे सब जीवों को यमराज को लेखा देना पड़ता है ।[७] इस प्रकार भगवान को अनुभव करके जीव साहस एकत्र करता है,[८] और सुख-दुख मे ('सुख दुःखे समे कृत्वा' गीता) एक रस हो तथा हृदय से पाप निकाल देने पर जीव भगवत्कृपा से उसके दरबार में पहुँच जाएगा ।[९] अतः जीव को संदेश दिया है, कि— 'मरणहु न डरिआहु' क्योंकि मर कर तो जीव अपने ही घर चला है ।[१०] इस प्रकार एक-मात्र पति-भगवान को प्रसन्न करनेवाले जीवों का ही जीवन सफल है[११], क्योकि इस प्रकार उसे प्रसन्न करनेवाले सुखी जीवन बिता पाते है ।[१२] यह 'सारे संसार को अपनी ही तरह दुखी देखनेवाले फरीद को गुरू अर्जुन ने समझाया था ।

जीव-कोटी मे अपना विशिष्ट स्थान बनानेवाले है, साधू, संत एवं सत्गुरू । फरीद ने कहा है कि असली साधू बनना कठिन है,[१३] सरल एवं दृढ़ आत्मावाला वह व्यक्ति, जो अपना सब कुछ बाँट कर खाता है, संत कहला सकता है ।[१४] स्वतः विषयों से बच कर, जीव को भी 'विषु गंदले'[१५] ससार से बचने के लिए सतर्क कर,[१६] स्वयं ही विषय-वासना के भवसागर से पार ले जानेवाला मल्लाह सत्गुरू ही है ।[१७] अतः उसी के बताए हुए मार्ग पर चलना चाहिए ।[१८] फरीद के अपने व्यक्तित्त्व का दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है ।

इस आत्मा का आवरण है देह । वह देह 'साढे त्रै मण'[१९] का हो गया है, सम्भवतः सांसारिक पापों के भार के कारण ही । लेकिन इतना भारी होते हुए भी

---

१. ६६ श्लोक । २ ७९ श्लोक । ३. ८१ श्लोक ।
४. ३९ श्लोक । ५. १२५ श्लोक । ६. ९५ श्लोक ।
७. ९८ श्लोक । ८. ४८८ फरीद २ । ९. १०९ म०, ५ ।
१०. ९३ श्लोक । ११. ३२ श्लोक । १२. ८३ म०, ५ ।
१३. ११८ श्लोक । १४. १२८ श्लोक । १५. ३७ श्लोक ।
१६. ८५ श्लोक । १७. ८६ श्लोक । १८. ४८८ फरीद २ ।
१९. १०० श्लोक ।

वह स्थिर नहीं,[1] क्योंकि वह तो 'विसु गंदला' है ।[2] परिणामस्वरूप आँख, कान थक गए[3] और पैर आदि देह के सम्पूर्ण अंगों ने भी साथ छोड़ दिया[4]। वह बुढ़ापा आ गया,[5] जिसके कारण 'कंबरणि लगी देह'[6] तथा इस प्रकार जीर्ण हुई देह धूल में मिल जाएगी ।[7] इसलिए चित को शीघ्र ही भगवान में लगाना चाहिए ।[8] फरीद पछताता हुआ कहता है, कि यदि उसे देह की क्षणभंगुरता का पहले ही ज्ञान होता, तो वह अवश्य ही इसका अधिक सदुपयोग करता[9] और अब तो इस देह को भगवान के नाम के बिना श्मशान घाट पर पहुँचा हुआ ही समझना चाहिए,[10] क्योंकि शेख का अनुभव है, कि 'वारो आपो आपणी चले मसाइक शेख ।'[11] अपनी बारी आ जाने पर कोई भी तो यहाँ नहीं रुका । यह सुन्दर देह रूपी बर्तन शीघ्र ही टूट जाएगा तथा जीवन नष्ट हो जाएगा ।[12] अतः हे आलस्य मे पड़े हुए जीव ! यह न भूल, कि मानव देह को तू आसानी से नहीं पा सकता,[13] क्योंकि आवश्यक नहीं, कि मृत्यु के बाद मानव-जीवन ही मिले ।[14] 'इहु तनु होसि खाक'[15] अथवा गलने पर इसे तो कीड़े खा जाएँगे ।[16] इन सब बातों को ध्यान में रख कर जीव को यथाशीघ्र ही भगवान में चित लगाना चाहिए, लेकिन मायालिप्त जीव कैसे समझे ? अतः फरीद तो यह कह कर शान्त हो जाता है—

हंसु चलसी डुंमणा अहि तनु ढेरी थीसी ।

देही आत्मा चली जाएगी और देह धूल की ढेरी-मात्र बनी रह जाएगी ।[17]

जब देह ही अस्थिर है, तो इस देह के कारण उत्पन्न संबंधों की स्थिरता मे ही क्या विश्वास ? मित्र तो बहुत बने, लेकिन विपत्ति आने पर एक ने भी साथ न दिया,[18] इसीलिए फरीद दुःखी है । [19] अन्य संबंधियों की बात तो दूर रही, सगे माँ-बाप को मरता देख कर भी तुम सांसारिक संबंधों के असत्य एवं अनित्य होने में विश्वास नहीं कर सके । [20] फरीद की आत्मा तो कटु सत्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त करती है—

फरीदा लोका आपो आपणी मै आपणी पई ।[21]

क्योंकि सम्पूर्ण संसार को देख कर उसने अनुभव कर लिया है, कि यहाँ 'ना को साथी ना को बेली'; निस्सहाय जीव अकेला ही है ।[22] भ्रमवश संबंधों के मोहपाश में फँसा हुआ, जिसका ज्ञान उसे मृत्यु आने पर होता है, जब कोई साथ नहीं दे पाता ।[23] अतः एक-मात्र असली संबंधी भगवान से ही संबंध जोडने का विचार करना चाहिए ।[24]

---

१. १ श्लोक । २. ३७ श्लोक । ३. ११ श्लोक ।
४. ७१ श्लोक । ५. ९ श्लोक । ६. ४१ श्लोक ।
७. ४१ श्लोक । ८. ४८८ फरीद १ । ९. ५ श्लोक ।
१०. ३६ श्लोक । ११. ४७ श्लोक । १२. ६८ श्लोक ।
१३. ४७ श्लोक । १४. ६९ श्लोक । १५. ४८८ फरीद १ ।
१६. ६७ श्लोक । १७. ७९४ फरीद २ । १८. ५७ श्लोक ।
१९. ८७ श्लोक । २०. ७३ श्लोक । २१. ९४ श्लोक ।
२२. ७९४ फरीद १ । २३. ५७ श्लोक । २४. ५८ श्लोक ।

जिस संसार मे सब संबंध ही असत्य हैं, उस संसार का रूप भी देख लेना आवश्यक है—

फरीदा गलीए चिकड़ु दूरि घरु नालि पिम्रारे नेहु।
चला त भिजै कंबली रहा त तुटै नेहु ॥[१]

यह संसार तो वह दलदल है, जिसमें रहने पर तो भगवान से नेह का बंधन टूट जाता है और उस दिशा में चलने पर सुन्दर प्रतीत होनेवाली देह उसमें लिप्त हो जाती है। यह तो ऐसा परिवर्तनशील जगत है, जिसमें सावन में बिजली और चैत में जंगल की आग के दर्शन होते हैं।[२] यह सम्पूर्ण संसार 'बिसु गंदला' है,[३] अतः यहाँ छह महीने आकार लेकर एक महीने में अलग होनेवाले जीव का जीवन क्षणिक है।[४] इसलिए इन सांसारिक विषयों में लिप्त रहने से भगवान नही मिल सकता,[५] अपितु भगवान से दूर रहने पर ये दुःख तो नित्य-प्रति बढ़ते ही जाते है।[६] सांसारिकता के कारण अंधा जीव 'किछु न बुझै किछु न सुझै दुनीआ गुझी माहि।'[७] संसार की उलझन से सुलझ ही नही पाता, क्योकि उसे तो यह धंधा कुछ समझँ ही नहीं आता। इसलिए जीव को समझाया है, कि इस सांसारिकता मे उलझ कर तुम न तो साधू ही बन सकते हो और न ही भगवान को पा सकते हो।[८] यह सब सांसारिक सम्पत्ति बेकार है,[९] क्योंकि इसके होते हुए भी सबको यम का शिकार होना पड़ता है,[१०] इसलिए यह न भूलो, कि तुम्हे अंततः कब्र मे जाना है।[११] यही विचार मन मे लाते हुए सांसारिक नश्वर सम्पत्ति का मोह छोड कर भगवान में चित को लगाओ,[१२] क्योंकि नश्वर सम्पत्ति के लालच में फॅसनेवाला तो स्वतः नष्ट हो जाता है।[१३] इस पर विश्वास नही, तो जरा यही सोचो—'जिसु आसणि हम बैठे केते बैसि गइआ।'[१४] कि जिस स्थान पर हम बैठे हैं, यहाँ कितने पहले बैठे और चले गए। संसार का प्रत्येक महल भी तो एक सराय ही है, जन-सामान्य की न सही, तो बादशाहों की ही सही। संतों के तर्क सहज तर्क है, वे मस्तिष्क से अधिक हृदय को गुदगुदाते है और अनायास ही अपनी बात मनवा लेते है। फरीद की यह उक्ति इसका जीवंत प्रमाण है—

'जितु दिहाड़ धनवरी साहे लए लिखाई।'[१५]

ऐसे संसार में जीव अपने रहने के दिन तो पहले ही निश्चित करवा कर आया है, क्योंकि उसे पता है, कि मृत्यु आवश्यक है[१६] और मृत्यु से पगड़ी ही क्या; यह सिर भी मिट्टी में लोटेगा।[१७] मृत्यु किनारों को बहा देनीवाली भयानक नदी के समान है। उसे देख कर दोजख के दुख सामने आ जाते है।[१८] क्योंकि वहाँ से लेने

१. २४ श्लोक। २. ४८८ फरीद २। ३. ३७ श्लोक।
४. ४८८ फरीद २। ५. ५४ श्लोक। ६. २१ श्लोक।
७. ३ श्लोक। ८. २ श्लोक। ९. ४४ श्लोक।
१०. ४५ श्लोक। ११. ४६ श्लोक। १२. ५८ श्लोक।
१३. ४८८ फरीद २। १४. ४८८ फरीद २। १५. १ श्लोक।
१६. ८ श्लोक। १७. २६ श्लोक। १८. ९८ श्लोक।

जो यमराज आया है,[१] वह तो आशा से भरे मनुष्य की आखों का दीया बुझा कर[२] सगे संबधियों के सामने ही उसे खींच ले जाता है।[३] आँज या कल मृत्यु है तो आवश्यक, इसलिए भलाई इसी में हैं, कि अपने मित्रों और संबंधियों से अभी ही छुट्टी ले लो[४] तथा जीवन के दिन समाप्त होने से पहले ही भगवान से भेद-भाव दूर कर लो।[५] वहाँ जाने पर तो धर्मराज ने संसार में किए हुए कामों का लेखा मांगना ही है।[६] अतः संसार में बेकार काम न करो,[७] अपितु अच्छे कार्य करते हुए उसका नगाडा सुनते ही चलने के लिए तैयार हो जाओ।[८] परन्तु संसार में लिप्त जीव सबको मरते देख कर भी स्वार्थ मे उलझा रहता है।[९] केवल यम की याद आने पर ही वह सांसारिक विषयों को भूल सकता है[१०] और सासारिक विषयों को भुला देनेवाला जीव तो मृत्यु से डरता ही नहीं, क्योंकि वह तो भगवान से मिलने चला है।[११] वस्तुतः संसार में सब मरते है, परन्तु ऐसी पवित्र आत्माएँ तो सदा ही अमर रहती हैं और यमराज तो उनके पास फटकता भी नहीं।[१२]

यम के नगाड़े ने जब जीव को सतर्क किया, तो उसे अपने जीवनोद्देश्य का ध्यान आया। फरीद ने बताया, कि 'तुटउ नाही नेहु' भगवान से प्रेम न तोडो[१३], तभी 'तउ बंजणा' जहाँ जाना है, वहाँ पहुँचोगे और यह पहुँच भगवान के मिलन तक की ही है।[१४] यही मानव-जीवन का साध्य है।

साध्य का ज्ञान हो जाने पर जीव को साधनाओ पर ध्यान देना आवश्यक होता है। भगवत्प्राप्ति का सबमे प्रधान साधन है, भगवत्कृपा को प्राप्त करना। क्योंकि वह कृपा ही तो बगुले (सांसारिक जीव) को हंस (पवित्र आत्मा) बना सकती है,[१५] तथा सभी बहिश्त के सुखों को जमीन पर ही अनुभव करवा देती है।[१६] इसका विस्तृत वर्णन पहले आ चुका है। संक्षेपतः उस भगवान की कृपा से ही सत्गुरू[१७] और जप[१८] मिलता है, जो भगवान को मिलाने मे विशेष सहायक है। वह गुरू जिसका रूप पीछे दिखाया जा चुका है, उसी ने आकर जीव को सतर्क किया, 'पथु सम्हारि सवेरा' हो गया है।[१९] केवल सतर्क ही नही किया, अपितु स्वतः मार्ग भी दिखा दिया, इस प्रकार 'साई मेरे चंगा कीता' उस गुरू ने ही मेरा भला किया और मुझे इस संसार से बचा दिया।[२०]

सत्गुरू भगवत्प्रेम पैदा करता है, क्योंकि भगवत्प्रेम के बिना जन्म बेकार है। 'जोवन जांदे न डराँ जे सह प्रीति न जाई।' जीव को युवावस्था के समाप्त होने

१. १ श्लोक। २. ४८ श्लोक। ३. १०० श्लोक।
४. ६७ श्लोक। ५. ५६ श्लोक। ६. ३८ श्लोक।
७. ५६ श्लोक। ८. ७६ श्लोक। ९. ६४ श्लोक।
१०. ६६ श्लोक। ११. ६३ श्लोक। १२. ४८८ फरीद २।
१३. २८ श्लोक। १४. ५८ श्लोक। १५. १२४ म० ३।
१६. ८६ श्लोक। १७. ७६४ फरीद १। १८. १३ म० ३।
१९. ७६४ फरीद १। २०. ३ श्लोक।

का भय नहीं, अपितु भगवत्प्रीति न नष्ट होनी चाहिए[१] और वह प्रेम भगवत्प्रेम नहीं, जिसमें लालच है, आखिर टूटे छप्पर में वर्षा से कितनी देर बचा जा सकता है ?[२] इसलिए वह प्रेम वास्तविक होना चाहिए और वास्तविक प्रेम के लिए आवश्यक है तड़पन ।[३]

'फरीदा जितु तन बिरहु न ऊपजै सो तनु जाणु मसानु ।'[४] क्योंकि देह में भगवान के लिए तड़पन नहीं, वह तो श्मशान के तुल्य है । यौवन खो देने पर भगवान को पहचाननेवाला बूढ़ा जीव कोयल को वियोग के कारण ही काला अनुभव करता है, इसीलिए भगवान से पृथक रहने पर वह कैसे प्रसन्न रह सकता है ? यह कालिमा दु:ख, दर्द और पीड़ा का ही तो प्रतीक है ।[५] इतना ही नहीं, वियोगिन पत्नी की तरह उसका वियोग असहनीय है,[६] क्योंकि पत्नी-आत्मा तो पति-भगवान की कृपा से ही प्रसन्न हो सकती है ।[७] अत: भगवान की तीव्र तड़पन भी अत्यावश्यक है । उस तड़पन से ही उत्पन्न प्रेम के कारण भगवान की प्रार्थना आवश्यक है, क्योंकि प्रार्थना के बिना मानव-जीवन सफल नहीं ।[८] इसलिए भगवत्-प्रार्थना के लिए न झुकनेवाले सिर को न केवल काट देना चाहिए,[९] अपितु काट कर लकड़ी के स्थान पर जला भी देना चाहिए ।[१०]

भगवत्प्रेम से उत्पन्न तड़पन की तृप्ति का साधन है नाम । इसीलिए उन्होंने भगवान को नाम द्वारा प्राप्त करने का संदेश दिया है, क्योंकि नाम के बिना जीव न केवल दु:खी होता है,[११] अपितु वह भूमि पर भार-मात्र बना रहता है । इसे फरीद ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

विसरिजा जिन्ह नामु ते भुइ भारु थीए ।[१२]

इतना ही नहीं, इस नाम के बिना वे शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।[१३] नाम का ही महत्त्व बताते हुए उन्होंने कहा, कि देह में नाम रम जाने पर रक्त भी नहीं रहता ।[१४] उसी की व्याख्या में गुरू अमरदास ने स्पष्ट किया कि, सम्पूर्ण देह तो रक्त से ही भरी रहती है, परन्तु नाम अपना लेने पर जीव का रक्त सांसारिक विषयों से निर्लिप्त हो जाता है ।[१५] नाम के साथ ही फरीद ने सिमरन का भी महत्त्व स्थापित करते हुए रात-दिन सोते हुए जीव को 'खटण वेल' (कमाई के समय) की याद दिलाते हुए जाप के लिए प्रेरित किया है ।[१६] क्योंकि भगवत्स्मरण बिना जीवन व्यर्थ बीत रहा है ।[१७] फरीद ने बुढ़ापे में शरीर की असमर्थता बताते हुए युवावस्था में भी भगवत्स्मरण का संदेश दिया है,[१८] तो तृतीय गुरू ने युवावस्था व्यर्थ गँवा देनेवालों को

१. ३४ श्लोक । २. १८ श्लोक । ३. ४३ श्लोक ।
४. ३६ श्लोक । ५. ७९४ फरीद १ । ६. ३० श्लोक ।
७. ३१ श्लोक । ८. ७० श्लोक । ९. ७१ श्लोक ।
१०. ७२ श्लोक । ११. १०६ श्लोक । १२. ४८८ फरीद १ ।
१३. ४८८ फरीद १ । १४. ५१ श्लोक । १५. ५२ म० ३ ।
१६. ८ श्लोक । १७. ३८ श्लोक । १८. १२ श्लोक ।

भी समझाया, कि बुढ़ापे में भी भगवत्स्मरण किया जा सकता है,[1] जो समय निकल गया, उसके लिए पछताने की आवश्यकता नही, लेकिन यह न भूलना चाहिए, कि यह जाप भगवत्कृपा से ही प्राप्त होगा।

इस प्रकार यह नाम और जाप ही उस भक्ति के अंग हैं, जो प्रारम्भ में फल-स्वरूप होती है और इसी का परिपक्व फल होता है, भगवत्मिलन।[2] यह उन्हीं को प्राप्त है, जिन पर भगवत्कृपा होती है। फरीद भगवत्कृपा के महत्त्व को कही भी भुला नहीं पाता। फरीद का अनुभव है, कि इस भक्ति के लिए आवश्यकता है अनन्यता की। अपनी सभी शक्तियाँ संगृहीत करके एकाकी भगवान में ही लगा देनी चाहिए।[3] क्योंकि छोटे ताल-तलैय्या में नहाने पर तो शरीर साफ होने के स्थान पर कीचड़ में ही भर जाएगा, अतः अन्यान्य देवी-देवताओं को छोड़ एक-मात्र पूर्ण भगवान का ही आश्रय लेना चाहिए।[4] तब भी भगवत्कृपा प्राप्त करने के लिए धैर्य की आवश्यकता है[5] और भक्ति के लिए एकान्त की।[6] अनवरत एकान्त में किया हुआ भगवत्भजन शीघ्र ही फलदायी होता है।

फरीद के भगवत्कृपा के साधनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, सत्कर्म एवं सद्गुणों का। संसार से जाते समय भगवान की कचहरी में एक-मात्र सत्कर्म ही साथ देते हैं[7] और जीव को कर्मानुकूल फल मिलता है।[8] अतः उसे ज्ञात है, कि सत्कर्मों के बिना न केवल जीव का बुरा हाल होता है,[9] अपितु उसे दण्ड भी मिलता है।[10] इसलिए साधू का भेष धारण करने का महत्त्व नहीं, बल्कि उस वेष के अनुकूल सत्कर्मों का महत्त्व है,[11] जो भगवत्कृपा के माध्यम से जीव को भगवान तक पहुँचा देते है। इसलिए सबसे बड़ा सत्कर्म है, भगवत्सेवा, क्योंकि भगवत्सेवा से ही हृदय के सब सदेह दूर हो जाते हैं तथा मन पवित्र हो जाता है।[12] इतना ही नहीं, मन पवित्र करने के लिए ही हंस-आत्मा सत्संग की ओर दौड़ती है, क्योंकि गदे पानी (सांसारिक विषयों) से कभी उसकी प्यास नही बुझती।[13] साथ ही साधुओं की पह-चान भी बता दी, कि जो विषयों-वासनाओं मे न फँसे,[14] कही अबोध जीव साधुओं के भ्रम में आडम्बरियों के पास न फँस जाए। वस्तुतः इस निरन्तर सत्संग से ही हृदय पवित्र होता है[15] और पवित्र आत्मा से मिल कर ही भगवत्प्राप्ति होती है।[16] इस पराश्रित सत्संग रूपी सत्कर्म के अतिरिक्त मन को पवित्र करने का एक व्यक्तिगत साधन और भी है और वह है आत्मनिरीक्षण। दूसरों के दोषों को न देख कर अपने ही हृदय को टटोलने की आवश्यकता है।[17] बुराइयों के मिल जाने पर चंचल इन्द्रियों

---

१. १३ म० ३। २. ११२ श्लोक। ३. ११४ श्लोक।
४. ५३ श्लोक। ५. ११५ श्लोक। ६. ८० श्लोक।
७. १000 श्लोक। ८. २३ श्लोक। ९. ३१ श्लोक।
१०. ४४ श्लोक। ११. १११ म० ५। १२. ६० श्लोक।
१३. ६४ श्लोक। १४. ६५ श्लोक। १५. ६० श्लोक।
१६. १२३ म० ३। १७. ६ श्लोक।

को वश में करके मन को पवित्र करना चाहिए।[१] इस प्रकार मन के पवित्र होने पर उन सद्‌गुणों का आश्रय लेना चाहिए, जो शीघ्र ही भगवान को मिला सके।

'बाहरि दिसै चानणा दिलि अंधियारी राति।[२]

इस आंतरिक अंधकार को दूर करने के लिए झूठ को छोड़ कर सच बोलना चाहिए[३] तथा ईमानदारी से कमाई हुई 'रूखी सुखी खाइ कै ठंडा पानी पीउ' कर संतोष करना चाहिए, दूसरों की 'घी चोपड़ी' देख कर ललचाना बेकार है।[४] फरीद की जो 'काठ की रोटी' प्रसिद्ध है, उसका तात्पर्य यही है, कि परिश्रमपूर्वक कमाया हुआ अपना रूखा-सूखा भोजन ही उत्तम है।[५] इतना ही नहीं इनके साथ-साथ धैर्य को अपना अस्त्र बनाना पड़ेगा, तभी सांसारिक विषयों से झगड़ कर, उन पर विजय प्राप्त कर भगवान तक पहुँच सकोगे।[६] क्योंकि बड़ी नदी ही समुद्र तक पहुँच पाती है, छोटी नहीं। इसी प्रकार मार्ग की सब विघ्न-बाधाओं को सहने के लिए असीम धैर्य की आवश्यकता है।[७] इस प्रकार सत्य, संतोष और धैर्य के होते हुए जीव को पैरों नीचे पड़ी हुई घास की तरह नम्र होना चाहिए।[८] मार का बदला मार से नहीं, प्यार से देना चाहिए[९] इस प्रकार उस पर क्रोध न जतला कर अपनी उदारता का परिचय देना चाहिए।[१०] किसी का हृदय नही दुखाना चाहिए,[११] क्योंकि प्रत्येक हृदय में वही भगवान निवास करता है अत. उसे दूषित समझना भूल है।[१२] फरीद ने अतिथि सत्कार का भी महत्त्व स्वीकार किया है।[१३] इन सबसे बढ़ कर सतो की न केवल 'कथनी और करनी' अपितु मन और वचन की एकता पर भी उन्होंने जोर दिया है।[१४] फरीद ने अपनी वाणी के अंत मे स्वतः ही एक प्रश्न तथा उसके उत्तर मे इसका समाधान प्रस्तुत किया है—

कवणु सु अखरु कवण गुणु कवणु सु मणीआ मंतु।
कवणु सु वेसो हउ करी जितु वसि आवै कंतु ॥१२६॥[१५]
निवणु सु अखरु खवणु गुणु जिहबा मणीआ मंतु।
ए त्रै भैणे वेस करि तां वसि आवि कंतु ॥१२७॥[१६]

कौन-सा अक्षर, गुण, मंत्र एवं वस्त्र है, जिससे भगवान वश में आ सकता है? नम्रता वह अक्षर है, क्षमा वह गुण है तथा मीठा बोल वह मन्त्र है, जिन तीनों का वस्त्र धारण करने से भगवान रूपी पति वश मे आ जाता है। इस सबसे स्पष्ट है, कि जीव को सद्‌गुणो को धारण कर सत्कर्म करते रहना चाहिए, तभी भगवत्कृपा के माध्यम से वह फरीद के 'रब्ब' (भगवान) को पा सकेगा। जीवन की विभीषिकाओं से तग आकर एक स्थान पर फरीद ने कहा है, कि 'अच्छा होता, यदि मैं

---

१. ४८८ फरीद २। २. ५० श्लोक। ३. ४८८ फरीद २।
४. २१ श्लोक। ५. २८ श्लोक। ६. ११५ श्लोक।
७. ११६, ११७ श्लोक। ८. १६ श्लोक। ९. ७ श्लोक।
१०. ७८ श्लोक। ११. १२९ श्लोक। १२. १३० श्लोक।
१३. २२ श्लोक। १४. ४८८ फरीद १। १५, १६. १२६, १२७ श्लोक।

जन्म लेते ही मर जाता, तब सांसारिक दुःख, और पीडा तो न सहनी पड़ती ।'[१] लेकिन यह विचार गुरू विचारधारा का विरोधी है। (पीलो के ऐसे ही विचार मे) निराशावाद झलकने के कारण ही तो गुरू अर्जुन ने उसकी वाणी को 'ग्रंथ' में स्थान न दिया था ।[२] लेकिन 'ग्रंथ' भर मे यही एक स्थान है, जहाँ प्रत्यक्षत: विरोधी विचारधारा के होते हुए भी गुरुओं मे से किसी ने उसकी आलोचना नही की । स्वत: फरीद ने ही एक स्थान पर कहा है, 'धिगु तिना दा जीविआ जिना विडाणी आस ।'[३] आशा को छोड़नेवालों के जीवन को धिक्कार है । इससे स्पष्ट है, कि उन्होंने जीवन मे निराशा नही, आशा का महत्त्व स्वीकार किया है और उसी की स्थापना की है । वह अवश्य ही उनके उद्विग्न क्षणों का उच्छ्वास है, सुचिंतित विचारधारा नही ।

'फरीदा गलीए चिकडु दूरि घरु नालि पिआरे नेहु ।'[४] प्रिय भगवान से मिलने के लिए यह जो मार्ग का 'चीकडु' (कीचड़) है । उसका ज्ञान भी आवश्यक है, क्योंकि बिना ज्ञान के उस कीचड़ से बचा नही जा सकता और उससे बचे बिना भगवत्प्राप्ति नहीं । सांसारिक सम्पत्ति का मोह व्यर्थ है । उसका विस्तृत विवरण पीछे दिया जा चुका है । 'जिसु आसणि हम बैठे केते बैसि गइआ ।'[५] इतने-मात्र से ही स्पष्ट है, कि जिस आसन पर हम बैठे है, उस पर न जाने कितने बैठे और चले गए, अत: इस सांसारिक सम्पत्ति के प्रलोभन में जीव को ब्रह्म को न भुलाना चाहिए[६] और सम्बन्धियों का मोह भी बेकार है, क्योंकि हम विस्तार में देख ही आए हैं, कि इस संसार में 'ना को साथी ना को बेली ।'[७] अत: उनमे फँसे रहना भी बुद्धिमत्ता नही । इस दो प्रकार के बाह्य मोह के अतिरिक्त आन्तरिक विषय-वासनाएँ ही मानव-जीवन की आध्यात्मिक प्रगति मे सबसे बड़ी अवरोधक शक्तियाँ है । ये अच्छे लगनेवाले विषय ही मानव-जीवन को नष्ट कर देते है ।[८] 'सकर होई विसु'[९] और जीव कहीं का भी तो नही रहता । यह संसार तो विषय-वासना की अविरल गति से बहनेवाली नदी है, जिसमें बेचारा जीव बहता रहता है ।[१०] इस प्रकार विषय तो कभी समाप्त नही होते[११] और उनके किनारे रहनेवाला जीव किस तरह, कब तक, बच सकता है ?[१२] वासना में फँसा हुआ जीव बूढा हो गया, लेकिन वासना न छोड़ पाया ।[१३] अत: उसे समझाया है, कि एक बार अधिक जल से गली हुई खेती की तरह वासनाओं से जीर्ण जीव का उद्धार कठिन है ।[१४]

इस प्रकार सांसारिक भोगों मे विवाहित जीवात्मा दुःखों से ही मर जाती है, परन्तु वास्तविक पति को नही प्राप्त कर पाती ।[१५] अंगों को क्षीण होना देख जीव

१. ७६ श्लोक । २. देखें द्वितीय अध्याय : 'ग्रंथ' के संग्राहक । ३. २१ श्लोक । ४. २४ श्लोक ५. ४८८ फरीद २ । ६. ५४ श्लोक । ७. ७६४ फरीद १ । ८. ३७ श्लोक । ९. १० श्लोक । १०. ८६ श्लोक । ११. ६० श्लोक । १२. ६६ श्लोक । १३. ५५ श्लोक । १४. ६२ श्लोक । १५. ६३ श्लोक

वासनाओं से प्रार्थना करता है, कि इस आँख को तो नष्ट न कर, यह प्रियतम भगवान को देख तो सकेगी।[1] गुरू अर्जुन ने बताया, कि जिस प्रकार भगवान कृपा कर देता है, वे विषय-वासना से बचे रहते हैं।[2] इन विषय-वासनाओं से मन अपवित्र हो जाता है, बुद्धि विकृत हो जाती है और 'अहं' जागृत हो जाता है। यह जागृत 'अहं' जीव को भगवान के सामने झुकने ही नहीं देता, परिणामस्वरूप वह भगवत्कृपा का भाजन ही नहीं बन पाता, तो मिलन की तो बात ही दूर रही। इसलिए 'जो सिरु साँई ना निवै सो सिरु कपि उतारि।'[3] न झुकनेवाले सिर को न केवल काट ही लिया जाए, अपितु 'कुंनै हेठि जलाइऐ बालण सदे थाइ।'[4] लकड़ी के स्थान पर भट्ठी में जला देना चाहिए। अहंकार के साथ-साथ दूसरे की वस्तुओं को प्राप्त करने का लोभ भी जीव को दुष्कर्मो की ओर प्रेरित करता है।[5] इन दुर्गुणों के साथ उनसे उत्पन्न दुष्कर्म भी जीव की ब्रह्म-प्राप्ति में बाधक सिद्ध होते है। जब जीव ने बेकसूर घड़ियाल पर मार पड़ते देखो,[6] तो उसका अन्तर यह सोच कर विचलित हो उठा, कि 'हम दोसाँ दा किआ हालु।'[7] क्योंकि पाप करने पर तो अवश्य ही भगवान की मार पड़ेगी।[8] इस बात का उसे ज्ञान है, कि बुरे कर्मों का फल तो बुरा ही होता है।[9] अतः व्यर्थ के कार्य छोड़ देने चाहिए, क्योकि जीव उनसे पार भी नहीं लग सकता और उसे इन सब का धर्मराज को लेखा भी देना पड़ेगा।[10]

इस प्रकार इन सब दुर्गुणों और दुष्कर्मो का विरोध करते हुए इनके लिए जिन बाह्याडम्बरों की आवश्यकता होती है, उनका भी विरोध किया है। जिस प्रकार कस्तूरी की (वास्तविक या आन्तरिक) सुगन्ध के बिना बाहरी कृत्रिम सुगंध व्यर्थ है, उसी प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि के बिना बाह्य स्नान का कोई महत्त्व नहीं।[11] अतः भेषधारी वह साधू व्यर्थ है, जिसके अन्तर में मैल भरी हुई है,[12] क्योंकि ऊपर से साधू का वेश धारण करते हुए भी वह दिल से धोखेबाज ही होता है।[13] यह विचार कर फरीद ने कहा, कि 'पाड़ि पटोला धजकटी कंबलड़ी पहिरेउ।' अच्छे वस्त्रों को फाड़ कर सादे वस्त्र धारण करो, जिस वेश में भगवान मिल सकें।[14] लेकिन गुरू अमर दास ने इसकी आलोचना मे कहा, कि उन वस्त्रों को फाड़ने की आवश्यकता नही, भगवत्प्राप्ति के लिए तो मन को पवित्र करना चाहिए[15] तथा पंचम गुरू अर्जुन ने बताया, कि उन वस्त्रों और देह को ही भगवान के रंग में रंग लेना चाहिए, यही भगवत्मिलन की सच्ची तैय्यारी है।[16]

'फरीदा जंगलु जंगलु कीआ भवहि', संन्यास धारण कर जंगलों में घूमनेवाले

---

१. ६१ श्लोक। २. ११०, म० ५। ३. ७१ श्लोक।
४. ७२ श्लोक। ५. २८ श्लोक ६. ४० श्लोक।
७. ३९ श्लोक। ८. ३६ श्लोक। ९. ४६ श्लोक।
१०. ५६ श्लोक। ११, ३३ श्लोक। १२. ६१ श्लोक।
१३, ५० श्लोक। १४ १०३ श्लोक। १५. १०४, म० ३।
१६. १०८, म० ५।

संन्यासी को सावधान किया है, कि वह तो हृदय में है, जंगलों में घूमने की क्या आवश्यकता ?[1] क्योंकि वन में भी तो मौसम बदलता रहता है, अतः शान्ति तो वहाँ भी नहीं,[2] वह तो केवल अन्तर में ही है। गुरू ने भी यह कहते हुए इसका समर्थन किया, 'नानक घर ही बैठिआ सहु मिलै' केवल नीयत साफ होनी चाहिए, मन पवित्र होना चाहिए।[3]

इस प्रकार उन्होंने केवल उपदेश देने को बेकार बताया है, विशेषकर माया-लिप्तों को, क्योंकि वे तो ब्रह्म में लगने से रहे।[4] इतना ही नहीं, फरीद उनका उपदेश सुन कर इतना तंग आ गए, कि उन्होंने अपने कान ही बन्द कर लिए।[5]

संक्षेपतः अनन्त एवं अज्ञेय ब्रह्म के असार संसार में जीव को उसकी सत्ता से परिचित करा कर, यम का भय दिखा कर, भगवत्प्राप्ति साध्य जता कर, भक्ति, सत्कर्म एवं सद्गुणों का महत्त्व बता कर, इन अवरोधक शक्तियों का ज्ञान करा कर, फरीद ने अपने क्रियात्मक जीवन के माध्यम से मन, वचन तथा कर्म में एकता का पाठ पढ़ाते हुए, जीव को सत्कर्म करते हुए, भगवत्कृपा के माध्यम से ब्रह्म-प्राप्ति का अमर सदेश दिया और स्वतः भी अमर हो गए। यही है शेख की शेखी में भी दरवेश की दरवेशी, और फकीर की फकीरी में ही फरीद की फरीदी !

उनकी शैली उपदेशात्मक से अधिक सन्देशात्मक है, क्योंकि वह उनके क्रियात्मक व्यक्तित्त्व का ही प्रस्फुटन-मात्र है। उनके भाव लौकिकता के माध्यम से अभिव्यक्त हुए है, अतः न केवल मर्मस्पर्शी एवं मधु प्रतीत होते है, अपितु ग्राह्य भी बने हुए हैं। उनके बोल 'कोयल की कूक' की तरह मीठे हैं। उनकी कल्पना कल्पना का भी वितान बुन देनेवाली है। उनकी भाषा जन-सामान्य की होकर भी साहित्यिक भाषा है। उनके विचार मुस्लिम होने पर भी मानव-मात्र के विचार हैं, इसीलिए उनका व्यक्तित्त्व संत होने के कारण मानव धर्म का प्रसारक है। शेख फरीद की वाणी से गुरू नानक इतना प्रभावित हुए थे कि उनके राग सूही के पद की पूर्ति ही उन्होंने इसी राग में अपने पद में की है।[6] इतना होने पर भी यदि पंजाबी साहित्य ने उन्हें 'पंजाबी साहित्य का पिता' कह कर अपने आप को सम्मानित कर लिया, तो अधिक क्या किया ? ऐसा महान् है संत शेख, कवि शेख और पंजाबी साहित्य का पिता—शेख फरीद !

भीखन—

मुसलमान माने जानेवाले भीखन के 'ग्रंथ' में प्राप्त दो शब्दों से तो उनके भगवद्भक्त निर्लिप्त संत-व्यक्तित्त्व का ही परिचय मिलता है। जो हो, मैकालिफ का अनुमान है, कि अकबर के समय में सं० १६३०-३१ में मृत्यु को प्राप्त होनेवाले

१. ११ श्लोक।   २. १०२ श्लोक।   ३. १०४ म० ३।
४. १५ श्लोक।   ५ ८८ श्लोक।
६. देखें ७९४ फरीद २ 'बेड़ा बंधि न सकिओ बंधन की वेला ॥,
'तथा ७२९ म० १, ४ 'जप तप का बंधु बेड़ुला जितु लंघहि वहेला ॥'

काकोरी के शेख भीखन ही इन पदों के रचयिता है ।[1] सूफी मत के रहस्यों को जानते हुए भी सर्वसाधारण के सम्मुख प्रकट करनेवाले मीर सैय्यद इब्राहीम की शिष्य परंम्परा मे समझे जाते है ।[2] लेकिन 'ग्रंथ' के दोनों पदों में इनके सूफी होने का कोई चिह्न नही मिलता । इन पदों के आधार पर चतुर्वेदी जी का अनुमान है, कि सम्भवतः ये किसी हिन्दू परिवार के ही सदस्य रहे हों ।[3] ऐतिहासिक वृत्त के अभाव में अन्तर्साक्ष्य को अधिक प्रबल मानना चाहिए, इस दृष्टि से चतुर्वेदी जी का मत साहित्यिक मूल्य रखता है और हमारा विश्वास है, कि जन्म से चाहे ये मुसलमान ही क्यों न हों, विचारों से अवश्य ही हिन्दू समाज में पोषित प्रतीत होते है । इनकी अन्य कोई रचना सुनने में नही आई । यद्यपि 'ग्रथ' के प्रायः अन्य सभी संतों की कुछ न कुछ नई हिन्दी रचनाएँ ढूंढने में हम सफल हो गए, लेकिन खेद है, कि इनकी कोई रचना न मिल सकी ।

साहित्यिक परिचय

हरि गुन कहते कहनु न जाई । जैसे गूंगे की मिठिआई ।[4]

संक्षेप में ही हरि गुण-गान कर दिया, कि अकथ्य वह तो केवल अनुभवगम्य है । वास्तविक संत ही वह है, जो अनुभूति के अनुभव में ही तल्लीन रहे । इसीलिए 'जह देखा तह सोई' में ही उसे सर्वव्यापी ब्रह्म के दर्शन होते हैं ।[5] संतों के भगवान का सबसे बड़ा गुण है 'अपने संतह लेहु उबारी' । अतः प्रत्येक संत ने यह प्रार्थना कर भगवान को उसके कर्त्तव्य का स्मरण करवाया है । यही भगवत्कृपा के महत्त्व की स्वीकृति है । उसकी कृपा-दृष्टि का ही फल है 'हरि का नामु' जो 'अमृत जल निरमलु' है तथा 'गुर परसादि' उसी के माध्यम से जीव 'पावहु मोख दुआरा ।' क्योंकि उसे पाने की एक-मात्र 'इहु अउखधु' है ।[6] इसलिए जीव को संदेश दिया है, कि 'रसना रमत सुनत सुखु स्रवना चित्त चेते सुखु होई ।' जीभ से उसका नाम लो, कानों से उसका गुण-गान श्रवण करो और अंतःकरण में उसका ध्यान करके सुख प्राप्त करो, क्योंकि बुढ़ापा आने पर तो, 'नैनहु नीरु बहै तनु खीना भए केस दुघ-वानी ।' इतना ही नहीं, 'रुधा कंठु सबदु नही उचरै अब किआ करहि परानी ।'[7] अंग-प्रत्यंग क्षीण हो गए और जर्जर देह में तो नाम लेने की भी सामर्थ्य नहीं रह जाती, अतः भला इसी मे है, कि सामर्थ्य होते हुए 'मोख दुआरा' देनेवाले नाम में पूर्णतया अपने आप को खो दो और ब्रह्मानुभूति में लीन हो जाओ ।

उनका पहला ही पद आध्यात्मिक मग का प्रत्येक पग संजोए है । अवर्ण्य भगवान महान् है । जीव सांसारिकता का रोगी है । गुरू वैद्य हैं । नाम ही एक-मात्र 'अउखधु' है । बुढ़ापे में उसका सेवन भी असम्भव नहीं, तो कठिनाई से सेव्य अवश्य

---

१. सि० रि० मैकालिफ, भाग ६, पृ० ४१५ ।
२. वही ।
३. उ० प० : प० च० पृ० ३८५ ।
४. ६५६ भीखन २ ।
५. ६५६ भीखन २ ।
६. ६५६ भीखन १ ।
७. ६५६ भीखन १ ।

कहला सकती है। उबारनेवाला भगवान है और गुरू-कृपा से जीव साध्य 'मोख दुआरा' को प्राप्त कर लेता है। सतों के साधन-पथ का कोई भी प्रधान पग अवशिष्ट नहीं रहा[3] और दूसरा पथ तो इस पथ के पथिक के लिए छलकती आध्यात्मिक रस-गागरी है, जिसमें वह पूर्णतया अपने को खो चुका है।[4]

यदि थोड़े में बहुत कहना ही परिपक्व बुद्धिमत्ता का प्रमाण है, तो संत भीखन के दो पद ही उन्हें उत्कृष्टतम संतों की कोटि में लाकर बिठा देते हैं। अगर सरलता एवं नम्रतापूर्वक कही गई वाणी ग्राह्य है तो भी संत भीखन के दोनों पद महान् है और यदि भाषा की सरलता एवं सुबोधगम्यता ही संत को जन-सामान्य का प्रिय बना सकती है, तो भीखन 'ग्रंथ' के किसी भी संत से पीछे नहीं। यदि विचार ही संत का जाति के बंधन से छुटकारा कर सकते हैं, तो भीखन न हिन्दू हैं, न मुसलमान; केवल संत हैं और यदि धर्म ही मानव की उदारता का परिचायक है, तो भीखन मानव धर्म के पुजारी है। जो हो, इन दो पदों के आधार पर ही संत भीखन को उच्च कोटि का संत स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार वर्गीकरण को लौकिक दृष्टि से मुस्लिम संत कहलानेवाले दो महान् संतों के माध्यम से 'ग्रंथ' के संतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन समाप्त होता है। यही कबीर (महान्) से प्रारम्भ होकर भीखन (महान्) तक के सतों की महानता का परिचायक है, क्योंकि—

'संत रामु है एको।'

---

१. ६५६ भीखन १। २. ६५६ भीखन २।

अष्टम अध्याय

सन्तों की सामान्य मान्यताएँ

लौकिक एवं पारलौकिक जीवन में अदभुत सन्तुलन और समन्वय स्थापित कर गौरव-मय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करनेवाले सन्तों ने समय-समय पर समाज का पथ-प्रदर्शन कर युग-नेता का रूप ग्रहण किया है। वस्तुतः सन्त कोई व्यक्ति विशेष न होकर भावना विशेष है, जिसका प्रसार अन्यान्य युगों में विभिन्न व्यक्तियों के माध्यम से हुआ है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो पता चलता है, कि इस भावना विशेष के मूल तत्त्वों मे प्रायः परिवर्तन नहीं होता। युग की आवश्यकता और व्यक्ति की रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप इन तत्त्वों के अनुपात और क्रियात्मक प्रसार में थोड़ा बहुत अन्तर आता रहता है, पर इसकी मूल भावना में कोई विशेष अन्तर नही आता। भारतीय मध्य युग के इतिहास को सार्थक बनाने के लिए ही मानो इस भावना का यहाँ विकास हुआ जो कबीर जैसा सशक्त व्यक्तित्व पाकर अपने प्रौढ़ रूप में प्रतिफलित हुई।

पैतृक सम्पदा में प्राप्त आर्थिक दरिद्रता और नैतिक समृद्धि संतों के जीवन का सबसे वड़ा आभूषण रहा है। उनके जीवन की कर्मण्यता इस आर्थिक दरिद्रता का ही वरदान है और आन्तरिक गुणों के विकास के कारण प्रखर व्यक्तित्व इस नैतिक समृद्धि की ही देन है। समाज के तथाकथित निम्न वर्ग से उद्भूत इन सन्तों को समाज ने ठुकराने का दुस्साहस एकत्रित किया, लेकिन कौन जानता था, कि यह दुस्साहस सन्तों को ही वह अदम्य शक्ति प्रदान करेगा, कि वे इस आडम्बरपूर्ण समाज को ही ठुकरा कर अपने पीछे लगा लेंगे। समाज के इस दुस्साहस ने उन्हें तन कर खड़े होने की शक्ति प्रदान की। उन्हें अपनी शक्ति, सामर्थ्य और मान्यताओं पर जो विश्वास था, वह और भी दृढ़ हो गया। इस आत्मनिष्ठा और आत्मविश्वास के बल पर वे न केवल स्वयं ही खड़े हुए, अपितु समाज के कुछ व्यक्तियों को भी उन्होंने अपने साथ खड़े पाया। यह उनकी सफलता का पहला चिह्न था।

धीरे-धीरे समाज उनकी पुकार सुनने पर विवश हो गया। फक्कड़मस्ती में कही गई कई बातों ने समाज को अनायास ही प्रभावित करना आरम्भ किया, क्योंकि उनके यथार्थ चित्रण में सत्य का बल था, जिसकी बहुत देर तक उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रकार संत-भावना, जो अब तक व्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती थी, अब अविच्छिन्न धारा के रूप में सामाजिक परम्परा ही बन गई। मध्ययुगीन भारतीय समाज को इन सन्तों की यह सबसे बड़ी देन है। यह अविच्छिन्न सामाजिक परम्परा ही सन्तों की सामान्य मान्यताओं की साधन-भूमि है। एक परम्परा में चली आनेवाली मान्यताओं में कोई परिवर्तन न हुआ हो' ऐसी बात नहीं लेकिन इस परिवर्तन का सम्बन्ध उनके मूल तत्त्वों से न होकर उनकी अभिव्यक्ति या उनके बाह्य आवरण-मात्र से ही अधिक है। इस प्रकार कबीर से कुछ पहले से ही सन्त विचार-धारा के जो तत्त्व विकसित हो रहे थे, वे न केवल कबीर में पूर्णतया विकसित और समृद्ध होकर प्रकट हुए, अपितु देर तक समाज को प्रभावित करनेवाली सशक्त विचारधारा के रूप में तब से उसकी अविच्छिन्न परम्परा भी प्रवाहित हो चली जो आजतक इस देश में उसी तरह जीवित और जागृत है। सच पूछा जाए, तो रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गान्धी, श्री अरविन्द तथा विनोबाभावे उसी परम्परा के आधुनिकतम फल हैं।

सन्तों का समष्टिगत व्यक्तित्व इन सामान्य मान्यताओं की आधार भूमि है। लौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना उन्होंने एक ही व्यक्तित्व के माध्यम से की है। सांसारिक विषमताओं से घबरा कर वे जंगल में भाग कर ब्रह्म की साधना करने नहीं चले गए, बल्कि कर्मण्य-जीवन बिता कर उनसे जूझ पड़े, इस प्रकार लौकिक उलझनों को क्रियात्मक जीवन के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न किया और इस क्रियात्मक कर्मण्य-जीवन के माध्यम से अनायास ही उनकी परलोक की साधना भी होती रही। वे न कभी मन्दिर गए, न मूर्ति पूजा की। व्रत, तीर्थ, स्नान, उपवास और माला फेरने से भी वे कोसों दूर रहे, फिर भी इस प्रकार के आचार-प्रधान ब्राह्मणों से भी वे कहीं धार्मिक बने रहे। इन ब्राह्मणों ने पार्थिव और पारलौकिक जगत् में समाज के लिए जो खाई पाट रखी थी, वैयक्तिक विचार और आचार से इन्होंने न केवल उसे भर दिया, अपितु जन-मानस के लिए प्रशस्त राजपथ का भी निर्माण कर दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वस्थ आचरणगत जीवन इनकी सामान्य मान्यताओं का सबसे सशक्त आधार है।

समाज की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओं का उन्होंने वैयक्तिक जीवन के माध्यम से, समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। उचित साधन और सत्य साध्य पर विश्वास ने उन्हें जो आन्तरिक शक्ति प्रदान की थी, उसी के बल पर वे इन समस्याओं से घबराए नहीं। यह ठीक है, कि वैयक्तिक सामर्थ्य की सीमाओं के कारण वे इसमें से बहुत कम समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सके, लेकिन अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि ये विषमताएँ उनके

व्यक्तित्व को विशृंखलित न कर सकीं और वे सदा इनसे जूझते ही रहे—भागे कभी नहीं और इसीलिए हारे भी कभी नहीं। धार्मिक आडम्बरों और आवरणों का उन्होंने खुल कर विरोध किया। सामाजिक कुरीतियों को उन्होने कभी स्वीकार नही किया और यथासंभव उन पर भी कुठाराघात किया। राजनैतिक अत्याचारों से जूझते-जूझते उन्होंने सिर तक कटा दिया, पर उसे झुकने नही दिया, यह क्या कम है और आर्थिक दरिद्रता से अपने को उभारने के लिए कोई जीवन भर कपड़ा बुनता रहा, तो कोई जूतियाँ ही गाँठता रहा—यह उनके जीवन की महानता नहीं तो और क्या है ? कुल मिला कर समाज की किसी भी शक्ति के प्रहार से उन्होंने अपने व्यक्तित्व को विघटित नहीं होने दिया, यही उनकी सफलता का रहस्य है। इसीलिए वे सन्त-व्यक्तित्व की परम्परा में संत-भावना की ज्योति को जीवित और जागृत रख सके। जीवन की सभी समस्याओं के प्रति उनकी वह संतुलित दृष्टि उनके सुरक्षित व्यक्तित्व की परम्परा को बनाए रख सकी।

इसी व्यक्तित्व के कारण उनकी जीवन और जाति के प्रति विशेष दृष्टि विकासित हुई। विश्व की चतुर्दिक समृद्धि और उसकी सामग्री उनके जीवनयापन में साधन से अधिक कोई स्थान न ग्रहण कर सकी। उनका लक्ष्य सदा ही इससे भिन्न रहा। इसीलिए उनमें कभी ईर्ष्या न हुई और उस साध्य की ओर बढ़ते हुए भी वे सब इकट्ठे ही रहे। अलौकिक साध्य को स्वीकार करने के कारण उनके जीवन-दर्शन में एक रूपता के साथ स्थायित्व भी बना रहा। वस्तुत: जीवन-दर्शन में इस समता ने ही संत-भावना की नींव को दृढ़ता और स्थिरता प्रदान की।

वैयक्तिक जीवन मे सभी सन्तों ने अनुभूति का महत्त्व स्वीकार किया है और इसी आधार पर उन्होंने क्रियात्मक जीवन बिताया है। यह अनुभूति ही उनके धर्म की आधारभूमि थी। इसीलिए सामाजिक परम्परा में मान्यताप्राप्त आचारों को भी उन्होंने वहीं तक प्रश्रय दिया, जहाँ तक वे उनकी अनुभूति की कसौटी पर खरे उतरे थे। उन सामाजिक या धार्मिक आचारों और विश्वासों का उनके जीवन में कोई स्थान न था, जो उनकी अनुभूति की कसौटी पर पूरे न उतरे थे। इस प्रकार उनका जीवन वैयक्तिक पहले था, सामाजिक बाद मे।

इनकी जीवन दृष्टि मूलत: मानवतावादी थी। इसीलिए छींपी, दर्जी, नाई, जुलाहा, चमार और राजा सभी एक भक्ति के सूत्र में पिरोये जाकर 'संत माला' के जगमगाते 'माणिक' बन गए। गत छह, सात शताब्दियों में भारत में हजारों संत समुदायों ने जन्म लिया, लेकिन इस मानवताकारी दृष्टि से कोई भी दूर न रह सका। धर्म, अर्थ, कर्म व जाति के आधार पर मानव-समाज का विभाजन किसी ने भी स्वीकार न किया। इतना ही नही, उत्तराधिकारी के चुनाव मे भी इनमें से किसी आधार या पुत्र-परम्परा को स्वीकार न किया गया अपितु जिस शिष्य मे मानवीय तत्त्व सर्वाधिक विकासित हो सके हैं, उसे ही गद्दी का अधिकारी बनाया गया। वैयक्तिक स्वार्थों के कारण सदा ही इसके विरूद्ध विद्रोह हुआ है, लेकिन मानवतावादी दृष्टि इस विद्रोह के सम्मुख कभी झुकी नहीं—इसी से इसका महत्त्व स्पष्ट है।

संतों ने काव्य निर्माण का बीड़ा कभी नहीं उठाया था और न ही काव्यगत विशेषताओं से उनका कोई परिचय ही था। कभी-कभी वैयक्तिक आह्लाद में वे गाने पर विवश हो गए थे। इस आन्तरिक विवशता में अनुभूति की जो अभिव्यक्ति हुई अथवा जन-सामान्य को जिस वाणी में उन्होंने अपना सन्देश दिया, उसे हम उनका काव्य समझ बैठे। मूलतः काव्यत्व तो उनके सन्देश का बहुत गौण तत्त्व था, इसीलिए साहित्यिक दृष्टि से इसका मूल्यांकन करनेवाले इनके साथ न्याय न कर सके। उनके सम्पूर्ण काव्य का प्रेरणा-स्रोत वैयक्तिक आनन्द तथा सामाजिक संदेश रहा है, अतः मूल्यांकन करते हुए हम इसे भुला नहीं सकते।

संत-भावना की यह सामान्य पृष्ठभूमि थी, जिस पर विचारधारा विशेष का प्रासाद निर्मित हुआ। आगामी पंक्तियों में इसकी विशेषताओं का उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है।

संतों का ब्रह्म अनिर्वचनीय है। दार्शनिक दृष्टि से उसे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि कोटियों में नहीं रक्खा जा सकता। वस्तुतः संतों ने उसे बौद्धिक या तार्किक पद्धति का आधार नहीं प्रदान किया। अत. इस दृष्टि से उसकी उचित व्याख्या भी नहीं हो सकती। कबीर के ब्रह्म पर विचार करते हुए हम देख आए हैं कि वह न केवल इन्द्रियातीत है, अपितु वह तो निर्गुण सगुणातीत भी है। वह तो केवल अनुभूति का विषय है। इसीलिए उसके स्वरूप और गुणों की अन्यान्य व्याख्याओं के बाद भी कभी कोई संत संतुष्ट नही हुआ कि वह समाज के लिए ब्रह्म के रूप का स्पष्टीकरण कर सका है।

उसका गुणगान करते-करते 'सुर, नर, मुनि, जन' का तो कहना ही क्या स्वतः ब्रह्मा तक थक गए लेकिन अनन्त का कोई अन्त न पा सके। उपनिषदों की तरह ब्रह्म की 'नेति'—परक व्याख्या भी यहाँ मिलती है, उसे सर्वत्र, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियंता आदि स्वीकार किया गया है। मूलतः निर्गुण वह अनिर्वचनीय, लेकिन गुणों के माध्यम से जब उनके स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह सगुण निराकार रूप ग्रहण कर लेता है। लेकिन संतों का सगुण-निराकार स्वरूप भी तुलसी जैसा सगुण नही, क्योंकि वह तो लौकिक गुणों से अतीत ही है, इसलिए मूलतः हम उसे निर्गुण ही स्वीकार करते हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का प्रसार है, लेकिन वह स्वतः अविकृत और निर्लिप्त रहता है। सृष्टि का एक-मात्र वही उपादान और निमित्त कारण है। संतो की दृष्टि में सृष्टि शंकरवत् मिथ्या नहीं, वह सत्य है, क्योंकि सत्य ब्रह्म का ही प्रसार है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी—जीव भी उसी तरह सत्य है। वस्तुतः आत्मा और परमात्मा में उन्होंने अंशांशी संबंध को स्वीकार किया है। 'अग्नि-स्फुलिंगवत्' जीव में ब्रह्म के सब गुण हैं, उन्हे वह विकासित कर ब्रह्म से तादात्म्य और ऐक्य स्थापित कर अपने व्यक्तित्त्व को उसी में तिरोहित कर सकता है। यह जीव के जीवन का लक्ष्य या साध्य है जो प्राप्त करना दुष्कर है, लेकिन सन्तों ने मानव को सदा इसके प्रति

सतर्क किया है और इसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी तथा मार्ग भी बताया है। इस भेद के आभास का कारण उन्होंने सर्पिणी माया को बताया है। वस्तुतः माया ही जीव को भरमाकर इस संसार के प्रलोभनों में फँसा देती है और उसे लक्ष्य से पथभ्रष्ट कर देती है। इन्द्रियों के वश में होने के कारण जीव मूलतः कंचन और कामिनी का शिकार हो जाता है। लौकिक समृद्धि की चाह उसे सब प्रकार के दुष्कर्मों की प्रेरणा देती है और कामिनी मानव की वासनाओं को उभार कर उसके चित को मलिन कर देती है। संतो ने इनका विरोध नहीं किया, अपितु इनका परिहार किया है। भरमानेवाली भाषा से जीव को सतर्क करते हुए उन्होंने अनावश्यक धन-संग्रह को जहाँ बुरा बताया है, वहाँ पूर्णतः कामिनी में लिप्त हो जाने की भी भरपेट निन्दा की है। लेकिन धन और स्त्री को न छूनेवाले साधुओं में भी वे न थे। अपनी आजिविका अर्जित करने के लिए उन्होंने कर्मण्य गृहस्थ जीवन बिताया, लेकिन उसे ही सब कुछ समझ नहीं बैठे। उन्हौने लौकिक और पारलौकिक जीवन में अद्‌भुत संतुलन स्थापित किया हुआ था। इसीलिए कबीर को अपनी माँ के उलाहनों का शिकार बनना पड़ा था। लेकिन भावात्मक आवेश में उसने अपनी विचारधारा का त्याग नहीं किया था, यही उसके ध्यक्तित्व की महानता थी। वस्तुतः जहाँ एक ओर इन सन्तों ने मायालिप्त हो धन-संग्रह का विरोध किया था, वहाँ अकर्मण्य-जीवन का भी उतना ही शक्तिपूर्वक विरोध किया था। इसी प्रकार गृहस्थ में लिप्त गृहस्थियों और पलायनवादी साधुओं; दोनों का ही उन्होंने विरोध किया था। सच पूछा जाए, तो इसी से उनके 'सहजपथ' का निर्माण हुआ है। प्रकृति के स्वाभाविक नियमों को उन्होंने सहज रूप से अपनाया और क्रियात्मक जीवन के माध्यम से जन-समाज को अपनाने का संदेश भी दिया है।

वह युग अन्तर्विरोधों का युग था। ज्ञानियों के शुष्क ज्ञान ने उनके अहंकार को जागृत अवश्य किया था, पर उनका बौद्धिक संतोष न कर सका। संतों ने ज्ञानाधारित सत्यों को वहाँ तक अपनाया, जहाँ तक वे जीवन-बोझिल न बनानेवाले सिद्ध हुए। ज्ञान को अपनाए बिना उसकी बात करनेवाले को उन्होंने धिक्कारा है। इसीलिए वेदों इत्यादि पुस्तकी विद्या की निन्दा नहीं की, अपितु उसे समझे बिना अपनाने का राग अलापनेवालों को आड़े हाथों लिया है। उनकी कृतियों में कहीं-कहीं पुस्तकी विद्या का विरोध भी प्रतीत होता है, उससे भी मूल भाव उसके ज्ञान को अपनानेवालों का ही विरोध है। अनुभूत्याधारित ज्ञान को इन्होंने सर्वत्र ही प्रश्रय दिया है।

जन-समाज में विभिन्न सम्प्रदायों के माध्यम से प्रसरित होनेवाली भक्ति में उन्होंने भाव का अभाव पाया। इसीलिए भक्ति के बाह्य आवरण अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गए, परन्तु उनकी आन्तरिक शक्ति क्षीण होती गयी। संतों ने भावहीन आवरणों और आडम्बरों का जी भर कर विरोध किया। मूर्ति-पूजा करनेवालों का अन्तर में बैठी मूर्ति से परिचय कराया, मन्दिर जानेवालों को मन-मन्दिर की याद दिलाई, 'कर का मनका' फेरनेवालों को 'मन का मनका' ला पकड़ाया,

तीर्थों में भ्रमण करनेवालों को सत्गुरू रूपी तीर्थ के दर्शन करवाए, गंगा-स्नान करनेवालों को अन्तः स्नान का पाठ पढ़ाया। व्रत रखनेवालों को वास्तविक व्रत का महत्त्व बताया, इन आवरणों के माध्यम से भक्ति अपनाने में प्रयत्नशीलों को भक्ति के मूल तत्त्व भावपूर्ण 'नाम' का वरदान दिया। इस प्रकार भक्ति का भी इन्होंने विरोध नहीं किया, अपितु उसे परिष्कृत रूप प्रदान कर सहज और स्वाभाविक बना दिया, ताकि जन-सामान्य भावपूर्ण हृदय से बिना किसी आडम्बर के भी उसे अपना सके।

योगियों की जटिल दैहिक क्रियाओं में फँस कर योग ने भी विकट रूप धारण कर लिया था। सन्तों ने इस जटिलता का विरोध कर उसे सहज अपनाया। जहाँ तक स्वास्थ्य रक्षा का सम्बन्ध है, उन्होंने सशक्त, स्वस्थ देह को निर्मित करने का सन्देश दिया है, लेकिन विकृत साधनाओं के माध्यम से उसे अनावश्यक रूप से कष्ट-सहिष्णु बनाने का खुल कर विरोध किया है। केवल देह को कष्ट देकर यौगिक क्रियाओं के माध्यम से ब्रह्म-प्राप्ति या ब्रह्म-दर्शन से उन्होंने असहमति प्रकट की है। इस प्रकार स्वस्थ व दीर्घ जीवन व्यतीत करने की दृष्टि से उन्होंने देह का महत्त्व स्वीकार किया है, लेकिन सहज मार्ग का त्याग करके नहीं।

सच पूछा जाए, तो उन्होंने एक बार फिर ज्ञान, भक्ति और कर्म की एकांगिता का विरोध कर—तीनों का उचित समाहार कर—समन्वित जीवन दृष्टि प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार तीनों के विचारों से तंग आकर धर्म पराङ्मुख होती हुई जनता को एक बार फिर धर्मोन्मुख किया। इस कार्य के लिए उनका सबसे बड़ा सहायक हुआ सत्गुरू। सन्तों ने इस बात को समझ लिया था कि अज्ञानी गुरुओं ने ही भोली-भाली जनता को पथभ्रष्ट किया हुआ है, इसीलिए उन्होंने सत्गुरू की बडी कठिन कसौटी रख दी, लेकिन इसके साथ-साथ उसका महत्त्व भी अत्यधिक बढ़ा दिया। सत्गुरू वही हो सकता है, जिसने खुद मार्ग पा लिया है और जो संसार से ऊपर उठ चुका है, अब जिसे केवल लोक-कल्याण की लगन है। इसीलिए उसका महत्त्व साध्य से भी अधिक हो गया, क्योंकि इस साधन के बिना साध्य की प्राप्ति सम्भव नही। सत्गुरू ने समाज को सत्कर्म का महत्त्व बताया। बिना सत्कर्मो के मानव का वह धरातल ही नहीं बन पाता, जहाँ वह पारलौकिक जीवन की बात सोच सके। सत्कर्मो के माध्यम से मानव इतना औचित्यपरक बन जाता है, कि 'नाम' प्राप्त करने का अधिकारी बन जाए। सत्गुरू का सबसे बडा वरदान 'नाम' है। सांसारिक जीव इस नाम के सहारे ही उस दिव्य और अलौकिक सत्ता से अपना, सम्बन्ध जोड़ता है, क्योंकि मूर्ति आदि उसके प्रतीकस्वरूप और कोई साधन जीव के पास नही है। इस 'नाम' में अनन्यता, एकाग्रता और अनवरत तल्लीनता भक्त को सफलता प्रदान करनेवाले विशिष्ट तत्त्व हैं। सन्तों ने 'नाम' को इतना महत्त्व दिया, इसी से इनके मार्ग को कइयों ने 'नाम-मार्ग' तक की संज्ञा प्रदान कर दी है। 'नाम' कोई भी हो, उसका उतना महत्त्व नहीं, जितना उसमें अन्तर्हित भाव का और नाम तो उस भाव

को ही जागृत रखने का साधन-मात्र है। सच पूछा जाए, तो सत्गुरू और नाम को अर्जित नहीं किया जा सकता, यह तो भगवत्कृपा से ही प्राप्त हो सकता है, और यह भगवत्कृपा कब प्राप्त हो, यह कोई नहीं जान सकता। व्यक्ति भावपरायण होकर सत्कर्म करता चले, यदि उसके विश्वास में बल होगा, निश्चय में दृढ़ता होगी, भक्ति में अनन्यता होगी, तो भगवत्कृपा भी कभी न कभी हो ही जाएगी और जब भगवत्कृपा हो गई, तो कोई समस्या शेष नहीं रह जाती। सन्तों ने एक स्वर से भगवत्कृपा को ही सर्वप्रधान साधन स्वीकार किया है। सत्कर्म, सतसंगति, सत्गुरू आदि इसके लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण कर सकते है, इससे अधिक कुछ नहीं।

अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने आलंकारिक चमत्कारमयी वाणी का आश्रय नही लिया, अपितु भाषा की सरलता, स्पष्टता और शक्तिमत्ता ने ही उनकी शैली को साहित्यिकता प्रदान की है। न उनके मन मे, न उनकी विचारधारा में किसी प्रकार का दुराव—छिपाव था, और न ही अभिव्यक्ति में कोई वक्रता। हाँ, उनके सीधे-सादे परन्तु सशक्त व्यगों मे आडम्बरवादियों को तिलमिला देने की अद्भुत सामर्थ्य थी, यही उनकी अभिव्यक्ति की शक्ति है। इसका यह मतलब नहीं, कि उनकी वाणी में नम्रता नही है। भगवान के सम्मुख उनकी विनयिता की हद होती है—उनका अपना तो अस्तित्त्व ही नही रहता। वस्तुतः उनकी अभिव्यक्ति को उनकी विचारधारा नहीं, भावधारा ढ़ालती रही है, इसी से वह सहज, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बन सकी है। सीधा जन-मन के हृदय को प्रभावित करती है, इससे बढ़ कर उसकी निश्छलता का प्रमाण हो भी क्या सकता है,

सन्त-भावना किसी सम्प्रदाय-विशेष में आबद्ध नही हुई, इसीलिए अन्यान्य सम्प्रदायों के माध्यम से इस एक ही भावना का विकास होता रहा है। यह मानवीय धरातल पर विकसित हुई है। किसी भी धर्म, कर्म, अर्थ और जाति के वर्ग का व्यक्ति इसे अनायास ही अपना सकता था और जब चाहे इसका त्याग भी कर सकता था। यहाँ किसी प्रकार का बन्धन न था, जाति या वर्ग, बहिष्कृत करने की आवश्यकता न थी। सन्तों की मान्यताओं का धरातल बड़ा व्यापक था। वस्तुतः उनकी मान्यताओं की आधार-भूमि एक ही थी, अतः उन पर जिस क्रियात्मक जीवन या जीवन-दर्शन का विकास हुआ, उसके मूल तत्त्वों में कोई अन्तर न आया। इस भावना के स्थायित्त्व का कारण इसकी सहज स्वाभाविकता है। कृत्रिम क्रियाकलापों को इसमें स्थान न देकर सन्तों ने इसे विशिष्ट नही होने दिया। बाह्य-आवरणों, आडम्बरों या कर्म-काण्डों के अभाव ने इसे भाव-प्रधान बना रहने में सहायता दी। इस प्रकार संकीर्णता के आधार-स्तम्भों के अभाव में इसे कम विरोध सहना पड़ा और यह सामान्य धरातल पर विकसित होती गई। वैयक्तिक, चारित्रिक दृढ़ता ने इसे और भी शक्ति प्रदान की। समाज के किसी भी वर्ग से आनेवाले चरित्रवान व्यक्ति ने इसे हँस कर अपनाया, यदि नहीं भी अपनाया तो कम से कम इसका विरोध नहीं किया। इस प्रकार प्रत्येक युग के, सभी वर्गों के चरित्रवान व्यक्तियों का आश्रय पाकर यह सशक्त होती गई।

वैज्ञानिक प्रगति और राजनैतिक अशान्ति के इस युग में आज राजनीतिज्ञों ने 'विश्व-सरकार' की आवश्यकता अनुभव की है। यह समस्या का बहुत ऊपरी समाधान है। यदि और गहराई में जाकर मानव मानव को निकट लाने का प्रयत्न किया जाए तो वह 'मानव धर्म' और कुछ नहीं, इन सन्तों की सामान्य मान्यताओं का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप है। सन्तों की मान्यताओं का महत्व इसी से स्पष्ट है। धरा-धाम का उद्धार करनेवाले, मानव मानव को एकता का संदेश देनेवाले, जीवन में अलौकिक रस का संचार करनेवाले, विश्व में शान्ति का प्रसार करनेवाले सन्तों और उनकी मान्यताओं का यह संक्षिप्त-सा लेखा-जोखा है,

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

विश्व का सम्पूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है, कि समय की पुकार के अनुकूल ही जगत् में महान् विभूतियाँ ज्योतित हुईं और जगत् को अपनी ज्योति से आलोकित कर तिरोहित हो गईं। विश्व का प्रांगण इतना विशाल है, जहाँ कभी राजनैतिक विप्लव किसी राष्ट्र के शासन को अव्यवस्थित कर देते हैं, तो कभी सामाजिक विषमताएँ जन-सामान्य को उद्वेलित कर देती है। आर्थिक दरिद्रता से भी देश का उद्धार करने के लिए महान् भौतिकता-प्रिय पुरुष जन्म लेते है और जन-समाज को धार्मिक अत्याचारों के पाश से मुक्त करने के लिए दैवी विभूतियाँ भी अवतरित होती हैं। एक का साधन भुजबल है, तो दूसरे का बुद्धिबल, एक का अर्थ-बल है, तो इतर का आत्मिक बल।

जो हो, यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पडता है, कि वही शक्ति महान् है, जिसका प्रभाव स्थायी हो। 'मंत्रद्रष्टारः' ऋषि, धार्मिक नेता बुद्ध, राज्य-प्रसारक अशोक, नीति-कुशल चाणक्य, साहित्यकार कालिदास, दार्शनिक शंकर, सगीतज्ञ तानसेन, राष्ट्र-निर्माता स्टालिन, कवीन्द्र-रवीन्द्र, आधुनिक युग में समाज-सुधारक राजा राम-मोहन् राय, अध्यात्म-प्रसारक अरविंद तथा भारतीय स्वतन्त्रता के उन्नायक गांधी इसीलिए अमर है, कि अपने-अपने क्षेत्र में युग की पुकार के अनुकूल उन्होंने स्वतः परिस्थितियों के दास न बन कर युग की आवश्यकता को अनुभव कर, विरोधी शक्तियों से टक्कर ले, उन्हें अपने अनुकूल ढाल लिया था। वस्तुतः महान् वही है, जो स्वतः युग के अनुकूल न चल कर युग को अपने अनुकूल ढाल लेता है।

मध्ययुगीन भारतीय क्षितिज पर हर्ष की मृत्यु के बाद राजनैतिक गगन में अव्यवस्थित असार मेघ-खण्ड (छोटे-छोटे निर्बल नृप) मंडरा रहे थे। दूर से चले आनेवाले बवंडर (सबल आक्रमणकारियों के प्रहार) को सहने की क्षमता इनमें न थी। यह अवस्था न केवल पृथ्वीराज चौहान के शासन काल तक रही, अपितु जब तक मुस्लिम राज्य भारतीयता के नाम पर अकबर के [illegible] तक सशक्त होकर एक विशाल भूखण्ड का उत्तरदायित्व न संभाल सका, तब तक बहुत कुछ राजनैतिक शांति का अभाव ही रहा।

धार्मिक क्षेत्र में बौद्धों पर शंकर के संहारक प्रहार ने उन्हें सुधारा तो नहीं, हाँ ! अन्यान्य 'यानों' के माध्यम से और विकृत अवश्य कर दिया, जैसा कि हम पहले देख आए हैं । ऐसी अवस्था में सामाजिक शांति, आर्थिक समृद्धि, नैतिक उन्नति तथा पारिवारिक सुख की कल्पना को भी 'मृग-मरीचिका' बताना अनुपयुक्त न होगा ।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उदारतम दृष्टिकोण लेकर चलनेवाली भारतीय संस्कृति, जो एक युग से चले आनेवाले सभी आक्रमणकारियों के आचारों-विचारों, रीति-रिवाजों को अपने अनुकूल ढाल कर उन्हें भी अपना अंग बना लेती थी—इस समय एक बार मुसलमान राजाओं की विजय से नहीं, इस्लाम के धार्मिक प्रहार से, दीन के प्रसार से संक्षुब्ध हो उठी, क्योंकि उसकी विशृंखलित शक्ति दीन के इस तूफान को न सह सकी । वे मुसलमान जिन्होंने भारत की भूमि को पैरों से रौंदा था, और अब उस पर विजय पा उसे अपनी जायदाद ही नहीं— जाया भी समझने लगे थे, जिन्होंने शस्त्रों द्वारा उसके शरीर पर आधिपत्य जमा लिया था और अब अपने मजहब द्वारा उसके धर्म को भी हड़प कर लेना चाहते थे, अपनी विजयिनी पाशविक शक्ति के आवेश में— प्रतिद्वन्दियों की नैतिक शक्ति को न पहचान सके थे । एक को अपनी तलवार का गर्व था, तो दूसरा अभी अपने भगवान से पूर्णतया परिचित भी न हो सका था, सम्भवतः महाभारत के युद्ध में भी तो यही हुआ था ।

संघर्ष प्रारम्भ हुआ । सुदूर पूर्व में जयदेव ने राधा-कृष्ण को जगाया, पश्चिम में नामदेव ने बीठुल को पुकारा, दक्षिण से रामानन्द 'राम' को ले आए और उत्तर में शेख फरीद ने दरवेशी प्रारम्भ कर दी । इन सब शक्तियों ने वह वातावरण उपस्थित कर दिया था, जिससे इन सब के मध्य में मध्यकालीन संतों के उज्जवल-तम नक्षत्र संत शिरोमणि कबीर को आविर्भूत होना पड़ा । लोहा ही लोहे को काटता है । कबीर जुलाहा तो था ही, कहते हैं, वह मुसलमान भी था । उसके दिव्य चक्षुओं ने परिस्थिति को देखने में, प्रातिभ मेधा ने उसका रोग पहचानने में, मस्तिष्क की विलक्षण शक्ति ने उसका निदान ढूँढने में तथा वाणी ने उसका प्रचार करने में क्षण भर भी देर न लगाई ।

चमार रविदास ओछी जाति का होने के कारण हिन्दू-समाज को अपनी जाति और व्यवसाय नहीं, कार्य का महत्त्व बता रहा था, लेकिन उसका क्षेत्र सीमित था— केवल हिन्दू-समाज तक । परन्तु कबीर तो न हिन्दू थे, न मुसलमान । वे रविदास के इस शांतिमय परिवर्तन में विश्वासी मधुर-व्यंगों से अधिक समय तक ससाज का मनोरंजन और सुधार न देख सके । वे थे क्रांतद्रष्टा और क्रांति में ही विश्वासी । उन्होंने 'आन बाट' से न आनेवाले ब्राह्मणों से उनका ब्राह्मणत्व निकलवा लिया था, बिना सुन्नत के जन्म लेनेवाले शेख की शेखी झड़वा ली थी । माँ की बच्चे को प्यार भरी चपेट की तरह अथवा यों कहें, रैदास के मधुर व्यंगों की तरह, उनके कटु व्यंग पंडे और ब्राह्मण को, शेख और मुल्ला को तिलमिला देनेवाले होते थे इसीलिए उनकी मनोरंजकता तथा मधुरिमा कबीर के व्यंगों में मर्मस्पर्शी टीस बन

कर उतर आई थी। इस जात-पाँत के झमेले ने संतों के गुरू रामानन्द को भी अपने गुरू से नरक जाने का शाप दिलवाया था, जुलाहे कबीर को शिष्य नहीं बनने दिया था, चमार रविदास को भोज में नहीं बैठने दिया था, जाट धन्ना को पूजा नहीं करने दी थी, छींपी नामदेव को मंदिर मे नही घुसने दिया था, कसाई सधना के बाटों को अपवित्र बता दिया था, नाई सेन को समय पर न पहुँचने के कारण बुरा सेवक ठहराया था, लेकिन जन-समाज को इस बात का ज्ञान न था, कि ये संत युग-प्रवर्त्तक है। रामानन्द तथाकथित निम्न वर्ग के व्यक्तियों को भी गुरू-मंत्र देकर अमर हो गए थे। कबीर ठोकर खाकर ही शिष्य बन गए थे, रविदास ने चमार होकर भी प्रत्येक ब्राह्मण के साथ बैठ कर भोजन किया था, भगवान ने जाट धन्ने का अनाज ग्रहण किया था, छींपी नामदेव के लिए तो मंदिर का 'देहुरा' ही घूम गया था, और इन सब से बढ़ कर नाई सेन के स्थान पर तो भगवान स्वत: ही राजा की सेवा कर गए थे। कौन जानता है 'संत रामु है एको'। यह अनुभूत्याधारित ही कहा गया है। इस प्रकार रामानन्द ने निम्न वर्ग के लिए भगवान का जो द्वार खोला था, किसे ज्ञान था, उसमें से इतने भगवान ही प्रवेश कर लेंगे। जो हो, इन क्रांतिकारी संतों ने ऋग्वेद की समता की ध्वनि की और उच्च स्वर से घोषणा करते हुए तत्कालीन जन-समाज को निनादित कर दिया था,[१] इसीलिए राजा पीपा भक्त बन गया था, बनारस के आस-पास ढोर चरानेवाले 'जाति विख्यात चमार' रैदास को बनारस के बहुतेरे 'विप्रपरधान' ने आचारपूर्वक डंडउति प्रणाम किया था और न हिन्दू न मुसलमान कबीर की समाध पर तो आज तक आधे भाग पर हिन्दू और आधे पर मुसलमान अधिकार जमाए बैठे हैं इस प्रकार संतों का सब से प्रधान स्वर मानव मानव की एकता का, समता का स्वर था, क्योंकि युग की यही पुकार थी।

रामानन्द और शिष्य-परम्परा तथा अन्य संतों ने समाज के लिए उपयुक्त वातावरण तैय्यार किया था। कबीर अगुआ थे और उसके वाद आज तक गुरू नानक तथा शिष्य-परम्परा, मलूकदास, दादूदयाल, रज्जबदास, सुधी सुन्दर दास, बावरी साहिबा, दरिया दास, शिवदयाल सिंह (राधास्वामी) आदि अपने नाम रूपी 'पंथ' के संचालक बनते गए। आज भी अन्यान्य 'पंथों' के माध्यम से, वही संत मत भारत में विकसित हो रहा है। गांधी और विनोबा भी उसी लड़ी की मणियाँ है। न केवल उनका जीवन-दर्शन, अपितु क्रियात्मक जीवन भी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जो हो, इतिहास इस बात का साक्षी है, कि इन सतों की सबसे बड़ी देन यह समता ही है, इनके गुरू रामानन्द ने सब जातियों को मिला कर एक ही 'जाति' बना दी थी और वह थी भक्त। क्योंकि 'जाति-पाँति पूछै नहि कोई।' तो इस जात के जीवों की पहचान कैसे हो ? बहुत ही सीधा लक्षण बताया है—

हरि को भजै सो हरि का होई।

---

१. संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

इस समता के प्रयत्न में ही उन्होंने इस सत्य को अनुभव किया था, कि ये बाह्याचार आचार न होकर ढकोसलेमात्र हैं। अतः इनका उन्हें विरोध करना पड़ा। धर्म का आधार श्रद्धा-प्रसूत विश्वास है, लेकिन जब ये ही विश्वास अज्ञान का सम्बल पा अन्धविश्वास में परिणत हो जाते हैं, तो शीघ्र ही विकारों के उत्पादक सिद्ध होते हैं। तत्कालीन धर्म भी इस दुरवस्था तक पहुँच चुका था। जप, तप, पूजा, माला, भेष, तीर्थ यात्रा, स्नान, दान पुण्य, व्रत, उपवास, तथा—रोजा, नमाज, वजू, बांग, हज्ज, आदि का इन्होंने विरोध किया। इसका विस्तृत विवेचन गत अध्यायों में हो चुका है। यहाँ केवल इतना ही बताना है, कि सतों ने बाह्य रूप और आडम्बर का पूर्णतया विरोध किया, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो—और किसी से भी सम्बन्धित क्यों न हो ? लेकिन उनके विरोध का आधार होती थी सत्य की अनुभूति। वे निर्लिप्त थे। उन्हें किसी से राग-द्वेष न था। उन्होंने जहाँ भी विरोध किया है, सद्भावना से प्रेरित होकर—वह भी व्यक्ति विशेष का नही, कुल या जाति का नहीं, उनकी बुराइयों का। कबीर ने यदि शाक्तों को बुरा कहा है, तो 'पंच मकार' सेवी होने के कारण। इनका यौगिक महत्त्व न समझ कर लौकिक अर्थ लगा लेने के कारण ही ! जो हो, यह कबीर आदि संतों के विरोध की ही शक्ति थी, कि उन्होंने विकृत तांत्रिक प्रभाव एवं अस्वस्थ यौगिक चमत्कारों से जनता को मुक्त कर दिया था। तभी धर्मपराङ्मुख जनता सूर के 'माखन चोर' में रम सकी और कुंजों में जा उसकी बाँसुरी सुन सकी, उस बाँसुरी की ध्वनि ही तो, आज तक न केवल वृन्दावन, अपितु समस्त उत्तर भारत में सुनाई देती है। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में इन संतों ने बाह्याचार के आडम्बर में उलझी हुई जनता को सुलझा हुआ मार्ग दिखाया।

राजनतिक क्षेत्र में अत्याचारी शासकों से टक्कर लेने की क्षमता भौतिक दृष्टि से निर्बल संतों में चाहे न प्रतीत होती हो, लेकिन उनकी सबल नैतिक शक्ति एक तिहाई दुनिया के बादशाह ब्रिटेन को एक लंगोटी और सीटी से हिला देने वाले गांधी से कम न थी। सिकन्दर लोदी के चंगुल में फँसे हुए कबीर को हाथी ने कुचलने के स्थान पर नमस्कार किया था और गंगा ने उसे बहाने के स्थान पर उसकी जंजीर को ही तोड़ कर बहाया था सिख गुरुओं को दी जानेवाली यातानाओं से बढ़ कर—उनके बच्चों को भी उनके समाने ही जिंदा दीवारों में चुनेवा दिया गया था, पर ये अत्याचार भी हिन्दुओं से 'हिन्दुत्व' न छुड़वा सके, उनके परमात्मा को न भुला सके। तब तक जनता की धमनियों में फिर से भारतीय धर्म का रक्त प्रवाहित होने लगा था। उन्हें पता लग चुका था, कि धर्म का रहस्य व्यक्तिगत आचरण में निहित है, समाजगत बाह्याचार में नहीं। इस प्रकार राजनैतिक अत्याचारों ने जहाँ जनता को अधिक धर्मनिष्ठ होने पर विवश किया, वहाँ उन्हें नैतिक शक्ति भी प्रदान की। यह कार्य भी इन संतों के माध्यम से ही हुआ।

पारिवारिक आर्थिक कष्ट को दूर करने के लिए उन्होंने निष्कर्मण्यता का विरोध किया। साधू को वेषधारी होने के स्थान पर जन-सामान्य में रह कर ही साधू बनने का क्रियात्मक संदेश दिया। निष्काम कर्मण्य-जीवन का समाज में महत्त्व स्थापित किया। इसीलिए इन्होंने उपदेश नहीं दिया, अपितु अपने जीवन के माध्यम से संदेश दिया है। कबीर लगभग जीवन भर वस्त्र बुनता रहा, नामदेव उसे सीता रहा, रदास जूते गाँठता रहा, धन्ना खेती करता रहा, सेन सेवा करता रहा, सधना मांस बेचता रहा तथा नामदेव और त्रिलोचन का संवाद तो है ही प्रसिद्ध, जिसमें नामदेव ने बताया है, कि हाथ-पैर से कार्य करते हुए भी उसका ध्यान भगवान में ही है। इस दिशा में सतों का संदेश गीता के निष्काम कर्मण्य-जीवन से मेल खाता है। इस प्रकार के पोंगा साधू कम हुए या नही, लेकिन जनता का विश्वास उन पर से अवश्य उठना प्रारम्भ हो गया और परिणामस्वरूप उनकी संख्या अवश्य ही कम हुई होगी।

संतों ने अपने व्यक्तिगत जीवन से सिद्ध कर दिया, कि जीव अपने सत्कर्मों और प्रयत्नों से महान् हो सकता है, चाहे किसी भी कुल और व्यवसाय से ही उसका सम्बन्ध क्यों न हो ? कौन जानता है, कि गांधी में भी इनमें से ही किस संत की (कबीर की ?) आत्मा विचर रही हो।

जो हो, इससे जनता को इतना नैतिक सम्बल अवश्य मिल गया, कि जीवन कर्म-क्षेत्र है और सत्कर्मों का अच्छा फल अवश्य ही मिलेगा।

तर्क-वितर्क से प्रतिपादित दर्शन जन-सामान्य नही, केवल बौद्धिकों की वस्तु है। समाज में बौद्धिकों का आदर हो सकता है, परन्तु श्रद्धा तो चरित्रवान् के प्रति ही होती है। संतों का धर्म ऐसा ही धर्म था जिसे मानव-मात्र अपना सके, अतः इन संतों के प्रति अनायास ही श्रद्धा उपज आती है। कह नहीं सकते, शंकर का दर्शन कितने व्यक्ति समझ सके थे, और जो समझ ही नही सके, उनके उसे अपनाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। तथा इन संतों की वाणी को कौन नहीं समझ सका ? हो सकता है, इस रूप में उसे अपनाया बहुत कम ने हो, लेकिन समाज का बहुत बड़ा जन-समुदाय उससे प्रभावित अवश्य हुआ था।

साहित्यिक क्षेत्र में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है, कि ये कवि न थे, लेकिन यह भी न भूल जाना चाहिए, कि इनकी निश्छल वाणी के माध्यम से जो काव्यत्त्व हमारे सामने आया है, उसका कुछ अंश अवश्य ही इन संतों को उत्कृष्ट कोटि के कवियों की श्रेणी में ला बिठाता है। कबीर महाकवि थे। हृदय के अन्तर-तम से, सरल एवं स्पष्ट शब्दों में अपने को अभिव्यक्त करते थे। ऐसी बात नहीं, कि उनमें काव्यगत सौन्दर्य न हो (जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है।), लेकिन कला उनका साध्य कभी नहीं बन सकती थी। उनकी अनुभूति की निश्छल अभिव्यक्ति उनकी कविता का सबसे बड़ा गुण है। उनकी भाषा की स्पष्टता (कुछ पदों को छोड़ कर) उनकी अभिव्यक्ति की विशेषता है। उनका प्रचुर साहित्य आज

तक अप्रकाशित रूप में ही बिखरा पड़ा है। उसके प्रकाशन के साथ-साथ उसका महत्त्व स्पष्ट होता जा रहा है।

जो हो, साहित्यिक क्षेत्र में एक विशेष प्रकार के काव्य को अबाघगति से प्रवाहित करने का श्रेय इनको दिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य के ही नहीं अपितु, अन्य भाषाओं के भी उत्कृष्ट कवियों को इस साहित्य ने प्रभावित किया है, विरहिनी मीरा ने तो रविदास को साक्षात् गुरू स्वीकार किया है। रवीन्द्र के पदों में कबीर की ही अनुभूतियों का मिलना तथा कबीर के पदों में उनकी रुचि भी—विश्वकवि का कबीर से प्रभावित होना सिद्ध करती है। महादेवी की रहस्य भावना तथा निराला के दार्शनिक सूत्रों में बहुतेरे जुलाहे के ही बिखरे हुए सूत दृष्टिगोचर होते हैं।

इन संतों ने 'कथनी और करनी में ऐक्य' के मसाले से जीवन और धर्म के बीच की खाई पाट दी थी। इस प्रकार खाई के पार पहुँचने के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के अधिकार को जन-सामान्य में वितरित कर दिया था। यही कारण है, कि धर्म को कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की पैतृक सम्पत्ति समझनेवाली सामान्य जनता अपने आप को भी उसकी उत्तराधिकारिणी अनुभव करने लगी थी।

संक्षेपतः तत्कालीन जनता भूखी और नंगी थी, श्रांत और अशांत थी, निस्सहाय और निराश्रित थी, अज्ञान और अंधकार में डूबी हुई थी, उसे कोई राह सुझानेवाला न था, उसे कोई मार्ग पर लगानेवाला न था, उसे कोई आगे बढ़ानेवाला न था, उसे कोई सहलानेवाला, पुचकारनेवाला, दुलरानेवाला और मनानेवाला भी न था।

जुलाहे ने नंगे समाज के लिए वस्त्र बुना था, छीपी और दर्जी ने उसे सजा-संवार कर सी दिया था। इस प्रकार दोनों ने मिल कर उसका तन ढक दिया था। तब चमार ने जूती-जोड़ा पहिना कर उसकी कँटीले मार्ग से रक्षा की थी और समाज को भूखा देख जाट अपने खेत से सारा अनाज ले आया था। पर, खेत छोटा था, इसलिए अनाज थोड़ा था। मोदी ने यह देख लिया था। फिर क्या था ? राजा की परवाह किए बिना ही उसने मोदीखाने का सारा अनाज समाज को बाँट कर उसकी भूख मिटाने का प्रयत्न किया। इसी से उसकी उदारता का परिचय मिल जाता है। नाई ने श्रांत (थके हुए) समाज की सेवा की थी, इसीलिए तो भगवान उसके स्थान पर नाई बन कर सेवा करने जा पहुँचा था। इस प्रकार सक्षम होने पर गुरू (रामानन्द) ने उसे मार्ग दिखाया था। सभी शिष्य उस राह पर चले और उन्होंने समाज को भी साथ ले जाने का प्रयत्न किया। शेख ने व्यावहारिक जीवन-मार्ग के दर्शन करवाए। भक्तों (सूरदास तथा परमानन्द) ने सत्संग का महत्त्व बता कर स्वयं उसका साथ दिया, तब रसिक भक्त (जयदेव) ने रसपान करा कर उसे तृप्त किया। त्रिलोचन ने भूत और भविष्य बता कर वह आशा दी, जिससे उसमें स्फूर्ति पैदा हुई। आशावादी समर्थ समाज क्रियाशील हुआ चाहता था। सधना ने उसे ईमानदारी

का सबक सिखाया था। वेणी ने कर्म का महत्त्व बता कर उसे कर्मण्य बना दिया था। भीखन ने कर्मण्य उसे निष्काम-कर्मण्यता का पाठ पढ़ाया था। तब राजा पीपा ने उसे आरती करना सिखा कर भगवान का भक्त बना दिया था। इस प्रकार सब संतों ने मिल कर अस्वस्थ समाज को स्वस्थ बनाने का प्रयत्न किया था, निर्बल समाज को सबल बनाने का साहस एकत्रित किया था, नंगे को वस्त्र पहनाए थे, भूखे को खिलाया था, अशांत को शांत किया था और श्रांत को विश्राम दिया था, निराश्रय को आश्रय दिया था, निस्सहाय की सहायता की थी, उद्विग्न की उद्विग्नता हर ली थी, अज्ञानियों को ज्ञान दिया था, योगियों को (सहज) योग सिखाया था, मायालिप्तों को निर्लिप्त किया था, बाह्याडम्बर में फँसी आचारहीन जनता को आचारवान् बनाया था, अन्धकार में डूबे हुओं को प्रकाश में ला बिठाया था। समाज से ठुकराए हुए हरिजनों को गले लगाया था। गंगा के दर्शन करनेवालों को भगवान के दर्शन करवाए थे, उसका जल-पान करनेवालों को नाम-रसामृत का पान करवाया था और पतितपावनी में स्नान करनेवालों को तो भक्ति रस में ही अवगाहन कराया था।

इस प्रकार इन सब ने मिल कर अपने लिए कुछ नहीं किया था, पर दूसरों के लिए कुछ करने से बाकी भी न रहने दिया था। इन्होंने भौतिक दृष्टि से समाज को धन दौलत कुछ भी न दिया था, पर आध्यात्मिक दृष्टि से (नाम-धन देकर) कुछ बचा भी न लिया था। इसीलिए इनकी तुलना भौतिक क्षेत्र के उन्नायकों से नहीं हो सकती, क्योंकि उनका प्रभाव बाह्य एवं क्षणिक होता है। आन्तरिक एवं गुप्त पुलिस विभाग की अध्यक्षता के माध्यम से २० वर्ष तक रशिया का नियन्त्रण करनेवाले बेरिया को स्टालिन की मृत्यु के बाद कितने दिन जीते देखा है ? और न जाने कितने प्रधान मन्त्रियों के बाद आज (२८ मार्च, १६५८) बुलगानिन का स्थान ख्रुश्चोव को लेते किसने नहीं देखा ? इसके विरुद्ध रवीन्द्र, गांधी, अरविन्द तथा विनोबा को किसने अपने पद से तनिक भी खिसकते देखा है। यही कारण है, कि आन्तरिक परिवर्तन स्थायी होता है, और स्थायी ही सत्य के अधिक निकट होता है, सत्य ही शिव होता है तथा शिव ही सुन्दर होता है।

जो जन-समाज इन संतों की देह के नहीं, आत्मा के 'सौंदर्य' पर बाह्य नहीं, अन्तर्चक्षुओं से मोहित हुआ था ; इनकी कथनी ही नहीं, करनी के 'शिव' का कानों से नहीं, क्रियात्यक जीवन के माध्यम से जिसने लाभ उठाने का प्रयत्न किया था, और उनकी वाणी ही नहीं, क्रियात्मक जीवन के 'सत्य' को आत्मा के माध्यम से अपनाने का साहस दिखाया था। उसी को इसके महत्त्व का बोध हो सकता है, क्योंकि यह समझ की नहीं, अनुभव की वस्तु है और न जाने कितनों को उन्होंने एक-मात्र अनुभवगम्य की ओर प्रेरित किया—केवल प्रेरित ही नहीं किया, अपितु उसका अनुभव भी करवा दिया और अपनी ही तरह अमर भी कर दिया, कर रहे हैं और यावच्चन्द्र-दिवाकरौ करते ही रहेंगे। भौतिक जगत् को संतों की इस असीम

अनन्त, अनन्य तथा अनवरत आध्यात्मिक देन से बड़ी और कोई देन हो भी क्या सकती है ?

धन्य हैं, 'सत्' से आविर्भूत हो, 'सत्' का अनुभव कर, 'सत्' का अनुभव करा, स्वतः 'सत्' में ही परिणत होनेवाले संत ।

मध्यकालीन संत 'नाम' का टिकट लेकर, सिमरन का पाथेय साथ रख, संसार-स्टेशन पर जाकर भक्ति की गाड़ी में बैठ गया । समयानुसार हरि-भक्त की हरी झंडी पा संचालक सतगुरू ने माया की पटरियों पर गाड़ी को चलाया तथा कंचन, कामिनी आदि व्यर्थ के स्टेशनों को छोड़ता हुआ, सत्कर्म, सद्‌गुण तथा सत्संग आदि स्टेशनों से कोयला, जल आदि लेता हुआ हरि-स्टेशन तक जा पहुँचा ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

१. श्री गुरू ग्रंथ साहिब : (हिन्दी संस्करण) शिरोमणि गु० प्र० कमेटी, अमृतसर (सन् १६५१)।

धार्मिक पृष्ठभूमि

२. गंगा पुरातत्त्वांक : सं० राहुल सांकृत्यायन।
३. हिन्दू संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना : जनार्दन मिश्र।
४. भारत का सांस्कृतिक इतिहास : हरिदत्त वेदालंकार।
५. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि : विश्वम्भर उपाध्याय
६. धर्म की उत्पत्ति और विकास : डा० एच० मूर, अनु० रामचन्द्र वर्मा।
७. धर्म का स्वरूप : गोपालचन्द्र मिश्र।
८. धर्म इतिहास रहस्य : रामचन्द्र शर्मा।
६. हिन्दू धर्म। ऐनी बेसेंट।
१० हिन्दू धर्म की समीक्षा : लक्ष्मण शास्त्री जोशी।
११. भारत का धार्मिक इतिहास : शिवशंकर मिश्र।
१२. धर्म और दर्शन : बलदेव उपाध्याय।
१३. भारतीय दर्शन : ,, ,,
१४. भागवत सम्प्रदाय : ,, ,,
१५. हिन्दुत्व : रामदास गौड़।

तत्कालीन भारत

१६. मध्यकालीन धर्म-साधना : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
१७. मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था : अल्लामा अब्दुलाह यूसुफ अली।
१८. मध्यकालीन भारत : परमात्मा शरण।
१६. गोरखनाथ और उनका युग : डा० रांगेय राघव (अप्रकाशित प्रबन्ध)।

भारतीय इतिहास

२०. भारत का इतिहास : डा० ईश्वरी प्रसाद।
२१. मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास : ,, ,,
२२ भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग) : भगवद्दत्त।
२३. भारतीय इतिहास की रूपरेखा : जयचन्द विद्यालंकार।
२४. सिख इतिहास : जे० डी० कनिघम।

निर्गुणधारा तथा संत साहित्य

२५. उत्तरी भारत की संत परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी।
२६. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।
२७. निर्गुण काव्य धारा : सिद्धनाथ तिवारी।
२८. निर्गुणधारा : बैजनाथ, विश्वनाथ।
२९. फिलासफी ऑफ गुरू ग्रंथ साहिब : डा० जयराम मिश्र (अप्रकाशित प्रबन्ध)।
३०. मराठी संतों की हिन्दी को देन : डा० विनय मोहन शर्मा।
३१. नाथ सम्प्रदाय : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
३२. संत दर्शन : डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित।
३३. संत साहित्य : भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र।
३४. योग प्रवाह : डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल।
३५. 'श्री गुरू ग्रंथ साहिब'—एक परिचय : धर्मपाल।

साहित्य का इतिहास

३६. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल।
३७. हिन्दी साहित्य : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
३८. हिन्दी साहित्य की भूमिका : ,, ,,
३९. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा।

संत-वाणी

४० संत काव्य : परशुराम चतुर्वेदी।
४१. संत-वाणी (चार भाग) : बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
४२. संत सुधासार : वियोगी हरि।
४३. संत-वाणी : ,, ,,
४४. हिन्दी संत काव्य संग्रह : गणेश प्रसाद द्विवेदी तथा परशुराम चतुर्वेदी।
४५. संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा।
४६. कबीर ग्रंथावली : सं० डा० श्यामसुन्दर दास।
४७. बीजक : विचारदास।
४८. कबीर साहिब की शब्दावली (चार भाग) : बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
४९. कबीर वचनावली : सं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।
५०. रैदास जी की वाणी : बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
५१. सुखमणी तथा गुरू अर्जुन देव : ओंकारनाथ भारद्वाज।
५२. दादूदयाल की वाणी : ह० लि० प्रति (ना० प्र० सभा, काशी) सं० २४२१।१४०९ से २४४४।१४०९।

आलोचनात्मक ग्रन्थ

५३. कबीर : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

५४. कबीर की विचारधारा : डा० गोविन्द त्रिगुणायत।
५५. कबीर का रहस्यवाद : डा० रामकुमार वर्मा।
५६. कबीर साहित्य का अध्ययन : पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव।
५७. कबीर : एक विश्लेषण : पब्लिकेशन डिविजन, देहली।
५८. रामानन्द और उनकी हिन्दी रचनाएँ : प्र० सं० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
५९. संत रैदास : भगवतव्रत मिश्र [अप्रकाशित प्रबन्ध]।
६०. रैदास और उनका काव्य : रामानन्द शास्त्री, वीरेन्द्र पाण्डेय।

आलोचनात्मक ग्रन्थ

६१. नामदेव वंशावली : नन्हे लाल शर्मा।
६२. नामदेव : डा० मोहन सिंह।

परिचय साहित्य

६३. भक्तमाल : नाभादास, नवल किशोर प्रैस, लखनऊ।
६४. अनन्तदास द्वारा लिखित कबीर, नामदेव, रैदास, पीपा, धन्ना आदि की परचईयाँ (ना० प्र० सभा, काशी सं० १७४० तथा १८५५)।
६५. कबीर-रैदास-संवाद (सेनी कृत, ना० प्र० सभा, काशी, सं० १४४५ के लगभग)।
६६. नामदेव की परिचई; ह० लि० प्रति (ना० प्र० सभा, काशी) ग्रंथ सं० ७४६।
६७. पीपा की परिचई ,, ,, ग्रन्थ सं० २३४३।१४०० से २३७१।१४००।
६८. त्रिलोचन की परिचई ,, ,, ग्रंथ सं० ७६७ (लिपिकाल सं० १७७६) तथा ग्रंथ सं० २२१५। १३८८।

विशेष पत्रिकाएँ

६९. कल्याण (विशेषांक) संस्कृति अंक, संत अंक, संत-वाणी अंक, भक्त अंक, भक्ति अंक, साधना अंक, योग अंक, वेदांक।
७०. विश्वभारती पत्रिका : सं० २००४।
७१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सं० १९८७, १९९७।

पंजाबी

१. श्री गुरू ग्रंथ साहिब : शि० गु० प्र० कमेटी, अमृतसर।

व्याख्यात्मक

२. शब्दारथ : तेजा सिंह।
३. श्री गुरू ग्रंथ कोश : खालसा ट्रैक्ट सोसाइटी।
४. गुरू शब्द रत्नाकर : भाई कान्ह सिंह।

५. ततकरा श्री गुरू ग्रंथ साहिब : भाई कान्ह सिंह ।

ऐतिहासिक

६. श्री गुर प्रताप सूरज ग्रथ : भाई संतोख सिंह ।
७. तवारीख गुरू खालसा : ज्ञानी ग्यान सिंह ।
८. प्रेम अबोध : भाई गुरदित सिंह ।
९. प्रेम अबोध : 'गुरू गोविन्द सिंह द्वारा तैय्यार करवाई गई ।' ऐसा प्रसिद्ध है । (ह० लि० प्रति, शोध-विभाग, शि० गु० प्र० कमेटी, अमृनसर) ।
१०. भगतमाल : स० नारायण सिंह ।
११. भगतदरशन : ज्ञानी प्रताप सिंह ।

'गुरूग्रन्थ' परिचायक

१२. प्राचीन बीडाँ : जी० बी० सिंह ।
१३. प्राचीन बीडाँ बारे : जोध सिंह ।
१४. वंशावली नामा दसाँ पादसाहियाँ दा : केसर सिंह छिब्बर ।
१५. जरूरी वाकफीयत (आदि बीड़ बारे) : श्री गु० प्र० कमेटी, अमृतसर ।
१६. बाणी ब्योरा : डा० चरण सिंह ।

दार्शनिक

१७. गुरमत दरशन : डा० शेर सिंह ।
१८. गुरमत निरणय : भाई जोध सिंह ।
१९. गुरमत फिलासफी : ज्ञानी प्रताप सिंह ।

साहित्य एवं आलोचनात्मक निबन्ध

२०. पंजाबी साहित्य दा संखेप इतिहास : डा० मोहन सिंह ।
२१. पंजाबी साहित्य दा इतिहास : डा० गोपाल सिंह दर्दी ।
२२. धार्मिक लेख : साहिब सिंह ।
२३. कुछ होर धार्मिक लेख : । ,, ,, ।
२४. गुरमत प्रकाश : ,, ,,
२५. गुरमत लेक्चर : ज्ञानी प्रताप सिंह ।

बाणी संबंधी

२६. भगत बाणी सटीक : भाई जोध सिंह ।
२७. भगत बाणी सटीक : भाई बिशन सिंह ।
२८. कबीर जी दे श्लोक सटीक : साहिब सिंह ।
२९. फरीद जी दी बाणी सटीक : साहिब सिंह ।

ENGLISH

1. The Adi Granth : Trumph, E.
2. The Sikh Religion, Its Gurus, Scared writings and authors (Vol.6) : Macauliffe, M. A.

3. Philosophy of Sikhism : Dr. Sher Singh.
4. History and Philosophy of the Sikhs (Vol.2) : Khazan Singh.
5. The Book of the Ten Masters : Puran Singh.
6. Sikhism, its Ideals and Institutions : Teja Singh.
7. Guru Nanak, As a Poet : Taran Singh (Unpublished Thesis).
8. Renaissance of Hinduism : Sharma, R. S.
9. Indian Theism : Nicol Macnicol.
10. Theism in Medieval India : Carpenter, J. P.
11. Medieval Mysticism of India : Sen, K. M.
12. Mysticism in Maharastra : Ranade, R. D.
13. Vaisnavism, Shaivism and minor Religious systems : Bhandarkar, R. C.
14. An outline of the Religious Literature of India : Farquhar J. N.
15. Modern Religious Movements in India : Farquhar, J. N.
16. Religious Sects in India among Hindus : Pai, D. A.
17. Hinduism and Budhism : Eliot, Sir Charles.
18. Shakti and the Shakt : Woodroffe, J.
19. An Introduction to the Panch-Ratna Ahirbudhanya Samhita : Shredar.
20. Hyms of the Adwars : Kapoor, J. S.
21. The Chamaras, Briggs, W. G.
22. Indian Philosophy : Radhakrishanan,S.
23. A History of Punjabi Literature : Dr. Mohan Singh.
24. Kabir and the Kabir Panth : Westcott.
25. Kabir and His Followers : Key, F. E.
26. Kabir and the Bhakti Movement : Dr. Mohan Singh.
27. A History of the Sikhs : Canningham, J. D.
28. A Short History of the Sikhs (Vol.1), Teja Singh, Genda Singh.
29. Medieval India : Ishwari Prasad.